6173

S. M. L.

प्राचीन भारत का धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक जीवन









मकेतु विद्यालंकार

रस्वती सदन, मसूरी

प्राचीन भारत का धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक जीवन

लेखक

सत्यकेतु विद्यालंकार, डी. लिट्. (पेरिस)

(भूतपूर्व कुलपति, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार एवं
गोविन्दबल्लभ पन्त पुरस्कार, मोतीलाल नेहरु पुरस्कार
और मंगलाप्रसाद पारितोषिक द्वारा सम्मानित)



श्री सरस्वती सदन

ए-१/३२, सफदरजंग इन्क्लेव, नई दिल्ली-११००२९

तीसरा संस्करण १९८७] [मूल्य ३७ रुपये

प्रकाशक :
श्री सरस्वती सदन
ए-१/३२, सफदरजंग इन्क्लेव
नई दिल्ली-११००२९



मुद्रक :
अजय प्रिंटर्स
नवीन शाहदरा, दिल्ली-३२

प्रस्तावना

मैंने इस ग्रन्थ में भारतीय संस्कृति के कतिपय महत्त्वपूर्ण अंगों का सरल रीति से नरूपण करने का प्रयत्न किया है। किसी भी देश की संस्कृति अपने को धर्म, दार्शनिक चन्तन, सामाजिक संगठन, कविता, संगीत और कला आदि के रूप में अभिव्यक्त करती । मनुष्य जिस ढंग से अपने धर्म का विकास करते हैं, दर्शनशास्त्र के रूप में जो चिन्तन रते हैं, साहित्य संगीत और कला का जिस प्रकार से सृजन करते हैं, और अपने सामूहिक ोवन को सुखी बनाने के लिए जिन राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक संस्थाओं तथा ाथाओं को विकसित करते हैं, उन सबका समावेश 'संस्कृति' में किया जाता है। इतिहास वषयक सामान्य पुस्तकों में संस्कृति के इन विविध अंगों का समुचित रूप से प्रतिपादन कर कना सुगम नहीं होता। उनमें राजनीतिक घटनाओं, राजवंशों के उत्थान और पतन, वदेशी आक्रमणों व आन्तरिक विद्रोहों के विवरण तथा सम्राटों व प्रमुख व्यक्तियों के ृत्यों के वृत्तान्त का इतना बाहुल्य रहता है कि सभ्यता और संस्कृति के विकास पर समुचित प्रकाश डाल सकना सम्भव ही नहीं रहता। इसलिए अब इतिहास लेखक यह प्रयत्न करते हैं कि सांस्कृतिक इतिहास को पृथक् रूप से लिखा जाए और उसमें राजनीतिक घटनाओं का संक्षेप के साथ भी उल्लेख न किया जाए।

पर संस्कृति का विषय भी अत्यन्त व्यापक है। एक ही ग्रन्थ में संस्कृति के सब अंगों का निरूपण कर सकना भी सुगम नहीं है। इसी लिए अब यह प्रवृत्ति है कि साहित्य, संगीत और कला का इतिहास पृथक् रूप से लिखा जाए, शासन-संस्थाओं और राजनीतिक विचारों के विकास का पृथक् ग्रन्थ में प्रतिपादन किया जाए, धर्म तथा दार्शनिक चिन्तन को संस्कृति के अन्य अंगों से अलग रखकर उनका अध्ययन किया जाए और सामाजिक व आर्थिक संगठन के विकास पर पृथक् रूप से लिखा जाए। अपने ग्रन्थ "प्राचीन भारत की शासन-संस्थाएँ और राजनीतिक विचार" में मैंने भारत के प्राचीन राजनीतिक चिन्तन और शासन व्यवस्था का विशद रूप से प्रतिपादन किया है, और उस ग्रन्थ को पाठकों ने बहुत उपयोगी भी पाया है। अब अपने इस नये ग्रन्थ में मैंने यह प्रयत्न किया है कि भारतीय संस्कृति के अन्य तीन महत्त्वपूर्ण अंगों—धर्म तथा दार्शनिक चिन्तन, सामाजिक संगठन और आर्थिक संस्थाओं—का विशद रूप से विवेचन किया जाए। यदि सम्भव हुआ तो संस्कृति के अन्य अंगों—साहित्य और कला के विकास आदि पर भी मैं इसी प्रकार से पृथक् ग्रन्थ प्रस्तुत करने का प्रयत्न करूँगा। इस ग्रन्थ में जिस दृष्टिकोण तथा ऐतिहासिक तथ्यों को सम्मुख रखा गया है, वे निम्नलिखित हैं—

(१) संसार की अनेक प्राचीन सभ्यताएँ इस समय नष्ट हो चुकी हैं। असीरिया, बैबिलोनिया, ग्रीस, ईजिप्ट आदि की प्राचीन सभ्यताओं के अब केवल नाम ही शेष हैं। ईजिप्ट के वर्तमान निवासियों की संस्कृति की दृष्टि से अपने देश के उन प्राचीन लोगों के

साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं है, जिन्होंने कि नील नदी की घाटी में गगनचुम्बी वि
पिरामिडों का निर्माण किया था, और जिन्होंने अपने पितरों के शरीरों की ममी बना
उन्हें अमर जीवन प्रदान करने का प्रयत्न किया था। ग्रीस और रोम में जो प्रा
सभ्यताएँ विकसित हुई थीं, वे अब नष्ट हो चुकी हैं। आज प्राचीन ग्रीक और रोमन
का कोई अनुयायी नहीं हैं। जो विचारधारा प्राचीन ग्रीक व रोमन लोगों को देवी-देवत
के रूप में प्राकृतिक शक्तियों की पूजा के लिए प्रेरित करती थी, वह आज के ग्रीक व रो
(इटालियन) लोगों के लिए कोई अर्थ नहीं रखती। पर भारत की प्राचीन संस्कृति हज
साल बीत जाने पर भी अब तक कायम है। भारत के बहुसंख्यक निवासियों का धर्म
तक भी 'वैदिक' है। इस देश के पुरोहित आज भी उन्हीं वेदमन्त्रों द्वारा यज्ञकुण्ड में आहु
देकर देवताओं व प्राकृतिक शक्तियों को तृप्त करते हैं, जिनका निर्माण या 'दर्शन' अ
से हजारों वर्ष पूर्व भारतीय ऋषियों द्वारा किया गया था। उपनिषदों और गीता द्वा
ज्ञान की जो धारा प्रवाहित की गई थी, वह आज भी अबाधित रूप से इस देश में बह
है। बुद्ध और महावीर जैसे महात्माओं ने अहिंसा और प्राणी मात्र के प्रति मैत्रीभावना
जो उपदेश दिये थे, वे आज तक भी इस देश में जीवित और जागृत हैं। इस बीसवीं स
में भी भारत की स्त्रियों के आदर्श पार्वती, सीता और सावित्री हैं। यह सही है कि भा
का वर्तमान हिन्दू धर्म, प्राचीन वैदिक धर्म से अनेक अंशों में भिन्न है। याज्ञिक क
काण्ड का स्थान अब देवी-देवताओं की मूर्तियों की पूजा ने ले लिया है, और इन्द्र, वि
आदि देवताओं के स्थान पर अब राम और कृष्ण सदृश देवताओं की पूजा होने लगी
पर वर्तमान हिन्दू धर्म प्राचीन वैदिक धर्म का ही विकसित रूप है। क्रिश्चिएनिटी
इस्लाम के समान वह कोई नया धर्म नहीं है। धार्मिक विचारों तथा पूजा की विधि में
देश में अवश्य परिवर्तन हुए हैं, पर उसके कारण प्राचीन सनातन वैदिक धर्म का अ
नहीं हो गया। समय तथा परिस्थितियों के प्रभाव से वेदों में प्रतिपादित धर्म ने एक न
रूप अवश्य प्राप्त कर लिया, पर वर्तमान समय के सभी हिन्दू सम्प्रदाय वैदिक संहिता
में समान रूप से विश्वास रखते हैं, उन्हें अपने धार्मिक मन्तव्यों का आदि-स्रोत मानते
और उनको अविकल रूप से 'प्रमाण' स्वीकार करते हैं। प्राचीन वैदिक धर्म ने विवि
शाखाओं में विकसित होकर किस प्रकार विभिन्न हिन्दू सम्प्रदायों का रूप प्राप्त कि
इस विषय पर मैंने इस ग्रन्थ में विशद रूप से प्रकाश डाला है।

(२) भारत के धार्मिक जीवन में जो 'नैरन्तर्य' रहा, और एक ही सनातन धार्मि
धारा जो अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित होती रही, उसका कारण यह नहीं था कि इस दे
में कोई ऐसे धर्माचार्य उत्पन्न नहीं हुए जिन्होंने कि धर्म को एक नई दिशा देने का प्रय
किया हो। वर्धमान महावीर और गौतम बुद्ध जैसे तीर्थङ्कर और स्थविर वेदों के प्रामा
को स्वीकार नहीं करते थे, न वे वैदिक देवी-देवताओं को मानते थे और न जन्म के ब्राह्म
की श्रेष्ठता में विश्वास रखते थे। इसी प्रकार बृहस्पति और चार्वाक सदृश ऐसे दार्शनि
भी भारत में उत्पन्न हुए, जो वैदिक संहिताओं को दुनियादारी का आवरण मात्र समझ
थे, और ईश्वर की सत्ता को नहीं मानते थे। बौद्धों और जैनों द्वारा जिन दार्शनि
सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया, वे छह आस्तिक दर्शनों के मन्तव्यों से भिन्न थे।

धर्माचार्य तथा दार्शनिक प्राचीन सनातन वैदिक धर्म की धारा के प्रवाह को बदल कने में असमर्थ रहे। भारत के विचारक सदा से यह प्रतिपादित करते रहे हैं कि "सबको पने में और अपने में सबको देखो, सर्वत्र एकत्व का अनुभव करो।" इसी का यह परिणाम आ कि समन्वय एवं सामञ्जस्य की प्रवृत्ति ने बौद्धों और जैनों को भारत की सनातन ार्मिक धारा का अंग बना लिया, और उनमें तथा हिन्दू धर्म में कोई ऐसा भेद नहीं रहने दिया जिसके कारण उनमें भेद व विरोध रह जाए। बुद्ध का परिगणन तो विष्णु के वतारों तक में कर लिया गया और अहिंसा तथा सब प्राणियों के प्रति मैत्रीभावना की ो शिक्षा बुद्ध द्वारा प्रदान की गई थी, उसे हिन्दू धर्म ने भी आत्मसात् कर लिया। दिक धर्म के मन्तव्यों ने जैन और बौद्ध धर्मों को प्रभावित किया और बुद्ध एवं महावीर ी शिक्षाओं ने वैदिक धर्म को। यही बात दार्शनिक सिद्धान्तों के सम्बन्ध में भी हुई। द्धों के विज्ञानवाद और शून्यवाद के प्रभाव से शंकराचार्य ने ब्रह्म के स्वरूप का एक ये ढंग से प्रतिपादन किया, और अद्वैतवाद का जो सिद्धान्त वेदान्तदर्शन में निरूपित कया गया, वह बौद्ध दर्शन से बहुत भिन्न नहीं था।

(३) भारतीय इतिहास के रंग-मंच पर आर्यों के प्रगट होने से पूर्व इस देश में ो लोग निवास करते थे, उनकी एक अच्छी उन्नत सभ्यता थी, उनका अपना धर्म था प्रौर अपना पृथक् सामाजिक संगठन था। इसी प्रकार यवन, शक, युइशि, पल्हव, कुशाण, हूण आदि जो जातियाँ भारत में प्रवेश कर इसके विविध प्रदेशों में बस गई थीं, उनके भी अपने-अपने धार्मिक विश्वास थे। पर इन द्वारा भारत की मूल सांस्कृतिक व धार्मिक धारा नष्ट नहीं हुई। जिस प्रकार अनेक छोटी-छोटी नदियाँ गंगा में मिलकर उसे अधिक समृद्ध करती जाती हैं, और स्वयं गंगा की ही अंग बन जाती हैं, उसी प्रकार इन विविध जातियों ने भारत में प्रवेश कर इस धर्म की संस्कृति व धर्म को समृद्ध बनाने में सहायता की और उनकी अपनी संस्कृति तथा धार्मिक विश्वास इस देश की सांस्कृतिक व धार्मिक धारा में मिलकर अपनी पृथक् सत्ता को खो बैठे और यहाँ की संस्कृति तथा धर्म के साथ एकाकार हो गये। पर यह स्वीकार करना होगा कि प्राचीन वैदिक धर्म का जिस रूप में बाद के काल में विकास हुआ, उसे इन जातियों के धार्मिक विश्वासों तथा पूजाविधि ने भी प्रभावित किया और हिन्दू धर्म का जो रूप वर्तमान समय में विद्यमान है, वह इन जातियों द्वारा प्रभावित है और उसके अनेक तत्त्व इन जातियों की देन है। भारत के मूल निवासियों ने भी इस देश के धर्म तथा संस्कृति को प्रभावित किया है। इस ग्रन्थ में मैंने इस प्रभाव पर भी प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है।

(४) भारत बहुत बड़ा देश है। प्राचीन समय में यहाँ बहुत-से छोटे-बड़े जनपदों या राज्यों की सत्ता थी। उनकी शासन-संस्थाओं में भी भिन्नता थी, और सामाजिक संगठन तथा आर्थिक जीवन के रूप में भी। भारतीय इतिहास के विविध युगों में इन जनपदों के आकार तथा स्वरूप में भी परिवर्तन होते रहे। जनपद महाजनपदों के रूप में परिवर्तित हुए और महाजनपद साम्राज्यों के रूप में। इस दशा में यह स्वाभाविक था, कि भारत की सामाजिक संस्थाओं और आर्थिक जीवन में भी परिवर्तन होते रहे। इन परिवर्तनों के प्रमाण प्राचीन साहित्य—धर्मसूत्रों, स्मृतिग्रन्थों, पुराणों और काव्य साहित्य में

भी विद्यमान हैं। इसीलिए यह आवश्यक हो जाता है कि प्राचीन भारत के सामाजि आर्थिक जीवन का निरूपण करते हुए भारतीय इतिहास के विविध युगों में उसके स्व पर पृथक् रूप से प्रकाश डाला जाए। मैंने इस ग्रन्थ में इसी पद्धति का अनुसरण किया

(५) प्राचीन भारतीय सामाजिक जीवन का मूल तत्त्व वर्णाश्रम व्यवस्या थ प्राचीन विचारकों ने समाज को चार वर्णों में विभक्त किया था—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वै और शूद्र। पर भारत के सभी निवासी सदा इन चार वर्णों में विभक्त रहे हों, यह स्वीक कर सकना कठिन है। वस्तुतः, भारत में बहुत-सी जातियाँ हैं, जिनमें से बहुतों को कि भी वर्ण के अन्तर्गत नहीं किया जा सकता। जाट, गूजर, कायस्थ, बढ़ई, लुहार आदि ऐ ही जातियाँ हैं। इनका निर्माण व विकास किस प्रकार हुआ, भारतीय इतिहास का एक जटिल प्रश्न है। मैंने प्रतिपादित किया है कि भारत की अनेक जातियों (यथा ख अरोड़ा, अग्रवाल, सैनी, कोरी आदि) का विकास प्राचीन गणराज्यों से हुआ है, और अ अनेक जातियों (यथा कुम्हार, जुलाहे, बढ़ई, लुहार आदि) का पुराने समय की शिल श्रेणियों (गिल्ड) से। अनेक जातियाँ ऐसी भी हैं, जिनका उद्भव विदेशी आक्रान्ताओं तथा भारत के मूल निवासियों से माना जा सकता है। जातिभेद का यह विकास कति ऐसी ऐतिहासिक परिस्थितियों का परिणाम है, जो भारत में ही विद्यमान थीं। मैंने जा भेद के विकास की इस प्रक्रिया का विशद रूप से निरूपण किया है, और साथ ही इस त पर भी प्रकाश डाला है कि वर्ण-भेद और जातिभेद पृथक्-पृथक् हैं उन्हें और परस्पर मि सकना सम्भव नहीं है।

(६) प्राचीन भारत के आर्थिक जीवन में शिल्पियों और व्यापारियों के संगठ का बहुत महत्त्व था। शिल्पियों के संगठनों को 'श्रेणि' कहते थे, और व्यापारी लो 'निगमों' तथा 'सार्थों' में संगठित होकर अपना कार्य करते थे। निगम और श्रेणि स्वायत्त संस्थाएँ थीं, जिनके अपने कानून, परम्परागत धर्म, प्रथाएँ तथा व्यवहार हो थे। इन्हें राज्य द्वारा भी स्वीकार किया जाता था, और अपने क्षेत्र में ये अपना शास स्वयं किया करती थीं। मैंने इनके संगठन तथा अधिकार-क्षेत्र पर भी विशद रूप से प्रका डाला है, और साथ ही यह भी प्रतिपादित किया है कि प्राचीन भारत के सार्वजनि जीवन में इनका महत्त्व बहुत अधिक था।

(७) भारत के विविध प्राचीन जनपदों में विवाह, स्त्रियों की स्थिति, उत्तरा धिकार आदि के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की विभिन्नताएँ विद्यमान थीं। यवन, शक आ विदेशी जातियों के आक्रमणों के कारण इन सामाजिक संस्थाओं के स्वरूप में भी अने परिवर्तन हुए। जिन पर मैंने इस ग्रन्थ में प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है।

मुझे आशा है कि पाठक इस ग्रन्थ को उपयोगी पायेंगे और इस द्वारा वे प्राचीन भारत के धार्मिक, सामाजिक एवं आर्थिक जीवन के सम्बन्ध में समुचित जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

—सत्यकेतु विद्यालंकार

प्रकाशक का निवेदन

हिन्दी में इतिहास और राजनीतिशास्त्र विषयों पर उच्चकोटि के प्रामाणिक ग्रन्थों को लिखने के सम्बन्ध में जो महत्त्वपूर्ण कार्य डा० सत्यकेतु विद्यालंकार ने किया है, पाठक उससे भली-भाँति परिचित हैं। इन विषयों पर वे पच्चीस से भी अधिक ग्रन्थ लिख चुके हैं। भारत का प्राचीन इतिहास, यूरोप का आधुनिक इतिहास, मौर्य साम्राज्य का इतिहास मध्य एशिया तथा चीन में भारतीय संस्कृति, दक्षिण-पूर्वी और दक्षिणी एशिया में भारतीय संस्कृति, एशिया का आधुनिक इतिहास, प्राचीन भारत की शासन-संस्थाएँ और राजनीतिक विचार आदि पर जो ग्रन्थ उन्होंने लिखे हैं, हिन्दी साहित्य में उन्हें अत्यन्त आदर की दृष्टि से देखा जाता है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, उत्तर प्रदेश सरकार, मध्य प्रदेश शासन, बंगाल हिन्दी मण्डल कलकत्ता और नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी आदि ने अनेक उच्च पुरस्कारों द्वारा डा० विद्यालंकार के ग्रन्थों को सम्मानित किया है। इतिहास-विषयक उनके ग्रन्थ विद्यार्थियों और सर्वसाधारण पाठकों में इतने अधिक लोकप्रिय हुए हैं कि उनके पाँच-पाँच व इससे भी अधिक संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। डा० सत्यकेतु विद्यालंकार की विषय का प्रतिपादन करने की शैली अत्यन्त आकर्षक होती है, और वे ऐसी भाषा का प्रयोग करते हैं जो सुबोध तथा हृदयंगम हो। इसीलिए सर्वसाधारण पाठक भी उनके ग्रन्थों को रुचि के साथ पढ़ते हैं।

डा० विद्यालंकार के नये ग्रन्थ "प्राचीन भारत का धार्मिक, सामाजिक तथा आर्थिक जीवन" को पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करते हुए हमें हार्दिक प्रसन्नता है। इसमें प्राचीन भारतीय संस्कृति के तीन महत्त्वपूर्ण अंगों का विशद रूप से विवेचन किया गया है। प्राचीन वैदिक धर्म का क्या स्वरूप था, उसमें विकृति आने पर बौद्ध और जैन धर्मों के रूप में किस प्रकार धार्मिक सुधारणा का प्रारम्भ हुआ और फिर इन नये धार्मिक आन्दोलनों के विरुद्ध प्रतिक्रिया होकर पुराने वैदिक धर्म का पुनरुत्थान हुआ और यह सनातन भारतीय धर्म किस प्रकार विविध पौराणिक सम्प्रदायों के रूप में परिवर्तित हुआ—इस जटिल विषय का जिस प्रकार इस ग्रन्थ में सरल रीति से प्रतिपादन किया गया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। इसी प्रकार प्राचीन समय के वर्णभेद ने किस ढंग से और किन परिस्थितियों में जाति-भेद का रूप प्राप्त कर लिया, और किस प्रकार प्राचीन भारत के गणराज्य और शिल्पियों की श्रेणियों द्वारा विविध जातियों का विकास हुआ—इस विषय में जो विचार डा० विद्यालंकार ने प्रस्तुत किए हैं, वे सर्वथा मौलिक और युक्तिसंगत हैं।

हमें विश्वास है कि डा० विद्यालंकार के अन्य ग्रन्थों के समान इस ग्रन्थ का भी हिन्दी साहित्य में समुचित आदर होगा और पाठक इससे सन्तोष अनुभव करेंगे।

—**श्री सरस्वती सदन, मसूरी**

विषय-सूची

पहला अध्याय

वैदिक और उत्तर-वैदिक युगों का धार्मिक जीवन

(१) भारत की प्राचीनतम सभ्यता सिन्धु-घाटी

भारत की जिस प्राचीनतम सभ्यता के मूर्त अवशेष इस समय उपलब्ध हैं, उसे ऐतिहासिकों ने 'सिन्धु घाटी की सभ्यता' का नाम दिया है, यद्यपि इसका क्षेत्र सिन्धु नदी के प्रदेश तक ही सीमित नहीं था। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा इस सभ्यता के प्रधान नगर थे। इस सभ्यता के काल के सम्बन्ध में अभी विद्वानो में एकमत नहीं हो सका है, पर इस बात से सब सहमत हैं कि यह सभ्यता ईसवी सन् के प्रारम्भ से तीन हजार साल के लगभग पुरानी है। जिन लोगों ने भारत के बड़े भाग में व्याप्त इस प्राचीन सभ्यता का विकास किया था, जातीय दृष्टि से वे कौन थे, उनकी भाषा क्या थी और वे किस धर्म के अनुयायी थे—यह अभी ज्ञात नहीं हो सका है। पर इतिहास के विद्वान् प्रायः यह मानते हैं कि यह सभ्यता उस युग को सूचित करती है जबकि वैदिक आर्य भारत के रंगमंच पर प्रकट नहीं हुए थे। आर्यों ने भारत में प्रवेश कर इस सभ्यता को नष्ट किया, और उसके दुर्गों व पुरों को ध्वंस कर उनके निवासियों को अपने अधीन कर लिया। यद्यपि सिन्धु सभ्यता के लोग युद्ध में आर्यों से परास्त हो गये, पर धर्म, संस्कृति तथा आर्थिक क्षेत्र में उन्होंने अनेक प्रकार से अपने विजेताओं को प्रभावित किया। विशेषतया, उनके अनेक धार्मिक विश्वासों को आर्यों ने अपना लिया और उनके अनेक देवी-देवता भी उन द्वारा पूजे जाने लगे। अतः वैदिक युग के धार्मिक जीवन का प्रतिपादन करते हुए सिन्धु सभ्यता के धर्म पर भी प्रकाश डालना उपयोगी होगा।

सिन्धु सभ्यता का धर्म—सिन्धु-सभ्यता के लोगों के धार्मिक विश्वास क्या थे, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के भग्नावशेषों में कोई ऐसी इमारतें नहीं मिली हैं, जिन्हें निश्चित रूप से मन्दिर या धर्म-स्थान माना जा सके। सम्भवतः, इन नगरों में बहुत-से छोटे-छोटे मन्दिर भी थे, जिनके खंडहर अन्य मकानों से पृथक् नहीं किये जा सकते। मोहनजोदड़ो के मुख्य खेड़े के समीप ही एक बौद्ध स्तूप है, जो स्वयं भी एक प्राचीन खेड़े के ऊपर बना हुआ है। पुरातत्व विभाग ने इस स्तूप को गिराकर नीचे गड़े हुए प्राचीन भग्नावशेषों,की खुदाई नहीं की है। फिर भी इस स्तूप के चारों ओर के स्थान से जो बहुत-से अवशेष मिले हैं, उनसे सूचित होता है, कि इसके नीचे किसी विशाल इमारत के खंडहर दबे हुए हैं। अनेक विद्वानों का विचार है, कि यह विशाल इमारत किसी मन्दिर की है, जिसे सिन्धु-सभ्यता के निवासी पूजा-स्थान के रूप में प्रयुक्त करते थे। जो जगह एक समय में पवित्र मानी जाती है, उसे बाद के लोग भी पवित्र मानते रहते हैं। बौद्धों ने इस जगह पर अपना स्तूप इसीलिये

खड़ा किया था, क्योंकि पूर्ववर्ती समय में भी यह स्थान पूजापाठ के काम में आता था एक बड़ा जलाशय भी इस स्थान के समीप विद्यमान है। सम्भवतः, बौद्ध-स्तूप के नीचे दबी हुई विशाल इमारत मोहनजोदड़ो का प्रधान मन्दिर थी, और इस प्राचीन नगर के निवासी वहाँ पूजा-पाठ के लिये एकत्र होते थे।

मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के भग्नावशेषों में कुछ वस्तुएँ ऐसी मिली हैं, जिनके आधार पर हम सिन्धु-सभ्यता के लोगों के धर्म के विषय में कुछ उपयोगी बातें जान सकते हैं। ये वस्तुएँ मुद्राएँ (मोहरें) और धातु, पत्थर व मिट्टी की बनी हुई मूर्तियाँ हैं। पत्थर की बनी मूर्तियों में सबसे अधिक महत्त्व की वह मूर्ति है, जो कमर के नीचे से टूटी हुई है। यह केवल ७ इंच ऊँची है। अपनी अविकल दशा में यह मूर्ति अधिक बड़ी होगी, इसमें सन्देह नहीं। इस मूर्ति में मनुष्य को एक ऐसा चोगा पहने हुए दिखाया गया है, जो बायें कंधे के ऊपर और दायीं भुजा के नीचे से गया है। चोगे के ऊपर तीन हिस्से वाली पुष्पाकृति बनी है। सम्भवतः, यह पुष्पाकृति धार्मिक चिह्न की द्योतक थी, क्योंकि इस प्रकार का चिह्न मोहनजोदड़ो और हड़प्पा में बहुलता के साथ उपलब्ध है। मूर्ति के पुरुष की मूँछें मुँडी हुई हैं, यद्यपि दाढ़ी विद्यमान है। प्राचीन सुमेरिया में उपलब्ध अनेक दैवी और मानुषी-मूर्तियों में भी इसी प्रकार से मूँछें मुँडी हुई और दाढ़ी पाई जाती है। मूर्ति में आँखें मुंदी हुई व ध्यानमग्न दिखाई गई हैं। मूर्ति की ध्यानमुद्रा से प्रतीत होता है कि इसे योगदशा में बनाया गया है। इस बात से प्रायः सब विद्वान् सहमत हैं, कि सिन्धु-सभ्यता की यह मूर्ति किसी देवता की है, और इसका सम्बन्ध वहाँ के धर्म के साथ है।

पत्थर से बनी इस दैवी मूर्ति के अतिरिक्त मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के भग्नावशेषों में मिट्टी की भी बहुत-सी मूर्तियाँ मिली हैं। इनमें से एक प्रकार की स्त्री-मूर्ति विशेष रूप से उल्लेखनीय है, क्योंकि ऐसी मूर्तियाँ बहुत बड़ी संख्या में उपलब्ध हुई हैं। यह स्त्री-मूर्ति प्रायः नग्न दशा में बनाई गई है, यद्यपि कमर के नीचे जाँघों तक एक प्रकार का कपड़ा भी प्रदर्शित किया गया है। मूर्ति पर बहुत से आभूषण अंकित किये गये हैं, और सिर की टोपी पंखे के आकार की बनाई गयी है, जिसके दोनों ओर दो प्याले या दीपक हैं। ऐसी अनेक स्त्री-मूर्तियां में दीपक के बीच में धूम्र के निशान हैं, जिनसे यह सूचित होता है, कि इनमें तेल या धूप जलाई जाती थी। धूम्र की सत्ता इस बात का प्रमाण है, कि ये स्त्री-मूर्तियाँ पूजा के काम में आती थीं। संसार की प्रायः सभी प्राचीन सभ्यताओं में मातृ-देवता की पूजा की प्रथा विद्यमान थी। सिन्धु-सभ्यता में यदि लोग मातृ-देवता की पूजा करते हों, और उसकी मूर्ति के दोनों पार्श्वों में दीपक जलाते हों, तब यह स्वाभाविक ही है।

मातृ-देवता की मूर्तियों के अतिरिक्त मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के भग्नावशेषों में अनेक पुरुष-मूर्तियाँ भी मिली हैं, जिन्हें नग्न रूप में बनाया गया है। अनेक प्राचीन सभ्यताओं में लोग त्रिमूर्ति की उपासना किया करते थे। मातृ-देवता, पुरुष और बालक—ये इस त्रिमूर्ति के तीन अंग होते थे। सिन्धु-सभ्यता के अवशेषों में बालक देवता की कोई मूर्ति नहीं मिली है। अतः यह कल्पना तो नहीं की जा सकती, कि अन्य प्राचीन सभ्यताओं के समान यहाँ भी त्रिमूर्ति की उपासना प्रचलित थी, पर पुरुष-मूर्तियों की सत्ता

इस बात को अवश्य सूचित करती है, कि मातृ-देवता के अतिरिक्त वहाँ पुरुष-रूप में भी दैवी शक्ति की पूजा का भाव विद्यमान था।

सिन्धु-सभ्यता के धर्म के सम्बन्ध में अनेक ज्ञातव्य बातें उन मुद्राओं से ज्ञात होती हैं, जो मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के भग्नावशेषों में प्रचुर संख्या में उपलब्ध हुई हैं। इनमें से एक मुद्रा पर किसी ऐसे नग्न देवता की आकृति अंकित है, जिसके तीन मुख हैं, और जिसके सिर पर सींग बनाये गये हैं। इस दैव-मूर्ति के चारों ओर अनेक पशु बनाये गये हैं। ये पशु हिरण, गेंडा, हाथी, शेर और भैंसें हैं। अनेक विद्वानों का विचार है, कि यह आकृति पशुपति शिव की है, जिसकी पूजा आगे चलकर हिन्दू-धर्म में भी प्रारम्भ हुई। पशुपति शिव की प्रतिमा से अंकित तीन मुद्राएँ अब तक उपलब्ध हुई हैं। यदि इन तीन मुद्राओं में अंकित प्रतिमा को शिव की मान लिया जाय, तो यह स्वीकार करना होगा कि शैव-धर्म संसार के प्राचीनतम धर्मों में से एक है।

सिन्धु-सभ्यता के लोग मातृ-देवता की पूजा के साथ-साथ प्रजनन-शक्ति की भी उपासना करते थे। वहाँ ऐसे अनेक प्रस्तर मिले हैं, जिन्हें विद्वान् लोग योनि और लिंग के प्रतीक मानते हैं। बाद में हिन्दू-धर्म में योनि और लिंग की पूजा ने बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया। शैव-धर्म में इस प्रकार की पूजा सम्मिलित है, और अनेक शैव-मन्दिरों में योनि और लिंग की प्रतिमा स्थापित की जाती है। कोई आश्चर्य नहीं, कि पशुपति शिव के उपासक सिन्धु-सभ्यता के लोग योनि और लिंग की प्रतिमा बनाकर प्रकृति की प्रजनन-शक्ति की भी पूजा करते हों।

मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के भग्नावशेषों में उपलब्ध अनेक मुद्राओं पर पीपल का वृक्ष भी अंकित है। अब तक भी हिन्दू-धर्म में पीपल का वृक्ष पवित्र माना जाता है। बौद्ध-धर्म में भी बोधिवृक्ष के रूप में पीपल की पूजा विद्यमान है। कोई आश्चर्य नहीं, कि भारत में पीपल सदृश वृक्षों की पूजा सिन्धु-सभ्यता के युग से चली आती हो, और इसी सभ्यता के लोगों द्वारा इस ढंग की पूजा बाद के हिन्दू-धर्म में प्रविष्ट हुई हो। अनेक मुद्राओं पर कतिपय पशुओं की प्रतिमाएं भी अंकित हैं, और कुछ पशुओं की मूर्तियाँ भी मिली हैं। हिन्दू-धर्म में विविध देवताओं के वाहन-रूप में जो बैल, मूषक आदि पशुओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है, सम्भवतः उसका प्रारम्भ भी सिन्धु-सभ्यता के युग में ही हुआ था।

(२) वैदिक साहित्य

वैदिक युग के आर्यों के धार्मिक जीवन का परिचय प्राप्त करने का सबसे उत्तम साधन वे ग्रंथ हैं जिन्हें संसार का सबसे पुराना साहित्य माना है और जिन्हें सामूहिक रूप से वैदिक साहित्य कहते हैं। प्राचीन भारत में जिन विविध धार्मिक सम्प्रदायों का विकास हुआ, प्रायः उन सब ने वैदिक-साहित्य से ही प्रेरणा प्राप्त की, और उनके मन्तव्यों, विश्वासों तथा पूजा विधि के मूल स्रोत वेद ही हैं। अतः यहाँ वैदिक साहित्य का संक्षिप्त रूप से परिचय देना उपयोगी होगा।

वैदिक संहिता—आर्य जाति का सबसे प्राचीन साहित्य वेद है। वेद का अर्थ है, ज्ञान। वेद मुख्यतया पद्य में हैं, यद्यपि उनमें गद्य भाग भी विद्यमान है। वैदिक पद्य को

ऋक् या ऋचा कहते हैं, वैदिक पद्य को यजुष् कहा जाता है, और वेदों में जो गीतात्मक (छन्द रूप) पद्य हैं, उन्हें साम कहते हैं। ऋचाओं व सामों के एक समूह का नाम सूक्त होता है, जिसका अर्थ है उत्कृष्ट उक्ति या सुभाषित। वेद में इस प्रकार के हजारों सूक्त विद्यमान हैं। प्राचीन समय में वेदों को 'त्रयी' भी कहते थे। ऋचा, यजुष् और साम—इन तीन प्रकार के पदों में होने के कारण ही वेद की 'त्रयी' संज्ञा भी थी।

पर वैदिक मंत्रों का संकलन जिस रूप में आजकल उपलब्ध होता है, उसे 'संहिता' कहते हैं। विविध ऋषि-वंशों में जो मन्त्र श्रुति द्वारा चले आते थे, बाद में उनका संकलन व संग्रह किया गया। पहले वेद-मन्त्रों को लेखबद्ध करने की परिपाटी शायद नहीं थी। गुरु-शिष्य परम्परा व पिता-पुत्र परम्परा द्वारा ये मन्त्र ऋषि-वंशों में स्थिर रहते थे, और उन्हें श्रुति (श्रवण)द्वारा शिष्य गुरु से या पुत्र पिता से जानता था। इसी कारण उन्हें श्रुति भी कहा जाता था। विविध ऋषि-वंशों में जो विविध सूक्त श्रुति द्वारा चले आते थे, धीरे-धीरे बाद में उनको संकलित किया जाने लगा। इस कार्य का प्रधान श्रेय मुनि वेदव्यास को है। यह महाभारत-युद्ध का समकालीन था, और असाधारण रूप से प्रतिभाशाली विद्वान् था। इसका वैयक्तिक नाम कृष्ण द्वैपायन था, पर इसे वेदव्यास इसलिये कहा जाता है, क्योंकि इसने वेदों का संकलन व वर्गीकरण किया था। वेदव्यास ने वैदिक सूक्तों का संहिता रूप में संग्रह किया। उसके द्वारा संकलित वैदिक संहिताएँ चार हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। चार वैदिक संहिताओं के अतिरिक्त कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास ने सूत, चारण व मागधों में चली आती हुई राजवंशों की अनुश्रुति का भी संग्रह किया। उसके ये संग्रह 'पुराण' कहे जाते हैं। वैदिक संहिताओं में जिस प्रकार ऋषिवंशों की 'श्रुति' संगृहीत है, वैसे ही पुराणों में आर्य-राजवंशों के साथ सम्बन्ध रखने वाली 'अनुश्रुति' संकलित है। वेदव्यास को अठारहों पुराणों का 'कर्ता' कहा गया है, पर वस्तुतः वे पुराणों के 'कर्ता' न होकर 'संकलियता' थे। राजवंशों के प्रतापी राजाओं के वीर कृत्यों का आख्यान उस युग के सूतों व चारणों द्वारा किया जाता था। इन सूत वंशों में राजवंशों के आख्यान व गाथाएँ वैसे ही पिता-पुत्र परम्परा से चली आती थीं, जैसे कि ऋषि-वंशों में सूक्तों की श्रुति। वेदव्यास ने इन सबका संग्रह किया। इसमें संदेह नहीं, कि मुनि वेद-व्यास अपने युग का सबसे बड़ा विद्वान् और संकलनकर्ता था।

कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास को अपने समय में विद्यमान प्राचीन 'श्रुति' व 'अनुश्रुति' का संकलन करने की प्रवृत्ति शायद इस कारण हुई थी, क्योंकि इस समय तक आर्यों में लिपि व लेखन प्रणाली का प्रारम्भ हो चुका था। जो ज्ञान पहले श्रुति द्वारा चला आता था, उसे अब लेखबद्ध किया जा सकता था और उसका उपयोग केवल विशिष्ट ऋषि-वंशों व सूतवंशों के लोग ही नहीं, अपितु अन्य लोग भी कर सकते थे।

चार वेद—अब हम इस स्थिति में हैं, कि चारों वैदिक संहिताओं का संक्षेप के साथ परिचय दे सकें। ऋग्वेद में कुल मिलाकर १०१७ सूक्त हैं। यदि ११ बालखिल्य सूक्तों को भी इसमें अन्तर्गत कर लिया जाय, तो ऋग्वेद के कुल सूक्तों की संख्या १०२८ हो जाती है। सम्भवतः, ये बालखिल्य सूक्त परिशिष्ट रूप में हैं, और बाद में जोड़े गये हैं। यही कारण है, कि अनेक विद्वान् इन्हें ऋग्वेद का अंग नहीं मानते, और इस वेद की

कुल सूक्त संख्या १०१७ समझते हैं। ये १०१७ या १०२८ सूक्त १० मण्डलों में विभक्त हैं। वेद के प्रत्येक सूक्त व ऋचा (मन्त्र) के साथ उसके 'ऋषि' और 'देवता' का नाम दिया गया है। ऋषि का अर्थ है, मन्त्रद्रष्टा या मन्त्र का दर्शन करने वाला। जो लोग वेदों को ईश्वरीय ज्ञान मानते हैं, उनके अनुसार वेदों का निर्माण तो ईश्वर द्वारा हुआ था, पर इस वैदिक ज्ञान को अभिव्यक्त करने वाले ये ऋषि ही थे। पर आधुनिक विद्वान् वैदिक ऋषियों का अभिप्राय यह समझते हैं कि ये ऋषि मन्त्रों के निर्माता थे। वैदिक देवता का अभिप्राय उस देवता से है, जिसकी उस मन्त्र में स्तुति की गयी है, या जिसके सम्बन्ध में मन्त्र में प्रतिपादन किया गया है।

ऋग्वेद के ऋषियों में सर्वप्रधान गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भारद्वाज, और वशिष्ठ हैं। इन छः ऋषियों व इनके वंशजों ने ऋग्वेद के दूसरे, तीसरे, चौथे, पाँचवें, छठे और सातवें मण्डलों का दर्शन व निर्माण किया था। आठवें मण्डल के ऋषि कण्व और आंगिरस वंश के हैं। प्रथम मण्डल के पचास सूक्त भी कण्व-वंश के ऋषियों द्वारा निर्मित हुए। अन्य मण्डलों व प्रथम मण्डल के अन्य सूक्तों का निर्माण अन्य विविध ऋषियों द्वारा हुआ, जिन सबके नाम इन सूक्तों के साथ में मिलते हैं। इन ऋषियों में वैवस्वत मनु, शिवि और औशीनर, प्रतर्दन, मधुछन्दा और देवापि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ऋग्वेद के इन ऋषियों में कतिपय स्त्रियाँ भी हैं, जिनमें लोपामुद्रा प्रमुख है। लोपामुद्रा राजकुल में उत्पन्न हुई थी। वह विदर्भ-राज की कन्या और अगस्त्य ऋषि की पत्नी थी।

यजुर्वेद के दो प्रधान रूप इस समय मिलते हैं, शुक्ल यजुर्वेद और कृष्णयजुर्वेद। शुक्ल यजुर्वेद को वाजसनेयी संहिता भी कहते हैं, जिसकी दो शाखाएं उपलब्ध हैं—कण्व और माध्यन्दिनीय। कृष्ण यजुर्वेद की चार शाखाएं प्राप्त होती हैं, काठक संहिता, कपिष्ठल संहिता, मैत्रेयी संहिता और तैत्तिरीय संहिता। विविध ऋषि वंशों व सम्प्रदायों में श्रुति द्वारा चले आने के कारण मूल वेदमन्त्रों में पाठ भेद का हो जाना असम्भव नहीं था। सम्भवतः, इसी कारण यजुर्वेद की ये विविध शाखाएं बनीं। इन शाखाओं में अनेक स्थानों पर मंत्रों में पाठभेद पाया जाता है। इनमें यजुर्वेद की वासनेयी संहिता सबसे महत्त्वपूर्ण है, और बहुत से विद्वान् उसे ही असली यजुर्वेद मानते हैं। यह चालीस अध्यायों में विभक्त है। इनमें उन मन्त्रों का पृथक्-पृथक् रूप से संग्रह किया गया है, जो विविध याज्ञिक अनुष्ठानों में प्रयुक्त किये जाते थे। यजुर्वेद का अन्तिम अध्याय ईशोपनिषद् है, जिसका सम्बन्ध याज्ञिक अनुष्ठान के साथ न होकर अध्यात्म-चिन्तन के साथ में है।

सामवेद की तीन शाखाएं इस समय मिलती हैं, कौथुम शाखा, राणायनीय शाखा और जैमिनीय शाखा। इनका आधार भी पाठभेद है। सम्भवतः, पहले सामवेद की अन्य भी बहुत-सी शाखाएं विद्यमान थीं। पुराणों में तो सामवेद की सहस्त्र शाखाओं का उल्लेख है। वर्तमान समय में उपलब्ध शाखाओं में कौथुम-शाखा अधिक प्रचलित व प्रामाणिक है। सामवेद के दो भाग हैं, पूर्वार्चिक और उत्तरार्चिक। दोनों भागों को मिलाकर मंत्र-संख्या १८१० है। इसमें अनेक मन्त्र ऐसे भी हैं, जो एक से अधिक बार आये हैं। यदि इन्हें अलग कर दिया जाय, तो सामवेद के मन्त्रों की कुल संख्या १५४९ रह जाती है। इनमें से भी १४७४ मन्त्र ऐसे हैं, जो ऋग्वेद में भी पाये जाते हैं। इस

प्रकार सामवेद के अपने मन्त्रों की संख्या केवल ७५ रह जाती है। सम्भवतः, सामवेद में ऐसी ऋचाओं का पृथक् रूप से संग्रह कर दिया गया है, जिन्हें गीत के रूप में गाया जा सकता है। साम रूप में ऋचाएं वैदिक ऋषियों द्वारा संगीत के लिए भी प्रयुक्त होती थीं।

अथर्ववेद की दो शाखाएं इस समय मिलती हैं, शौनक और पिप्पलाद। इनमें शौनक शाखा अधिक प्रसिद्ध है, और उसे ही प्रामाणिक रूप से स्वीकार किया जाता है। अथर्ववेद में कुल मिलाकर २० काण्ड और ७३२ सूक्त हैं। सूक्तों के मन्त्रों को यदि गिना जाय, तो उनकी संख्या ६००० के लगभग पहुँच जाती है। इसमें भी बहुत-से मन्त्र ऐसे हैं, जो ऋग्वेद में भी पाये जाते हैं।

ब्राह्मण-ग्रंथ—वैदिक साहित्य में चार वैदिक संहिताओं के अतिरिक्त ब्राह्मण-ग्रन्थों को भी सम्मिलित किया जाता है। इन ब्राह्मण-ग्रन्थों में उन अनुष्ठानों का विशद रूप से वर्णन है, जिनमें वैदिक मन्त्रों को प्रयुक्त किया जाता हो। अनुष्ठानों के अतिरिक्त इनमें वेदमन्त्रों के अभिप्राय व विनियोग की विधि का भी वर्णन है। प्रत्येक ब्राह्मण-ग्रन्थ का किसी वेद के साथ सम्बन्ध है, और उसे उसी वेद का ब्राह्मण माना जाता है। यहाँ यह आवश्यक है कि हम प्रत्येक वेद के साथ सम्बन्ध रखने वाले ब्राह्मण-ग्रन्थों का संक्षेप के साथ उल्लेख करें, क्योंकि ब्राह्मण-ग्रन्थों का परिचय दिये बिना वैदिक-साहित्य का वर्णन पूरा नहीं हो सकता।

ऋग्वेद का प्रधान ब्राह्मण-ग्रन्थ ऐतरेय है। इसमें कुल मिलाकर चालीस अध्याय हैं। अनुश्रुति के अनुसार ऐतरेय ब्राह्मण का रचयिता महीदास ऐतरेय था। पर संभवतः महीदास इस ब्राह्मण ग्रन्थ का रचयिता न होकर संकलनकर्ता मात्र था, क्योंकि ऋग्वेद के समान इस ब्राह्मण का निर्माण भी एक सुदीर्घ युग में याज्ञिक अनुष्ठानों के विकास के साथ-साथ हुआ था। ऋग्वेद का दूसरा ब्राह्मण ग्रन्थ कौशीतकी या सांख्यायन ब्राह्मण है। सम्भवतः, यह ब्राह्मण किसी एक व्यक्ति की ही रचना है।

कृष्ण यजुर्वेद का ब्राह्मण तैत्तिरीय है। शुक्ल और कृष्ण यजुर्वेद में मुख्य भेद यह है, कि जहाँ शुक्ल यजुर्वेद में केवल मन्त्र भाग है, वहाँ कृष्ण यजुर्वेद में ब्राह्मण-भाग भी अन्तर्गत है। उनमें मन्त्रों के साथ-साथ विधि-विधान व याज्ञिक अनुष्ठान के साथ सम्बन्ध रखने वाले ब्राह्मण भाग को भी दे दिया गया है। अतः तैत्तिरीय ब्राह्मण रचना की दृष्टि से कृष्ण यजुर्वेद से बहुत भिन्न नहीं है। शुक्ल यजुर्वेद का ब्राह्मण शतपथ है, जो अत्यन्त विशाल ग्रन्थ है। इसमें कुल मिलाकर सौ अध्याय हैं, जिन्हें चौदह काण्डों में विभक्त किया गया है। शतपथ ब्राह्मण में न केवल याज्ञिक अनुष्ठानों का बड़े विशद रूप से वर्णन किया गया है, पर साथ ही इस बात पर भी विचार किया गया है, कि इन विविध अनुष्ठानों का क्या प्रयोजन है, और इन्हें क्यों यज्ञ का अंग बनाया गया है। शतपथ ब्राह्मण का रचयिता याज्ञवल्क्य ऋषि को माना जाता है। सम्भवतः, यह विशाल ग्रन्थ किसी एक ऋषि की रचना न होकर अनेक ऋषियों की कृति है।

सामवेद के तीन ब्राह्मण हैं, ताण्ड्य महाब्राह्मण, षड्विंश ब्राह्मण और जैमिनीय ब्राह्मण। अनेक विद्वानों के अनुसार ये तीनों ब्राह्मण अन्य ब्राह्मण-ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक प्राचीन हैं।

अथर्ववेद का ब्राह्मण गोपथ है। अनेक विद्वानों की सम्मति में यह बहुत प्राचीन नहीं है, और इसमें उस ढंग से याज्ञिक अनुष्ठानों का वर्णन नहीं है, जैसे कि अन्य ब्राह्मण-ग्रन्थों में पाया जाता है।

आरण्यक तथा उपनिषद्— इसमें सन्देह नहीं कि भारत के प्राचीन आर्यों के धर्म में यज्ञों की प्रधानता थी। यज्ञ के विधि-विधानों व अनुष्ठानों को वे बहुत महत्व देते थे। इसीलिये याज्ञिक अनुष्ठानों के प्रतिपादन व उनमें वैदिक मन्त्रों के विनियोग को प्रदर्शित करने के लिए उन्होंने ब्राह्मण-ग्रन्थों की रचना की थी। पर साथ ही, वैदिक ऋषि आध्यात्मिक, दार्शनिक व पारलौकिक विषयों का भी चिन्तन किया करते थे। आत्मा क्या है, सृष्टि की उत्पत्ति किस प्रकार हुई, सृष्टि किन तत्त्वों से बनी है, इस सृष्टि का कर्त्ता व नियामक कौन है, जड़ प्रकृति से भिन्न जो चेतन सत्ता है उसका क्या स्वरूप है—इस प्रकार के प्रश्नों पर भी वे विचार किया करते थे। इन गूढ़ विषयों का चिन्तन करने वाले ऋषि व विचारक प्रायः जंगलों या अरण्यों में निवास करते थे, जहाँ वे आश्रम बनाकर रहते थे। यहीं उस साहित्य की सृष्टि हुई, जिसे आरण्यक तथा उपनिषद् कहते हैं। अनेक आरण्यक ब्राह्मण-ग्रन्थों के ही भाग हैं। इससे सूचित होता है कि याज्ञिक अनुष्ठानों में लगे हुए याज्ञिक व ऋषि लोग यज्ञों को ही अपना ध्येय नहीं समझते थे, अपितु आध्यात्मिक चिन्तन में भी वे तत्पर रहते थे। याज्ञवल्क्य आदि अनेक ऋषि जहाँ याज्ञिक अनुष्ठानों के प्रतिपादक थे, वहाँ साथ ही अध्यात्म-चिन्तन करने वाले भी थे। इन ऋषियों ने अरण्य में स्थापित आश्रमों में जिन आरण्यकों तथा उपनिषदों का विकास किया, उनकी संख्या दो सौ से भी ऊपर है। इनमें से कतिपय प्रमुख उपनिषदों का यहाँ उल्लेख करना आवश्यक है, क्योंकि ये भी वैदिक साहित्य के महत्त्वपूर्ण अंग हैं।

(१) ऐतरेय उपनिषद्—यह ऋग्वेद के ऐतरेय ब्राह्मण का एक भाग है। ऋग्वेद के दूसरे ब्राह्मण ग्रन्थ कौशीतकी ब्राह्मण के अन्त में भी एक आरण्यक भाग है, जिसे कौशीतकी आरण्यक व कौशीतकी उपनिषद् कहते हैं।

(२) यजुर्वेद का अन्तिम अध्याय ईशोपनिषद् के रूप में है। शुक्ल यजुर्वेद के ब्राह्मण-ग्रन्थ शतपथ ब्राह्मण का अन्तिम भाग आरण्यक रूप से है, जिसे बृहदारण्यकोपनिषद् कहते हैं। कृष्ण यजुर्वेद के ब्राह्मण-ग्रन्थों के अन्तर्गत कठ उपनिषद्, श्वेताश्वतरोपनिषद्, तैत्तरीयउपनिषद् और मैत्रायणीय उपनिषद् हैं।

(३) सामवेद के ब्राह्मण-ग्रन्थों के साथ सम्बन्ध रखने वाली उपनिषदें केन और छान्दोग्य है।

(४) अथर्ववेद के साथ मुण्डक उपनिषद्, प्रश्न उपनिषद् और माण्डूक्य उपनिषद् का सम्बन्ध है।

आरण्यक व उपनिषदें गद्य और पद्य दोनों में हैं। भाषा और छन्द की दृष्टि से ये वैदिक संहिता से बहुत भिन्न हैं। इससे अनुमान किया जाता है कि इनका निर्माण वैदिक-सूक्तों के पर्याप्त बाद हुआ था। अध्यात्म-चिन्तन और दार्शनिक विचारों की दृष्टि से ये आरण्यक-ग्रन्थ बहुत महत्त्व रखते हैं। बाद के समय में भारत में जो अनेक

दार्शनिक सम्प्रदाय प्रचलित हुए, उन्होंने अपने पक्ष की पुष्टि के लिए इन उपनिषदों का आश्रय लिया और उन्हें प्रमाण-रूप से भी प्रस्तुत किया।

(३) वैदिक युग का धर्म

देवता—वैदिक साहित्य प्रधानतया धर्मपरक है। अतः इस युग के धार्मिक विश्वासों के सम्बन्ध में उनसे बहुत विशद रूप से परिचय प्राप्त होता है। वैदिक युग के आर्य विविध देवताओं की पूजा करते थे। इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, यम आदि ऐसे अनेक देवता थे, जिन्हें तृप्त व सन्तुष्ट करने के लिए वे अनेक विविध-विधानों का अनुसरण करते थे। संसार का स्रष्टा, पालक व संहर्ता एक ईश्वर है, यह विचार वैदिक आर्यों में भली-भाँति विद्यमान था। उनका कथन था कि इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, सुपर्ण, गुरुत्मान्, मातरिश्वा, यम आदि सब एक ही सत्ता के विविध नाम हैं, और उस एक सत्ता को ही विद्वान् लोग इन्द्र, मित्र आदि विविध नामों से पुकारते हैं। सम्भवतः, एक ईश्वर की यह कल्पना बाद में विकसित हुई, और प्रारम्भ में आर्य लोग प्रकृति की विविध शक्तियों को देवता के रूप में मान कर उन्हीं की उपासना करते थे। प्रकृति में हम अनेक शक्तियों को देखते हैं। वर्षा, धूप, सरदी, गरमी सब एक नियम से होती हैं। इन प्राकृतिक शक्तियों के कोई अधिष्ठातृ-देवता भी होने चाहिएं, और इन देवताओं की पूजा द्वारा मनुष्य अपनी सुख-समृद्धि में वृद्धि कर सकता है, यह विचार प्राचीन आर्यों में विद्यमान था। प्राकृतिक दशा को सम्मुख रखकर वैदिक देवताओं को तीन भागों में बाँटा जा सकता है—(१) द्युलोक के देवता, यथा सूर्य, सविता, मित्र, पूषा, विष्णु, वरुण और मित्र। (२) अन्तरिक्षस्थनीय देवता, यथा इन्द्र, वायु, मरुत् और पर्जन्य। (३) पृथिवी-स्थानीय देवता, यथा, अग्नि, सोम और पृथिवी। द्युलोक, अन्तरिक्षलोक और पृथिवीलोक के विभिन्न क्षेत्रों में प्रकृति की जो शक्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं, उन सबको देवतारूप में मानकर वैदिक आर्यों ने उनकी स्तुति में विविध सूक्तों व मन्त्रों का निर्माण किया था। अदिति, उषा, सरस्वती आदि के रूप में वेदों में अनेक देवियों का भी उल्लेख है, और उनके स्तवन में भी अनेक मन्त्रों का निर्माण किया गया है। यद्यपि बहुसंख्यक वैदिक देवी-देवता [illegible]तिक शक्तियों व सत्ताओं के मूर्त्तरूप हैं, पर कतिपय देवता ऐसे भी हैं, जिन्हें भा[illegible] समझा जा सकता है। मनुष्यों में श्रद्धा, मन्यु (क्रोध) आदि की जो विविध भावनाएँ हैं, उन्हें भी वेदों में दैवी रूप प्रदान किया गया है।

विधि—इन विविध देवताओं की पूजा के लिए वैदिक आर्य अनेकविध यज्ञों का अनुष्ठान करते थे। यज्ञकुण्ड में अग्नि का आधान कर दूध, घी, अन्न, सोम आदि सामग्री की आहुति दी जाती थी। यह समझा जाता था, कि अग्नि में दी हुई आहुति देवताओं तक पहुँच जाती है, और अग्नि इस आहुति के लिए वाहन का कार्य करती है। वैदिक युग में यज्ञों में मांस की आहुति दी जाती थी या नहीं, इस सम्बन्ध में मतभेद हैं। महाभारत में संकलित एक प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार पहले यज्ञों में पशुबलि दी जाती थी। बाद में राजा वसु चैद्योपरिचर के समय में इस प्रथा के विरुद्ध आन्दोलन प्रबल हुआ। इस बात में तो सन्देह की कोई गुंजाइश नहीं है, कि बौद्ध-युग से पूर्व भारत में एक ऐसा

समय अवश्य था, जब यज्ञों में पशुहिंसा का रिवाज था। पर वेदों के समय में भी यह प्रथा विद्यमान थी, यह बात संदिग्ध है। वेदों में स्थान-स्थान पर घृत, अन्न व सोम द्वारा यज्ञों में आहुति देने का उल्लेख है, पर अश्व, अजा आदि पशुओं की बलि का स्पष्ट वर्णन वैदिक संहिताओं में नहीं मिलता।

याज्ञिक कर्मकाण्ड के अतिरिक्त स्तुति और प्रार्थना भी देवताओं की पूजा के महत्त्वपूर्ण साधन थे। वेदों के बहुत से सूक्तों व ऋचाओं में विभिन्न देवताओं की स्तुति ही की गई है। ऋग्वेद के देवताओं में इन्द्र का स्थान विशेष महत्त्व का है। उसकी स्तुति में कही गई ऋचाओं की संख्या २५० के लगभग है। विभिन्न देवताओं की स्तुति में जो मन्त्र वेदों में आये हैं, उनमें उन देवताओं के गुणों एवं शक्तियों का विशदरूप से वर्णन है। इस प्रकार के मन्त्रों द्वारा देवता के गुणों का ध्यान कर मनुष्य उन गुणों को अपने में धारण व विकसित करने की आशा रखते थे, और देवपूजा की यह भी एक विधि थी।

आर्यभिन्न तत्त्व—आर्यों ने जिन आर्यभिन्न जातियों को विजय कर अपनी सत्ता की स्थापना की, उनके धर्म का भी उन पर प्रभाव पड़ा। ऋग्वेद के एक मन्त्र में यह प्रार्थना की गयी है, कि 'शिश्नदेव' हमारे यज्ञ को न बिगाड़ें। हम पहले लिख चुके हैं, कि सिन्धु-घाटी की प्राचीन सभ्यता के निवासियों में शिश्न (लिंग) की पूजा प्रचलित थी। मोहन-जोदड़ो और हड़प्पा के भग्नावशेषों में ऐसे अनेक शिश्न (जो पत्थर के बने हैं) उपलब्ध भी हुए हैं। ऋग्वेद में ही एक अन्य स्थान पर शिश्नदेवों के पुर के विजय का भी उल्लेख है। वैदिक युग के आर्य लिंग के रूप में प्रकृति की प्रजनन-शक्ति के उपासकों से घृणा करते थे, पर बाद में आर्य-जाति ने पूजा की इस विधि को भी अपना लिया, और शिव-लिंग के रूप में शिश्नदेव की पूजा आर्यों में भी प्रचलित हो गयी। इसी प्रकार अथर्ववेद में अनेक जादू टोने पाये जाते हैं, जो आर्य-भिन्न जातियों से ग्रहण किये गये थे। साँप का विष उतारने के मन्त्रों में तैमात, आलिगी, विलिगी, उरुगुला आदि अनेक शब्द आये हैं। अनेक विद्वानों के मत में ये शब्द वैदिक भाषा के न होकर कैल्डियन भाषा के हैं। कैल्डियन लोग ईराक के क्षेत्र में निवास करते थे, और आर्यभिन्न जाति के थे। सिन्धु सभ्यता के लोगों का पश्चिमी एशिया के विविध प्रदेशों से व्यापारिक सम्बन्ध था। कोई आश्चर्य नहीं, कि तैमात आदि ये शब्द पश्चिमी एशिया से सिन्धु-सभ्यता में आये हों, और बाद में आर्यों ने इन्हें सिन्धु-सभ्यता के लोगों से ग्रहण किया हो।

तत्त्व चिन्तन—यहाँ हमारे लिये यह सम्भव नहीं है, कि हम वैदिक देवताओं के स्वरूप का विशद रूप से वर्णन कर सकें। पर इतना लिख देना आवश्यक है, कि देवताओं के रूप में प्राचीन आर्य प्रकृति की विविध शक्तियों की पूजा करते थे, और यह विचार उनमें भली-भाँति विद्यमान था कि ये सब देवता एक ही सत्ता की विविध अभिव्यक्तियाँ हैं। वैदिक आर्य केवल देवताओं की पूजा और याज्ञिक अनुष्ठान में ही तत्पर नहीं थे, अपितु वे उस तत्त्व-चिन्तन में भी लगे थे, जिसने आगे चलकर उपनिषदों और दर्शन-शास्त्रों को जन्म दिया। यह सृष्टि कैसे उत्पन्न हुई, सृष्टि से पहले क्या दशा थी, जब सृष्टि नहीं रहेगी, तो क्या अवस्था होगी—इस प्रकार के प्रश्नों पर भी वैदिक युग में

विचार किया जाता था। वैदिक संहिताओं में ऐसे अनेक सूक्त आते हैं, जिनमें इस प्रकार के प्रश्नों पर बहुत सुन्दर व गम्भीर विचार किया गया है। यह सृष्टि जिससे उत्पन्न हुई है, जो इसका धारण करता है, जो इसका अन्त कर प्रलय करता है, जो इस सम्पूर्ण विश्व का स्वामी व पालनकर्ता है, हे प्रिय मनुष्य! तू उसको जान, अन्य किसी को जानने का प्रयत्न न कर। इस विश्व में पहले केवल तम (अन्धकार) था, अत्यन्त गूढ़तम था। तब सृष्टि विकसित नहीं हुई थी, सर्वत्र प्रकृति अपने आदि रूप में विद्यमान थी। उस सर्वोच्च सत्ता ने अपनी तपःशक्ति द्वारा तब इस सृष्टि को उत्पन्न किया। भूत, वर्तमान व भविष्य में जो कुछ भी इस संसार में है, वह सब उसी 'पुरुष' में से उत्पन्न होता है—इस प्रकार के कितने ही विचार वैदिक मन्त्रों में उपलब्ध होते हैं, और उस तत्त्व-चिन्तन को सूचित करते हैं, जिसमें वैदिक युग के अनेक ऋषि व विचारक संलग्न थे।

क्योंकि वैदिक युग के देवता प्राकृतिक शक्तियों के रूप थे, अतः उनकी मूर्ति बनाने व इन मूर्तियों की पूजा करने की पद्धति सम्भवतः वैदिक युग में विद्यमान नहीं थी। वैदिक आर्य देवताओं की पूजा के लिये ऐसे मन्दिरों का भी निर्माण नहीं करते थे, जिनमें मूर्तियाँ प्रतिष्ठित हों। वैदिक युग में देवताओं की पूजा का ढंग याज्ञिक अनुष्ठान ही था।

(४) उत्तर-वैदिक युग और उसका धार्मिक जीवन

उत्तर-वैदिक युग का साहित्य—भारत के प्राचीन आर्य ऋषियों ने जिन सूक्तों (सुभाषितों) का निर्माण या दर्शन किया, वे वैदिक संहिताओं में संगृहीत हैं। बाद में इन वैदिक सूक्तों की व्याख्या के प्रयोजन से और याज्ञिक अनुष्ठानों में उनके विनियोग के लिए ब्राह्मण-ग्रन्थों की रचना हुई। उपनिषदों तथा आरण्यकों में वे विचार संकलित किये गये, जो अध्यात्मचिन्तन के सम्बन्ध में थे। संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद इनको वैदिक साहित्य के अन्तर्गत माना जाता है, यद्यपि आर्य जाति की दृष्टि में जो आदर वैदिक संहिताओं का है, वह ब्राह्मण-ग्रन्थों आदि का नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि ब्राह्मण और आरण्यक-उपनिषद वैदिक संहिताओं की तुलना में बाद के समय के हैं। वेदों का बड़ा भाग महाभारत-युद्ध से पहले अपने वर्तमान रूप में आ चुका था। पर ब्राह्मण-ग्रन्थों और आरण्यक-उपनिषदों का निर्माण इस युद्ध के पश्चात् के समय में हुआ। इसी काल में उस साहित्य का भी विकास हुआ, जिसे उत्तर-वैदिक युग का माना जाता है। यह साहित्य वेदाङ्गों, उपवेदों, इतिहास, पुराण, नीति ग्रन्थों और दर्शन-ग्रन्थों के रूप हैं। वेदाङ्ग छह हैं—शिक्षा, छन्द, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और कल्प। शिक्षा का अभिप्राय उस शास्त्र से है, जिसमें वर्णों और शब्दों का सही उच्चारण प्रतिपादित किया जाता है। इसके प्राचीन ग्रन्थ प्रातिशाख्य कहाते हैं। छन्दशास्त्र में वैदिक छन्दों का निरूपण किया गया है। शिक्षा, छन्द, व्याकरण, निरुक्त और ज्योतिष का धार्मिक जीवन से विशेष सम्बन्ध नहीं है। आर्यों के वैयक्तिक, पारिवारिक और सामाजिक जीवन के क्या नियम हों, वे किन संस्कारों और याज्ञिक कर्मकाण्ड का अनुष्ठान करें—इस महत्त्व-पूर्ण विषय का प्रतिपादन कल्प वेदाङ्ग में किया जाता है। इसी कारण आर्यों के प्राचीन

धार्मिक जीवन का परिचय प्राप्त करने के लिये कल्प का विशेष उपयोग है। इस वेदाङ्ग के तीन भाग हैं—श्रौत सूत्र, गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र। ब्राह्मण-ग्रन्थों में याज्ञिक कर्मकाण्ड का बहुत विशद रूप से प्रतिपादन था। प्रत्येक याज्ञिक व अन्य विधि का इतने विस्तार केसाथ वर्णन उनमें किया गया था, कि सामान्य जीवन व व्यवहार में उनका सुगमता के साथ उपयोग सम्भव नहीं था। अतः यह आवश्यकता अनुभव की गयी, कि वैदिक अनुष्ठानों को संक्षेप के साथ प्रतिपादित किया जाय। श्रौत सूत्रों की रचना इसी प्रयोजन से की गयी। इन्हें ब्राह्मण ग्रन्थों का सार कहा जा सकता है, यद्यपि पुरानी वैदिक विधियों में कुछ परिवर्तन व संशोधन भी इनमें किया गया है। गृह्यसूत्रों में आर्य गृहस्थ के उन विधानों का वर्णन है, जो उसे आवश्यक रूप से करने चाहियें। जन्म से मृत्युपर्यन्त आर्य गृहस्थ को अनेक धर्मों का पालन करना होता है, अनेक संस्कार करने होते हैं, व अनेक अनुष्ठानों का सम्पादन करना होता है। इन सबका प्रतिपादन गृह्य-सूत्रों में किया गया है। एक व्यक्ति के दूसरे व्यक्ति के प्रति या समाज के प्रति जो कर्त्तव्य हैं, व दूसरों के साथ बरतते हुए उसे जिन नियमों का पालन करना चाहिए, उनका विवरण धर्मसूत्रों में दिया गया है।

वर्तमान समय में जो सूत्र-ग्रंथ उपलब्ध होते हैं, उनमें अधिक महत्त्वपूर्ण निम्न-लिखित हैं—गौतम धर्म-सूत्र, बौधायन सूत्र, आपस्तम्ब सूत्र, मानव-सूत्र, काठक-सूत्र, कात्यायन श्रौत सूत्र, पारस्कर गृह्यसूत्र, आश्वलायन श्रौत सूत्र, आश्वलायन गृह्यसूत्र, सांख्यायन श्रौत सूत्र, सांख्यायन गृह्यसूत्र, लाट्यायन श्रौत सूत्र, गोभिल गृह्यसूत्र, कौशिक सूत्र और वैतान श्रौत सूत्र। इन विविध सूत्र-ग्रंथों के नामों से ही यह बात सूचित होती है, कि इनका निर्माण विविध देशों में और विविध सम्प्रदायों में हुआ था। प्राचीन भारत में विविध आचार्यों द्वारा ज्ञान व चिन्तन के पृथक्-पृथक् सम्प्रदायों का विकास किया गया था, और इन सम्प्रदायों में विधि-विधान, विचार व ज्ञान की अपनी-अपनी परम्परा जारी रहती थी। भारतीय आर्यों के प्राचीन जीवन को भली-भाँति समझने के लिए इन सूत्र-ग्रंथों का अनुशीलन बहुत उपयोगी है।

आयुर्वेद, धनुर्वेद, शिल्पवेद और गान्धर्व वेद—चार उपवेद हैं। भारद्वाज, पराशर, विशालाक्ष आदि अनेक आचार्यों ने दण्डनीति या नीतिशास्त्र विषयक अनेक ग्रंथों की रचना की थी। रामायण, महाभारत और पुराण 'इतिहास-पुराण' के अन्तर्गत हैं। रामायण की रचना महर्षि बाल्मीकि ने की थी। महाभारत तथा पुराण-ग्रंथों के रचयिता व संकलनकर्ता वेदव्यास थे। प्राचीन आर्यों के विविध राजाओं, विजेताओं और वीर पुरुषों के आख्यानों व वीरकृत्यों का गान पुराने समयों में सूतों और मागधों द्वारा किया जाया करता था। ये आख्यान विविध सूत एवं मागध परिवारों में पिता-पुत्र परम्परा द्वारा स्थिर रहते थे। बाद में वेदव्यास ने इन आख्यानों तथा राजकुलों के साथ सम्बन्ध रखनेवाली अनुश्रुति का संकलन किया। इतिहास-पुराण के इन ग्रंथों का वर्तमान रूप बहुत प्राचीन नहीं है। उनका वर्तमान रूप तो सम्भवतः ईस्वी सन् के प्रारम्भ होने से कुछ समय पहले का ही है। पर उनमें जो गाथाएं व आख्यान हैं, वे बहुत प्राचीन हैं। इन्हें अवश्य ही बौद्ध युग से पहले का व उत्तर-वैदिक युग का माना जा सकता है। इसीलिये

इस युग के सामजिक एवं धार्मिक-जीवन का परिचय प्राप्त करने के लिये उनका भी बहुत उपयोग है।

उत्तर-वैदिक युग के साहित्य में दर्शन-ग्रंथों का स्थान बड़े महत्त्व का है। धार्मिक जीवन के साथ भी इनका घनिष्ठ सम्बन्ध है, क्योंकि प्राचीन आर्यों की अनेक मान्यताएँ, प्रथाएँ तथा विश्वास इन्हीं पर आधारित थे। दर्शन-ग्रंथ दो प्रकार के थे— आस्तिक और लोकायत। आस्तिक दर्शन संख्या में छह हैं— सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक और वेदान्त। इनके अतिरिक्त कतिपय अन्य दर्शनों का विकास भी प्राचीन समय में हुआ था, जिन्हें नास्तिक व लोकायत कहा जाता था। दर्शन-शास्त्रों द्वारा प्राचीन आर्य विद्वान् सृष्टि के मूल-तत्त्वों का परिचय प्राप्त करने का उद्योग करते थे। ब्राह्मण-ग्रंथों और श्रौत-सूत्रों का विषय याज्ञिक कर्मकाण्ड व विधि-विधानों का प्रतिपादन करना है। आरण्यकों व उपनिषदों में ब्रह्मविद्या या अध्यात्मशास्त्र का विवेचन किया गया है। पर दर्शन-ग्रंथों में वैज्ञानिक (दार्शनिक) पद्धति से यह जानने का यत्न किया जाता है, कि इस सृष्टि के मूल-तत्त्व क्या हैं, यह सृष्टि किस तत्त्व से या किन तत्त्वों से व किस प्रकार निर्मित हुई, और इसका कोई स्रष्टा है या नहीं। इस प्रकार के विवेचन को 'दर्शन' कहा जाता था। भारत का सबसे पहला दार्शनिक शायद कपिलमुनि था, जो महाभारत युद्ध के बाद उपनिषदों के निर्माण काल में हुआ था। जिस प्रकार वाल्मीकि को भारत का आदि कवि माना जाता है, वैसे ही कपिल भारत का प्रथम दार्शनिक था। उसने सांख्य-दर्शन का प्रतिपादन किया। जड़ और चेतन—दोनों प्रकार की सत्ताओं को निश्चित संख्याओं में विभक्त कर कपिल ने प्रकृति सम्बन्धी विवेचन के लिये एक वैज्ञानिक पद्धति का अनुसरण किया। बाद के विद्वानों ने कपिल की शैली का अवलम्बन कर सांख्य दर्शन की बहुत उन्नति की। शंकराचार्य के समय तक सांख्य का भारतीय दर्शनों में प्रमुख स्थान रहा। कपिलमुनि ने सृष्टि के निर्माण के लिये किसी कर्त्ता या स्रष्टा की आवश्यकता अनुभव नहीं की। प्रकृति पहले अव्यक्तरूप में विद्यमान थी, इस दशा में उसे 'प्रधान' कहते थे। यह प्रधान ही बाद में 'व्यक्त' होकर प्रकृति के रूप में आया।

कपिल के समान अन्य भी अनेक विचारक इस युग में हुए, जिन्होंने प्रकृति के मूल-तत्त्वों के सम्बन्ध में मौलिक विचार अभिव्यक्त किये। कणाद वैशेषिक दर्शन का प्रवर्तक था। सृष्टि की उत्पत्ति परमाणुओं द्वारा हुई, इस मत का प्रतिपादन कणाद ने किया। न्याय-दर्शन का प्रवर्त्तक गौतम था, जिसने पंचभूत के सिद्धान्त का प्रारम्भ किया। वेदान्त के मत में सृष्टि की उत्पत्ति ब्रह्म द्वारा हुई। ब्रह्म चेतन सत्ता है, जो अपने को सृष्टि के रूप में अभिव्यक्त करती है। वेदान्त दर्शन का प्रवर्त्तक मुनि वेदव्यास को माना जाता है। यह निश्चित नहीं किया जा सका है, कि ये सब दार्शनिक मुनि किस समय में हुए। षड्दर्शनों के जो ग्रन्थ इस समय मिलते हैं, वे बाद के समय के बने हुए हैं। पर इन ग्रन्थों में जो विचार व सिद्धान्त प्रतिपादित हैं, उन्हें विकसित होने में बहुत समय लगा था। यह सहज में माना जा सकता है, कि प्राग्बौद्ध काल में जब अनेक ब्रह्मवादी ऋषि उपनिषदों के विचारों का विकास कर रहे थे, तभी अन्य मुनि या विचारक लोग दार्शनिक पद्धति द्वारा सृष्टि के मूल-तत्त्वों के चिन्तन में तत्पर थे। दर्शन-शास्त्र को ही 'आन्वीक्षकी'

विद्या भी कहते हैं। आन्वीक्षकी शब्द अन्वीक्षण से बना है, जिसका अर्थ है दर्शन। आचार्य चाणक्य के समय (मौर्य-युग) तक सांख्य, योग और लोकायत—इन तीन दार्शनिक पद्धतियों का भली-भाँति विकास हो चुका था। लोकायत का अभिप्राय चार्वाक-दर्शन से है। चार्वाक-सम्प्रदाय के लोग न केवल ईश्वर को नहीं मानते थे, अपितु वेद में भी विश्वास नहीं रखते थे। प्राचीन वैदिक श्रुति का आदर भारत के सब आर्यों में था, पर धीरे-धीरे ऐसे विचारक भी उत्पन्न होने लगे थे, जो वेद तक के प्रामाण्य से इनकार करते थे। वस्तुतः, यह युग ज्ञान-पिपासा, स्वतन्त्र विचार और दार्शनिक चिन्तन का था।

उत्तर-वैदिक युग का अभिप्राय—उत्तर-वैदिक युग के जिस साहित्य का ऊपर उल्लेख किया गया है, उसका विकास छठी सदी ईस्वी पूर्व के लगभग तक होता रहा। पुराणों में वैवस्वत मनु से शुरू कर महाभारत युद्ध के समय तक आर्य राज-वंशों की ९५ पीढ़ियाँ दी गई हैं। वैदिक मन्त्रों का निर्माण या दर्शन करने काले ऋषियों की परम्परा प्रधानतया जिस समय प्रारम्भ हुई, तो इन ९५ पीढ़ियों में से ३६ पीढ़ियाँ बीत चुकी थीं, यद्यपि अनेक वेद-मन्त्रों के द्रष्टा ऋषि इस समय से बहुत पहले भी हो चुके थे। पर वैदिक संहिताओं द्वारा इतिहास का जो युग सूचित होता है, वह महाभारत युद्ध से प्रायः ३० व ३५ पीढ़ी पूर्व का है। उत्तर-वैदिक युग के साहित्य का निर्माण एवं विकास इस समय से शुरू होकर छठी सदी ईस्वी पूर्व के लगभग तक होता रहा। स्थूल रूप से यह कहा जा सकता है कि जैन और बौद्ध धर्मों के प्रादुर्भाव से पूर्व तक का समय उत्तर-वैदिक युग के अन्तर्गत था, और इस काल में आर्यों के धार्मिक जीवन में निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आये—(१) याज्ञिक कर्मकाण्ड और विधि-विधानों का रूप निरन्तर जटिल होता गया। (२) कतिपय विचारकों ने यज्ञों की जटिलता को निरर्थक समझकर तप, स्वाध्याय और सदाचरण पर जोर देना शुरू किया, जिसके परिणामस्वरूप बहुत-से मुनि, योगी और तपस्वी उस तत्त्व चिन्तन में प्रवृत्त हुए जो आरण्यकों और उपनिषदों में संगृहीत है। (३) सृष्टि के गूढ़ तत्त्वों, आत्मा तथा परमेश्वर के स्वरूप और याज्ञिक कर्मकाण्ड के वैज्ञानिक विवेचन के लिए दर्शन-शास्त्रों का विकास किया गया।

याज्ञिक विधि-विधान—वैदिक युग के देवता प्राकृतिक शक्तियों के मूर्त रूप थे। विश्व की मूल-शक्ति जिस प्रकार प्रकृति के विविध रूपों में अभिव्यक्त होती है, उसे दृष्टि में रख कर वैदिक आर्यों ने अनेक देवताओं की कल्पना की थी। आर्य लोग इन देवताओं के रूप में विश्व की मूलभूत अधिष्ठातृ शक्ति की ही उपासना किया करते थे। इसी प्रयोजन से यज्ञों का अनुष्ठान किया जाता था, जिनका रूप प्रारम्भ में बहुत सरल था। यज्ञकुण्ड में अग्नि का आधान कर उसमें आहुतियाँ दी जाती थीं, और उन द्वारा देवताओं को तृप्त किया जाता था। पर धीरे-धीरे यज्ञों का रूप बहुत जटिल होता गया। उत्तर-वैदिक काल में यज्ञों की जटिलता चरम सीमा को पहुँच गयी थी। यज्ञ के लिए वेदी की रचना किस प्रकार की जाए, वेदी में अग्नि कैसे प्रज्वलित की जाए, किस ढंग से आहुतियाँ दी जाएँ, यज्ञ करते हुए यजमान अध्वर्यु ऋत्विक् आदि कहाँ और किस प्रकार बैठें, वे अपने अंगों को किस ढंग से उठाएँ, किस प्रकार मन्त्रोच्चार करें, कैसे ज्ञात हो कि अब देवता यज्ञ की आहुति को ग्रहण करने के लिए पधार गये हैं, किन

पदार्थों की आहुति दी जाय—इस प्रकार के विविध विषयों का ब्राह्मण ग्रंथों में बड़े विस्तार के साथ विवेचन किया गया है। किस याज्ञिक विधि का क्या प्रयोजन है, यह भी उनमें विशद रूप से वर्णित है। आर्य जनता के एक भाग का यही कार्य था कि वह याज्ञिक विधि-विधानों में प्रवीणता प्राप्त करे, और उसकी प्रत्येक विधि का सही तरीके से अनुष्ठान करे। इसी वर्ग के लोगों को 'ब्राह्मण' कहा जाने लगा था। जन्म से मृत्यु-पर्यन्त प्रत्येक गृहस्थ को अनेक प्रकार के यज्ञ करने होते थे। मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन के साथ सम्बन्ध रखने वाले संस्कारों का स्वरूप भी यज्ञ का ही था।

विविध प्रकार के यज्ञ—प्रत्येक आर्य गृहस्थ के लिये पाँच महायज्ञों का अनुष्ठान आवश्यक था—(१) देवयज्ञ—प्रातः और सायं, दोनों कालों में विधिपूर्वक अग्न्याधान करके जो हवन किया जाए, उसे देवयज्ञ कहते थे। (१) पितृयज्ञ—पितरों और पूजनीय व्यक्तियों के तर्पण व सम्मान का नाम पितृयज्ञ था। (३) नृयज्ञ—अतिथियों की सेवा व सत्कार को नृयज्ञ या अतिथि यज्ञ कहते थे। (४) ऋषियज्ञ—या ब्राह्म यज्ञ—प्राचीन ऋषियों द्वारा प्रतिपादित मन्तव्यों एवं तथ्यों का नियमपूर्वक अनुशीलन तथा उनके ग्रंथों के स्वाध्याय को ऋषियज्ञ का नाम दिया गया था। (५) भूतयज्ञ—विविध प्राणियों को बलि प्रदान कर सन्तुष्ट रखने से भूत यज्ञ सम्पन्न होता था। गृहस्थ का यह कर्त्तव्य माना जाता था कि वह कुत्ते, कौए और चींटी सदृश्य प्राणियों का भी पालन-पोषण करे। इस कारण जो कुछ भोजन घर में बनता था, उसका एक भाग विविध प्राणियों के लिये भी पृथक् कर दिया जाता था। बलिवैश्वदेवयज्ञ भी इसी यज्ञ का नाम था। पांच महायज्ञों में जिसे देवयज्ञ कहा गया है वही अग्निहोत्र भी कहाता है, जिसका अनुष्ठान प्रत्येक आर्य गृहस्थ प्रातः और सायं दोनों समय करता है।

इन दैनिक यज्ञों के अतिरिक्त विशेष अवसरों पर विशेष यज्ञों का भी विधान था। अमावस्या के दिन दर्शयज्ञ किया जाता था, और पूर्णमासी के दिन पूर्णमास यज्ञ। कार्तिक, मार्गशीर्ष और माघ मासों में कृष्ण पक्ष की अष्टमी के दिन अष्टका यज्ञ की व्यवस्था थी। श्रावण मास की पूर्णिमा को श्रावणी यज्ञ और अग्रहायण (मार्गशीर्ष) मास की पूर्णिमा को आग्रहायणी यज्ञ का अनुष्ठान किया जाता था। इसी प्रकार चैत्र मास की पूर्णिमा के चैत्री यज्ञ का और आश्विन मास की पूर्णिमा को अश्वयुजी यज्ञ का विधान था। कतिपय यज्ञ ऐसे भी थे जिनके लिए प्रचुर द्रव्य की आवश्यकता होती थी और जिन्हें विशिष्ट व्यक्ति ही सम्पादित कर सकते थे। ऐसा एक यज्ञ सोमयज्ञ था, जिसके लिए तीन वेदियाँ बनायी जाती थीं और उनमें अग्न्याधान कर सोमरस की आहुतियाँ दी जाती थीं। अग्निष्टोम यज्ञ पाँच दिनों तक हुआ करता था, और चातुर्मास्य यज्ञ चार महीनों में सम्पन्न होता था। जब किसी व्यक्ति को राजा के पद पर अधिष्ठित किया जाता था, तो राजसूय यज्ञ का अनुष्ठान करना आवश्यक था। राजसूय यज्ञ किये बिना कोई व्यक्ति राजा नहीं बन सकता था। सार्वभौम व चक्रवर्ती पद प्राप्त करने की आकांक्षा रखने वाले राजा अश्वमेध यज्ञ किया करते थे। इस यज्ञ में एक सुसज्जित अश्व को अन्य बहुत-से अश्वों और रक्षकों के साथ स्वतन्त्र विचरण के लिये छोड़ दिया जाता था और जब वह सब दिशाओं के प्रदेशों से निर्विघ्न वापस लौट आता था, तब अश्वमेध यज्ञ की विधि

सम्पन्न की जाती थी। अन्य सब प्रदेशों के राजाओं ने अश्वमेध याजी राजा की सार्वभौम सत्ता को स्वीकार कर लिया है, यही प्रमाणित करना इस यज्ञ का प्रयोजन था।

ब्राह्मण ग्रंथों में अजामेध, गोमेध और पुरुषमेध सदृश ऐसे यज्ञों का भी उल्लेख मिलता है, जिनसे यज्ञों में पशुओं की बलि देने की बात सूचित होती है। इसमें सन्देह नहीं कि प्राचीन भारत में एक ऐसा समय आ गया था, जबकि यज्ञों में पशुबलि की प्रथा प्रारम्भ हो गई थी और यज्ञकुण्डों के समीप ऐसें यूपों का निर्माण होने लगा था जिनके साथ पशुओं को बाँधा जाता था। महात्मा बुद्ध के समय में इस प्रकार पशुबलि दिये जाने के प्रमाण विद्यमान हैं। पर प्रारम्भ में यज्ञों में केवल तंडुल, दुग्ध, घृत आदि सामग्री की ही आहुतियाँ दी जाती थीं, और पशुबलि की प्रथा नहीं थी। कतिपय विद्वानों का यह भी मत है कि ब्राह्मण ग्रन्थों में जहाँ यज्ञ में किसी पशु के 'आलभन' का विधान है, वहाँ आलभन का अभिप्राय उसके वध का बलिप्रदान से नहीं है। आलभन का अर्थ स्पर्श भी होता है, और अजामेध व गोमेध सदृश यज्ञों की विधि में इन पशुओं का स्पर्श ही अभिप्रेत था, वध नहीं।

संस्कार—उत्तर-वैदिक युग के धार्मिक जीवन में संस्कारों का स्थान भी बड़े महत्त्व का था। संस्कारों की कुल संख्या सोलह थी, पर उनमें मुख्य निम्नलिखित थे—(१) गर्भाधान संस्कार—जिसे सन्तान की प्राप्ति के लिए किया जाता था। (२) पुंसवन संस्कार—इस द्वारा यह आशा की जाती थी कि पुरुष सन्तान उत्पन्न होगी। (३) सीमन्तोन्नयन—पति इस संस्कार द्वारा पत्नी के गर्भ की रक्षा के लिए अनेक प्रकार के विधि-विधानों का अनुष्ठान करता था। (४) जात कर्म—बच्चे के उत्पन्न होने पर किया जाने वाला संस्कार। (५) नामकरण संस्कार। (६) अन्नप्राशन—यह संस्कार बच्चे को अन्न देना प्रारम्भ करने के समय किया जाता था। (७) चूड़ाकर्म या मुण्डन संस्कार। (८) उपनयन—यह संस्कार शिक्षा प्रारम्भ करने के समय यज्ञोपवीत धारण कराने के लिये किया जाता था। (९) समावर्तन संस्कार—शिक्षा की समाप्ति पर जब ब्रह्मचारी गुरुदक्षिणा देकर गृहस्थ-आश्रम में प्रवेश के लिये घर लौटता था, तो यह संस्कार किया जाता था। (१०) विवाह संस्कार। (११) अन्त्येष्टि संस्कार—शव का दाह करने के लिये।

तत्त्वचिन्तन की लहर—पर इस युग के आर्य केवल याज्ञिक अनुष्ठानों में ही व्यापृत नहीं थे, उनका ध्यान ब्रह्मविद्या तथा तत्त्वचिन्तन की ओर भी गया था। यज्ञों से इहलोक और परलोक दोनों में सुख प्राप्त होता है, यह मानते हुए भी वे इस प्रकार के विषयों के चिन्तन में तत्पर थे, कि मनुष्य क्या है? जिसे हम आत्मा कहते हैं, उसका क्या स्वरूप है? शरीर और आत्मा भिन्न हैं या एक ही हैं? मरने के बाद मनुष्य कहाँ जाता है? इस सृष्टि का कर्त्ता कौन है? इसका नियमन किस शक्ति द्वारा होता है? इसी प्रकार के प्रश्नों की जिज्ञासा थी, जो अनेक मनुष्यों को इस बात के लिए प्रेरित करती थी, कि वे गृहस्थ-जीवन से विरत होकर या सांसारिक सुख-समृद्धि की उपेक्षा कर एक-निष्ठ हो तत्त्व-ज्ञान को प्राप्त करें। उस युग में ग्रामों और नगरों के बाहर जंगल के प्रदेशों में अनेक विचारकों ने अपने आश्रम बनाये थे, जहाँ ब्रह्मविद्या या तत्त्व-ज्ञान की

प्राप्ति के लिये आतुर हुए लोग एकत्र होते थे, और तप व स्वाध्याय द्वारा ज्ञान की अपनी प्यास को बुझाते थे। इस युग में अनेक राजा भी ऐसे हुए, जो इसी प्रकार के विचारों में तत्पर थे। विदेह के जनक, कैकय के अश्वपति, काशी के अजातशत्रु और पंचाल देश के प्रवाहण जाबालि इनमें उल्लेखनीय हैं। ये सब राजा न केवल स्वयं तत्त्व-चिन्तक थे, अपितु इसी प्रकार का चिन्तन करने वाले मुनियों व विचारकों के आश्रयदाता भी थे। उनकी राजसभा में भारत के विभिन्न प्रदेशों से मुनि लोग एकत्र होते थे, और अध्यात्मविषयक प्रश्नों पर विचार करते थे। राजा लोग भी इस विचार में हिस्सा लेते थे, और विविध विचारकों में जिनका पक्ष प्रबल होता था, उनकी धन आदि से पूजा भी करते थे।

बृहदारण्यक उपनिषद् में कथा आती है, कि जनक वैदेह ने एक बड़े यज्ञ का आयोजन किया, जिसमें कुरु और पंचाल देश के ब्राह्मण लोग एकत्र हुए। जनक ने निश्चित किया, कि जो ब्राह्मण सबसे अधिक विद्वान् होगा, उसे हजार गौवें दी जायेंगी, और इन गौवों के सींगों के साथ दस-दस स्वर्ण-मुद्राएं बँधी होंगी। इस पर ब्राह्मणों में परस्पर विवाद होने लगा। अन्त में याज्ञवल्क्य की विजय हुई। उसने अन्य सब ब्राह्मणों को शास्त्रार्थ में परास्त किया, और हजार गौवों को विजयोपहार के रूप में प्राप्त किया। याज्ञवल्क्य के साथ हुए इस शास्त्रार्थ का विषय अध्यात्म-सम्बन्धी था, और उससे परास्त होने वाले विद्वानों में केवल कुरु-पंचाल के ही ब्राह्मण नहीं थे, अपितु मद्रदेश और शाकल नगरी के विद्वान् भी थे। इसी प्रकार की कथाएं इस युग के अन्य राजाओं के सम्बन्ध में भी उपनिषदों में पायी जाती हैं।

याज्ञिक कर्मकाण्ड की जटिलता से आरण्यक आश्रमों में चिन्तन करने वाले ये विद्वान् सहमत नहीं थे। ये अनुभव करते थे, कि यज्ञों द्वारा मनुष्य यथेष्ट फल नहीं प्राप्त कर सकता। इसीलिये उनका कथन था, कि यज्ञ-रूपी ये नौकाएँ अदृढ़ हैं, संसार-सागर को तरने के लिये इन पर भरोसा नहीं किया जा सकता। यज्ञ के स्थान पर इन विचारकों ने तप, स्वाध्याय और सदाचरण पर जोर दिया। वे कहते थे, कि मानव जीवन की उन्नति और परमपद की प्राप्ति के लिये यह आवश्यक है, कि मनुष्य अपनी इन्द्रियों को वश में रखे, वाणी और मन पर नियन्त्रण रखे, तप और ब्रह्मचर्य का सेवन करे, दृढ़-संकल्प हो, आत्मा और ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करे और ईश्वर में ध्यान लगाये। शरीर से भिन्न जो आत्मा है, जिसके कारण शरीर को शक्ति प्राप्त होती है, उसको जानने और उस पर ध्यान देने से ही मनुष्य उन्नति के मार्ग पर अग्रसर हो सकता है, यह इन तत्त्वचिन्तकों का उपदेश था। इनका कथन था, यह आत्मा बलहीन मनुष्य को नहीं मिल सकता, तप के अभाव में प्रमादी मनुष्य इसे कदापि प्राप्त नहीं कर सकता।

इन्हीं विचारों से प्रेरित होकर इस युग के अनेक मनुष्यों की प्रवृत्ति यज्ञों से विमुख हो गई, और भारत में तत्त्व-चिन्तन की उस लहर का प्रारम्भ हुआ, जिसने इस देश में बहुत-से मुनि, योगी व तपस्वी उत्पन्न किये। ये लोग सांसारिक सुखों को हेय समझते थे, सन्तान, धन और यश की अभिलाषा से ऊपर उठते थे, और ज्ञान की प्राप्ति को ही अपना ध्येय मानते थे। इनके चिन्तन के कारण भारत में जो नया ज्ञान विकसित

हुआ, वही उपनिषदों और दर्शन-ग्रन्थों में संगृहीत है। निःसंदेह, ये अपने विषय के अत्यन्त उत्कृष्ट और गम्भीर ग्रन्थ हैं।

भागवत धर्म—यज्ञों के जटिल कर्मकाण्ड के विरुद्ध जो प्रतिक्रिया तत्त्वचिन्तक मुनियों द्वारा शुरू हुई थी, उसका एक महत्त्वपूर्ण परिणाम भागवत-धर्म का प्रारम्भ हुआ। बौद्ध-युग के बाद यह धर्म भारत का सबसे प्रमुख धर्म बन गया, और गुप्त-सम्राटों के समय में इस धर्म ने न केवल भारत में अपितु भारत के बाहर भी बहुत उन्नति की। पर इस धर्म का प्रारम्भ महाभारत युद्ध के समय में व उससे कुछ पूर्व ही हो गया था। एक प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार राजा वसु चैद्योपरिचर के समय में याज्ञिक अनुष्ठानों के सम्बन्ध में एक भारी विवाद उठ खड़ा हुआ था। कुछ ऋषि यज्ञों में पशुओं की बलि देने के विरुद्ध थे, और कुछ पुरानी परम्परा के अनुसरण के पक्षपाती थे। राजा वसु ने अपने यज्ञों में पशु बलि देने के विरुद्ध परिपाटी का अनुसरण किया, और स्वयं हरि (भगवान्) उससे सन्तुष्ट हुए। यद्यपि पुरानी प्रथा के अनुयायी अनेक ऋषि इस बात पर वसु से बहुत नाराज थे, पर क्योंकि वसु भगवान् का सच्चा भक्त था, अतः भगवान् ने उसे अपनाया, और उसके समय से भागवत-पूजा की एक नयी पद्धति का प्रारम्भ हुआ। वसु के बाद सात्वत लोग इस नयी पद्धति के अनुयायी हुए। सात्वत लोग यादव वंश की एक शाखा थे, और मथुरा के समीपवर्ती प्रदेश में आबाद थे। मथुरा के क्षेत्र के अन्धकवृष्णि गण के निवासी लोग सात्वत ही थे। सात्वत लोगों का यह विश्वास था, कि हरि सब देवों का देव है, और अन्य सब देवता उसकी विविध शक्तियों के प्रतीकमात्र हैं। इस देवों के देव हरि की पूजा के लिये न याज्ञिक कर्मकाण्ड का उपयोग है, और न ही जंगल में बैठकर तपस्या करने का। इसकी पूजा का सर्वोत्तम उपाय भक्ति है, और हरि की भक्ति के साथ-साथ अपने कर्त्तव्यों को कुशलता के साथ करते रहने में ही मनुष्य का कल्याण है। सात्वत लोग यज्ञों के विरोधी नहीं थे और न ही वे तपस्या को निरुपयोगी समझते थे। पर उनका विचार था, कि ये सब बातें उतने महत्त्व की नहीं हैं, जितना कि हरि-भक्ति और कर्तव्य-पालन। सात्वत यादवों में वासुदेव कृष्ण, कृष्ण के भाई संकर्षण और संकर्षण के वंशज प्रद्युम्न और अनिरुद्ध ने इस नये विचार को अपनाया और सात्वत लोगों में इस नये सिद्धान्त का विशेष रूप से प्रचार हो गया। वासुदेव कृष्ण और उसके अनुयायी सात्वत लोग यज्ञों में पशुहिंसा के विरोधी थे, और भगवान् की भक्ति व निष्काम-कर्म के सिद्धान्त पर जोर देते थे। वसु चैद्योपरिचर के समय में जिस नयी विचारधारा का सूत्र-रूप में प्रारम्भ हुआ था, वासुदेव कृष्ण द्वारा वह बहुत विकसित हुई। इसी विचारधारा को भागवत व एकान्तिक धर्म कहते हैं। इसके प्रधान प्रवर्त्तक वासुदेव कृष्ण ही थे, जो वृष्णि (सात्वत) संघ के 'मुख्य' थे, और जिनकी सहायता से पाण्डवों ने मगधराज जरासन्ध को परास्त किया था। कृष्ण न केवल उत्कृष्ट राजनीतिज्ञ थे, अपितु भागवत सम्प्रदाय के महान् आचार्य भी थे। कुरुक्षेत्र के मैदान में अर्जुन को आत्मा की अमरता और निष्काम कर्म का जो उपदेश उन्होंने दिया था, भगवद्गीता में उसी का विशद रूप से वर्णन है। गीता भागवत-धर्म का प्रधान ग्रन्थ है। इसे उपनिषदों का सार कहा जाता है। प्राचीन मुनियों और विचारकों द्वारा भारत में तत्त्व चिन्तन की जो लहर चली थी, उसके कारण

यज्ञप्रधान वैदिक धर्म में बहुत परिवर्तन हुआ। उपनिषदों के तत्त्व-चिन्तन के परिणाम-स्वरूप जिस भागवत-धर्म का प्रादुर्भाव हुआ उसमें याज्ञिक अनुष्ठानों का विरोध नहीं किया गया था। यज्ञों की उपयोगिता को स्वीकार करते हुए उसमें एक सर्वोपरि शक्ति की सत्ता, आत्मा की अमरता, कर्म-मार्ग की उत्कृष्टता और हरिभक्ति की महिमा का प्रतिपादन किया गया था। पुराने भारतीय धर्म में सुधार करने के लिए बौद्ध और जैन आदि जो नये धर्म बाद में उत्पन्न हुए, वे वैदिक श्रुति में विश्वास नहीं करते थे। प्राचीन वैदिक धर्म के साथ अनेक अंशों में उनका विरोध था। पर वासुदेव कृष्ण के भागवत-धर्म का उद्देश्य वैदिक मर्यादा, प्राचीन परम्परा और याज्ञिक अनुष्ठानों को कायम रखते हुए धर्म के एक ऐसे स्वरूप का प्रतिपादन करना था, जो नये चिन्तन के अनुरूप था।

भगवद्गीता—भागवत धर्म से सम्बन्ध रखने वाले अनेक उपाख्यान महाभारत में विद्यमान हैं। पर उसका सबसे उत्कृष्ट रूप गीता में मिलता है। पुरानी परम्परा के अनुसार यह माना जाता है कि गीता का उपदेश कृष्ण ने कुरुक्षेत्र के रणक्षेत्र में अर्जुन को किया था। वर्तमान हिन्दू धर्म पर गीता का बहुत अधिक प्रभाव है, अतः गीता की शिक्षाओं को यहाँ संक्षिप्त रूप से उल्लिखित करना उपयोगी होगा।

गीता के अनुसार आत्मा नित्य और अनश्वर है। शरीर के नाश के साथ आत्मा का विनाश नहीं हो जाता। मनुष्य को चाहिए कि वह मन को कामनाओं व वासनाओं से हटाकर अपने कर्त्तव्य-कर्म में लगा रहे। उसे कर्त्तव्य-पालन करते हुए फल की आकांक्षा नहीं करनी चाहिए। सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय आदि का खयाल न करके मनुष्य को जीवन संघर्ष में तत्पर रहना चाहिए। यह आवश्यक है कि मनुष्य मन और इन्द्रियों को वश में करके स्थितप्रज्ञ होने का प्रयत्न करे। कर्म मनुष्य के बन्धन का कारण नहीं होता, बशर्ते कि उसे निष्काम रूप से किया जाए। ज्ञानपूर्वक त्याग-भावना द्वारा जो कर्म किया जाता है, उससे मनुष्य लिप्त नहीं होता। यदि सब मनुष्य निष्काम-भाव से अपने-अपने स्वधर्म के लिये तत्पर रहें, तभी मानव-समाज का कल्याण है। योग-साधन का अभिप्राय यह नहीं है, कि मनुष्य अपने शरीर को व्यर्थ कष्ट दे, या सांसारिक व्यापार को छोड़कर कर्मविहीन हो जाय। कर्म में कुशलता का नाम ही योग है। अपने आहार-विहार, कर्म, चेष्टा, निष्ठा आदि को सुनियन्त्रित और मर्यादित करके ही मनुष्य दुःखों से बच सकता है।

गीता में जहाँ निष्काम-कर्म और स्वधर्म पर जोर दिया गया है, वहाँ साथ ही भक्ति की भी बहुत महिमा बताई गयी है। मनुष्य को चाहिए कि वह अपने को भगवान् के अर्पित कर दे। वह जो कुछ भी करे, उसे भगवान् के अर्पण करके करे। भगवदर्पण द्वारा मनुष्य के लिये निष्काम-कर्म कर सकना बहुत सुगम हो जाता है।

याज्ञिक कर्मकाण्ड का विरोध करते हुए गीता में यज्ञ का एक नया स्वरूप प्रस्तुत किया गया है। गीता की सम्मति में तपोयज्ञ, स्वाध्याय-यज्ञ, ज्ञान-यज्ञ आदि ही वास्तविक यज्ञ हैं। इनके अनुष्ठान के लिये विधि-विधानों की आवश्यकता नहीं। ज्ञान-प्राप्ति, स्वाध्याय, चरित्र-शुद्धि और संयम द्वारा ही इस यज्ञ का अनुष्ठान होता है।

उपनिषदों द्वारा धर्म के जिस स्वरूप को प्रतिपादित किया गया, ... जो

भागवत धर्म ने उसी को और अधिक विकसित किया। वर्धमान महावीर और गौतम बुद्ध ने प्राच्य भारत में धार्मिक सुधारणा के सम्बन्ध में जो कार्य किया, वही कृष्ण ने भारत के पाश्चात्य क्षेत्रों में किया। पर यह ध्यान में रखना चाहिये कि कृष्ण का समय बुद्ध व महावीर से कुछ पहले था। उसके धार्मिक आन्दोलन की यह भी विशेषता थी, कि वह प्राचीन आर्य परम्परा के अनुकूल था। वह वेदों की प्रामाणिकता पर विश्वास रखता था। यज्ञों का भी वह सर्वथा विरोधी नहीं था, और वर्णाश्रम धर्म का भी वह समर्थक था। याज्ञिक भावना को महत्त्व देते हुए भी यज्ञों के अनुष्ठान में वह पशु हिंसा व बलिदान को कोई स्थान नहीं देता था। इस प्रकार कृष्ण का यह भागवत धर्म वेदों के प्रति श्रद्धा और प्राचीन आर्य परम्परा को कायम रखते हुए सुधार के लिए प्रयत्नशील था। आगे चलकर इस धर्म ने बहुत जोर पकड़ा, और वह भारत का प्रधान धर्म बन गया।

(५) प्राचीन आर्यों के छह आस्तिक दर्शन

प्राचीन भारत के धार्मिक जीवन को उन तत्त्व-चिन्तकों के विचारों ने बहुत प्रभावित किया, जो कि प्रकृति, जीव और परमेश्वर सदृश गूढ़ तत्त्वों के प्रतिपादन तथा सत्यासत्य के निर्णय के लिये किन्हीं विश्वसनीय कसौटियों व प्रमाणों के निरूपण में तत्पर थे। तत्त्व-चिन्तकों के ये मन्तव्य ही दर्शन कहाते हैं। इनमें आस्तिक दर्शन वे हैं, जो वेदों को प्रमाणरूप से स्वीकार करते हैं। ये आस्तिक दर्शन छह हैं, जिनके सिद्धान्तों को संक्षिप्त रूप से उल्लिखित करना उपयोगी है।

न्याय-दर्शन—न्याय-दर्शन का प्रधान लक्ष्य यह है, कि यह निश्चित किया जाए कि सही-सही ज्ञान के लिए कितने और कौन-कौन से प्रमाण हैं। प्रमाण चार हैं, प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। जिस बात को हम स्वयं साक्षात् रूप से जानें, वह प्रत्यक्ष है। ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच हैं, आँख, नाक, कान जिह्वा और त्वचा। जब किसी इन्द्रिय का उस के विषय (अर्थ) से सीधा सम्पर्क (सन्निकर्ष) होता है, तो उस विषय के सम्बन्ध में हमें ज्ञान होता है। यही ज्ञान प्रत्यक्ष है। हम कोई बात आँख से देखते हैं, कान से सुनते हैं, नाक से सूंघते हैं, जिह्वा से किसी रस का स्वाद लेते हैं, या त्वचा के स्पर्श से किसी को जानते हैं, तो हमारा यह ज्ञान प्रत्यक्ष कहाता है। जब किसी वस्तु को हम प्रत्यक्ष रूप से नहीं जानते, अपितु किसी हेतु द्वारा उसे जानते हैं, तो वह ज्ञान हमें अनुमान द्वारा होता है। हमने दूर पहाड़ की चोटी पर धुआँ उठता हुआ देखा। इस हेतु से हमने अनुमान किया, कि वहाँ अग्नि है। क्योंकि जहाँ-जहाँ धुआँ होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि अवश्य होती है। बिना अग्नि के धुआँ नहीं हो सकता। अतः धुएँ की सत्ता से हमने अग्नि की सत्ता का अनुमान किया। इस प्रकार के ज्ञान को अनुमान कहा जाता है। जब किसी जानी हुई वस्तु के सादृश्य (साधर्म्य) से हम न जानी हुई वस्तु को जानते हैं, तो उसे उपमान कहते हैं। एक आदमी गौ को अच्छी तरह जानता है, पर गवय (चंवर गौ) नहीं जानता। उसे कहा जाता है, कि गवय भी गाय के सदृश होती है। वह जंगल में ... देखता है, जिसकी आकृति आदि गाय के सदृश है। इससे वह समझ लेता

है कि यह पशु गवय है। इस प्रकार जो ज्ञान प्राप्त होता है, उसे उपमान कहते हैं। पर बहुत-सी वस्तुएं ऐसी हैं, जिन्हें हम प्रत्यक्ष, अनुमान या उपमान द्वारा नहीं जान सकते। उन्हें जानने का साधन केवल शब्द है। राजा अशोक भारत में शासन करता था, और उसने धर्म विजय की नीति का अनुसरण किया था, यह बात हम केवल शब्द द्वारा जानते हैं। भूमंडल के उत्तरी भाग में ध्रुव है, जो सदा बरफ से आच्छादित रहता है, यह बात भी हमें केवल शब्द द्वारा ज्ञात हुई है। इसी प्रकार की कितनी ही बातें हैं, जिनके ज्ञान का आधार शब्द-प्रमाण के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है।

ज्ञान के आधारभूत जो ये विविध प्रमाण हैं, इनका खूब विस्तार से विवेचन न्याय-दर्शन में किया गया है। ज्ञान के इन साधनों का विवेचन करके फिर न्याय-दर्शन में संसार के विविध तत्त्वों का प्रदर्शन कराने का प्रयत्न किया गया है। न्याय के अनुसार मूल पदार्थ या तत्त्व तीन हैं, ईश्वर, जीव और प्रकृति। जीवात्मा शरीर से भिन्न है। चार्वाक लोग शरीर और जीवात्मा में कोई भेद नहीं मानते थे। उनका कहना था, कि मृत्यु के साथ ही प्राणी की भी समाप्ति हो जाती है। पर नैयायिकों ने इसका खण्डन करके यह सिद्ध किया, कि जीवात्मा की पृथक् सत्ता है, और वह शरीर, मन व बुद्धि से भिन्न एक स्वतन्त्र तत्त्व है। इसी प्रकार ईश्वर और प्रकृति के स्वरूप का भी न्याय-दर्शन में बड़े विस्तार के साथ विवेचन किया गया है।

न्याय-दर्शन के प्रवर्तक महर्षि गौतम थे। उन्होंने सूत्र-रूप में न्याय-दर्शन की रचना की थी। गौतम विरचित न्याय-सूत्रों पर वात्स्यायन मुनि ने विस्तृत भाष्य लिखा। न्याय-दर्शन के मूलग्रन्थ गौतम द्वारा विरचित सूत्र और उन पर किया गया वात्स्यायन-भाष्य ही हैं। बाद में न्याय-दर्शन-सम्बन्धी अन्य अनेक ग्रन्थ लिखे गये। सातवीं सदी में आचार्य उद्योतकर ने 'न्याय-वार्तिक' लिखा, जो वात्स्यायन-भाष्य की व्याख्या के रूप में है। फिर वाचस्पति मिश्र ने उसके ऊपर 'तात्पर्य-टीका' लिखी। इस तात्पर्य-टीका की व्याख्या उदयनाचार्य ने 'तात्पर्य-परिशुद्धि' नाम से की। इस प्रकार न्याय-दर्शन का निरन्तर विकास होता गया। इसमें सन्देह नहीं, कि न्याय के रूप में भारत के आर्यों ने एक ऐसे तत्त्वज्ञान को प्राप्त किया, जिसके द्वारा पदार्थों के ज्ञान व सत्यासत्य-निर्णय में बड़ी सहायता मिलती है।

वैशेषिक-दर्शन—वैशेषिक-दर्शन के अनुसार ज्ञान के चार साधन हैं, प्रत्यक्ष, लैंगिक (अनुमान), स्मृति और आर्षज्ञान। ज्ञानेन्द्रियों, मन और आत्मा द्वारा जो ज्ञान होता है, उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। लैंगिक ज्ञान चार प्रकार से होता है—अनुमान से, उपमान से, शब्द से और ऐतिह्य से। ऐतिह्य का अभिप्राय अनुश्रुति से है। पहले जानी हुई वस्तु की याद (स्मृति) से जो ज्ञान होता है, उसे स्मृति कहते हैं। यह भी ज्ञान का साधन है। आर्षज्ञान वह है, जिसे ऋषियों ने अपनी अन्तर्दृष्टि से प्राप्त किया था। हम कितनी ही बातों को केवल इस आर्षज्ञान द्वारा ही जानते हैं।

वैशेषिक के अनुसार संसार के कुल पदार्थ सात भागों में बाँटे जा सकते हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, विशेष, सामान्य, समवाय और अभाव। पदार्थ का अभिप्राय है, ज्ञान का विषय। संसार की प्रत्येक सत्ता को, प्रत्येक ज्ञातव्य (जिसे हम जान सकें) वस्तु को

इन सात भागों के अन्तर्गत किया जा सकता है।

द्रव्य नौ प्रकार के होते हैं—पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक् आत्मा और मन। इन नौ में से पहले पाँच वे हैं, जिन्हें पंचमहाभूत कहा जाता है। काल और दिशा (Time and Space) ऐसे द्रव्य हैं, जिनसे बाहर विश्व की कोई सत्ता कल्पित ही नहीं की जा सकती। आत्मा और मन ऐसी सत्ताएँ हैं, जिनका सम्बन्ध भौतिक पदार्थों से नहीं है। पृथिवी, जल आदि पाँच द्रव्य भौतिक हैं, और इनका निर्माण परमाणुओं द्वारा हुआ है। परमाणु नित्य और शाश्वत हैं। वह तत्त्व जिसका विभाग नहीं किया जा सकता, परमाणु कहाता है। परमाणुओं के संयोग से ही पृथिवी, जल आदि द्रव्यों का निर्माण होता है।

वैशेषिक-दर्शन के प्रवर्तक कणाद मुनि थे। उन्होंने वैशेषिक सूत्रों की रचना की। उन पर आचार्य प्रशस्तपाद ने अपना भाष्य लिखा। वैशेषिक-दर्शन के मूल प्रामाणिक ग्रन्थ ये ही हैं। बाद में इन पर व्योमशिखाचार्य ने 'व्योमवती' तथा उदयनाचार्य ने 'किरणावली' नाम की टीकाएं लिखीं। श्रीधराचार्य की 'न्यायकन्दली' तथा वल्लभाचार्य की 'न्यायलीलावती' आदि अन्य भी अनेक पुस्तकें वैशेषिक-दर्शन के सम्बन्ध में लिखी गयी हैं।

सांख्य-दर्शन—सांख्य-दर्शन का मुख्य सिद्धान्त है, सत्कार्यवाद। इसके अनुसार असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती। प्रत्येक सत्ता अव्यक्तरूप में अपने कारण में विद्यमान रहती है। उत्पत्ति का अभिप्राय केवल यह है, कि कारण का कार्य के रूप में उद्भाव हो जाता है। जिसे हम विनाश कहते हैं, वह भी वस्तुतः कार्य का कारण में लीन (अनुभाव) हो जाना है। किसी विद्यमान (सत्) सत्ता का सर्वथा विनाश नहीं हो सकता, वह केवल अपने कारण में लय हो जाती है। मृत्तिका से घट की उत्पत्ति होती है। वस्तुतः, घट मृत्तिका रूप में पहले ही विद्यमान होता है। मृत्तिका ही घट रूप में व्यक्त हो जाती है। घट के नाश का अभिप्राय केवल यह है, कि वह फिर मृत्तिकारूप हो जाता है।

इसी सत्कार्यवाद के सिद्धान्त का अनुसरण करके सांख्य-शास्त्र में संसार का कारण प्रकृति को माना गया है। संसार वस्तुतः प्रकृति का ही रूपान्तर (परिणाम) है। प्रकृति अनादि और नित्य है। अपने अव्यक्त रूप में वह सदा से रहती आयी है। जब वह अपने को व्यक्त करती है, तो संसार बनता है। पर प्रकृति स्वयं संसार के रूप में व्यक्त नहीं हो सकती, क्योंकि वह स्वयं जड़ है। अतः उसे 'पुरुष' की आवश्यकता होती है। प्रकृति और पुरुष—ये दो ही मूल और अनादि तत्त्व हैं। इन्हीं के संयोग से सृष्टि का निर्माण होता है। प्रकृति और पुरुष की हालत ठीक वह है, जो अन्धे और लंगड़े की होती है। न अकेला अन्धा किसी उद्दिष्ट स्थान पर पहुँच सकता है, और न अकेला लंगड़ा। पर यदि लंगड़ा मनुष्य अन्धे मनुष्य के कन्धे पर बैठ जाए, और दोनों एक-दूसरे की सहायता से किसी निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचना चाहें, तो वे सफल हो सकते हैं। इसी प्रकार प्रकृति और पुरुष एक-दूसरे के सहयोग से सृष्टि का निर्माण करते हैं।

सांख्य के अनुसार पुरुष का स्वरूप केवल-चेतन और सदा-प्रकाशस्वरूप है।

सुख, दु:ख, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि का सम्बन्ध पुरुष से नहीं, अपितु प्रकृति से है। पर प्रकृति के संयोग से पुरुष विभिन्न पदार्थों में अहंकार या ममत्व की बुद्धि कर लेता है। संसार में जो कुछ हो रहा है, उसका करने वाला पुरुष नहीं है। संसार के सब कार्य प्रकृति करती है। पर जब प्रकृति के संयोग से पुरुष अहंकार-विमूढ़ हो जाता है, तो वह प्रकृति के द्वारा किये जाने वाले कार्यों को अपना किया हुआ समझने लगता है। पुरुष वस्तुत: 'कर्त्ता' नहीं होता। जब पुरुष यह भली-भाँति समझ लेता है, कि करने वाला वह नहीं, अपितु प्रकृति है, तब वह अहंकार से मुक्त हो जाता है। इसी का नाम 'मोक्ष' है।

सृष्टि के निर्माण, स्थिति व अनुभाव (प्रलय) के लिये सांख्य ईश्वर की आवश्यकता को स्वीकार नहीं करता। यही कारण है, कि उसके मूल तत्त्वों में ईश्वर को नहीं गिना गया, और न ही वेदान्तियों के ब्रह्म के समान मूल तत्त्वों के भी उपरिरूप से उसकी सत्ता को स्वीकार किया गया। पर सांख्य के अनुयायी ईश्वर का खण्डन भी नहीं करते, यद्यपि अपनी पद्धति में वे ईश्वर की आवश्यकता नहीं समझते।

सांख्य-दर्शन के प्रवर्त्तक कपिल मुनि थे। उन्होंने सांख्य-सूत्रों की रचना की थी। पंचशिखाचार्य का पष्टितन्त्र इस शास्त्र का प्रामाणिक ग्रन्थ था, पर वह अब उपलब्ध नहीं होता। ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका इस शास्त्र का प्रामाणिक व प्राचीन ग्रन्थ है। आचार्य विज्ञानभिक्षु ने सांख्य-प्रवचन-भाष्य नाम से सांख्य सूत्रों का भाष्य किया है। इसके अतिरिक्त सांख्यकारिका पर माठर की माठर वृत्ति, गौड़पाद का भाष्य और वाचस्पति की तत्त्व-कौमुदी टीकारूप में है।

योग-दर्शन—योग और सांख्य में भेद बहुत कम है। सांख्य के समान योग भी प्रकृति से संसार की उत्पत्ति स्वीकार करता है। पर इन दर्शनों में मुख्य भेद ईश्वर की सत्ता के सम्बन्ध में है। योग-दर्शन प्रकृति और पुरुष के साथ-साथ ईश्वर की सत्ता भी मानता है। ईश्वर की भक्ति द्वारा पुरुष शीघ्र ही अहंकार के बन्धन से मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त कर सकता है, यह योग-दर्शन का सिद्धान्त है। योग के अनुसार पुरुष की उपासना से प्रसन्न होकर ईश्वर उसका उद्धार कर देता है, अत: योग-मार्ग में ईश्वर की भक्ति व उपासना परम सहायक है।

इस दर्शन के आदि प्रवर्तक महर्षि पतंजलि थे। उन्होंने योग-सूत्रों की रचना की। उन पर व्यास ऋषि का भाष्य योग-दर्शन का अत्यन्त प्राचीन व प्रामाणिक ग्रन्थ है। उस पर वाचस्पति मिश्र की 'तत्त्व-बैशारदी' और विज्ञान भिक्षु की 'योग-वार्तिक' टीकाएँ बहुत प्रसिद्ध हैं।

मीमांसा-दर्शन—मीमांसा-दर्शन का मुख्य प्रयोजन यह है, कि वैदिक कर्मकाण्ड का शास्त्रीय रूप से प्रतिपादन करे, उनमें जहाँ विरोध या असंगति नजर आती हो, उसका निराकरण करे और धर्म के नियमों की ठीक-ठीक मीमांसा करे। इस दर्शन के अनुसार वेद द्वारा विहित कर्म ही धर्म है। उन कर्मों को करने से 'अपूर्व' उत्पन्न होता है। मनुष्य को जो सुख व दु:ख, ऐश्वर्य या दारिद्रय है, उस सबका मूल यह 'अपूर्व' ही है। प्रत्येक मनुष्य अपने कर्मों द्वारा अपने अपूर्व (प्रारब्ध) का निर्माण करता है। वैदिक कर्मकाण्ड में किसी विशेष फल की प्राप्ति के लिये विशेष प्रकार के कर्मकाण्ड

या अनुष्ठान का विधान किया गया है। पर हम देखते हैं, कि यज्ञ या कर्मकाण्ड से तुरन्त ही अभीष्ट फल की प्राप्ति नहीं हो जाती। अतः मीमांसा-दर्शन ने यह प्रतिपादित किया, कि कर्मकाण्ड द्वारा 'अपूर्व' उत्पन्न होता है, जो मनुष्य के साथ रहता है। इस अपूर्व के परिणामस्वरूप बाद में अभीष्ट फल की प्राप्ति हो जाती है।

मीमांसा के प्रवर्तक आचार्य जैमिनि थे। उन्होंने मीमांसा-सूत्रों की रचना की। उन पर शबर मुनि ने भाष्य लिखा। शावर-भाष्य पर आचार्य कुमारिल भट्ट और प्रभाकर भट्ट ने व्याख्याएं लिखीं। कुमारिल भट्ट मीमांसा-दर्शन का बड़ा प्रसिद्ध आचार्य हुआ है। उसके श्लोकवार्तिक और तन्त्रवार्तिक ग्रन्थ मीमांसा-दर्शन के प्रामाणिक ग्रन्थ हैं। कुमारिल ने बौद्धों का खंडन कर वेदों की प्रामाणिकता को पुनः स्थापित करने का प्रयत्न किया।

वेदान्त-दर्शन—वेदान्त के अनुसार विश्व की वास्तविक सत्ता 'ब्रह्म' है। वस्तुतः ब्रह्म ही सत्य है, अन्य कोई सत्ता सत्य नहीं है। जीव की ब्रह्म से पृथक् कोई स्वतन्त्र सता नहीं। प्रकृति या जगत् ब्रह्म से ही उत्पन्न हुए हैं। ब्रह्म से पृथक् उनकी भी सत्ता नहीं है। ब्रह्म का स्वरूप 'निर्विशेष-चिन्मात्र' है। ब्रह्म चेतनस्वरूप है, वह चित्शक्ति के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। सांख्य-दर्शन जिन्हें पुरुष व प्रकृति कहता है, उनका विकास इसी ब्रह्म से होता है। जब ब्रह्म 'संकल्प' करता है, यह चाहता है, कि वह 'बहु-रूप' हो जाय, तो अपनी लीला द्वारा वह सृष्टि का विकास करता है।

वेदान्तदर्शन के प्रवर्तक बादरायण व्यास थे। उन्होंने वेदान्त-सूत्रों की रचना की। इन सूत्रों पर विविध आचार्यों ने अपने-अपने मत के अनुसार अनेक भाष्य लिखे। इनमें शंकराचार्य का 'ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य' सबसे प्रसिद्ध है। वस्तुतः, शंकर ने वेदान्त ने एक नये सम्प्रदाय का प्रारम्भ किया, जिसे 'अद्वैतवाद' कहते हैं। इसके अनुसार सब जगत् मिथ्या है। जिस प्रकार रात के समय मनुष्य को रज्जु में साँप का भ्रम हो जाता है, वैसे ही संसार की दृष्टिगोचर होने वाली सब सत्ताएं भ्रम का परिणाम हैं। जगत् माया के अतिरिक्त कुछ नहीं है। जब ब्रह्म माया से अविच्छिन्न हो जाता है, तो वह ईश्वर कहाता है। जीवात्मा वस्तुतः ब्रह्म ही है।

(६) धार्मिक मन्तव्य और आदर्श

प्राचीन आर्यों के कतिपय ऐसे मन्तव्य एवं आदर्श थे, जिन्होंने कि उनके धार्मिक जीवन को अनुप्राणित किया हुआ था। ये मन्तव्य वेदों पर ही आधारित थे, और इसीलिये प्रायः सभी भारतीय सम्प्रदायों द्वारा इन्हें समान रूप से स्वीकार किया जाता था। ऐसे कुछ मन्तव्यों का परिज्ञान प्राचीन आर्यों के धार्मिक जीवन को भली-भाँति समझने के लिये उपयोगी होगा।

ऋत या सत्य—इस संसार में सर्वत्र कुछ निश्चित नियम कार्य कर रहे हैं, यह विचार वैदिक साहित्य में अनेक स्थानों पर उपलब्ध होता है। सृष्टि की इस नियमबद्धता को वेदों में 'ऋत' कहा गया है। जो तत्त्व 'पृथ्वी' या संसार को धारण किये हुए हैं, उनमें 'ऋत' सर्वप्रधान थे। 'ऋत' वे नियम हैं, जो नित्य और अनादि हैं, जिनका कोई

भी शक्ति उल्लंघन नहीं कर सकती। सूर्य जो नियम से उदित होता है, नियम से अस्त होता है, तारा-नक्षत्र जो अपने-अपने स्थान पर रहते हुए संचारी दशा में रहते हैं, समय पर जो फल और वनस्पति परिपक्व होते हैं— यह सब ऋत के कारण ही है। केवल प्रकृति का ही नहीं, प्राणियों और मनुष्यों के जीवन का आधार भी यह ऋत ही है। मनुष्य का हित और कल्याण इसी बात में है कि वह ऋत के इन नियमों का परिज्ञान प्राप्त कर अपने जीवन की उनके साथ अनुकूलता स्थापित कर ले। इसी ऋत द्वारा 'सत्य' का विचार प्रादुर्भूत हुआ, और भारत के विचारकों ने यह प्रतिपादित किया, कि सत्य ही धर्म का मूल है, और सत्य का अनुसरण करने में ही मनुष्य का कल्याण है। संसार में जो नियम और व्यवस्था दृष्टिगोचर होती है, वह सत्य के कारण ही है। धर्म वह है, जिसका पालन कर मनुष्य ने इस लोक में अभ्युदय और परलोक में मोक्ष या निःश्रेयस को प्राप्त करना है, पर यह धर्म मनुष्यकृत नहीं हो सकता। मनुष्य अपनी इच्छा या विवेक का प्रयोग कर इसका निर्माण नहीं कर सकता, क्योंकि धर्म 'सत्य' पर आश्रित होता है, और यह सत्य वे प्राकृतिक व अनादि नियम हैं, जो मनुष्यकृत नहीं हैं। ऋत और सत्य के विचार भारत के धार्मिक जीवन को सदा अनुप्राणित करते रहे।

अध्यात्म-भावना— प्राचीन आर्य धर्म की एक विशेषता उसकी अध्यात्म-भावना है। इसका प्रादुर्भाव भी वैदिक युग में ही हुआ था। यह जो आँखों से दिखाई देने वाला इन्द्रियगोचर संसार है, इस भौतिक जगत् से परे भी कोई सत्ता है, यह विचार वैदिक युग से भारत में निरन्तर चला आ रहा है। इस शरीर की अधिष्ठाता जीवात्मा है, जो शरीर के नष्ट होने के साथ नष्ट नहीं हो जाती। जो अनश्वर, अनादि और अनन्त है, उसको जानना और उसके स्वरूप को समझ लेना मनुष्य का कर्त्तव्य है। जिस प्रकार शरीर का स्वामी जीवात्मा है, उसी प्रकार सम्पूर्ण विश्व का स्वामी परमात्मा है, जो सर्वत्र व्यापक है, जो सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है। प्रकृति की सब शक्तियाँ इस परमात्मा से ही जीवन और बल प्राप्त करती हैं। शरीर और संसार नश्वर हैं, पर आत्मा और परमात्मा नित्य और अनन्त हैं। यह जो आत्मा है, वह भी वस्तुतः सर्वव्यापक परमेश्वर व ब्रह्म का ही अंश है। जिस प्रकार विश्वव्यापी आकाश घट या मठ में घटाकाश या मठाकाश के रूप में पृथक् प्रतीत होता है, उसी प्रकार विश्वव्यापी चितिशक्ति प्राणियों में पृथक् जीवात्मा के रूप में प्रगट होती है। घट के नष्ट हो जाने पर घटाकाश विशाल आकाश में लीन हो जाता है। इसी प्रकार जीवात्मा भी अन्त में ब्रह्म में ही लीन हो जाती है। शरीर और सृष्टि सान्त हैं, उनका अन्त हो जाता है, अतः वे परम सत्य नहीं हैं। संसार के भोग क्षणिक हैं, वास्तविक सुख आध्यात्मिक है, जो आत्मा और ब्रह्म के ज्ञान से प्राप्त होता है। मनुष्य का अन्तिम ध्येय सांसारिक सुखों से ऊपर उठकर मोक्ष या निःश्रेयस को प्राप्त करना है। क्योंकि सब मनुष्यों और प्राणियों में जो जीवन-शक्ति है, उसका मूलस्रोत एक ही है, अतः सब में आत्मभावना रखना आवश्यक है। 'इस जगत् में जो कुछ भी है, उस सब में ईश्वर व्याप्त है, अतः इस संसार में लिप्त न होकर त्याग की भावना के साथ इसका उपभोग करो।' वेद का यह उपदेश भारतीयों के धार्मिक जीवन को सदा प्रभावित करता रहा है।

उत्थान—अध्यात्म-भावना प्राचीन आर्यों के जीवन-लक्ष्य को ऊंचा उठाने में समर्थ हुई, पर उसने इस संसार के प्रति उन्हें विमुख नहीं किया। उन्होंने धर्म का लक्षण यह किया, "जिससे इस संसार में अभ्युदय (समृद्धि व उन्नति) और निःश्रेयस (मोक्ष) की प्राप्ति हो, वही धर्म है।" वह धर्म अपूर्ण है, जो केवल निःश्रेयस की प्राप्ति में सहायक होता है। साथ ही वह धर्म भी अपूर्ण है, जिससे मनुष्य केवल सांसारिक समृद्धि प्राप्त करता है। इहलोक में सुख और परलोक का साधन—दोनों पर मनुष्य को ध्यान देना चाहिये। इसीलिये वैदिक युग के आर्यों ने संसार के सुखों की प्राप्ति और भौतिक उन्नति की उपेक्षा नहीं की। वैदिक ऋषियों ने कहा, देखो यह सूर्य निरन्तर चलता रहता है, तुम भी निरन्तर गतिशील रहो। निरन्तर गतिशील रहने से ही तुम 'स्वादु उदुम्बर' (संसार के सुस्वादु फल) को प्राप्त कर सकोगे। इसी विचार को उपनिषदों ने और अधिक विकसित किया। उन्होंने कहा—'चरैवेति चरैवेति', निरन्तर आगे बढ़े चलो। बाद में दण्डनीति के पण्डितों ने इसी विचार को यह कहकर प्रकट किया कि मनुष्य का यह परम कर्त्तव्य है, कि वह सदा उत्थानशील रहे।

वर्णाश्रम व्यवस्था—सांसारिक अभ्युदय (समृद्धि) और अध्यात्म-भावना के इस समन्वय का परिणाम उस सामाजिक व्यवस्था का विकास था, जिसकी विशेषता वर्ण-भेद और आश्रम व्यवस्था हैं। प्राचीन आर्य-परम्परा के अनुसार मानव-जीवन को चार आश्रमों में विभक्त किया गया है, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। प्रत्येक मनुष्य का यह कर्त्तव्य है कि वह २५ वर्ष की आयु तक ब्रह्मचर्यपूर्वक जीवन व्यतीत करे। इस काल में वह अपना ध्यान शरीर और मन की उन्नति में लगाए। स्वस्थ शरीर और विकसित मन को प्राप्त कर वह गृहस्थ-आश्रम में प्रवेश करे, और इस काल का उपयोग संसार के सुख व वैभव को प्राप्त करने के लिये करे। पर वह यह दृष्टि में रखे, कि सांसारिक भोग ही उसका चरम लक्ष्य नहीं है। पचास वर्ष की आयु में उसे गृहस्थ जीवन का अन्त कर वानप्रस्थी बनना है, जब वह अपनी सब शक्ति और समय तत्त्व-चिन्तन और आत्मिक उन्नति में लगायेगा, क्योंकि मनुष्य को केवल ऐहलौकिक अभ्युदय से ही सन्तुष्ट नहीं होना है, उसे निःश्रेयस को भी प्राप्त करना है। वानप्रस्थ के बाद मनुष्य संन्यासी बने, और अपना सब समय लोकोपकार में व्यतीत करे। संन्यास आश्रम में मनुष्य परिव्राजक बनकर संसार में भ्रमण करता है, और प्राणिमात्र का हित और कल्याण सम्पादित करता है।

जिस प्रकार मनुष्य के जीवन को चार विभागों (आश्रमों) में विभक्त किया गया है, वैसे ही मानव-समाज भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णों में विभक्त है। समाज में सबसे ऊँचा स्थान ब्राह्मणों का है, जो त्याग और अकिंचनता को ही अपनी सम्पत्ति मानते हैं। क्षत्रिय लोग सांसारिक सुखों का उपभोग अवश्य करते हैं, पर उनका कार्य धनोपार्जन करना न होकर जनता की बाह्य और आभ्यन्तर विपत्तियों से रक्षा करना है। समाज में ब्राह्मणों और क्षत्रियों का स्थान वैश्यों की अपेक्षा ऊँचा है, क्योंकि मानव-जीवन का ध्येय धन-सम्पत्ति की अपेक्षा अधिक उच्च है। वैश्यों को कृषि, पशुपालन और वाणिज्य द्वारा समाज की भौतिक आवश्यकताओं को पूर्ण करना

है, और शूद्र का कार्य अन्य वर्णों की सेवा द्वारा अपनी आजीविका कमाना है। जिस प्रकार मानव-जीवन तभी पूर्ण हो सकता है, जबकि उसमें भौतिक उन्नति के साथ-साथ आध्यात्मिक उन्नति को भी स्थान प्राप्त हो, उसी प्रकार मानव समाज की पूर्णता के लिये भी यह आवश्यक है, कि उसके विविध वर्ग भौतिक सुखों व साधनों के साथ-साथ परोपकार व अध्यात्म-सुख के लिए भी प्रयत्नशील हों।

अभय की भावना—जिस प्रकार प्राचीन आर्यों द्वारा भारतीय संस्कृति में अध्यात्म भावना का प्रवेश हुआ, वैसे ही अभय की भावना भी उन्हीं से उसे प्राप्त हुई। जब मनुष्य सब में अपने को और अपने में सबको देखने लगता है, जब वह सर्वत्र 'एकत्व' की अनुभूति रखने लगता है, तो वह 'अभय' हो जाता है। मोह, शोक, आदि से वह ऊपर उठ जाता है। वैदिक ऋषि ने गान किया है—"मित्र से मैं अभय होऊँ, अमित्र (शत्रु) से मैं अभय होऊँ, ज्ञात वस्तु से और परोक्ष (अज्ञात) वस्तु से मैं अभय होऊं, रात और दिन सब समय में अभय होऊँ, और सब दिशाएं मेरे प्रति मित्र भावना रखें।" यह अभय-भावना तभी सम्भव है, जब मनुष्य सब में एक ही विश्वात्मा को व्याप्त समझे और सब के प्रति एकत्व का अनुभव करता रहे।

पुनर्जन्म और कर्म फल—प्राचीन आर्यों का यह विश्वास था कि मनुष्य पुनर्जन्म लेता है जिसे मृत्यु कहा जाता है, वह वस्तुतः चोले को बदलना मात्र है। जैसे मैले कपड़े उतार कर मनुष्य नये कपड़े पहनता है, वैसे ही वृद्ध या रोगग्रस्त शरीर को त्याग कर जीवात्मा नया शरीर धारण कर लेता है। मृत्यु के बाद जीव किस कुल में जन्म ले, किस योनि में प्रवेश करे, यह बात उसके कर्मों पर निर्भर करती है। अच्छे कर्म करने वाला मनुष्य यदि इस जन्म में अपने सुकृत्यों का फल नहीं पाता, तो अगले जन्म में उसे अवश्य प्राप्त कर लेता है। वर्ण-व्यवस्था और जातिभेद के साथ यह विचार बहुत मेल खाता था। प्राचीन आर्य यह मानते थे कि मनुष्य को 'स्वधर्म' के पालन में तत्पर रहना चाहिये। शूद्र को इससे सन्तुष्ट रहना चाहिये, कि वह अन्य वर्णों की सेवा करे। शूद्र अपनी हीन दशा से इसीलिये असन्तोष अनुभव नहीं करता था, क्योंकि वह यह जानता था कि हीन कुल में जन्म का हेतु उसके पूर्वजन्म के कुकर्म ही हैं। वह यह भी विश्वास रखता था, कि यदि वह अपने कर्त्तव्यों का पालन करेगा, अच्छे कर्म करेगा, तो अगले जन्म में वह किसी श्रीमन्त व उच्च कुल में पैदा होने का अवसर प्राप्त कर लेगा। पुनर्जन्म और कर्मफल के सिद्धान्तों के कारण भारत के निवासी अपनी स्थिति से असंतोष अनुभव नहीं करते थे।

दूसरा अध्याय

जैन और बौद्ध धर्म

(१) नये धार्मिक आन्दोलन

भारत बहुत बड़ा देश है। आर्य जाति की विविध शाखाओं ने भारत के विविध प्रदेशों में बस कर अनेक जनपदों का निर्माण किया था। शुरू में इनमें एक ही प्रकार का धर्म प्रचलित था। प्राचीन आर्य ईश्वर के रूप में एक सर्वोच्च शक्ति की पूजा किया करते थे। प्रकृति की भिन्न-भिन्न शक्तियों में ईश्वर के विभिन्न रूपों की कल्पना कर वे देवताओं के रूप में उनकी भी उपासना करते थे। यज्ञ इन देवताओं की पूजा का क्रियात्मक रूप था। धीरे-धीरे यज्ञों का कर्मकाण्ड अधिकाधिक जटिल होता गया। याज्ञिक लोग विधि-विधानों और कर्मकाण्ड को ही स्वर्ग व मोक्ष की प्राप्ति का एक-मात्र साधन समझने लगे। प्राचीन काल में यज्ञों का स्वरूप बहुत सरल था। बाद में पशुओं की बलि अग्निकुण्ड में दी जाने लगी। पशुओं की बलि पाकर अग्नि व अन्य देवता प्रसन्न व सन्तुष्ट होते हैं, और उससे मनुष्य स्वर्गलोक को प्राप्त कर सकता है, यह विश्वास प्रबल हो गया। इसके विरुद्ध अनेक विचारकों ने आवाज उठाई। यज्ञ एक ऐसी नौका के समान है, जो अदृढ़ है और जिस पर भरोसा नहीं किया जा सकता, यह विचार जोर पकड़ने लगा। शूरसेन देश के सात्वत लोगों में जो भागवत-सम्प्रदाय महाभारत के समय से प्रचलित था, वह यज्ञों को विशेष महत्त्व नहीं देता था। वासुदेव कृष्ण इस मत के अन्यतम आचार्य थे। भागवत लोग वैदिक मर्यादाओं में विश्वास रखते थे, और यज्ञों को सर्वथा हेय नहीं मानते थे। पर याज्ञिक अनुष्ठानों का जो विकृत व जटिल रूप भारत के बहुसंख्यक जनपदों में प्रचलित था, उसके विरुद्ध अधिक उग्र आन्दोलनों का प्रारम्भ होना सर्वथा स्वाभाविक था। आर्यों में स्वतन्त्र विचार की प्रवृत्ति विद्यमान थी, और इसी का यह परिणाम हुआ, कि छठी सदी ई० पू० में उत्तरी बिहार के गणराज्यों में अनेक ऐसे सुधारक उत्पन्न हुए, जिन्होंने यज्ञप्रधान वैदिक धर्म के विरुद्ध अधिक बल के साथ आन्दोलन किया, और धर्म का एक नया स्वरूप जनता के सम्मुख उपस्थित किया।

इन सुधारकों ने केवल याज्ञिक अनुष्ठानों के खिलाफ ही आवाज नहीं उठाई, अपितु वर्ण भेद का भी विरोध किया, जो छठी ई० पू० तक आर्यों में भली-भांति विक-सित हो गया था। आर्य-भिन्न जातियों के सम्पर्क में आने से आर्यों ने अपनी रक्तशुद्धता को कायम रखने के लिए जो अनेक व्यवस्थाएं की थीं, उनके कारण आर्य और दास (शूद्र) का भेद तो वैदिक युग से ही विद्यमान था। धीरे-धीरे आर्यों में भी वर्ण या जाति भेद का विकास हो गया था। याज्ञिक अनुष्ठानों के विशेषज्ञ होने के कारण ब्राह्मण लोग सर्वसाधारण 'आर्य विशः' से अपने को ऊँचा समझने लगे थे। निरन्तर युद्धों में व्यापृत रहने के कारण क्षत्रिय सैनिकों का भी एक ऐसा वर्ग विकसित हो गया था, जो अपने को सर्वसाधारण जनता से पृथक् समझता था। ब्राह्मण और क्षत्रिय न केवल अन्य आर्यों

से ऊँचे माने जाते थे, अपितु उन दोनों में भी कौन अधिक ऊँचा है, इस सम्बन्ध में भी वे मतभेद रखते थे। इस दशा में छठी सदी ई० पू० के इन सुधारकों ने जातिभेद और सामाजिक ऊँच-नीच के विरुद्ध भी आवाज उठाई, और यह प्रतिपादित किया कि कोई भी व्यक्ति अपने गुणों व कर्मों के कारण ही ऊँचा व सम्मानयोग्य होता है, किसी कुल-विशेष में उत्पन्न होने के कारण नहीं।

यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि उत्तरी बिहार के जिन गणराज्यों में इस धार्मिक सुधार का प्रारम्भ हुआ, उनके निवासियों में आर्यभिन्न जातियों के लोग बड़ी संख्या में विद्यमान थे। वहाँ के क्षत्रिय भी शुद्ध आर्य-रक्त के न होकर व्रात्य क्षत्रिय थे। सम्भवतः, छठी सदी ई० पू० से पहले भी उनमें वैदिक मर्यादा का सर्वांश में पालन नहीं होता था। ज्ञातृक गण में उत्पन्न हुए वर्धमान महावीर ने जिस नये जैन धर्म का प्रारम्भ किया, उससे पूर्व भी इस धर्म के अनेक तीर्थंकर व आचार्य हो चुके थे। इन जैन तीर्थंकरों के धर्म में न याज्ञिक अनुष्ठानों का स्थान था, और न ही वेदों के प्रामाण्य का। वसु चैद्योपरिचर के समय में प्राच्य भारत में याज्ञिक कर्मकाण्ड के सम्बन्ध में स्वतन्त्र विचार की जो प्रवृत्ति शुरू हुई थी, शायद उसी के कारण उत्तरी बिहार के इस धर्म ने वैदिक मान्यताओं की सर्वथा उपेक्षा कर दी थी।

(२) जैन-धर्म का प्रादुर्भाव

छठी सदी ई० पू० के लगभग भारत में जो नये धार्मिक आन्दोलन प्रारम्भ हुए, उनमें दो प्रधान हैं:—(१) जैन धर्म, और (२) बौद्ध धर्म।

जैन लोगों के अनुसार उनके धर्म का प्रारम्भ बौद्ध काल में महावीर स्वामी द्वारा नहीं हुआ था। वे अपने धर्म को सृष्टि के समान ही अनादि मानते हैं। उनके मतानुसार वर्धमान महावीर जैन धर्म का अन्तिम तीर्थंकर था। उनसे पहले २३ अन्य तीर्थंकर हो चुके थे। पहला तीर्थंकर राजा ऋषभ था। वह जम्बूद्वीप का प्रथम चक्रवर्ती सम्राट् था, और वृद्धावस्था में अपने पुत्र भरत को राज्य देकर स्वयं तीर्थंकर हो गया था। यहाँ यह सम्भव नहीं है, हम सब तीर्थंकरों के सम्बन्ध में लिख सकें, यद्यपि जैन ग्रन्थों में उनके विषय में अनेक कथाएँ उल्लिखित हैं। पर तेईसवें तीर्थंकर पार्श्व का कुछ विवरण इस इतिहास के लिए उपयोगी होगा।

तीर्थंकर पार्श्व—महावीर स्वामी के प्रादुर्भाव से २५० वर्ष पूर्व तीर्थंकर पार्श्व का समय है। वह बनारस के राजा अश्वसेन का पुत्र था। उसका प्रारम्भिक जीवन एक राजकुमार के रूप में व्यतीत हुआ। युवावस्था में उसका विवाह कुशस्थल देश की राजकुमारी प्रभावती के साथ हुआ। तीस वर्ष की आयु में राजा पार्श्वनाथ को वैराग्य हुआ, और उसने राजपाट छोड़कर तापस का जीवन स्वीकृत किया। तिरासी दिन तक वह घोर तपस्या करता रहा। घोर तपस्या के अनन्तर चौरासीवें दिन पार्श्वनाथ को ज्ञान प्राप्त हुआ, और उसने अपने ज्ञान का प्रचार करना प्रारम्भ किया। उसकी माता और धर्मपत्नी सबसे पहले उसके धर्म में दीक्षित हुईं। सत्तर वर्ष तक पार्श्वनाथ निरंतर अपने धर्म का प्रचार करता रहा। अन्त में पूरे सौ साल की आयु में एक पर्वत की चोटी

पर, जो कि अब पार्श्वनाथ-पर्वत के नाम से प्रसिद्ध है, उसने मोक्ष पद को प्राप्त किया। पार्श्वनाथ के जीवन की ये ही थोड़ी-सी बातें हैं, जो जैन ग्रन्थों के अनुशीलन से एकत्रित की जा सकती हैं।

तीर्थंकर पार्श्वनाथ के अनुयायी बौद्ध-काल की धार्मिक सुधारणा में विद्यमान थे। उसकी तथा महावीर स्वामी की शिक्षाओं में क्या भेद था, इसका परिचय जैन-धर्म के प्रसिद्ध ग्रन्थ उत्तराध्ययन-सूत्र के एक संवाद द्वारा प्राप्त होता है। हम इस संवाद को यहाँ उद्धृत करते हैं। पार्श्वनाथ का एक शिष्य था, जिसका नाम केशी था। इसी प्रकार महावीर स्वामी का एक शिष्य था, जिसका नाम गौतम था। दोनों अपने-अपने गुरु की शिक्षाओं के पूर्ण पण्डित थे, और सैकड़ों शिष्यों के साथ परिभ्रमण करते हुए श्रावस्ती नगरी में आये हुए थे। "दोनों आचार्यों के शिष्य, जो कि विविध तप तथा गुणों से सम्पन्न थे, इस प्रकार विचार करने लगे—क्या हमारा धर्म सत्य है या दूसरे आचार्य का? क्या हमारे आचार-विचार और सिद्धान्त सत्य हैं या दूसरे आचार्य के? तीर्थंकर पार्श्वनाथ ने जिस धर्म का उपदेश किया था, जिसमें कि चार व्रत लेने होते हैं, वह सत्य है या वर्धमान महावीर द्वारा उपदिष्ट धर्म जिसमें कि पाँच व्रत लेने होते हैं? क्या वह धर्म सत्य है, जिसमें भिक्षु के लिए वस्त्रों का सर्वथा निषेध है, या वह धर्म सत्य है, जिसमें निचले और उपरले दोनों वस्त्रों का विधान है? जब दोनों आचार्यों का एक ही उद्देश्य था, तो उनमें मतभेद क्यों है? अपने शिष्यों के विचारों का पता लगने पर केशी और गौतम दोनों ने परस्पर भेंट करने का निश्चय किया।" गौतम अपने शिष्यों के साथ तिन्दुक उद्यान में (जहाँ केशी ठहरा हुआ था) गया, और केशी ने बड़े आदर के साथ उसका स्वागत किया। दोनों आचार्य पास-पास बैठ गये। उत्सुकतावश बहुत से नास्तिक तथा सर्वसाधारण लोग भी वहाँ एकत्रित हो गये।

केशी ने गौतम से कहा—"भगवन्! मैं आपसे कुछ पूछना चाहता हूँ।" केशी के इन शब्दों का उत्तर गौतम ने इस प्रकार दिया—"श्रीमान्, आप जो चाहें पूछिये।" तब गौतम की अनुमति से केशी ने इस प्रकार कहा—'तीर्थंकर पार्श्व ने जिस धर्म का उपदेश दिया था, उसमें केवल चार व्रत हैं, पर वर्धमान द्वारा उपदिष्ट धर्म में पाँच व्रत हैं। जब दोनों धर्मों का उद्देश्य एक ही है, तो उनमें भेद का क्या कारण है? हे भगवन्! आपका इस विषय में क्या विचार है?' केशी के इन शब्दों का गौतम ने इस प्रकार उत्तर दिया—"प्रारम्भ में जो भिक्षु लोग थे, वे सीधे-सादे तथा सरल होते थे। अब के भिक्षु सत्य से बचने की प्रवृत्ति रखते हैं। पर बीच के भिक्षु ऐसे नहीं थे। वे बहुत सीधे तथा बुद्धिमान थे। धर्म में भेद का यही कारण है। प्रारम्भ के भिक्षु धर्म के सिद्धान्तों को कठिनता से समझ सकते थे। अब के भिक्षु धर्म का पालन बड़ी कठिनता से करते हैं। पर बीच के भिक्षु धर्म को समझते भी सुगमता से थे, और उसका पालन भी आसानी से करते थे।"

"गौतम! तुम बुद्धिमान् हो, तुमने मेरे सन्देह को निवृत्त कर दिया है। पर मुझे एक अन्य सन्देह है, जिसे तुम्हें दूर करना चाहिए। वर्धमान महावीर ने जिस धर्म का उपदेश किया है, उसके अनुसार वस्त्र धारण करना निषिद्ध है, पर पार्श्व के धर्मानुसार

निचले तथा उपरले वस्त्र का विधान किया गया है। जबकि दोनों धर्मों का उद्देश्य एक ही है, तो यह भेद क्यों है ?"

इन शब्दों का केशी ने निम्नलिखित उत्तर दिया— 'अपने उच्च ज्ञान से प्रत्येक पदार्थ का निश्चय करते हुए तीर्थंकरों ने यह निर्णय किया है, कि धर्म पालन के लिये क्या कुछ आवश्यक है। धार्मिक पुरुषों के जो विविध बाह्य लिंग निश्चित किये गये हैं, उनका उद्देश्य यह है कि लोग उन्हें सुगमता से पहचान सकें, और जो खास बाह्य चिन्ह निश्चित किये गये हैं, उन्हें निश्चित करने का कारण उनका धार्मिक जीवन के लिए उपयोगी होना है। तीर्थंकरों की अपनी सम्मति यह है, कि मोक्ष के साधन ये बाह्य लिंग नहीं है, अपितु ज्ञान, श्रद्धा और सदाचार ही मोक्ष के वास्तविक हेतु हैं।'

'गौतम ! तुम बुद्धिमान् हो, तुमने मेरे सन्देह को दूर कर दिया है।'

आचार्य केशी और गौतम का यह संवाद दो दृष्टियों से बहुत महत्त्वपूर्ण है। प्रथम, इससे यह स्पष्ट होता है कि पार्श्व के अनुयायी जो कि महावीर द्वारा किये गये सुधारों को नहीं मानते थे, वे महावीर के बाद भी विद्यमान थे, और उनमें अपने मतभेदों पर बहस भी होती रहती थी। दूसरी बात हमें इस संवाद से यह ज्ञात होती है, कि महावीर ने पार्श्व द्वारा प्रतिपादित जैन-धर्म में कौन-कौन से मुख्य सुधार किये थे। पार्श्व के अनुसार जैन भिक्षु के लिये निम्नलिखित चार व्रत लेने आवश्यक थे—(१) मैं जीवित प्राणियों की हिंसा नहीं करूँगा। (२) मैं सदा सत्य भाषण करूँगा। (३) मैं चोरी नहीं करूँगा। (४) मैं कोई सम्पत्ति नहीं रखूंगा।

पार्श्व द्वारा प्रतिपादित इन चार व्रतों के साथ महावीर ने एक और व्रत बढ़ा दिया, जो यह था कि —"मैं ब्रह्मचर्य व्रत पालन करूँगा।" इसके अतिरिक्त महावीर ने भिक्षुओं के लिए यह व्यवस्था भी की थी, कि वे कोई वस्त्र धारण न करें, जबकि पार्श्व के अनुसार भिक्षु लोग वस्त्र धारण कर सकते थे।

वर्धमान महावीर—वज्जि राज्य-संघ के अन्तर्गत ज्ञातृक गण में महावीर उत्पन्न हुए थे। ज्ञातृक लोगों के प्रमुख राजा का नाम सिद्धार्थ था। सिद्धार्थ का विवाह वैशालिक राजकुमारी त्रिशला के साथ हुआ था। त्रिशला लिच्छिवि राजकुमारी थी, और लिच्छवियों के प्रमुख राजा चेटक की बहन थी। इसी चेटक की कन्या का मगध के प्रसिद्ध सम्राट् बिम्बिसार के साथ विवाह हुआ था, जिससे कि अजातशत्रु उत्पन्न हुआ था। ज्ञातृक राजा सिद्धार्थ और लिच्छिवि कुमारी त्रिशला के तीन सन्तानें हुईं, एक कन्या और दो पुत्र। छोटे लड़के का नाम वर्धमान रखा गया। यही आगे चलकर महावीर बना।

इस बालक का जन्म नाम वर्धमान था। वीर, महावीर, जिन, अर्हत्, भगवत् आदि भी उसके नाम के रूप में जैन-ग्रन्थों में आते हैं, पर ये उसके विशेषण मात्र हैं।

वर्धमान का बाल्य-जीवन राजकुमारों की तरह व्यतीत हुआ। वह एक समृद्ध क्षत्रिय सरदार का पुत्र था। वज्जि राज्य-संघ में कोई वंशक्रमानुगत राजा नहीं होता था, वहाँ गणतन्त्र शासन प्रचलित था। परन्तु विविध क्षत्रिय घरानों के बड़े-बड़े कुलीन सरदारों का—जो कि 'राजा' कहलाते थे—स्वाभाविक रूप से इस गणराज्य में प्रभुत्व था। वर्धमान का पिता सिद्धार्थ भी इन्हीं 'राजाओं' में से एक था। वर्धमान को छोटी

आयु से ही शिक्षा देनी प्रारम्भ की गई। शीघ्र ही वह सब विद्याओं और शिल्पों में निपुण हो गया। अपने पूर्वजन्म के संस्कारों की प्रबलता के कारण उसे विद्या-प्राप्ति में जरा भी परिश्रम नहीं करना पड़ा। वर्धमान की बाल्यावस्था के सम्बन्ध में बहुत-सी कथाएँ जैन-ग्रन्थों में लिखी हैं। ये कथाएँ उसके अद्‌भुत पराक्रम, बुद्धि तथा बल को सूचित करती हैं। उचित आयु में वर्धमान का विवाह यशोदा नामक कुमारी के साथ किया गया। उनके एक कन्या भी उत्पन्न हुई। आगे चलकर जमालि नामक क्षत्रिय के साथ इसका विवाह हुआ, जो कि वर्धमान महावीर के प्रधान शिष्यों में से एक था।

यद्यपि वर्धमान का प्रारम्भिक जीवन साधारण गृहस्थ के समान व्यतीत हुआ, पर उसकी प्रवृत्ति सांसारिक जीवन की ओर नहीं थी। वह 'प्रेय' मार्ग को छोड़कर 'श्रेय' मार्ग की ओर जाना चाहता था। जब वर्धमान तीस वर्ष की आयु के थे, तो उनके पिता की मृत्यु हो गई। ज्ञातृक लोगों का राजा अब सिद्धार्थ का ज्येष्ठ पुत्र नन्दिवर्धन बना। वर्धमान की प्रवृत्ति पहले ही वैराग्य की ओर थी। अब पिता की मृत्यु के अनन्तर उन्होंने सांसारिक जीवन को त्यागकर भिक्षु बनना निश्चित किया। नन्दिवर्धन तथा अन्य निकट सम्बन्धियों से अनुमति ले वर्धमान ने घर का परित्याग कर दिया। उसके परिवार के लोग पहले से ही पार्श्वनाथ द्वारा प्रतिपादित जैन-धर्म के अनुयायी थे, अतः वर्धमान ने स्वाभाविक रूप से जैन-भिक्षुओं की तरह अपने केशश्मश्रु का परित्याग कर तपस्या करनी आरम्भ कर दी। आचारांग-सूत्र में इस तपस्या का बड़ा सुन्दर वर्णन किया गया है। हम उसमें से कुछ बातें यहाँ उद्‌धृत करेंगे :—

वर्धमान ने भिक्षु बनते समय जो कपड़े पहने हुए थे, वे तेरह मास में बिलकुल जर्जरित हो गये, और फटकर स्वयं शरीर से उतर गये। उसके बाद उसने फिर वस्त्रों को धारण नहीं किया। वह छोटे बच्चे के समान नग्न ही विचरण करने लगा। जब वह समाधि लगाकर बैठा हुआ था, तो नानाविध जीव-जन्तु उसके शरीर पर चलने-फिरने लगे। उन्होंने उसे अनेक प्रकार से काट लिया, परन्तु वर्धमान ने इसकी जरा भी परवाह नहीं की। जब वह ध्यान-मग्न हुआ इधर-उधर परिभ्रमण करता था, तो लोग उसे चारों ओर से घेर लेते थे, वे उसे मारते थे, शोर मचाते थे, पर इसका जरा भी ख्याल नहीं करता था। जब कोई उससे पूछता था, तो वह जवाब नहीं देता था। जब लोग उसे प्रणाम करते थे, तब वह प्रणाम का भी उत्तर नहीं देता था। बहुत से दुष्ट उसे डण्डों से पीटते थे, परन्तु उसे इसकी जरा भी परवाह नहीं थी। बारह वर्ष तक घोर तपस्या कर अन्त में तेरहवें वर्ष में वर्धमान महावीर को अपनी तपस्या का फल प्राप्त हुआ। उन्हें पूर्ण सत्य ज्ञान की उपलब्धि हुई, और उन्होंने 'केवलिन्' पद प्राप्त कर लिया।

जिस समय मनुष्य संसार के संसर्ग से सर्वथा मुक्त हो जाता है, सुख-दुःख के अनुभव से वह ऊपर उठ जाता है, वह अपने को अन्य सब वस्तुओं से प्रथक् 'केवलरूप' समझने लगता है, तब यह 'केवलिन्' की दशा आती है। वर्धमान महावीर ने इस दशा को पहुँच कर बारह वर्ष के तपस्या काल में जो सत्य-ज्ञान प्राप्त किया था, उसका प्रचार करना प्रारम्भ किया। महावीर की ख्याति शीघ्र ही दूर-दूर तक पहुँच गई। अनेक लोग उनके शिष्य होने लगे। महावीर ने इस समय जिस सम्प्रदाय की स्थापना की, उसे 'निर्ग्रन्थ'

नाम से कहा जाता है, जिसका अभिप्राय 'बन्धनों से मुक्त' लोगों के सम्प्रदाय से है। महावीर के शिष्य भिक्षु लोग 'निर्ग्रन्थ' या 'निगन्थ' कहलाते थे। इन्हें 'जैन' भी कहा जाता था, क्योंकि ये 'जिन' (वर्धमान को केवलिन्-पद प्राप्त करने के पश्चात् वीर, महावीर, जिन, अर्हत् आदि सम्मानसूचक शब्दों से कहा जाता था) के अनुयायी होते थे। निर्ग्रन्थ महावीर के विरोधी इन्हें प्रायः 'निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र' (निगन्थ नाटपुत्त) के नाम से पुकारते थे। ज्ञातृपुत्र उन्हें इसलिए कहा जाता था, क्योंकि वे ज्ञातृक-जाति के क्षत्रिय थे।

वर्धमान महावीर ने किस प्रकार अपने धर्म का प्रचार किया, इस सम्बन्ध में भी अनेक बातें प्राचीन जैन-ग्रन्थों से ज्ञात होती हैं। महावीर का शिष्य गौतम इन्द्रभूति था। जैन-धर्म के इतिहास में इस गौतम इन्द्रभूति का भी बड़ा महत्त्व है। आगे चलकर इसने भी 'केवलिन्' पद को प्राप्त किया। महावीर का यह ढंग था, कि वह किसी एक स्थान को केन्द्र बनाकर अपना कार्य नहीं करते थे, अपितु अपनी शिष्य-मंडली के साथ एक स्थान से दूसरे स्थान पर भ्रमण करते हुए अपने धर्म-सन्देश को जनता तक पहुँचाने का उद्योग करते थे। स्वाभाविक रूप से सबसे पूर्व उन्होंने अपनी जाति के लोगों-ज्ञातृक क्षत्रियों में ही अपनी शिक्षाओं का प्रसार किया। वे शीघ्र ही उसके अनुयायी हो गये। उसके बाद लिच्छवि तथा विदेह-राज्यों में प्रचार कर महावीर ने राजगृह (मगध की राजधानी) की ओर प्रस्थान किया। वहाँ उस समय प्रसिद्ध सम्राट् श्रेणिक राज्य करता था। जैन-ग्रन्थों के अनुसार श्रेणिक महावीर के उपदेशों से बहुत प्रभावित हुआ, और उसने अपनी सम्पूर्ण सेना के साथ महावीर का बड़े समारोह से स्वागत किया।

अपनी आयु के ७२वें वर्ष में महावीर स्वामी की मृत्यु हुई। मृत्यु के समय महावीर राजगृह के समीप पावा नामक नगर में विराजमान थे। यह स्थान इस समय भी जैन लोगों का वड़ा तीर्थ है। वर्तमान समय में इसका दूसरा नाम पोखरपुर है, और यह स्थान बिहार शरीफ स्टेशन से ६ मील की दूरी पर स्थित है।

(३) जैनों का धार्मिक साहित्य

जैन लोगों के धार्मिक साहित्य को हम प्रधानतया छह भागों मे विभक्त कर सकते हैं—(१) द्वादश अंग, (२) द्वादश उपांग, (३) दश प्रकीर्ण, (४) षट् छेद-सूत्र, (५) चार मूल सूत्र, (६) विविध।

१. **द्वादश अंग**—(१) पहला अंग आयारंग सुत्त (आचारंग सूत्र) है। इसमें उन नियमों का वर्णन है, जिन का जैन-भिक्षुओं को अनुसरण करना चाहिए। जैन-भिक्षु को किस प्रकार तपस्या करनी चाहिए, किस प्रकार जीव रक्षा के लिए तत्पर रहना चाहिए— इत्यादि विविध बातों का इसमें विशद रूप से उल्लेख है।

२. दूसरा अंग सूत्रकृदंग है। इसमें जैन-भिन्न मतों की समीक्षा की गई है, और जैन धर्म पर जो आक्षेप किये जा सकते हैं, उनका उत्थान कर उनका उत्तर दिया गया है, ताकि जैन भिक्षु अपने मत का भलीभाँति पक्षपोषण कर सकें।

३. **स्थानांग**—इसमें जैन-धर्म के सिद्धान्तों का वर्णन है।

४. **समवायांग**—इसमें भी जैन-धर्म के सिद्धान्तों का वर्णन है।

५. भगवती सूत्र—यह जैन-धर्म के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों में से एक है। इसमें जैन-धर्म के सिद्धान्तों के अतिरिक्त स्वर्ग और नरक का भी विशद रूप से वर्णन किया गया है। जैन लोग स्वर्ग और नरक की कल्पना किस ढंग से करते हैं, नरक में मनुष्य को किस प्रकार भयंकर रूप से कष्ट उठाने पड़ते हैं, और स्वर्ग में क्या आनन्द है—इन सब का बहुत ही सुन्दर तथा आकर्षक वर्णन भगवती-सूत्र में मिलता है। इसके अतिरिक्त महावीर तथा उसके समकालीन अन्य लोगों के सम्बन्ध में भी बहुत-सी महत्त्वपूर्ण गाथाएँ इसमें संकलित की गई हैं।

६. ज्ञान धर्म कथा—इसमें कथा, आख्यायिका, पहेली आदि द्वारा जैन-धर्म के सिद्धान्तों का उपदेश किया गया है।

७. उवासगदसाओ—इसमें दस समृद्ध व्यापारियों का वर्णन है, जिन्होंने जैन-धर्म को स्वीकार कर मोक्ष-पद प्राप्त किया था।

८. अन्तकृद्दशाः—इसमें उन जैन भिक्षुओं का वर्णन है, जिन्होंने विविध प्रकार की तपस्याओं द्वारा अपने शरीर का अन्त कर दिया, और इस प्रकार मोक्ष-पद को प्राप्त किया।

९. अनुत्तरोपपातिक दशा—इसमें भी तपस्या द्वारा अपने शरीर का अन्त कर मोक्ष प्राप्त करने वाले जैनमुनियों का वर्णन है।

१०. प्रश्न-व्याकरण—इसमें जैन-धर्म की दस शिक्षाओं, दस निषेधों आदि का वर्णन है।

११. विपाकश्रुतम्—इस जन्म में किये गये अच्छे व बुरे कर्मों का मृत्यु के बाद किस प्रकार फल मिलता है, इस बात को इस अंग में कथाओं द्वारा प्रदर्शित किया गया है।

१२. दृष्टिवाद—यह अंग इस समय उपलब्ध नहीं होता। जैन लोग दृष्टिवाद में चौदह 'पूर्वाः' का परिगणन करते हैं। ये हिन्दुओं के 'पुराणों' की तरह बहुत प्राचीन समय से प्रथम तीर्थंकर के काल से ही विकसित हो रहे थे। इन चौदह 'पूर्वाः' से मिलकर जैन लोगों का बारहवाँ अंग बनता था। ये 'पूर्वाः' महावीर स्वामी के बाद आठवें आचार्य 'स्थूलभद्र' तक ज्ञात थे। उसके बाद ये नष्ट हो गये।

२. **द्वादश उपांग**—प्रत्येक अंग का एक-एक उपांग है—इनके नाम निम्नलिखित हैं:—(१) औपपातिक, (२) राजप्रश्नीक, (३) जीवाभिगम, (४) प्रज्ञापना, (५) जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, (६) चन्द्रप्रज्ञप्ति, (७) सूर्यप्रज्ञप्ति, (८) निरयावली, (९) कल्पावतंसिका, (१०) पुष्पिका, (११) पुष्पचूलिका, (२) वृष्णिदशाः।

३. **दस प्रकीर्ण**—इनमें जैन-धर्म सम्बन्धी विविध विषयों का वर्णन है। इनके नाम निम्नलिखित हैं—(१) चतुःशरण, (२) संस्तारक, (३) आतुरप्रत्याख्यानम् भक्तापरिज्ञा, (४) तन्दुलवैचारिका, (५) चन्द्रवैध्यक, (६) गणिविद्या, (७) देवेन्द्रस्तव, (८) वीरस्तव, (९) महाप्रख्यान।

४. **षट् छेदसूत्र**—इन सूत्रों में जैन-भिक्षु और भिक्षुणियों के लिए विविध नियमों का वर्णन कर उन्हें दृष्टान्तों द्वारा प्रदर्शित किया गया है। छेदसूत्रों के नाम

निम्नलिखित हैं :—(१) व्यवसाय सूत्र, (२) बृहत्कल्प सूत्र, (३) दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र, (४) निशीथ सूत्र, (५) महानिशीथ सूत्र, (६) जितकल्प सूत्र ।

५. चार सूत्र—इनके नाम निम्नलिखित हैं :—(१) उत्तराध्ययन सूत्र, (२) दशवैकालिक सूत्र, (३) आवश्यक सूत्र, (४) ओकनिर्यृति सूत्र ।

६. **विविध**—इस श्रेणी में बहुत से ग्रन्थ अन्तर्गत हैं, परन्तु इनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण नन्दिसूत्र और अनुयोगद्वार हैं। इनमें बहुत प्रकार के विषयों का समावेश है। जैन भिक्षुओं को जिन भी विषयों का परिज्ञान था, वे प्रायः सभी इनमें आ गये हैं। ये विश्वकोष के ढंग के ग्रंथ हैं। इन धर्म-ग्रंथों पर बहुत-सी टीकाएँ भी हैं। सबसे पुरानी टीकाएं निर्युक्ति कहाती हैं। इनका समय भद्रबाहु श्रुतिकेवलि का कहा जाता है। जैन टीकाकारों में सबसे प्रसिद्ध हरिभद्रस्वामी हुए हैं। इन्होंने बहुत-से धर्म-ग्रन्थों पर टीकाएँ लिखी हैं। इनके अतिरिक्त शान्ति सूरी, देवेन्द्रगणी और अभयदेव नाम के टीकाकारों ने भी बड़े महत्त्वपूर्ण भाष्य और टीकाएं लिखी हैं। इन टीकाओं का भी जैन-साहित्य में बहुत महत्त्व है। प्रायः सभी जैन धर्म-ग्रंथ प्राकृत भाषा में हैं। जैन-प्राकृत आर्ष या अर्ध-मागधी नाम से प्रसिद्ध है।

जैनों के जिस धार्मिक साहित्य का हमने वर्णन किया है, वह श्वेताम्बर सम्प्रदाय का है। जैनों में दो मुख्य सम्प्रदाय हैं—दिगम्बर और श्वेताम्बर। इन सम्प्रदायों का भेद किस प्रकार हुआ, इस पर हम इस ग्रन्थ में अन्यत्र प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे। दिगम्बर-सम्प्रदाय के जैन इस धार्मिक साहित्य को नहीं मानते। उनके धार्मिक ग्रन्थ अभी तक बहुत कम संख्या में मुद्रित हुए हैं।

(४) जैन-धर्म की शिक्षाएँ

वर्धमान महावीर ने स्वयं जिस धर्म का उपदेश किया था, उसका निश्चित रूप से पता लगा सकना वर्तमान समय में बहुत कठिन है। कारण यह है कि आजकल जो जैन साहित्य उपलब्ध होता है, वह महावीर के समय से बहुत पीछे संकलित हुआ था। महावीर की मृत्यु के कई सदियों बाद बल्लभि की महासभा में इस साहित्य ने अपना वर्तमान रूप प्राप्त किया था। इस बीच में महावीर की वास्तविक शिक्षाओं में निरन्तर परिवर्तन आता गया। दार्शनिक विचार निरन्तर विकसित होते रहे, और जैन-धर्म के प्रवर्तक की वास्तविक शिक्षाएँ क्या थीं, यह निश्चित करना भी सुगम नहीं रहा। फिर भी हम आवश्यक समझते हैं, कि जैन-धर्म के मुख्य-मुख्य सिद्धान्तों को यहाँ संक्षेप में उपस्थित करें, ताकि बौद्ध काल की धार्मिक सुधारणा को भली-भांति समझने में सहायता मिल सके।

जैन-धर्म के अनुसार मानव-जीवन का उद्देश्य मोक्ष प्राप्त करना है। मोक्ष प्राप्ति के लिए मनुष्य क्या प्रयत्न करे, इसके लिए साधारण गृहस्थों और भिक्षुओं (मुनियों) में भेद किया गया है। जिन नियमों का पालन एक मुनि कर सकता है, साधारण गृहस्थ (श्रावक) उनका पालन नहीं कर सकेगा। इसीलिए जीवन की इन दोनों स्थितियों में मुमुक्षु के लिए जो भिन्न-भिन्न धर्म हैं, उनका पृथक् रूप से प्रतिपादन करना

आवश्यक है ।

पाँच अणुव्रत—पहले सामान्य गृहस्थ (श्रावक) के धर्म को लीजिए। गृहस्थ के लिए पाँच अणुव्रतों का पालन करना आवश्यक है। गृहस्थों के लिए सम्भव नहीं, कि वे समस्त पापों का त्याग कर सकें। संसार के कृत्यों में फंसे रहने से उन्हें कुछ-न-कुछ अनुचित कृत्य करने ही पड़ेंगे, अतः उनके लिए अणुव्रतों का विधान किया गया है। अणुव्रत निम्नलिखित हैं :—

(१) अहिंसाणुव्रत—जैन-धर्म के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है, कि वह अहिंसाव्रत का पालन करे। मन, वचन और शरीर से किसी भी प्रकार की हिंसा करना अत्यन्त अनुचित है। परन्तु सांसारिक मनुष्यों के लिए पूर्ण अहिंसाव्रत धारण करना कठिन है। इसलिए श्रावकों के लिए 'स्थूल अहिंसा' का विधान किया गया है। 'स्थूल अहिंसा' का अभिप्राय यह है, कि निरपराधियों की हिंसा न की जाए। जैन-ग्रन्थों के अनुसार अनेक राजा अहिंसाणुव्रत का पालन करते हुए भी अपराधियों को दंड देते रहे हैं, और अहिंसक जन्तुओं का घात करते रहे हैं, अतः इस व्रत को स्थूल अर्थों में ही लेना चाहिए।

(२) सत्याणुव्रत—मनुष्यों में असत्य भाषण करने की प्रवृत्ति अनेक कारणों से होती है। द्वेष, स्नेह तथा मोह का उद्वेग इसमें प्रधान-कारण हैं। इन सब प्रवृत्तियों को दबाकर सर्वदा सत्य बोलना सत्याणुव्रत कहाता है।

(३) अचौर्याणुव्रत या अस्तेय—किसी भी प्रकार से दूसरों की सम्पत्ति चोरी न करना, और गिरी हुई, पड़ी हुई व रखी हुई वस्तु को स्वयं ग्रहण न कर उसके स्वामी को दे देना अचौर्याणुव्रत कहाता है।

(४) ब्रह्मचर्याणुव्रत—मन, वचन तथा कर्म द्वारा पर-स्त्री का समागम न कर अपनी पत्नी में ही सन्तोष, तथा स्त्री के लिए मन, वचन व कर्म द्वारा पर-पुरुष का समागम न कर अपने पति में ही सन्तोष रखना ब्रह्मचर्याणुव्रत कहाता है।

(५) परिग्रह-परिमाण-अणुव्रत—आवश्यकता के बिना बहुत से धन-धान्य को संग्रह न करना 'परिग्रह-परिमाण-अणुव्रत' कहाता है। गृहस्थों के लिए यह तो आवश्यक है, कि वे धन-उपार्जन करें, पर उसी में लिप्त हो जाना और अर्थ-संग्रह के पीछे भागना पाप है।

तीन गुणव्रत—इन अणुव्रतों का पालन तो गृहस्थों को सदा करना ही चाहिए। पर इनके अतिरिक्त समय-समय पर अधिक कठोर व्रतों का ग्रहण करना भी उपयोगी है। सामान्य सांसारिक जीवन व्यतीत करते हुए गृहस्थों को चाहिए कि वे कभी-कभी अधिक कठोर व्रतों की भी दीक्षा लें। ये कठोर व्रत जैन-धर्म-ग्रन्थों में 'गुण-व्रत' के नाम से कहे गए हैं। इनका संक्षिप्त रूप से प्रदर्शन करना उपयोगी है—

(१) दिग्विरति—गृहस्थ को चाहिए कि कभी-कभी यह व्रत ले ले, कि मैं इस दिशा में इससे अधिक दूर नहीं जाऊँगा। यह व्रत लेकर निश्चित किये गए प्रदेश में ही निवास करे, कभी उस परिमाण का उल्लंघन न करे।

(२) **अनर्थ दण्ड विरति**—मनुष्य बहुत-से ऐसे कार्य करता है, जिनसे उसका

कोई सम्बन्ध नहीं होता, ऐसे कार्यों से सर्वथा बचना चाहिए।

(३) उपभोग-परिभोग परिमाण—गृहस्थी को यह व्रत ले लेना चाहिए कि मैं परिमाण में इतना भोजन करूँगा, भोजन में इतने से अधिक वस्तुएं नहीं खाऊँगा, इससे अधिक भोग नहीं करूँगा—इत्यादि। इस प्रकार के व्रत लेने से मनुष्य अपनी इन्द्रियों का संयम सुगमता से कर सकता है।

इन तीन गुणव्रतों के अतिरिक्त चार शिक्षाव्रत हैं, जिनका पालन भी गृहस्थों को करना चाहिए।

(१) देशविरति—एक देश व क्षेत्र निश्चित कर लेना, जिससे आगे गृहस्थ न जाए, और न अपना कोई व्यवहार करे।

(२) सामयिक व्रत—निश्चित समय पर (यह निश्चित समय जैन-धर्म के अनुसार प्रातः, सायं और मध्याह्न, ये तीन संध्याकाल हैं) सब सांसारिक कृत्यों से विरत होकर, सब राग-द्वेष छोड़ साम्य भाव धारण कर शुद्ध आत्म-स्वरूप में लीन होने की क्रिया को सामयिक व्रत कहते हैं।

(३) पौषधोपवास व्रत—प्रत्येक अष्टमी व चतुर्दशी के दिन सांसारिक कार्यों का परित्याग कर 'मुनियों' के समान जीवन व्यतीत करने के प्रयत्न को 'पौषधोपवास-व्रत' कहते हैं। इस दिन गृहस्थ को सब प्रकार का भोजन त्यागकर धर्मकथा श्रवण करने में ही अपना समय व्यतीत करना चाहिए।

(४) अतिथि-संविभाग व्रत—विद्वान् अतिथियों का और विशेषतया मुनि लोगों का सम्मानपूर्वक स्वागत करना अतिथि-संविभाग-व्रत कहलाता है।

इन गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों का पालन गृहस्थों के लिए बहुत लाभदायक है। वे इनसे अपना जीवन उन्नत कर सकते हैं, और 'मुनि' बनने के लिए उचित तैयारी कर सकते हैं। प्रत्येक मनुष्य 'मुनि' नहीं बन सकता। संसार का व्यवहार चलाने के लिए गृहस्थ धर्म का पालन करना भी आवश्यक है। अतः जैन-धर्म के अनुसार गृहस्थ-जीवन को व्यतीत करना बुरी बात नहीं है। पर गृहस्थ होते हुए भी मनुष्य को अपना जीवन इसढंग से व्यतीत करना चाहिए, कि पाप में लिप्त न हो और मोक्ष साधन में तत्पर रहे।

पाँच महाव्रत—जैन मुनियों के लिए आवश्यक है, कि वे पाँच महाव्रतों का पूर्णरूप से पालन करें। सर्वसाधारण गृहस्थ लोगों के लिए यह सम्भव नहीं है कि वे पापों से सर्वथा मुक्त हो सकें, इस कारण उनके लिए अणुव्रतों का विधान किया गया है। पर मुनि लोगों के लिए, जो कि मोक्ष-पद को प्राप्त करने के लिए संसार त्यागकर साधना में तत्पर हुए हैं, पापों का सर्वथा परित्याग अनिवार्य है। इसलिए उन्हें निम्नलिखित पाँच महाव्रतों का पालन करना चाहिए।

(१) अहिंसा महाव्रत—जैन मुनि के लिए अहिंसाव्रत बहुत ही महत्त्व रखता है। किसी भी प्रकार के प्राणी की, जानबूझकर या बिना जाने-बूझे हिंसा करना महापाप है। अहिंसाव्रत का सम्यक् प्रकार से पालन करने के लिए निम्नलिखित व्रत उपयोगी माने जाते हैं। १. ईर्यासमिति—चलते हुए इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि कहीं हिंसा

न हो जाय। इसके लिए उन्हीं स्थानों पर चलना चाहिए, जहाँ भली-भाँति अच्छे मार्ग बने हुए हों, क्योंकि वहाँ जीव-जन्तुओं के पैर से कुचले जाने की सम्भावना बहुत कम होगी। २. भाषा-समिति—भाषण करते हुए सदा मधुर तथा प्रिय भाषा बोलनी चाहिए। कठोर वाणी से वाचिक हिंसा होती है, और साथ ही इस बात की सम्भावना भी रहती है कि शाब्दिक लड़ाई प्रारम्भ न हो जाए। ३. एषणा-समिति–भिक्षा ग्रहण करते हुए मुनि को यह ध्यान में रखना चाहिए कि भोजन में किसी प्राणी की हिंसा तो नहीं की गई है, अथवा भोजन में किसी प्रकार के कृमि तो नहीं हैं। ४. आदान-क्षेपणा-समिति–मुनि को अपने धार्मिक कर्त्तव्यों को पालन करने के लिए जिन वस्तुओं का अपने पास रखना आवश्यक है, उनमें यह निरन्तर देखते रहना चहिए कि कहीं कीड़े तो नहीं हैं। ५. व्युत्सर्ग-समिति–पेशाब व मल त्याग करते समय भी यह ध्यान में रखना चाहिए कि जिस स्थान पर वे यह कार्य कर रहे हैं, वहाँ कोई जीव-जन्तु तो नहीं है।

जैन-मुनि के लिए अहिंसा का व्रत पालन करना अत्यन्त आवश्यक है। प्रमाद व अज्ञान से तुच्छ से तुच्छ जीव का वध भी उसके लिए पाप का कारण बनता है। इसीलिए इस व्रत का पालन करने के लिए इतनी सावधानी से कार्य करने का उपदेश किया गया है।

(२) असत्य-त्याग-महाव्रत—सत्य परन्तु प्रिय भाषण करना 'असत्य-त्याग-महाव्रत' कहलाता है। यदि कोई बात सत्य भी हो, परन्तु कटु हो, तो उसे नहीं बोलना चाहिए। इस व्रत के पालन में पाँच भावनाएँ बहुत उपयोगी हैं—१. अनुबिम-भाषी–भली-भाँति विचार किये बिना भाषण नहीं करना चाहिए। २. कोहं परिजानाति–जब क्रोध व अहंकार का वेग हो, तो भाषण नहीं करना चाहिए। ३. लोभं परिजानाति–लोभ का भाव जब प्रबल हो, तो भाषण नहीं करना चाहिए। ४. भयं परिजानाति–डर के कारण असत्य भाषण नहीं करना चाहिए। ५. हासं परिजानाति–हंसी में भी असत्य भाषण नहीं करना चाहिए।

सत्य का पालन करने के लिए सम्यक् प्रकार से विचार करके भाषण करना, और लोभ, मोह, भय, हास तथा अहंकार से भी असत्य भाषण न करना आवश्यक है।

(३) अस्तेय महाव्रत—किसी दूसरे की किसी भी वस्तु को उसकी अनुमति के बिना ग्रहण न करना तथा जो वस्तु अपने को नहीं दी गई है, उसको ग्रहण न करना तथा ग्रहण करने की इच्छा भी न करना अस्तेय महाव्रत कहाता है।

इस महाव्रत का पालन करने के लिए मुनि लोगों को निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना चाहिए—१. जैन मुनि को किसी घर में तब तक प्रवेश नहीं करना चाहिए, जब तक कि गृहपति की अनुमति अन्दर आने के लिए न ले ली जाए। २. भिक्षा में जो कुछ भी भोजन प्राप्त हो, उसे तब तक ग्रहण न करे, जब तक कि गुरु को दिखाकर उससे अनुमति न ले ली जावे। ३. जब मुनि को किसी घर में निवास करने की आवश्यकता हो, तो पहले गृहपति से अनुमति प्राप्त कर ले और यह निश्चित रूप से पूछ ले कि घर के कितने हिस्से में और कितने समय तक वह रह सकता है। ४. गृहपति की अनुमति के बिना घर में विद्यमान किसी आसन, शय्या व अन्य वस्तु का उपयोग न करे। ५. जब

कोई मुनि किसी घर में निवास कर रहा हो, तो दूसरा मुनि भी उस घर मे गृहपति की अनुमति के बिना निवास न कर सके।

(४) ब्रह्मचर्य महाव्रत—जैन मुनियों के लिए ब्रह्मचर्य-व्रत का भी महत्त्व है। अपने विपरीत लिङ्ग के व्यक्ति से किसी प्रकार का संसर्ग रखना मुनियों के लिए निषिद्ध है। ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करने के लिए निम्नलिखित भावनाओं का विधान किया गया है—१. किसी स्त्री से वार्तालाप न किया जाए। २. किसी स्त्री की तरफ दृष्टिपात भी न किया जाए। ३. गृहस्थ-जीवन में स्त्री-संसर्ग से जो सुख प्राप्त होता था, उसका मन में भी चिन्तन न किया जाए। ४. अधिक भोजन न किया जाए। मसाले, तिक्त पदार्थ आदि ब्रह्मचर्य-नाशक भोजनों का परित्याग किया जाए। जिस घर में कोई स्त्री रहती हो, वहाँ निवास न किया जाए।

साधुनियों के लिए नियम इनसे सर्वथा विपरीत हैं। किसी पुरुष के साथ बात-चीत करना, पुरुष का अवलोकन करना और पुरुष का चिन्तन करना—उनके लिए निषिद्ध है।

(५) अपरिग्रह महाव्रत—किसी भी वस्तु, रस व व्यक्ति के साथ अपना सम्बन्ध न रखना तथा सबसे निर्लेप रहकर जीवन व्यतीत करना 'अपरिग्रह-व्रत' का पालन कहाता है। जैन मुनियों के लिए 'अपरिग्रह-व्रत' का अभिप्राय बहुत विस्तृत तथा गम्भीर है। सम्पत्ति का संचय न करना तो साधारण बात है, पर किसी भी वस्तु के साथ किसी भी प्रकार का ममत्व न रखना जैन-मुनियों के लिए आवश्यक है। मनुष्य इन्द्रियों द्वारा रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा शब्द का जो अनुभव प्राप्त करता है—उस सबसे विरत हो जाना 'अपरिग्रह-व्रत' के पालन के लिए परमावश्यक है। इस व्रत के सम्यक् प्रकार पालन से मनुष्य अपने जीवन के चरम उद्देश्य मोक्ष को प्राप्त करने के योग्य बनता है, औद सब विषयों तथा वस्तुओं से निर्लिप्त तथा विरक्त होकर वह इस जीवन में ही सिद्ध अथवा 'केवली' बन जाता है।

साधु का आदर्श—जैन-ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर 'साधु' का आदर्श वर्णित है। हम कुछ श्लोकों का अनुवाद यहाँ पर उपस्थित करते हैं :—

"जिन वस्तुओं के साथ तुम्हारा पहले स्नेह रहा हो, उनसे स्नेह तोड़ दो। अब किसी नई वस्तु से स्नेह न करो। जो तुमसे स्नेह करते हैं, उनसे भी स्नेह न करो। तभी तुम पाप और घृणा से मुक्त हो सकोगे।

"साधु को चाहिए कि आत्मा के सब बन्धनों को काट दे। किसी वस्तु से घृणा न करे। किसी से स्नेह न करे। किसी प्रकार की मौज में अपने को न लगाए।"

"जीवन के आनन्दों पर विजय प्राप्त करना बहुत कठिन है। निर्बल लोग उन्हें सुगमता से नहीं छोड़ सकते। पर जिस प्रकार व्यापारी लोग दुर्गम समुद्र के पार उतर जाते हैं, उसी प्रकार साधुजन 'संसार' के पार उतर जाते हैं।"

"स्थावर व जंगम—किसी भी सत्ता को मन, वचन व कर्म से किसी प्रकार की क्षति नहीं पहुँचानी चाहिए।"

"साधु को केवल अपनी जीवन-यात्रा के निर्वाह के लिए ही भोजन की भिक्षा

मांगनी चाहिए। उसका भोजन सुस्वादु नहीं होना चाहिए।"

"यदि सारी पृथ्वी भी किसी एक आदमी की हो जाए, तो भी उसे सन्तोष प्राप्त नहीं हो सकता। संतोष प्राप्त कर सकना तो बहुत कठिन है।"

"जितना तुम प्राप्त करोगे, उतनी ही तुम्हारी कामना बढ़ती जाएगी। तुम्हारी सम्पत्ति के साथ-साथ तुम्हारी आकांक्षाएँ भी बढ़ती जायेंगी। तुम्हारी आवश्यकता को पूर्ण करने के लिए दो 'माश' भी काफी हैं, पर सन्तोष तो तुम्हारा (यदि तुम सम्पत्ति को बढ़ाते जाओ तो) एक करोड़ से भी नहीं हो सकता।"

(५) महात्मा बुद्ध

उत्तरी बिहार में एक जनपद था, जिसका नाम शाक्य गण था। इसकी राजधानी कपिलवस्तु थी। वहाँ के गणराजा का नाम शुद्धोदन था। इनकी पत्नी का नाम था माया। इन्हीं के घर कुमार सिद्धार्थ का जन्म हुआ, जो आगे चलकर महात्मा बुद्ध के नाम से प्रसिद्ध हुए। सिद्धार्थ का दूसरा नाम गौतम था, यह नाम सम्भवत: गौतम गोत्र के कारण था। जन्म के एक सप्ताह बाद ही कुमार सिद्धार्थ की माता का देहान्त हो गया। माया की बहिन महाप्रजावती थी। सिद्धार्थ का उसी ने पालन किया।

कपिलवस्तु का शाक्यगण वज्जिसंघ के समान शक्तिशाली नहीं था। पर क्षत्रियों के लिए उचित वीरता की शाक्यों में कमी नहीं थी। शाक्य कुमारों की शिक्षा में उस समय शारीरिक उन्नति की ओर अधिक ध्यान दिया जाता था। सिद्धार्थ को भी इसी प्रकार की शिक्षा दी गई। तीरन्दाजी, घुड़सवारी और मल्लविद्या में उसे बहुत प्रवीण बनाया गया। उस युग में पड़ौस के राजा गणराज्यों पर आक्रमण कर उन्हें अपने अधीन करने में लगे हुए थे। कोशल राज्य के कई हमले शाक्यों पर हो चुके थे। अतः यह स्वाभाविक था, कि शाक्य-कुमारों को वीर और पराक्रमी बनने की शिक्षा दी जाय। सिद्धार्थ का बाल्य-काल बड़े सुख और ऐश्वर्य से व्यतीत हुआ। सरदी, गरमी और वर्षा इन ऋतुओं में उसके निवास के लिए अलग-अलग महल बने हुए थे। इनमें ऋतु के अनुसार ऐश्वर्य तथा भोग-विलास के सब सामान एकत्र किये गये थे। सिद्धार्थ एक सम्पन्न शाक्य राजा का पुत्र था। उसके पिता की इच्छा थी, कि सिद्धार्थ भी शाक्यगण में खूब प्रतिष्ठित तथा उन्नत स्थान प्राप्त करे।

युवा होने पर सिद्धार्थ का विवाह यशोधरा नाम की कुमारी के साथ किया गया। विवाह के अनन्तर सिद्धार्थ का जीवन बड़े आनन्द के साथ व्यतीत होने लगा। सुख-ऐश्वर्य की उन्हें कमी ही क्या थी? कुछ समय बाद उन्हें एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम राहुल रखा गया।

एक बार की बात है कि कुमार सिद्धार्थ कपिलवस्तु का अवलोकन करने के लिए निकले। उस दिन नगर को खूब सजाया गया था। कुमार सिद्धार्थ नगर की शोभा को देखता हुआ चला जा रहा था, कि उसका ध्यान सड़क के एक ओर लेटकर अन्तिम श्वास लेते हुए एक बीमार की ओर गया। सारथि ने पूछने पर बताया कि यह एक बीमार है, जो कष्ट के कारण भूमि पर पड़ा हुआ तड़प रहा है, और थोड़ी देर में इसका देहान्त हो

जाएगा। ऐसी घटना सभी आदमी देखते हैं, पर सिद्धार्थ पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा। इसके बाद उसे क्रमशः लाठी टेककर जाता हुआ एक बूढ़ा, श्मशान की ओर जाती हुई एक अरथी और एक शान्तमुख संन्यासी दिखाई दिये। पहले तीनों दृश्यों को देखकर सिद्धार्थ का दबा हुआ वैराग्य एकदम प्रबल हो गया। उसे भोग-विलासमय जीवन अत्यन्त तुच्छ और क्षणिक जान पड़ने लगा। संन्यासी को देखकर उसे उमंग आई, कि मैं भी इसी प्रकार संसार से विरक्त हो जाऊँ।

सिद्धार्थ को वैरागी-सा होता देखकर शुद्धोदन को बड़ी चिन्ता हुई। उसने संसार के तीव्र विलासों द्वारा सिद्धार्थ का वैराग्य दबाने का प्रयत्न किया। एक रात सिद्धार्थ को सुन्दरी वेश्याओं के बीच में अकेला छोड़ दिया गया। नवयुवती वेश्याएँ नाना-प्रकार के हाव-भाव, नाच व गान द्वारा उसे रिझाने का प्रयत्न करने लगीं। सिद्धार्थ उदासीन भाव से स्थिरदृष्टि होकर वहाँ बैठा रहा। कुछ समय में उसे नींद आ गई। रंग न जमने के कारण वेश्याओं को भी नींद सताने लगी। वे सब वहीं सो गईं। जब आधी रात को सिद्धार्थ की नींद अचानक टूटी, तब उसने देखा कि कुछ समय पूर्व जो नवयुवतियाँ सचमुच सौन्दर्य का अवतार-सी प्रतीत हो रही थीं, उनकी ओर अब आँख उठाने से भी ग्लानि होती है। किसी के बाल अस्तव्यस्त हैं, कोई किसी भयंकर स्वप्न को देखने के कारण मुख को विकृत कर रही है। किसी के शरीर से वस्त्र उतर गया है। थोड़ी देर तक इस दृश्य को देखकर सिद्धार्थ वहाँ से अपने शयनागार में चला गया। इस दृश्य ने सिद्धार्थ के कोमल हृदय को वैराग्य की तरफ और भी प्रेरित कर दिया। उसने संसार का परित्याग कर संन्यास ले लेने का दृढ़ संकल्प कर लिया।

एक दिन अँधेरी रात को कुमार सिद्धार्थ घर से निकल गया। शयनागार से बाहर आकर जब वह सदा के लिए अपने छोटे से परिवार से विदा होने लगा, तो उसे अपने प्रिय अबोध बालक राहुल और प्रियतमा यशोधरा की स्मृति सताने लगी। वह पुनः अपने शयनागार में प्रविष्ट हुआ। यशोधरा सुख की नींद सो रही थी। राहुल माता की छाती से सटा सो रहा था। कुछ देर तक सिद्धार्थ इस अनुपम दृश्य को एकटक देखता रहा। उसके हृदय पर दुर्बलता प्रभाव करने लगी। पर अगले ही क्षण अपने हृदय के निर्बल भावों को एक साथ परे ढकेलकर वह बाहर चला गया। गृह-त्याग के समय उसकी आयु २६ वर्ष की थी।

प्रातःकाल हो जाने पर सिद्धार्थ ने अपने घोड़े को भी छोड़ दिया। घोड़ा स्वयं अपने घर लौट आया। सिद्धार्थ ने अपने राजसी कपड़े एक साधारण किसान के साथ बदल लिये थे। प्रातःकाल शुद्धोदन ने सिद्धार्थ को ढूँढने के लिये अपने अनुचरों को भेजा, पर साधारण किसान के वस्त्र पहने हुए कुमार को वे नहीं पहचान सके। सिद्धार्थ निश्चिन्त होकर अपने मार्ग पर अग्रसर हुआ।

इसके बाद लगभग सात साल तक सिद्धार्थ ज्ञान और सत्य की खोज में इधर-उधर भटकता रहा। शुरू-शुरू में उसने दो तपस्वियों को अपना गुरु धारण किया। इन्होंने उसे मोक्ष प्राप्ति के लिए खूब तपस्या करवाई। शरीर की सब क्रियाओं को बन्द कर घोर तपस्या करना ही इनकी दृष्टि में मोक्ष का उपाय था। सिद्धार्थ ने घोर तपस्याएँ

कीं। शरीर को तरह-तरह से कष्ट दिए। पर इन साधनों से उसे आत्मिक शान्ति नहीं मिली। उसने यह मार्ग छोड़ दिया।

मगध का भ्रमण करता हुआ सिद्धार्थ उरुवेला पहुँचा। यहाँ के मनोहर प्राकृतिक दृश्यों ने उसके हृदय पर बड़ा प्रभाव डाला। इस प्रदेश के निस्तब्ध और सुन्दर जंगलों और मधुर शब्द करने वाले स्वच्छ जल के झरनों को देखकर उसका चित्त बहुत प्रसन्न हुआ। उरुवेला के इन जंगलों में सिद्धार्थ ने फिर तपस्या प्रारम्भ की। यहाँ पाँच अन्य तपस्वियों से भी उसकी भेंट हुई। ये भी कठोर तप द्वारा मोक्ष प्राप्ति में विश्वास रखते थे। सिद्धार्थ लगातार पद्मासन लगाकर बैठा रहता। भोजन तथा जल का उसने सर्वथा परित्याग कर दिया। इस कठोर तपस्या से उसका शरीर निर्जीव-सा-हो गया। पर फिर भी उसे सन्तोष नहीं हुआ। उसने अनुभव किया कि उसकी आत्मा वहीं पर है, जहाँ पहले थी। इतनी घोर तपस्या के बाद भी उसे आत्मिक उन्नति के कोई चिह्न दिखाई नहीं दिये। उसे विश्वास हो गया, कि शरीर को जान-बूझकर कष्ट देने से मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता। सिद्धार्थ ने तपस्या के मार्ग का परित्याग कर फिर से अन्न ग्रहण करना प्रारम्भ कर दिया। उसके साथी तपस्वियों ने समझा, कि सिद्धार्थ मार्ग-भ्रष्ट हो गया है, और अपने उद्देश्य से च्युत हो गया है। उन्होंने उसका साथ छोड़ दिया और अब सिद्धार्थ फिर अकेला ही रह गया। तपस्या के मार्ग से निराश होकर सिद्धार्थ उस स्थान पर पहुँचा जहाँ वर्तमान समय में बोध गया है। वहाँ एक विशाल पीपल का वृक्ष था। थक कर सिद्धार्थ उसकी छाया में बैठ गया। इतने दिनों तक वह सत्य को ढूँढने के लिए अनेक मार्गों को ग्रहण कर चुका था। अब उसने अपने अनुभवों पर विचार करना प्रारम्भ किया। सात दिन और सात रात वह एक ही जगह पर ध्यानमग्न दशा में बैठा रहा। अन्त में उसे बोध हुआ। उसे अपने हृदय में एक प्रकार का प्रकाश-सा जान पड़ा। उसकी आत्मा में एक दिव्य ज्योति का आविर्भाव हुआ। उसकी साधना सफल हुई। वह अज्ञान से ज्ञान की दशा को प्राप्त हो गया। इस बोध या सत्य ज्ञान के कारण वह सिद्धार्थ से 'बुद्ध' बन गया। बौद्धों की दृष्टि में इस पीपल के वृक्ष का बड़ा महत्त्व है। यही बोधिवृक्ष कहाता है। इसी के कारण समीपवर्ती नगरी गया भी 'बोधगया' कहाती है। इस वृक्ष के नीचे ध्यानमग्न दशा में जो बोध कुमार सिद्धार्थ को हुआ था, वही 'बौद्ध-धर्म' है। महात्मा बुद्ध उसे आर्यमार्ग व मध्यमार्ग कहते थे। इसके बाद सिद्धार्थ व बुद्ध ने अपना सम्पूर्ण जीवन इसी आर्य मार्ग का प्रचार करने में लगा दिया।

बौद्ध-साहित्य में सिद्धार्थ की इस ज्ञान-प्राप्ति की दशा का बड़ा विस्तृत और अतिरंजित वर्णन किया गया है। इसके अनुसार ज्ञान-प्राप्ति के अवसर पर मार (कामदेव) आदि राक्षसों ने अपनी सेना सहित सिद्धार्थ पर चढ़ाई की। उसके सामने नाना प्रकार के प्रलोभन व कँपा देने वाले भय उपस्थित किये गये। पर सिद्धार्थ ने इन सब पर विजय पायी। सम्भवतः, ये वर्णन महात्मा बुद्ध के हृदय के अच्छे-बुरे भावों के संघर्ष को चित्रित करने के लिए किये गए थे। बुद्ध ने अपने हृदय में विद्यमान बुरे भावों पर विजय प्राप्त की, और सत्य-ज्ञान द्वारा धर्म के आर्य मार्ग का ग्रहण किया।

महात्मा बुद्ध को जो बोध हुआ था, उसके अनुसार मनुष्यमात्र का कल्याण करना

और सब प्राणियों का हित सम्पादन करना उनका परम लक्ष्य था। इसीलिए बुद्ध होकर वे शान्त होकर नहीं बैठ गए। उन्होंने सब जगह घूम-घूम कर अपना सन्देश जनता तक पहुँचाना प्रारम्भ कर दिया।

बुद्ध का प्रचार-कार्य—गया से महात्मा बुद्ध काशी की ओर चले। काशी के समीप, जहाँ आजकल सारनाथ है, उन्हें वे पाँचों तपस्वी मिले, जिनसे उनकी उरुवेला में भेंट हुई थी। जब इन तपस्वियों ने बुद्ध को दूर से आते देखा, तब उन्होंने सोचा, यह वही सिद्धार्थ है, जिसने अपनी तपस्या बीच में ही भंग कर दी थी। वह अपने प्रयत्न में असफल हो निराश होकर फिर यहाँ आ रहा है। हम इसका स्वागत व सम्मान नहीं करेंगे। परन्तु जब महात्मा बुद्ध और समीप आये, तो उनके चेहरे पर एक अनुपम ज्योति देखकर ये तपस्वी आश्चर्य में आ गये, और उन्होंने खड़े होकर उनका स्वागत किया। बुद्ध ने उन्हें उपदेश दिया। गया में बोधि वृक्ष के नीचे ध्यानमग्न होकर जो सत्यज्ञान उन्होंने प्राप्त किया था, उसका सबसे पहले उपदेश इन तपस्वियों को ही दिया गया। ये पाँचों बुद्ध के शिष्य हो गये। बौद्धधर्म में सारनाथ के इस उपदेश का बहुत महत्त्व है। इसी के कारण बौद्ध संसार में बोधगया के बाद सारनाथ का तीर्थस्थान के रूप में सबसे अधिक माहात्म्य है।

सारनाथ से बुद्ध उरुवेला गये। यह स्थान उस समय याज्ञिक कर्मकाण्ड में व्यस्त ब्राह्मण पुरोहितों का गढ़ था। वहाँ एक हजार ब्राह्मण इस प्रकार के रहते थे, जो हर समय अग्निकुण्ड में अग्नि को प्रदीप्त रखकर वेदमन्त्रों द्वारा आहुतियाँ देने में व्यस्त रहते थे। बुद्ध के उपदेशों से वे उनके अनुयायी हो गये। कश्यप इनका नेता था। आगे चलकर वह बुद्ध के प्रधान शिष्यों में गिना जाने लगा।

कश्यप के बौद्ध धर्म में दीक्षित हो जाने के कारण बुद्ध की ख्याति दूर-दूर तक फैल गई। उरुवेला से वह अपने शिष्यों के साथ राजगृह गये। उन्होंने नगर के बाहर एक उपवन में डेरा लगाया। उन दिनों मगध के राजसिंहासन पर श्रेणिय बिम्बिसार विराजमान थे। उन्होंने बहुत से अनुचरों के साथ बुद्ध के दर्शन किए, और उनके उपदेशों का श्रवण किया। राजगृह में बुद्ध को दो ऐसे शिष्य प्राप्त हुए, जो आगे चलकर बौद्ध-धर्म के बड़े स्तम्भ साबित हुए। इनके नाम सारिपुत्त और मोग्गलान थे। ये दोनों प्रतिभाशाली ब्राह्मण कुमार एक दूसरे के अभिन्न मित्र थे, और सदा एक साथ रहते थे। एक वार जब वे मार्ग पर बैठे हुए किसी विषय की चर्चा कर रहे थे, तो एक बौद्धभिक्षु भिक्षापात्र हाथ में लिए उस रास्ते से गुजरा। इन ब्राह्मण कुमारों की दृष्टि उस पर पड़ गई। उसकी चाल, वस्त्र, मुखमुद्रा और शान्त तथा वैराग्यपूर्ण दृष्टि से ये दोनों इतने प्रभावित हुए कि उसके सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने के लिए व्याकुल हो उठे। जब वह बौद्ध-भिक्षु भिक्षाकार्य समाप्त कर वापस लौट रहा था, तो ये उसके साथ महात्मा बुद्ध के दर्शन के लिये गए। इनको देखते ही बुद्ध समझ गये, कि ये दोनों ब्राह्मण कुमार उनके प्रधान शिष्य बनने योग्य हैं। बुद्ध का उपदेश सुनकर सारिपुत्त और मोग्गलान भी भिक्षु-वर्ग में सम्मिलित हो गये। बाद में ये दोनों बड़े प्रसिद्ध हुए, और बौद्ध-धर्म के प्रसार के लिये इन्होंने बहुत कार्य किया।

जब मगध के बहुत से कुलीन लोग बड़ी संख्या में भिक्षु बनने लगे, तो जनता में

असन्तोष बढ़ने लगा। लोगों ने कहना शुरू किया—यह साधु प्रजा की संख्या घटाने, स्त्रियों को विधवाओं के सदृश बनाने और कुलों का नाश करने लिए आया है, इससे बचो। बुद्ध के शिष्यों ने उनसे आकर कहा, कि आजकल मगध की जनता इस भाव के गीत बनाकर गा रही है—सैर करता हुआ एक साधु मगध की राजधानी में आया है, और पहाड़ की चोटी पर डेरा डाले बैठा है। उसने संजय के सब शिष्यों को अपना चेला बना लिया है, आज न जाने वह किसे अपने पीछे लगायेगा। इस पर बुद्ध ने उत्तर दिया—इस बात से घबराओ नहीं। यह असन्तोष क्षणिक है। जब तुमसे लोग पूछें, कि बुद्ध आज किसे अपने पीछे लगायेगा, तो तुम उत्तर दिया करो—वीर और विवेकशाली पुरुष उसके अनुयायी बनेंगे। वह तो सत्य के बल पर ही अपने अनुयायी बनाता है।

महात्मा बुद्ध का प्रधान कार्यक्षेत्र मगध था। वे कई बार मगध आये, और सर्वत्र घूम-घूम कर उन्होंने अपने धर्म का प्रचार किया। बिम्बिसार और अजातशत्रु उनके समकालीन थे। इन मागध सम्राटों के हृदय में बुद्ध के प्रति अपार श्रद्धा थी। बुद्ध अपने बहुत से शिष्यों को साथ लेकर भ्रमण किया करते थे। उनकी मण्डली में कई सौ भिक्खु एक साथ रहते थे। वे जिस शहर में पहुँचते, शहर के बाहर किसी उपवन में डेरा डाल देते। लोग बड़ी संख्या में उनके दर्शनों के लिए आते, और उपदेश श्रवण करते। नगर के श्रद्धालु लोग उन्हें भोजन के लिए आमन्त्रित किया करते थे। भोजन के अनन्तर बुद्ध अपने यजमान को उपदेश भी देते थे। यही उनके प्रचार का ढंग था।

मगध से बाहर महात्मा बुद्ध काशी, कोशल और वज्जि जनपदों में गए। अवन्ति जैसे दूरवर्ती जनपदों के लोगों ने उन्हें अनेक बार आमन्त्रित किया, पर इच्छा होते हुए भी वह स्वयं वहाँ नहीं जा सके। उन्होंने अपने कुछ शिष्यों की टोली को वहाँ भेज दिया था, और अवन्ति की जनता ने बड़े प्रेम और उत्साह से उसका स्वागत किया था। भिक्षुओं की इस प्रकार की टोलियाँ अन्यत्र भी बहुत से स्थानों पर आर्यमार्ग का प्रसार करने के लिए भेजी गई थीं। इन प्रचारक-मण्डलों का ही परिणाम हुआ, कि बुद्ध के जीवनकाल में ही उनका सन्देश प्रायः सम्पूर्ण उत्तरी भारत में दूर-दूर तक फैल गया था।

महापरिनिर्वाण—महात्मा बुद्ध ने चालीस वर्ष के लगभग आर्यमार्ग का प्रचार किया। जब वे अस्सी वर्ष की आयु के थे, तो उन्होंने राजगृह से कुशीनगर के लिए एक लम्बी यात्रा का प्रारम्भ किया। इस यात्रा में वैशाली के समीप वेणुवन में उनका स्वास्थ्य बहुत गिर गया। कुछ दिन वहाँ विश्राम करके उन्होंने स्वास्थ्य लाभ किया। पर वे बहुत निर्बल हो चुके थे। वैशाली से कुशीनगर आते हुए वे फिर बीमार पड़े। बीमारी की दशा में ही वे कुशीनगर पहुँचे, और हिरण्यवती नदी के तट पर अपना डेरा डाला। यहाँ उनकी दशा और भी बिगड़ गई। बुद्ध की बीमारी की खबर कुशीनगर में वायुवेग से फैल गई। नगर के कुलीन मल्ल (कुशीनगर में मल्लगण की स्थिति थी) क्षत्रिय बड़े-बड़े झुण्ड बना कर हिरण्यवती के तट पर महात्मा बुद्ध के अन्तिम दर्शन के लिए आने लगे।

महात्मा बुद्ध की अन्तिम दशा की कल्पना कर भिक्खु लोग बड़े चिन्तित हुए। उन्हें उदास देखकर बुद्ध ने कहा—तुम सोचते होगे, तुम्हारा आचार्य तुम से जुदा हो

रहा है। पर ऐसा मत सोचो। जो सिद्धान्त और नियम मैंने तुम्हें बताए हैं, जिनका मैंने प्रचार किया है, वही तुम्हारे आचार्य रहेंगे और वे सदा जीवित रहेंगे। फिर उन्होंने सब भिक्षुओं को सम्बोधन करके कहा—पुत्रो! सुनो, मैं तुमसे कहता हूँ, जो आता है, वह जाता भी अवश्य है। बिना रुके प्रयत्न किए जाओ।

महात्मा बुद्ध के ये ही अन्तिम शब्द थे। इसके बाद उनका देह प्राण-शून्य हो गया। कुशीनगर के समीप उस स्थान पर जहाँ महात्मा बुद्ध का परिनिर्वाण हुआ था, अब भी उनकी एक विशाल मूर्ति विद्यमान है।

(६) बुद्ध की शिक्षाएँ

बुद्ध सच्चे अर्थों में सुधारक थे। प्राचीन आर्य-धर्म में जो बहुत-सी खराबियाँ आ गई थीं, उन्हें दूर कर उन्होंने सच्चे आर्य-धर्म का पुनरुद्धार करने का प्रयत्न किया। अपने मन्तव्यों और सिद्धान्तों के विषय में उन्होंने बार-बार कहा है—'एष धम्मो सनातनः', यही सनातन धर्म है। वे यह दावा नहीं करते थे, कि वे किसी नये धर्म का प्रतिपादन कर रहे हैं। उनका यही कथन था, कि मैं सनातन काल से चले आ रहे धर्म की ही स्थापना कर रहा हूँ।

मध्य-मार्ग—बुद्ध ने अपने धर्म को मध्य-मार्ग कहा है। वे उपदेश करते थे—भिक्षुओ! इन दो चरम कोटियों (अतियों) का सेवन नहीं करना चाहिए, भोग-विलास में लिप्त रहना और शरीर को कष्ट देना। इन दो अतियों का त्याग कर मैंने मध्य-मार्ग निकाला है, जो कि आँख देने वाला, ज्ञान कराने वाला और शक्ति प्रदान करने वाला है।

अष्टांगिक आर्य-मार्ग—इस मध्य-मार्ग के आठ आर्य (श्रेष्ठ) अंग थे—(१) सम्यक् दृष्टि, (२) सम्यक् संकल्प, (३) सम्यक् वचन, (४) सम्यक् कर्म, (५) सम्यक् आजीविका, (६) सम्यक् प्रयत्न, (७) सम्यक् विचार, और (८) सम्यक् ध्यान या समाधि। इसमें सन्देह नहीं, कि इन आठ बातों का पूर्ण रूप से आचरण कर मनुष्य अपने जीवन को आदर्श और कल्याणमय बना सकता है। अत्यन्त भोग-विलास और अत्यन्त तप—दोनों को हेय मानकर बुद्ध ने जिस मध्य मार्ग (मध्यमा प्रतिपदा) का उपदेश किया था, ये आठ बातें ही उसके अन्तर्गत थीं। संयम और सदाचारमय जीवन ही इस धर्म का सार है।

चार आर्य सत्य—बुद्ध के अनुसार चार आर्य सत्य हैं—(१) दुःख, (२) दुःख-समुदय या दुःख का हेतु, (३) दुःख निरोध, और (४) दुःख-निरोध-गामिनी प्रतिपदा अर्थात् दुःख को दूर करने का मार्ग। दुःख सत्य की व्याख्या करते हुए बुद्ध ने कहा—जन्म भी दुःख है, बुढ़ापा भी दुःख है, मरण शोक रुदन और मन की खिन्नता भी दुःख हैं। अप्रिय से संयोग और प्रिय से वियोग भी दुःख है। दुःख के रूप को इस प्रकार स्पष्ट कर बुद्ध ने प्रतिपादित किया, कि दुःख का समुदय या हेतु तृष्णा है। इन्द्रियों के जितने प्रिय विषय हैं, उनके साथ सम्पर्क तृष्णा को उत्पन्न करता है। राजा राजा से लड़ते हैं, ब्राह्मण ब्राह्मणों से, गृहपति गृहपति से, पुत्र पिता से, पिता पुत्र से, भाई भाई

से जो लड़ते हैं, उसका कारण यह तृष्णा ही है। इस तृष्णा का त्याग कर देने से, इसका विनाश कर देने से दुःख का निरोध होता है। जब तृष्णा छूट जाती है, तभी दुःख का निरोध सम्भव है। इस दुःख-निरोध का उपाय अष्टांगिक आर्य मार्ग ही है। इसी मार्ग का अनुसरण कर मनुष्य अपने जीवन की साधना इस ढंग से कर सकता है, कि वह तृष्णा से मुक्त होकर दुःखों से बच सके।

मनुष्यमात्र की समानता—महात्मा बुद्ध समाज में ऊंच-नीच के कट्टर विरोधी थे। उनकी दृष्टि में कोई मनुष्य नीच व अछूत नहीं था। उनके शिष्यों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, श्रेष्ठी, शूद्र, वेश्या, नीच समझी जाने वाली जातियों के मनुष्य—सब एक समान स्थान रखते थे। बौद्ध साहित्य में कथा आती है, कि वासत्थ और भारद्वाज नामक दो ब्राह्मण बुद्ध के पास आए और उनसे पूछा – हम दोनों में इस प्रश्न पर विवाद हो गया है कि कोई व्यक्ति जन्म से ब्राह्मण होता है, या कर्म से। इस पर बुद्ध ने उत्तर दिया—हे वासत्थ ! मनुष्यों में जो गौवें चराता है, उसे हम चरवाहा कहेंगे, ब्राह्मण नहीं। जो मनुष्य कला सम्बन्धी बातों से अपनी आजीविका चलाता है, उसे हम कलाजीवी कहेंगे, ब्राह्मण नहीं। जो आदमी व्यापार करता है, उसे हम व्यापारी कहेंगे, ब्राह्मण नहीं। जो आदमी दूसरों की नौकरी करता है, वह अनुचर कहलायगा, ब्राह्मण नहीं। जो चोरी करता है, वह चोर कहलाएगा, ब्राह्मण नहीं। जो आदमी शस्त्र धारण करके अपना निर्वाह करता है, उसे हम सैनिक कहेंगे, ब्राह्मण नहीं। किसी विशेष माता के पेट से जन्म होने के कारण मैं किसी को ब्राह्मण नहीं कहूँगा। वह व्यक्ति जिसका किसी भी वस्तु पर ममत्व नहीं है, जिसके पास कुछ भी नहीं है, मैं तो उसी को ब्राह्मण कहूँगा। जिसने अपने सब बन्धन काट दिये हैं, अपने को सब लगावों से पृथक् करके भी जो विचलित नहीं होता, मैं तो उसी को ब्राह्मण कहूँगा। जो भी व्यक्ति क्रोधरहित है, अच्छे काम करता है, सत्याभिलाषी है, जिसने अपनी इच्छाओं का दमन कर लिया है, मैं तो उसी को ब्राह्मण कहूँगा। वास्तव में न कोई ब्राह्मण के घर में जन्म लेने से ब्राह्मण होता है, और न कोई ब्राह्मण के घर में जन्म न लेने से अब्राह्मण होता है। अपने कर्मों से ही एक आदमी ब्राह्मण बन जाता है और दूसरा अब्राह्मण। अपने काम से ही कोई किसान है, कोई शिल्पी है, कोई व्यापारी है, और कोई सेवक है।

अहिंसा और यज्ञ—महात्मा बुद्ध पशुहिंसा के घोर विरोधी थे। अहिंसा उनके सिद्धान्तों में प्रमुख थी। वे न केवल यज्ञों में पशु-बलि के विरोधी थे, पर जीवों को मारना व किसी प्रकार से कष्ट देना भी वे अनुचित समझते थे। उस समय भारत में यज्ञों का कर्मकाण्ड बड़ा जटिल रूप धारण कर चुका था। लोगों का विश्वास था, कि यज्ञ द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति होती है। ईश्वर के ज्ञान के लिए, मोक्ष की साधना के लिए और अभीष्ट फल की प्राप्ति के लिए ब्राह्मण लोग यज्ञ का अनुष्ठान किया करते थे। पर महात्मा बुद्ध का यज्ञों में विश्वास नहीं था। एक जगह उन्होंने उपदेश करते हुए कहा है—वासत्थ ! एक उदाहरण लो। कल्पना करो, कि यह अचिरावती नदी किनारे तक भर कर जा रही है। इसके दूसरे किनारे पर एक मनुष्य आता है, और वह किसी आवश्यक कार्य से इस पार आना चाहता है। वह मनुष्य उसी किनारे पर खड़ा हुआ यह

प्रार्थना करना आरम्भ करे, कि ओ दूसरे किनारे, इस पार आ जाओ ! क्या उसके इस प्रकार स्तुति करने से यह किनारा उसके पास चला जाएगा ? हे वासत्थ ! ठीक इसी प्रकार एक त्रयी विद्या में निष्णात ब्राह्मण यदि उन गुणों को क्रियारूप में अपने अन्दर नहीं लाता, जो किसी मनुष्य को ब्राह्मण बनाते हैं, अब्राह्मणों का आचरण करता है, पर मुख से प्रार्थना करता है—मैं इन्द्र को बुलाता हूँ, मैं वरुण को बुलाता हूँ, मैं प्रजापति, ब्रह्मा, महेश और यम को बुलाता हूँ, तो क्या ये उसके पास चले आवेंगे ? क्या इनकी प्रार्थना से कोई लाभ होगा ?

सदाचार—यज्ञों में विविध देवताओं का आह्वान कर ब्राह्मण लोग जो उनकी स्तुति करते थे, महात्मा बुद्ध उसे निरर्थक समझते थे। उनका विचार था. कि सद्आचरण और सद्‌गुणों से ही मनुष्य अपनी उन्नति कर सकता है। व्यर्थ के कर्मकाण्ड से कोई लाभ नहीं। बुद्ध और वासत्थ का एक अन्य संवाद इस विषय पर बड़ा उत्तम प्रकाश डालता है—

"क्या ईश्वर के पास धन व स्त्रियाँ हैं ?"

"नहीं।"

"वह क्रोधपूर्ण है या क्रोधरहित।"

"क्रोधरहित।"

"उसका अन्तःकरण मलिन है या पवित्र ?"

"पवित्र।"

"वह स्वयं अपना स्वामी है या नहीं ?"

"है।"

"अच्छा, वासत्थ ! क्या इन ब्राह्मणों के पास धन व स्त्रियाँ नहीं हैं ?"

"हैं।"

"ये क्रोधी हैं या क्रोधरहित ?"

"क्रोधी हैं।"

"ये ईर्ष्यालु हैं या ईर्ष्यारहित ?"

"ये ईर्ष्यालु हैं।"

"उनका अन्तःकरण क्या पवित्र है ?"

"नहीं, अपवित्र है।"

"वे स्वयं अपने स्वामी हैं या नहीं ?"

"नहीं।"

"अच्छा, वासत्थ ! तुम स्वयं ही ईश्वर और ब्राह्मणों में इतना स्वभाववैषम्य बतला रहे हो। अब बताओ, इनमें कोई एकता और साम्य भी हो सकता है ?"

"कोई नहीं।"

"इसका अभिप्राय यह हुआ कि ये ब्राह्मण मलिन-हृदय के हैं, वासनाओं से शून्य नहीं हैं, और वह ब्रह्म पवित्र और वासनारहित है, अतः ये ब्राह्मण मृत्यु के अनन्तर उसके साथ नहीं मिल सकते। जब ये आचार-हीन ब्राह्मण बैठकर वेदपाठ करते हैं, या

उसके अनुसार कोई कर्मकाण्ड करते हैं, तब उनके हृदय में तो यह होता है, कि इस वेद-पाठ से या कर्मकाण्ड से मोक्ष की प्राप्ति हो जाएगी। पर यह उनका अज्ञान है। त्रिविद्या के उन पंडितों की बात वस्तुतः जलरहित मरुभूमि के और मार्गरहित बीहड़ वन के समान है। उससे उन्हें कोई लाभ नहीं हो सकता।"

अभिप्राय यह है, कि महात्मा बुद्ध केवल वेदपाठ व यज्ञों के अनुष्ठानों को सर्वथा लाभहीन समझते थे। उनका विचार था, कि जब तक चरित्र शुद्ध नहीं होगा, धन की इच्छा दूर नहीं होगी, काम, क्रोध, मोह आदि पर विजय नहीं की जाएगी, तब तक यज्ञों के अनुष्ठानमात्र से कोई लाभ नहीं होगा।

निर्वाण—बुद्ध के अनुसार जीवन का लक्ष्य निर्वाण पद को प्राप्त करना है। निर्वाण किसी पृथक् लोक का नाम नहीं है, न ही निर्वाण कोई ऐसा पद है, जिसे मनुष्य मृत्यु के बाद प्राप्त करता है। बुद्ध के अनुसार निर्वाण उस अवस्था का नाम है, जिसमें ज्ञान द्वारा अविद्या रूपी अन्धकार दूर हो जाता है। यह अवस्था इसी जन्म में, इसी लोक में प्राप्त की जा सकती है। सत्यबोध के अनन्तर महात्मा बुद्ध ने निर्वाण की यह दशा इसी जन्म में प्राप्त कर ली थी। एक जगह पर बुद्ध ने कहा है—जो धर्मात्मा लोग किसी की हिंसा नहीं करते, शरीर की प्रवृत्तियों का संयम कर पापों से बचे रहते हैं, वे उस अच्युत निर्वाण पद को प्राप्त करते हैं, जहाँ शोक और सन्ताप का नाम भी नहीं।

महात्मा बुद्ध ने अपने उपदेशों में सूक्ष्म और जटिल दार्शनिक विचारों को अधिक स्थान नहीं दिया। इन विवादों की उन्होंने उपेक्षा की। जीव का क्या स्वरूप है, सृष्टि की उत्पत्ति ब्रह्म से हुई है या किसी अन्य पदार्थ से, अनादि तत्त्व कितने और कौन से हैं, सृष्टि का कर्त्ता कोई ईश्वर है या नहीं—इस प्रकार के दार्शनिक विवादों से वे सदा बचे रहे। उनका विचार था, कि जीवन की पवित्रता और आत्मकल्याण के लिए इन सब बातों पर विचार करना विशेष लाभकारी नहीं है। पर मनुष्यों में इन प्रश्नों के लिए एक स्वाभाविक जिज्ञासा होती है। यही कारण है, कि आगे चलकर बौद्धों में बहुत-से दार्शनिक सम्प्रदायों का विकास हुआ। इन सम्प्रदायों के सिद्धान्त एक-दूसरे से बहुत भिन्न हैं। पर बुद्ध के उपदेशों व संवादों में इन दार्शनिक तत्वों पर विशेष प्रकाश नहीं डाला गया।

(७) बौद्ध-संघ

महात्मा बुद्ध ने अपने धर्म का प्रचार करने के लिए संघ की स्थापना की। जो लोग सामान्य गृहस्थ जीवन का परित्याग कर धर्म-प्रचार और मनुष्य-मात्र की सेवा में ही अपने जीवन को खपा देना चाहते थे, वे भिक्षुव्रत लेकर संघ में सम्मिलित होते थे।

महात्मा बुद्ध का जन्म एक गणराज्य में हुआ था। अपनी आयु के २९ वर्ष उन्होंने गणों के वातावरण में ही व्यतीत किये थे। वे गणों व संघों की कार्य-प्रणाली से भली-भाँति परिचित थे। यही कारण है, कि जब उन्होंने अपने नवीन धार्मिक सम्प्रदाय का संगठन किया, तो उसे भिक्षु संघ नाम दिया। अपने धार्मिक संघ की स्थापना करते

हुए स्वाभाविक रूप से उन्होंने अपने समय के संघराज्यों का अनुसरण किया और उन्हीं के नियमों तथा कार्यविधि को अपनाया। सब जगह भिक्षुओं के अलग-अलग संघ थे। प्रत्येक स्थान का संघ अपने-आप में एक पृथक् व स्वतन्त्र सत्ता रखता था। भिक्षु लोग संघ सभा में एकत्र होकर अपने कार्य का सम्पादन करते थे। वज्जिसंघ को जिस प्रकार के सात अपरिहरणीय धर्मों का महात्मा बुद्ध ने उपदेश किया था, वैसे ही सात अपरिहरणीय धर्म बौद्धसंघ के लिए उपदिष्ट किये गये थे—

(१) एक साथ एकत्र होकर बहुधा अपनी सभाएँ करते रहना।

(२) एक हो बैठक करना, एक हो उत्थान करना, और एक हो संघ के सब कार्यों को सम्पादित करना।

(३) जो संघ द्वारा विहित है, उसका कभी उल्लंघन नहीं करना। जो संघ में विहित नहीं है, उसका अनुसरण नहीं करना। जो भिक्षुओं के पुराने नियम चले आ रहे हैं, उनका सदा पालन करना।

(४) जो अपने में बड़े, धर्मानुरागी, चिरप्रव्रजित, संघ के पिता, संघके नायक, स्थविर भिक्षु हैं, उनका सत्कार करना, उन्हें बड़ा मानकर उनका पूजन करना, उनकी बात को सुनना तथा ध्यान देने योग्य समझना।

(५) पुनः पुनः उत्पन्न होने वाली तृष्णा के वश में नहीं आना।

(६) वन की कुटियों में निवास करना।

(७) सदा यह स्मरण रखना कि भविष्य में केवल ब्रह्मचारी ही संघ में सम्मिलित हों, और सम्मिलित हुए लोग पूर्ण ब्रह्मचर्य के साथ रहें।

संघ-सभा में जब भिक्षु लोग एकत्रित होते थे, तो प्रत्येक भिक्षु के बैठने के लिए आसन नियत होते थे। आसनों की व्यवस्था करने के लिए एक पृथक् कर्मचारी होता था, जिसे आसनप्रज्ञापक कहते थे। संघ में जिस विषय पर विचार होना होता था, उसे पहले प्रस्ताव रूप में पेश किया जाता था। प्रत्येक प्रस्ताव को तीन बार दोहराया जाता था, उस पर बहस होती थी, और निर्णय के लिए मत (वोट) लिए जाते थे। संघ के लिए कोरम का भी नियम था। संघ की बैठक के लिए कम से कम बीस भिक्षुओं की उपस्थिति आवश्यक होती थी। यदि कोई निर्णय पूरे कोरम के अभाव में किया गया हो, तो उसे मान्य नहीं समझा जाता था।

प्रत्येक भिक्षु के लिए यह आवश्यक था, कि वह संघ के सब नियमों का पालन करे, संघ के प्रति भक्ति रखे। इसलिए भिक्षु बनते समय जो तीन प्रतिज्ञाएं लेनी होती थीं, उनके अनुसार प्रत्येक भिक्षु को बुद्ध, धर्म, और संघ की शरण में आने का वचन लेना होता था। संघ में शामिल हुए भिक्षु कठोर संयम का जीवन व्यतीत करते थे। मनुष्य-मात्र के कल्याण के लिए और सब प्राणियों के हित के लिए ही भिक्षु संघ की स्थापना हुई थी। यह कार्य सम्पादित करने के लिए भिक्षुओं से वैयक्तिक जीवन की पवित्रता और त्याग की भावना की पूरी आशा रखी जाती थी।

बौद्ध-धर्म के अपूर्व संघटन ने बुद्ध के आर्यमार्ग के सर्वत्र प्रचारित होने में बड़ी सहायता दी। जिस समय मगध के साम्राज्यवाद ने प्राचीन संघराज्यों का अन्त कर

दिया, तब भी बौद्ध संघों के रूप में भारत की प्राचीन जनतन्त्र-प्रणाली जीवित रही। राजनीतिक शक्ति यदि मागध-सम्राटों के हाथ में थी, तो धार्मिक और सामाजिक शक्ति संघों में निहित थी। संघों में एकत्र होकर हजारों-लाखों भिक्षु लोग पुरातनगण प्रणाली से उन विषयों का निर्णय किया करते थे, जिनका मनुष्यों के दैनिक जीवन से अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध था। बौद्ध संघ की इस विशेष स्थिति का यह परिणाम हुआ, कि भारत में समानान्तर रूप से दो प्रबल शक्तियाँ कायम रहीं, एक मागध साम्राज्य और दूसरा चातुरन्त संघ। एक समय ऐसा भी था, जब इन दोनों शक्तियों में परस्पर संघर्ष का भी सूत्रपात हो गया।

(८) आजीवक सम्प्रदाय

भारतीय इतिहास में वर्धमान महावीर और गौतम बुद्ध का समय एक महत्त्वपूर्ण धार्मिक सुधारणा का काल था। इस समय में अनेक नवीन धार्मिक सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ था। इनमें बौद्ध और जैन-धर्मों के नाम तो सब कोई जानते हैं, पर जो अन्य सम्प्रदाय इस समय में प्रारम्भ हुए थे, उनका परिचय प्रायः लोगों को नहीं है। इसी प्रकार का एक सम्प्रदाय आजीवक था। इसका प्रवर्त्तक मक्खलिपुत्त गोसाल था। आजीवकों के कोई अपने ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं होते। उनके सम्बन्ध में जो कुछ भी परिचय मिलता है, वह बौद्ध और जैन साहित्य पर ही आश्रित है। मक्खलिपुत्त गोसाल छोटी आयु में ही भिक्खु हो गया था। शीघ्र ही वर्धमान महावीर से उसका परिचय हुआ, जो 'केवलिन्' पद पाकर अपने विचारों का जनता में प्रसार करने में संलग्न थे। महावीर और गोसाल साथ-साथ रहने लगे। पर इन दोनों की तबियत, स्वभाव, आचार-विचार और चरित्र एक-दूसरे से इतने भिन्न थे, कि छह साल बाद उनका साथ छूट गया, और गोसाल ने महावीर से अलग होकर अपने पृथक् सम्प्रदाय की स्थापना की, जो आगे चलकर आजीवक नाम से विख्यात हुआ। गोसाल ने अपने कार्य का मुख्य केन्द्र श्रावस्ती को बनाया। श्रावस्ती के बाहर एक कुम्भकार स्त्री का अतिथि होकर उसने निवास प्रारम्भ किया, और धीरे-धीरे बहुत से लोग उनके अनुयायी हो गए।

आजीवक-सम्प्रदाय के मन्तव्यों के सम्बन्ध में जो कुछ भी हमें ज्ञात है, उसका आधार उसका विरोधी साहित्य ही है। पर उसके कुछ मन्तव्यों के विषय में निश्चित रूप से कहा जा सकता है। आजीवक लोग मानते थे, कि संसार में सब बातें पहले से ही नियत हैं। "जो नहीं होना है, वह नहीं होगा। जो होना है, वह कोशिश के बिना भी हो जायेगा। अगर भाग्य न हो, तो आयी हुई चीज भी नष्ट हो जाती है। नियति के बल से जो कुछ होना है, वह चाहे शुभ हो या अशुभ, अवश्य होकर रहेगा। मनुष्य चाहे कितना भी यत्न करे, पर जो होनहार है, उसे वह बदल नहीं सकता।" इसीलिए आजीवक लोग पौरुष, कर्म और उत्थान की अपेक्षा भाग्य या नियति को अधिक बलवान् मानते थे। आजीवकों के अनुसार वस्तुओं में जो विकार व परिवर्तन होते हैं, उनका कोई कारण नहीं होता। संसार में कोई कार्य-कारण भाव काम कर रहा हो, सो बात नहीं है पर जो कुछ हो रहा है या होना है, वह सब नियत है। मनुष्य अपने पुरुषार्थ से उसे बदल सके, यह

सम्भव नहीं।

वर्धमान महावीर के साथ गोसाल का जिन बातों पर मतभेद हुआ, उनमें मुख्य निम्नलिखित थीं :—(१) शीतल जल का उपयोग करना; (२) अपने लिए विशेष रूप से तैयार किये गए अन्न व भोजन को ग्रहण करना; और (३) स्त्रियों के साथ सहवास करना। मक्खलिपुत्त गोसाल की प्रवृत्ति भोग की तरफ अधिक थी। वह आराम से जीवन व्यतीत करने के पक्ष में था। महावीर का घोर तपस्यामय जीवन उसे पसन्द नहीं था। यही कारण है, कि महात्मा बुद्ध ने भी एक स्थल पर आजीवकों को ऐसे सम्प्रदायों में गिना है, जो ब्रह्मचर्य को महत्त्व नहीं देते।

पर आजीवक भिक्खु का जीवन बड़ा सादा होता था। वे प्रायः हथेली पर रखकर भोजन किया करते थे। मांस, मछली और मदिरा का सेवन उनके लिए वर्जित था। वे दिन में केवल एक बार भिक्षा मांग कर भोजन करते थे।

आजीवक सम्प्रदाय का भी काफी विस्तार हुआ। सम्राट् अशोक के शिलालेखों में उल्लेख आता है, कि उसने अनेक गुहा-निवास आजीवकों को प्रदान किये थे। अशोक के पौत्र सम्राट् दशरथ ने भी गया के समीप नागार्जुनी पहाड़ियों में अनेक गुहाएं आजीवकों के निवास के लिए दान में दी थीं, और इस दान को सूचित करने वाले शिलालेख अब तक उपलब्ध होते हैं। अशोक ने विविध धार्मिक सम्प्रदायों में अविरोध उत्पन्न करने के लिए जो 'धर्ममहामात्र' नियत किए थे, उन्हें जिन सम्प्रदायों के मामलों पर दृष्टि रखने का आदेश दिया गया था, उनमें बौद्ध, ब्राह्मण और निर्ग्रन्थ (जैन) सम्प्रदायों के साथ आजीवकों का भी उल्लेख है। इससे प्रतीत होता है, कि धीरे-धीरे आजीवकों ने भी पर्याप्त महत्त्व प्राप्त कर लिया था, और यह सम्प्रदाय कई सदियों तक जीवित रहा था। इस समय इसके कोई अनुयायी शेष नहीं हैं।

(९) धार्मिक सुधारणा का प्रभाव

वर्धमान महावीर और गौतम बुद्ध के नेतृत्व में प्राचीन भारत की इस धार्मिक सुधारणा ने जनता के हृदय और दैनिक जीवन पर बड़ा प्रभाव डाला। लोगों ने अपने प्राचीन धार्मिक विश्वासों को छोड़कर किसी नये धर्म की दीक्षा ले ली हो, यह नहीं हुआ। पहले धर्म का नेतृत्व ब्राह्मणों के हाथों में था, जो कर्मकाण्ड, विधि-विधान और विविध अनुष्ठानों द्वारा जनता को धर्म-मार्ग का प्रदर्शन करते थे। सर्वसाधारण गृहस्थ जनता सांसारिक धन्धों में संलग्न थी। वह कृषि, शिल्प, व्यापार आदि द्वारा धन उपार्जन करती थी, और ब्राह्मणों द्वारा बताये धर्म मार्ग पर चलकर इहलोक और परलोक में सुख प्राप्त करने का प्रयत्न करती थी। अब ब्राह्मणों का स्थान श्रमणों, मुनियों और भिक्खुओं ने ले लिया। इन श्रमणों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—सभी वर्णों और जातियों के लोग सम्मिलित थे। अपने गुणों के कारण ही समाज में इनकी प्रतिष्ठा थी। धर्म का नेतृत्व ब्राह्मण जाति के हाथ से निकल कर अब ऐसे लोगों के समुदायों के हाथ में आ गया था, जो घर-गृहस्थी को छोड़कर मनुष्य-मात्र की सेवा का व्रत ग्रहण करते थे। निःसंदेह, यह एक बहुत बड़ी सामाजिक क्रान्ति थी।

भारत के सर्वसाधारण गृहस्थ सदा से अपने कुलक्रमानुगत धर्म का पालन करते रहे हैं। प्रत्येक कुल के अपने देवता, रीति-रिवाज और अपनी परम्पराएँ थीं, जिनका अनुसरण सब लोग मर्यादा के अनुसार करते थे। ब्राह्मणों का वे आदर करते थे, उनका उपदेश सुनते थे, और उनके बताये कर्मकाण्ड का अनुष्ठान करते थे। ब्राह्मण एक ऐसी श्रेणी थी, जो सांसारिक धन्धों से पृथक् रह कर धर्म-चिन्तन में संलग्न रहती थी। पर समय की गति से इस समय बहुत-से ब्राह्मण त्याग, तपस्या और निरीह जीवन का त्याग कर चुके थे। अब उनके मुकाबिले में श्रमणों की जो नई श्रेणी संगठित हो गई थी, वह त्याग और तपस्या से जीवन व्यतीत करती थी, और मनुष्य मात्र का कल्याण करने में रत रहती थी। जनता ने ब्राह्मणों की जगह अब इनको आदर देना और इनके उपदेशों के अनुसार जीवन व्यतीत करना शुरू किया। बौद्ध-धर्म के प्रचार का यही अभिप्राय है। जनता ने पुराने धर्म का सर्वथा परित्याग कर कोई बिलकुल नया धर्म अपना लिया हो, सो बात भारत के इतिहास में नहीं हुई।

बिम्बिसार, अजातशत्रु, उदायी, महापद्मनन्द और चन्द्रगुप्त मौर्य—जैसे मागध सम्राट् जैन-मुनियों, बौद्ध-भिक्खुओं और ब्राह्मणों का समान रूप से आदर करते थे। जैन-साहित्य के अनुसार ये जैन थे, इन्होंने जैन-मुनियों का आदर किया और उन्हें बहुत-सा दान दिया। बौद्ध ग्रंथों के अनुसार ये बौद्ध थे, भिक्षुओं का ये बड़ा आदर करते थे, और इनकी सहायता पाकर बौद्ध-संघ ने बड़ी उन्नति की थी। बौद्ध और जैन-साहित्य इन सम्राटों के साथ सम्बन्ध रखने वाली कथाओं से भरे पड़े हैं, और इन सम्राटों का उल्लेख उसी प्रसंग में किया गया है, जब इन्होंने जैन या बौद्ध-धर्म का आदर किया और उनसे शिक्षा ग्रहण की। पौराणिक साहित्य में इनका अनेक ब्राह्मणों के सम्पर्क में उल्लेख किया गया है। वास्तविक बात यह है, कि इन राजाओं ने किसी एक धर्म को निश्चित रूप से स्वीकार कर लिया हो, किसी का विशेष रूप से पक्ष लिया हो, यह बात नहीं थी। प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुसार ये ब्राह्मणों, श्रमणों और मुनियों का समान रूप से आदर करते थे। क्योंकि इस काल में भिक्खु लोग अधिक संगठित और क्रियाशील थे, इसलिये उनका महत्त्व अधिक था। जो वृत्ति राजाओं की थी, वही जनता की भी थी।

इस धार्मिक सुधारणा का एक अन्य महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ, कि भारत में यज्ञों के कर्मकाण्ड का जोर कम हो गया। यज्ञों के बन्द होने के साथ-साथ पशुबलि की प्रथा कम होने लगी। यज्ञों द्वारा स्वर्ग-प्राप्ति की आकांक्षा के निर्बल हो जाने से राजा और गृहस्थ लोग श्रावक या उपासक के रूप में भिक्षुओं द्वारा बताये गए मार्ग का अनुसरण करने लगे, और उनमें जो अधिक श्रद्धालु थे, वे मुनियों और श्रमणों का सा सादा व तपस्यामय जीवन व्यतीत करने के लिए तत्पर हुए।

बौद्ध और जैन सम्प्रदायों से भारत में एक नई धार्मिक चेतना उत्पन्न हो गई थी। शक्तिशाली संघों में संगठित होने के कारण इनके पास धन, मनुष्य व अन्य साधन प्रचुर परिमाण में विद्यमान थे। परिणाम यह हुआ, कि मगध के साम्राज्य-विस्तार के साथ-साथ संघ की चातुरन्त सत्ता की स्थापना का विचार भी बल पकड़ने लगा। इसीलिए आगे चलकर भारतीय धर्म व संस्कृति का न केवल भारत के सुदूरवर्ती प्रदेशों

में, अपितु भारत से बाहर भी दूर-दूर तक प्रसार हुआ।

(१०) बौद्ध साहित्य

जिस प्रकार प्राचीन वैदिक साहित्य में तीन संहिताएँ हैं, वैसे ही बौद्ध-साहित्य में तीन पिटक (त्रिपिटक) हैं। ये त्रिपिटक निम्नलिखित हैं—विनय पिटक, (२) सुत्त-पिटक, और (३) अभिधम्म पिटक। इन तीन पिटकों के अन्तर्गत जो बहुसंख्यक ग्रंथ हैं, उन पर संक्षेप से प्रकाश डालना उपयोगी है।

विनय पिटक—इस पिटक में आचार-सम्बन्धी वे नियम प्रतिपादित हैं, जिनका पालन प्रत्येक बौद्ध भिक्खु के लिए आवश्यक है। विनय पिटक के तीन भाग हैं—(१) सुत्त विभंग, (२) खन्धक और (३) परिवार। सुत्तविभंग दो भागों में विभक्त है, भिक्खुविभंग और भिक्खुनीविभंग। इनमें वे नियम विशुद्ध रूप से प्रतिपादित हैं, जिनका पालन प्रत्येक भिक्खु और भिक्खुनी को आवश्यक रूप से करना चाहिए। कतिपय अपराध ऐसे हैं, जिनके करने से भिक्खु व भिक्खुनी पतित हो जाते हैं। ऐसे अपराधों की कुल संख्या २२७ है। प्रत्येक पूर्णिमा को इन अपराधों का पाठ भिक्खुओं के संघ के सम्मुख किया जाता था, और यदि किसी भिक्खु व भिक्खुनी ने इनमें से कोई अपराध किया हो, तो उसे उसके लिए प्रायश्चित्त करना पड़ता था। सुत्तविभंग में इन अपराधों और भिक्खुओं द्वारा पालनीय नियम वर्णित हैं। खन्धक में दो ग्रंथ अन्तर्गत हैं—महावग्ग और चुल्लवग्ग। इन ग्रन्थों में भिक्षुसंघ के साथ सम्बन्ध रखने वाली प्रत्येक बात विस्तृत रूप से प्रतिपादित है। संघ में प्रवेश किस प्रकार हो, विविध समयों पर कौन-कौन से व्रत रखे जाएँ, चातुर्मास किस प्रकार व्यतीत किया जाए, भिक्षु लोग कैसे कपड़े पहनें, भोजन के लिए किन नियमों का अनुसरण करें, किस प्रकार की शैय्या प्रयुक्त करें, संघ में किसी प्रश्न के निर्णय करने का क्या ढंग हो, इस प्रकार की सब बातों का महावग्ग और चुल्लवग्ग में प्रतिपादन है। इन ग्रन्थों की प्रतिपादन शैली कथात्मक है। भगवान् बुद्ध जब उस अवसर पर, उस स्थान पर थे, तब एक समस्या उत्पन्न हुई, और तब उन्होंने यह नियम बनाया—इस ढंग से भिक्षुओं के लिए उपयुक्त नियमों व धर्मों का उपदेश किया गया है। ऐतिहासिक दृष्टि से विनय-पिटक के ये अंश बहुत महत्त्व के हैं। इनसे न केवल बुद्ध की जीवनी पर प्रकाश पड़ता है, अपितु उस युग की राजनीतिक व सामाजिक दशा के सम्बन्ध में भी अनेक महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं। विनय पिटक का सार 'परिवार' है, और उसमें प्रश्नोत्तर रूप से बौद्ध-भिक्खुओं के नियम व कर्त्तव्य दिये गए हैं।

सुत्त-पिटक—इस पिटक के अन्तर्गत पाँच निकाय हैं—(१) दीघनिकाय, (२) मज्झिम निकाय, (३) अंगुत्तर निकाय, (४) संयुत्त निकाय और (५) खुद्दक निकाय। दीघनिकाय के तीन खण्ड हैं, और उसमें कुल मिलाकर ३४ दीर्घाकार सुत्त या सूक्त हैं। इनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध महापरिनिब्बानसुत्त है। दीघनिकाय के प्रत्येक सुत्त में महात्मा बुद्ध के संवाद संकलित है। इन संवादों के विषय सब प्रकार के हैं। यज्ञों की उपयोगिता है या नहीं, कोई व्यक्ति जन्म से ऊँचा या नीचा होता है या अपने गुण कर्म से, पुनर्जन्म,

निर्वाण आदि सब महत्त्वपूर्ण विषयों पर बुद्ध के संवाद इसमें दिये गये हैं। मज्झिमनिकाय में कुल मिलाकर मध्य आकार के १२५ सुत्त हैं। ये सुत्त दीघनिकाय के सुत्तों की अपेक्षा छोटे आकार के हैं, यद्यपि इनके प्रतिपाद्य विषय प्रायः वे ही हैं, जो दीघनिकाय के सुत्तों के हैं। अंगत्तुरनिकाय के सुत्तों की संख्या २३०० है, जिन्हें ११ खण्डों में विभक्त किया गया है। संयुत्त निकाय में ५६ सुत्त हैं, जिन्हें पाँच वग्गों (वर्गों) में बाँटा गया है। एक विषय के साथ सम्बन्ध रखने वाले सुत्त एक वग्ग में संयुक्त करके रखे गये हैं। खुद्दक निकाय के अन्तर्गत १५ विविध पुस्तकें हैं, जिनके नाम निम्नलिखित हैं— खुद्दक पाठ, धम्मपद, उदान, इतिवुतक, सुत्तनिपात, विमान वन्थु, थेरीगाथा, जातक, निद्देस, पहिसंमिदा, अपदान, बुद्धवंस, और चरियापिटक। खुद्दक निकाय नाम से ऐसा सूचित है, कि इसके अन्तर्गत सुत्त छोटे आकार के हैं, पर वस्तुतः इस निकाय की सब पुस्तकें अपने आप में स्वतन्त्र व पृथक् ग्रंथों के समान हैं, जिनमें धम्मपद और सुत्त-निपात सबसे प्रसिद्ध हैं। बौद्ध साहित्य में धम्मपद का प्रायः वही स्थान है, जो कि हिन्दू साहित्य में गीता का है। ऐतिहासिक दृष्टि से जातक-ग्रंथ विशेष रूप से उपयोगी हैं। इनमें ५५० के लगभग कथायें दी गई हैं, जिन्हें महात्मा बुद्ध के पूर्वजन्मों की कथाओं के रूप में लिखा गया है। बौद्ध-धर्म के अनुसार निर्वाण पद की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है, कि मनुष्य सत्कर्मों का निरन्तर अनुष्ठान करें, निरन्तर सदाचरण करें। भगवान् बुद्ध को भी बुद्ध-पद प्राप्त करने से पूर्व ८४ लाख योनियों में से गुजरना पड़ा था। इन योनियों में रहते हुए उन्होंने निरन्तर सत्कर्म किये थे, इसीलिए अन्त में उन्हें बुद्ध-पद प्राप्त हो सका था। जातकों में गौतम-बुद्ध के इन्हीं पूर्वजन्मों की कथाएं संकलित हैं। सम्भवतः, इनमें से बहुसंख्यक कथाएं भारत में बहुत प्राचीन काल से चली आ रही थीं। बौद्ध विद्वानों ने उनमें थोड़ा-बहुत अन्तर करके उन्हें बुद्ध के पूर्वजन्मों के साथ जोड़ दिया।

अभिधम्म पिटक—इस पिटक में बौद्ध-धर्म का दार्शनिक विवेचन और अध्यात्म-चिन्तन सम्मिलित है। इसके अन्तर्गत सात ग्रंथ हैं—(१) धम्म संगनि, (२) विभंग, (३) धातु कथा, (४) पुल पंजति, (५) कथावत्थु, (६) यमक और (७) पट्ठान। इस पिटक के प्रतिपाद्य विषय सुत्तपिटक के विषयों से बहुत भिन्न नहीं हैं, पर इनमें उनका विवेचन गम्भीर दार्शनिक पद्धति से किया गया है। अभिधम्म पिटक के सात ग्रंथों में सबसे अधिक महत्त्व कथावत्थु का है, जिसकी रचना अशोक के गुरु मोग्गलिपुत्ततिस्स ने की थी। आत्मा क्या है, उसकी कोई पृथक् सत्ता है या नहीं, निर्वाण का क्या स्वरूप है, क्या गृहपति भी अर्हत् पद को प्राप्त कर सकता है—इस प्रकार के दार्शनिक प्रश्नों पर कथावत्थु में विशद रूप से विचार किया गया है।

त्रिपिटक काल—बौद्ध-धर्म के जिन त्रिपिटक-ग्रन्थों का हमने ऊपर वर्णन किया है, वे पालि भाषा में हैं। उनका निर्माण बुद्ध के समय में नहीं हुआ था। यद्यपि उनकी रचना के ढंग से यह प्रतीत होता है, कि उनमें महात्मा बुद्ध के मुख से निकले हुए वचन संकलित हैं, पर वस्तुतः उनका निर्माण बुद्ध की मृत्यु के पर्याप्त समय पीछे हुआ था। त्रिपिटक के कतिपय अंश (यथा कथावत्थु) बुद्ध के निर्वाण के कई सदी बाद के

(अशोक युग के) हैं। पर इसमें सन्देह नहीं, कि त्रिपिटक का बहुत-सा भाग बुद्ध के निर्वाण के एक सदी बाद बौद्ध-धर्म की द्वितीय महासभा तक संकलित हो चुका था।

अन्य पालिग्रन्थ—पालि-भाषा में बौद्ध-धर्म के साथ सम्बन्ध रखने वाले अन्य भी अनेक ग्रन्थ हैं, जिन्हें त्रिपिटक के अन्तर्गत नहीं किया जाता। इनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध मिलिन्द-पन्हो है। इसमें राजा मिलिन्द और बौद्ध-आचार्य नागसेन के प्रश्नोत्तर संकलित हैं। राजा मिलिन्द बैक्ट्रियन यवन था, पर उसने बौद्ध-धर्म को स्वीकार कर लिया था। मिलिन्द-पन्हो का निर्माण सम्भवतः प्रथम व द्वितीय सदी ई० पू० में उत्तर-पश्चिमी भारत में हुआ था। मिलिन्दपन्हो के अतिरिक्त अट्ठकथा नामक ग्रंथ पालि भाषा में है, जिसकी रचना त्रिपिटक के भाष्य व व्याख्या रूप से की गई है। पाँचवीं सदी में बुद्धघोष नाम का बौद्ध-आचार्य हुआ, जो मगध का रहने वाला था। बाद में वह सिंहलदेश (लंका) चला गया, और वहाँ जाकर उसने पालि-भाषा में अट्ठकथाओं की रचना की। वह त्रिपिटक के भाष्य को पूरा नहीं कर सका और उसके अवशिष्ट कार्य को बुद्धदत्त, धम्मपाल, महानाम, नवमोग्गलान और चुल्लघोष नामक आचार्यों ने पूर्ण किया। बुद्धघोष द्वारा विरचित अन्य ग्रन्थों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ विसुद्दमग्ग (विशुद्ध-मार्ग है), जो बौद्ध-सिद्धान्तों पर अत्यन्त प्रामाणिक दार्शनिक ग्रन्थ माना जाता है।

संस्कृत त्रिपिटक—बौद्ध-धर्म के जिस साहित्य का हमने ऊपर परिचय दिया है, वह पालिभाषा में है। बौद्ध-धर्म के अनेक सम्प्रदाय हैं, जिनमें थेरवाद बहुत महत्त्वपूर्ण है। लंका और बरमा में इस थेरवाद का ही प्रचार है, और इस सम्प्रदाय का त्रिपिटक पालिभाषा में विद्यमान है। पर बौद्ध-धर्म के अन्य अनेक सम्प्रदायों (यथा महायान, सर्वास्तिवाद आदि) का त्रिपिटक पालिभाषा में न होकर संस्कृत भाषा में है। खेद है कि संस्कृत का त्रिपिटक अविकल रूप में इस समय उपलब्ध नहीं होता।

तीसरा अध्याय

वैदिक धर्म का पुनरुत्थान और उसका नया रूप

(१) बौद्ध धर्म का उत्कर्ष और उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया

बुद्ध के जीवनकाल में उनके धर्म का प्रचार भारत के मध्य देश तक ही सीमित रहा था। उनका अपना प्रचार-क्षेत्र उत्तर में हिमालय से दक्षिण में विन्ध्याचल तक और पूर्व में कोशी नदी के पश्चिम से कुरुक्षेत्र तक ही था, पर उनके अनेक शिष्य बुद्ध के जीवनकाल में धर्म प्रचार के लिए दूर-दूर के प्रदेशों में भी गए थे।

बुद्ध के उपदेशों का ठीक-ठीक निर्धारण करने के लिए उनके प्रधान शिष्यों की एक सभा उनके निर्वाण के दो मास बाद राजगृह में हुई थी। पालिसाहित्य में इसे प्रथम संगीति कहा गया है। बुद्ध के उपदेशों और मन्तव्यों को सही रूप में संकलित करने में इस सभा ने बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया। सभा में एकत्र बुद्ध के प्रधान शिष्यों ने जिस रूप में अपने गुरु की शिक्षाओं का प्रवचन किया, अन्य भिक्षुओं ने उसे ही प्रमाण रूप से स्वीकार कर लिया। पर यह स्वाभाविक था कि समयान्तर में बौद्ध लोगों में अनेक प्रश्नों पर मतभेद उत्पन्न होने लगें। बुद्ध की शिक्षाओं को अपनाने वाले विभिन्न प्रकृति के मनुष्यों ने उन्हें विभिन्न रूप से देखना शुरू किया, जिसके कारण बौद्ध धर्म में अनेक सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ। बुद्ध के निर्वाण के सौ वर्ष बाद उनके धर्म के दो सम्प्रदाय (निकाय) स्पष्ट रूप से विकसित हो गए थे, जिन्हें स्थविरवादी और महासांधिक कहते थे। महासांधिक बुद्ध को अलौकिक व अमानव रूप देने में तत्पर थे, और स्थविरवादी बुद्ध की मानवता पर विश्वास रखते थे।

बुद्ध के निर्वाण के सौ वर्ष बाद वैशाली नगरी में बौद्धों की दूसरी संगीति (महासभा) हुई। इसका मुख्य प्रयोजन यही था कि बौद्धों में जो अनेक सम्प्रदाय विकसित हो रहे थे, उन पर विचार कर सत्य सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जाय। पर इस उद्देश्य में वैशाली की संगीति को सफलता नहीं मिली। बौद्ध भिक्षुओं में मतभेद और विवाद निरन्तर बढ़ते गये, और अनेक नये सम्प्रदायों का विकास हुआ। वैशाली की महासभा और राजा अशोक के समय तक लगभग १२० वर्षों में बौद्ध धर्म अठारह सम्प्रदायों (निकायों) में विभक्त हो गया था।

बौद्ध धर्म की तीसरी संगीति (महासभा) राजा अशोक के समय में पाटलिपुत्र के अशोकाराम में हुई। इसकी अध्यक्षता अशोक के गुरु आचार्य मोग्गलिपुत्त तिस्स (उपगुप्त) ने की थी। इस महासभा द्वारा भी यह यत्न किया गया कि विविध बौद्ध सम्प्रदायों के मतभेदों को दूर कर सत्य सिद्धान्तों का निर्णय किया जाए। इस कार्य के लिए तिस्स ने एक हजार ऐसे भिक्षुओं को चुन लिया, जो परम विद्वान् और अनुभवी थे। इनकी सभा नौ मास तक होती रही। धर्म-सम्बन्धी सब विवादग्रस्त विषयों पर इस

सभा ने विचार किया, और अन्त में तिस्स द्वारा विरचित 'कथावत्थु' नामक ग्रन्थ को प्रमाण रूप से स्वीकृत कर लिया गया।

बौद्ध धर्म के प्रचार का महान् उद्योग— बौद्ध धर्म के आंतरिक झगड़ों के समाप्त हो जाने और संघ में एकता स्थापित हो जाने पर आचार्य तिस्स ने देश-विदेश में बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिए एक महान् योजना तैयार की। इसके अनुसार भिक्षुओं की अनेक मण्डलियाँ विविध देशों में प्रचार के लिए भेजी गईं। लंका की प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार काश्मीर, गान्धार, यवन देश, सुवर्णभूमि, लंका तथा हिमवन्त प्रदेशों में और महाराष्ट्र, महिसमण्डल व अपरान्त प्रदेशों में भिक्षुओं की विविध मण्डलियों ने बौद्ध धर्म का प्रचार किया। बुद्ध के समय में उनका जो धर्म केवल भारत के मध्य देश तक ही प्रचारित हुआ था, वह अब महाराष्ट्र, महिसमण्डल आदि भारत के दक्षिणी प्रदेशों और भारत के बाहर यवन देशों (बैक्ट्रिया, सीरिया आदि), सुवर्णभूमि (बरमा तथा उसके पूर्ववर्ती प्रदेशों), गान्धार और हिमवन्त (हिमालय के क्षेत्र में स्थित) प्रदेशों में भी प्रचारित हुआ। राजा अशोक ने धर्म विजय की जिस नीति का अनुसरण किया था, उसके द्वारा भी देश-विदेश में बौद्ध धर्म के प्रचार में बहुत सहायता मिली। इसमें सन्देह नहीं, कि तीसरी सदी ईस्वी पूर्व तक बुद्ध का अष्टांगिक मार्ग भारत का प्रधान धर्म बन गया था, और पड़ोस के अन्य देशों में भी उसका सुचारु रूप से प्रचार होने लग गया था।

मौर्य वंश के अनेक राजा बौद्ध धर्म के अनुयायी थे। राजा अशोक ने बौद्ध धर्म को स्वीकार कर उसके प्रचार के लिए कोई कसर उठा नहीं रखी थी। शस्त्र शक्ति द्वारा अन्य देशों की विजय की तुलना में धर्म द्वारा अपने प्रभाव के क्षेत्र का विस्तार करना अधिक श्रेयस्कर है, इस विचार को सम्मुख रखकर अशोक ने धर्म विजय की जिस नीति को अपनाया था, उसका उद्देश्य यद्यपि बौद्ध धर्म का प्रचार करना नहीं था, पर इसमें सन्देह नहीं कि उस नीति के कारण परोक्ष रूप से बौद्ध धर्म के प्रचार को बहुत सहायता प्राप्त हुई थी। अपने शासनकाल के अन्तिम वर्षों में अशोक ने बौद्ध संघ को अपार धन सम्पत्ति दान की थी, और उसके संरक्षण में बहुत-से बौद्ध स्तूपों, चैत्यों तथा विहारों का निर्माण हुआ था। अशोक के अनेक उत्तराधिकारी मौर्य राजा भी बौद्ध धर्म के अनुयायी थे, और उन्होंने इस धर्म के प्रचार के लिए राजशक्ति का भी उपयोग किया था।

बौद्ध धर्म के समान जैन धर्म को भी राजकीय संरक्षण प्राप्त हुआ। अशोक के पौत्र सम्प्रति ने वर्धमान महावीर द्वारा प्रतिपादित धर्म को अपना लिया था, और उसने इस धर्म के प्रचार के लिए उसी ढंग में प्रयत्न किया था जैसे कि राजा अशोक ने बौद्ध धर्म के लिए किया था। सम्प्रति ने तो जैन धर्म के प्रसार लिए सैनिकों का सहयोग प्राप्त करने में भी संकोच नहीं किया था। मौर्य राजाओं से सहायता व संरक्षण प्राप्त कर बौद्ध और जैन धर्मों का बहुत उत्कर्ष हुआ, और शीघ्र ही भारत के बड़े भाग में उनका प्रचार हो गया। मौर्य वंश के अपकर्ष काल में और उसके पश्चात् यवन, युइशि और कुशाण सदृश जिन विदेशी जातियों ने भारत पर आक्रमण किए, वे भी

इन धर्मों के प्रभाव में आ गई और उनके बहुत-से राजाओं ने इनकी दीक्षा भी ग्रहण कर ली।

पर बौद्ध और जैन धर्मों के उत्कर्ष के इस युग में भी पुरातन वैदिक धर्म का लोप नहीं हो गया। मध्य देश और उसके समीपवर्ती अनेक प्रदेशों में वह फलता-फूलता रहा, यद्यपि वेदों तथा वैदिक देवी-देवताओं में आस्था न रखने वाले इन नये धर्मों से वह अप्रभावित नहीं रह सका।

बौद्ध धर्म के विरुद्ध प्रतिक्रिया—मौर्य वंश के पतन के बाद के काल की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना भारत में बौद्ध धर्म का ह्रास और सनातन वैदिक धर्म का पुनरुत्थान है, यद्यपि इस काल में जिस वैदिक धर्म का उत्कर्ष हुआ, वह प्राचीन वैदिक धर्म से बहुत भिन्न था। अशोक ने धम्मविजय की जिस नवीन नीति का अवलम्बन किया था, निर्बल हाथों में वह नाशकारिणी भी हो सकती थी। आखिर, विशाल मागध-साम्राज्य का आधार उसकी सैनिकशक्ति ही थी। सेना से ही अधीनस्थ जनपदों, नष्टीभूत गण-राज्यों और विविध सामन्त सरदारों को एक साम्राज्य के अधीन रखा जा सकता था। अशोक के समय में यह मागध-सेना (मौल, भृत और श्रेणीबल) अक्षुण्ण रूप में विद्यमान थी। कलिंग के शक्तिशाली जनपद को इसीलिए वह अपने अधीन कर सका था। यद्यपि अशोक स्वयं अस्त्रों द्वारा विजय की अपेक्षा धर्म द्वारा स्थापित की गयी विजय को अधिक महत्त्व देने लगा था, पर उसके समय में मागध-सेना शक्तिहीन नहीं हुई थी। पर जब उसके उत्तराधिकारी भी इसी प्रकार शस्त्र-विजय की अपेक्षा धर्म-विजय को महत्त्व देते रहे, तो यह स्वाभाविक था कि मागध-साम्राज्य की सेना शक्तिहीन होने लगती। इसीलिए अंतिम मौर्य-सम्राटों के समय में यवनों के आक्रमण प्रारम्भ हो गये, और मागध-सेना उनकी बाढ़ को नहीं रोक सकी। अशोक की धर्म-विजय की नीति उसके निर्बल उत्तराधिकारियों के हाथों में असफल और बदनाम हो गयी। सर्वसाधारण जनता में उससे बहुत असन्तोष था। इसीलिए एक प्राचीन ग्रन्थकार ने कहा था, कि राजाओं का काम शत्रुओं का दमन व प्रजा का पालन करना है, सिर मुंडाकर चैन से बैठना नहीं। यह स्वाभाविक था, कि मौर्य-राजाओं की इस असफल नीति से जनता में बौद्ध-धर्म के प्रति भी असंतोष के भाव उत्पन्न होने लगें। भिक्षुसंघ इस समय बड़ा ऐश्वर्यशाली हो गया था। सर्वथा विशाल व वैभवपूर्ण विहारों की स्थापना हो गयी थी, जिनमें बौद्ध-भिक्षु बड़े आराम के साथ निवास करते थे। मनुष्यमात्र की सेवा करने वाले, प्राणिमात्र का हित सम्पादन करने वाले, भिक्षावृत्ति से दैनिक भोजन प्राप्त करने वाले और निरन्तर घूम-घूम कर जनता को कल्याण-मार्ग का उपदेश करने वाले बौद्ध-भिक्षुओं का स्थान अब सम्राटों के आश्रय में सब प्रकार का सुख भोगने वाले भिक्षुओं ने ले लिया था। सर्व-साधारण जनता के हृदय में भिक्षुओं के प्रति जो आदर था, यदि अब उसमें न्यूनता आने लगी, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? इसी का परिणाम यह हुआ, कि भारत में बौद्ध-धर्म के प्रतिकूल एक प्रतिक्रिया का प्रारम्भ हुआ और लोगों की दृष्टि उस प्राचीन सनातन धर्म की ओर आकृष्ट हुई, जो शत्रुओं को परास्त कर व सर्वत्र दिग्विजय कर अश्वमेघ-यज्ञ के अनुष्ठान का विधान करता था। यही कारण है, कि सेनानी पुष्यमित्र ने

अंतिम मौर्य-राजा बृहद्रथ को मारकर जब राजसिंहासन प्राप्त किया, तो यवन आक्रान्ताओं के विरुद्ध उसने तलवार उठाई और फिर से अश्वमेध-यज्ञ का आयोजन किया। सातवाहन-राजा सातकर्णि ने भी इसी काल में दो बार अश्वमेध-यज्ञ किए थे। इस समय अश्वमेध-यज्ञ करने की एक प्रवृत्ति-सी उत्पन्न हो गई थी और इस प्रवृत्ति के पीछे प्राचीन वैदिक धर्म का पुनरुत्थान करने की प्रबल भावना काम कर रही थी।

एक बौद्ध-अनुश्रुति के अनुसार शुंग-सम्राट् पुष्यमित्र ने तलवार के बल से भी बौद्ध लोगों का दमन किया था। उसने बहुत-से बौद्ध-भिक्षुओं को कत्ल करा दिया था, और अनेक स्तूपों व विहारों को गिरवा दिया था। इस वर्णन में चाहे अतिशयोक्ति से काम लिया गया हो, पर इसमें संदेह नहीं, कि शुंगकालीन भारत में बौद्धों के विरुद्ध एक प्रबल प्रतिक्रिया हो रही थी।

पर बौद्ध-धर्म का यह ह्रास केवल मगध और उसके समीपवर्ती प्रदेशों तक ही सीमित था। सुदूर उत्तर-पश्चिम में बौद्ध-भिक्खु अब भी प्राचीन आदर्शों का पालन करते हुए प्राणीमात्र का कल्याण करने की आकांक्षा से हिन्दुकुश और पामीर की पर्वतमालाओं को लाँघते हुए आगे बढ़ रहे थे। शक, युइशि और हूण जातियों में अष्टांगिक आर्य-मार्ग का संदेश पहुँचाने के लिए वे भारी उद्योग कर रहे थे। इसी प्रकार लंका, बरमा और उससे भी परे के प्रदेशों में बौद्ध-भिक्खुओं का आर्य-मार्ग के प्रसार का प्रयत्न जारी था। इन सब प्रदेशों में बौद्ध-भिक्खु एक नयी सभ्यता, एक ऊँचे धर्म और एक परिष्कृत संस्कृति के संदेशवाहक बनकर परिभ्रमण कर रहे थे। इन सब स्थानों में बौद्ध-धर्म का उत्कर्ष इस काल में भी जारी रहा। पर वैभवशाली मौर्य-सम्राटों का संरक्षण पाकर मगध तथा उत्तरी भारत के अन्य जनपदों में बौद्ध-भिक्खु कुछ निश्चेष्ट-से हो गए थे। उनके विहारों में अपार धन था। जब अशोक और अनाथपिंडक जैसे धनियों ने अपना कोटि-कोटि धन इन बौद्ध-विहारों के अर्पण कर दिया हो, तो यदि उनमें पतन का प्रारम्भ हो जाए और वे सुख-समृद्धि के कारण अपने कर्त्तव्य से विमुख होने लगें, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। यही कारण है, कि पुष्यमित्र ने विहारों के धन-वैभव को अपना शिकार बनाया, और बौद्ध-भिक्षुओं की हत्या करने में भी संकोच नहीं किया।

वैदिक धर्म पर बौद्ध धर्म का प्रभाव—शुंग-काल में जिस वैदिक धर्म का पुनरुत्थान हुआ, वह प्राचीन वैदिक धर्म से बहुत कुछ भिन्न था। बौद्ध और जैन धर्मों ने जिन विचारधाराओं का प्रसार किया था, वे अन्य धर्मावलम्बियों के विचारों पर प्रभाव न डालतीं, यह सम्भव नहीं था। बौद्ध-विचारों का असर इस काल के दर्शनों और धार्मिक विश्वासों पर स्पष्टतया दृष्टिगोचर होता है। बौद्ध व जैन सृष्टि के कर्त्ता-रूप में किसी ईश्वर को नहीं मानते थे। सांख्यदर्शन में भी किसी सृष्टि-कर्त्ता ईश्वर को स्थान नहीं है। योग-दर्शन भी सृष्टि के निर्माण के लिए किसी ईश्वर की आवश्यकता नहीं समझता। वेदान्त का ब्रह्म सृष्टि का उपादान कारण है, निमित्त कारण नहीं। जैसे मिट्टी से घट बनता है, घट मिट्टी का ही एक रूप है, घट मिट्टी से भिन्न कुछ नहीं है, ऐसे ही सृष्टि ब्रह्म से बनी है, सृष्टि ब्रह्म का ही एक रूप है, और सृष्टि ब्रह्म से भिन्न कोई सत्ता नहीं रखती। वैदिक षड्दर्शनों में से तीन के ईश्वर-सम्बन्धी विचार बौद्ध-विचारों

के बहुत समीप हैं। वैदिक युग के ईश्वर के विचार से इनकी विचारप्रणाली में भारी भेद है। बौद्ध और जैन लोग लोकोत्तर-पुरुषों में विश्वास रखते थे। बोधिसत्व और तीर्थंकर परम पूर्ण पुरुष थे, जो सत्य-ज्ञान के भण्डार, पूर्ण ज्ञानी और 'बुद्ध'-व 'जिन' कहलाते थे। सांख्यों ने इसी विचारसरणी का अनुसरण कर कपिल को लोकोत्तर ज्ञानी माना। योग ने जिस ईश्वर का प्रतिपादन किया, वह केवल 'सबसे बड़ा ज्ञानी' ही है। ईश्वर की सत्ता के लिए योगदर्शन की यह युक्ति है, 'निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्'। हमें ज्ञान के बारे में अतिशयता नजर आती है। एक व्यक्ति दूसरे की अपेक्षा अधिक ज्ञान रखता है। कोई अन्य उससे भी अधिक ज्ञान रखता है। ऐसे ही विचार करते-करते एक ऐसी सत्ता की कल्पना की जा सकती है, जिससे अधिक ज्ञानवान् कोई नहीं होगा और जो सर्वज्ञ होगा, वही ईश्वर है। ऐसा व्यक्ति बुद्ध भी हो सकता है, वर्धमान महावीर भी, कपिल भी, श्रीकृष्ण भी या अन्य कोई भी। बौद्ध और जैन ऐसे ही भगवान् को मानते थे। सांख्य और योग शास्त्रों पर इन सम्प्रदायों के विचारों का प्रभाव कितना प्रत्यक्ष है।

(२) वैदिक धर्म का नया रूप

वैदिक धर्म का नया रूप—प्राचीन वैदिक धर्म में प्रकृति की विविध शक्तियों के रूप में ईश्वर की पूजा की जाती थी। इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि आदि उस धर्म के प्रधान देवता थे। पर अब उनका स्थान उन महापुरुषों ने ले लिया, जिनका कि सर्व-साधारण में अपने लोकोत्तर गुणों के कारण अनुपम आदर था। शुंग-काल में जिस सनातन वैदिक धर्म का पुनरुद्धार हुआ, उसके उपास्य देव वासुदेव, संकर्षण और शिव थे। बौद्ध और जैन धर्मों में जो स्थान बोधिसत्वों और तीर्थंकरों का था, वही इस सनातन धर्म में इन महापुरुषों का हुआ। बुद्ध और महावीर सर्वज्ञ थे, पूर्ण पुरुष थे। उनके गुणों को प्रत्येक मनुष्य जान सकता था, उनके चरित्र का अनुशीलन कर शिक्षा ग्रहण कर सकता था, और उनकी मूर्ति के सम्मुख बैठकर उनका साक्षात्कार कर सकता था। अब प्राचीन परिपाटी का अनुसरण कर अश्वमेध-यज्ञ का पुनरुद्धार करने वाले शुङ्गों और सातवाहनों के धर्म में संकर्षण और वासुदेव पूर्ण पुरुष थे, पूर्ण ज्ञानी थे और उनकी मूर्तियाँ दर्शनों के लिए विद्यमान थीं। इस काल के धार्मिक नेताओं ने प्राचीन महापुरुषों में देवत्व की कल्पना कर उनको बुद्ध और महावीर के समकक्ष बना दिया। निर्गुण और निराकार ईश्वर के स्थान पर सगुण और अवतार ग्रहण करने वाले ईश्वर की कल्पना हुई। इन अवतारों की मूर्तिया बनने लगीं, और उन्हें मंदिरों में प्रतिष्ठापित कर उनकी पूजा प्रारम्भ हो गई। प्राचीन वैदिक धर्म में यज्ञों के कर्मकाण्ड की प्रधानता थी। कुण्ड में अग्नि की प्रतिष्ठा कर विविध देवताओं का आवाहन किया जाता था, और पशु, अन्न, समिधा आदि की आहुति देकर इन देवताओं को संतुष्ट किया जाता था। पर बौद्ध और जैन धर्मों के प्रभाव से जब एक बार यज्ञों की परिपाटी शिथिल पड़ गई, तो उसका इस युग में भी पूर्णतया पुनरुत्थान नहीं हुआ। उपलक्षण के रूप में अश्वमेध-यज्ञ अब अवश्य किए जाने लगे, पर सर्वसाधारण जनता में यज्ञों का पुनः प्रचलन नहीं हुआ।

यज्ञों का स्थान इस समय मूर्तिपूजा ने लिया। शुंग-युग में जिस प्राचीन सनातन धर्म का पुनरुद्धार हुआ, वह शुद्ध वैदिक नहीं था, उसे पौराणिक कहना अधिक उपयुक्त होगा।

भागवत धर्म---इस नये पौराणिक धर्म की दो प्रधान शाखाएँ थीं, भागवत और शैव। शूरसेन जनपद के सात्वत लोगों में देर से वासुदेव कृष्ण की पूजा चली आ रही थी। प्राचीन युग में कृष्ण शूरसेन देश के महापुरुष एवं वीर नेता हुए थे। कृष्ण जहाँ अंधक-वृष्णि-संघ के प्रमुख थे, वहाँ बड़े विचारक, दार्शनिक और धर्मोपदेशक भी थे। कुरुक्षेत्र के रणक्षेत्र में अपने निकट सम्बन्धियों को युद्ध के लिए सम्मुख खड़ा देख जब अर्जुन दुविधा में पड़ गया था, तो कृष्ण ने उन्हें गीता का उपदेश दिया था। उन्हीं के उपदेश से अर्जुन में बल का संचार हुआ, और वह कर्त्तव्यपालन के लिए तत्पर हुआ। वृद्धावस्था में कृष्ण योगी हो गए थे, और अंधक-वृष्णि-संघ का नेतृत्व छोड़ उन्होंने मुनियों का जीवन व्यतीत किया था। जिस प्रकार वर्धमान महावीर ज्ञातृकगण में उत्पन्न हुए और गौतम बुद्ध शाक्यगण में, उसी प्रकार कृष्ण अंधक-वृष्णि गण में प्रादुर्भूत हुए थे। उनके अपने गण में गीता की विचारधारा इसी समय से प्रचलित थी। शूरसेनवासी न केवल कृष्ण की शिक्षाओं को मानते थे, पर साथ ही उन्हें लोकोत्तर पुरुष के रूप में पूजते भी थे। अब जबकि बौद्ध और जैन धर्मों के प्रभाव से सनातन आर्य-धर्मावलम्बी लोग भी लोकोत्तर सर्वज्ञ पुरुषों में ईश्वरीय शक्ति का आभास देखने के लिए उद्यत थे, कृष्ण की पूजा का लोकप्रिय हो जाना सर्वथा स्वाभाविक था। सात्वतों का यह भागवत-धर्म अब सर्वत्र फैलने लगा। निःसंदेह, कृष्ण लोकोत्तर पुरुष थे। उनका जीवन आदर्श था, उनकी शिक्षाएँ अपूर्व थीं। यदि उनमें ईश्वरीय भावना करके, उन्हें ईश्वर का अवतार मान के, उनके रूप में सगुण परमेश्वर की पूजा की प्रवृत्ति प्रारम्भ हो, तो यह सर्वथा स्वाभाविक था। कृष्ण को बुद्ध और महावीर के समकक्ष रखा जा सकता था। बुद्ध और महावीर के रूप में जिस प्रकार के पुरुषों की पूजा का जनता को सदियों से अभ्यास था, कृष्ण का इस युग का रूप उसी के अनुकूल था। धीरे-धीरे कृष्ण को वैदिक विष्णु का अवतार माना जाने लगा, और उनके सम्बन्ध में बहुत-सी गाथाओं का प्रारम्भ हुआ। श्रीमद्‌भगवद्‌गीता इस भागवत-सम्प्रदाय का मुख्य धर्मग्रन्थ था। महाभारत और भागवत-पुराण में कृष्ण के दैवी रूप और माहात्म्य के साथ सम्बन्ध रखने वाली बहुत-सी कथाएँ संगृहीत हैं।

बौद्ध-धर्म आचार-प्रधान था। याज्ञिक कर्मकाण्ड को उसमें कोई स्थान न था। वह अहिंसा का प्रतिपादक था। बुद्ध के अनुयायी यद्यपि ईश्वर को नहीं मानते थे, पर बुद्ध की उपासना उन्होंने पूर्णपुरुष के रूप में प्रारम्भ कर दी थी। चार सदियों तक निरन्तर बौद्ध-धर्म भारत का प्रधान धर्म रहा था। इस सुदीर्घ काल में भारत की जनता में जिन विचारों ने भली-भाँति घर कर लिया था, वे निम्नलिखित थे—(१) याज्ञिक कर्मकाण्ड उपयोगी नहीं हैं। (२) यज्ञों व धार्मिक अनुष्ठानों में पशुओं की हिंसा व बलि-दान उचित नहीं है। (३) मनुष्य को अपनी उन्नति के लिए एक पूर्ण पुरुष को आदर्श के रूप में सम्मुख रखना चाहिए। निर्गुण, निराकार और अरूप ब्रह्म की पूजा से काम नहीं चल सकता। उन्नति के पथ पर आरूढ़ होने के लिए मनुष्य के सम्मुख बुद्ध या

महावीर सदृश पूर्ण सगुण पुरुष आदर्श के रूप में रहने चाहिएं, जिनके चरित्र व जीवन से मनुष्य लाभ उठा सकें।

ये विचार भारतीय जनता में इतने दृढ़ हो चुके थे, कि दूसरी सदी ई० पू० में जब वैदिक धर्म का पुनरुद्धार होने लगा, तो पुराने याज्ञिक कर्मकाण्डों का उद्धार नहीं हुआ। भागवत-धर्म के रूप में पुरानी वैदिक मर्यादा का जो संस्करण अन्धक-वृष्णि लोगों में प्रचलित था, जनता ने उसे अपनाया। यह भागवत-धर्म उस समय के लोगों के विचारों के बहुत अनुकूल था। इसकी मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित थीं—(१) भागवत लोग यज्ञों में पशु-हिंसा को उचित नहीं मानते थे। कृष्ण ने यज्ञों का विरोध नहीं किया। पर उनके जटिल अनुष्ठानों और हिंसात्मक विधानों का उन्होंने समर्थन भी नहीं किया। (२) यदि बौद्धों और जैनों के पास बुद्ध और महावीर के रूप में आदर्श पुरुष थे, तो भागवतों के पास वासुदेव कृष्ण के रूप में एक ऐसा पूर्ण पुरुष था, जो आदर्श बालक, आदर्श युवा, आदर्श राजनीतिज्ञ, आदर्श योगीराज और आदर्श तत्त्वज्ञानी था। अब वैदिक धर्म के अनुयायियों को निर्गुण निराकार ब्रह्म की उपासना की आवश्यकता नहीं थी। उनके सम्मुख एक ऐसा देवता विद्यमान था, जो व्रज में शरीर धारण कर ग्वाल-बालों के साथ खेलता है, जरासंध और कंस जैसे अत्याचारियों का वध करता है, कुरुक्षेत्र के मैदान में गीता का उपदेश करता है, और योगीराज होकर अपने शरीर का त्याग करता है। इस देवता के सुदर्शन चक्र में अपार शक्ति है। वह अपने भक्तों की सहायता व उद्धार के लिए सदा तत्पर रहता है। उसकी भक्ति व उपासना करने से मनुष्य अपना अभिलषित फल प्राप्त कर सकता है। (१) यह वासुदेव कृष्ण साधारण पुरुष नहीं था, वह विष्णु का अवतार था। यदि गौतम बुद्ध ने अनेक पूर्वजन्मों की साधना द्वारा पूर्णता को प्राप्त किया था, तो कृष्ण के रूप में साक्षात् विष्णु भगवान् ने अवतार लिया था। (४) पुराने वैदिक धर्म में ईश्वर व देवताओं की पूजा के लिए यज्ञों का अनुष्ठान होता था। इस भागवत-धर्म में उनकी पूजा के लिए मन्दिर और मूर्तियाँ बनने लगीं। जिस प्रकार बौद्ध लोग बुद्ध की मूर्तियाँ बनाते थे, इसी प्रकार भागवतों ने कृष्ण, विष्णु व अन्य वैदिक देवताओं की मूर्तियाँ बनानी प्रारम्भ कीं। इन मूर्तियों की मन्दिरों में प्रतिष्ठा की जाती थी। मन्दिरों में पूजा की जो नयी पद्धति शुरू हुई, उसमें विधि-विधान या कर्मकाण्ड की अपेक्षा भक्ति का मुख्य स्थान था। भक्त लोग मन्दिर में एकत्र होते थे। गीत गाकर, नैवेद्य चढ़ाकर, और पूजा करके वे अपने उपास्य देव को रिझाते थे। सर्वसाधारण जनता के लिए यज्ञों के अनुष्ठानों की अपेक्षा धर्म का यह रूप बहुत सरल और क्रियात्मक था।

पर यह ध्यान में रखना चाहिए, कि वैष्णव या भागवत-धर्म का जो रूप आजकल प्रचलित है, वह दूसरी सदी ई० पू० में नहीं था। उस समय तक भागवत-धर्म में कृष्ण की गोपी-लीलाओं की कहानियाँ नहीं जुड़ पायी थीं। कृष्ण के सम्बन्ध में जो बहुत-सी गाथाऐं आजकल प्रचलित हैं, जिनमें उसकी प्रेम-लीलाओं का वर्णन है, वे सब उस समय तक विकसित नहीं हुई थीं। दूसरी सदी ई० पू० के कृष्ण एक आदर्श पुरुष थे, जिनमें

विष्णु, नर-नारायण आदि वैदिक देवताओं के गुण अविकल रूप में प्रकट हुए थे। इसी-लिए उनकी इन देवताओं के साथ अभिन्नता थी।

शैव-धर्म—शैव-धर्म के प्रधान सम्प्रदाय 'पाशुपत' का प्रवर्त्तक लकुलीश नाम का आचार्य था। पुराणों के अनुसार वह शिव का अवतार था। वह गुजरात देश में भरुकच्छ के पास कारोहण या कायावरोहण नामक स्थान पर प्रकट हुआ था। लकुलीश ने जो ग्रंथ लिखा, उसका नाम पंचाध्यायी या पंचार्थविद्या था। दूसरी सदी ई० पू० तक शैव-धर्म भी भारत में भली-भाँति विकसित होने लगा था, और उसके अनुयायियों को 'शिव-भागवत' या शैव कहा जाता था।

शिव भी वैदिक देवताओं में से एक है। अनेक वेदमन्त्रों में उसका वणन व स्तुति की गई है। उसी का एक अन्य नाम रुद्र था। जब वह दुष्टों का दमन व सृष्टि का प्रलय करता है, तो रुद्र रूप धारण करता है। जब वही देव प्रसन्न होकर सृष्टि का पालन और धारण करता है, तो शिव व शंकर कहाता है। जिस प्रकार वासुदेव कृष्ण के अनुयायियों ने विष्णु को अपना उपास्य देव माना और कृष्ण से उसकी अभिन्नता स्थापित की, उसी प्रकार शिव-भागवतों ने रुद्र या शिव को अपना उपास्य देव माना और लकुलीश से उसकी अभिन्नता स्थापित की। शुरू में शैव-धर्म को शिव-भागवत, लाकुल (लकुलीश के नाम पर), पाशुपत और माहेश्वर नामों से जाना जाता था। आगे चलकर इसके अनेक सम्प्रदायों का विकास हुआ, जिनमें कापालिक और कालमुख विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

शैव लोग भी विधर्मियों को अपने धर्म में दीक्षित करते थे। अनेक विदेशी आक्रान्ता शैव-धर्म की ओर भी आकृष्ट हुए। इनमें कुशाण-राजा विम मुख्य है। उसके कुछ सिक्कों पर त्रिशूलधारी शिव की प्रतिमा है, जो अपने वाहन नन्दी के समीप खड़ा है। विम के समान अन्य भी अनेक विदेशियों ने शैव-धर्म की दीक्षा ली। वैष्णव भागवतों के समान शैव भागवत धर्म का भी बौद्धों के ह्रास के बाद विशेष रूप से प्रचार होने लगा था।

शैव-मन्दिरों में पहले शिव की मूर्ति स्थापित की जाती थी। शैव लोग उसकी भक्ति व उपासना करते थे। बाद में शिव का स्थान लिंग ने ले लिया। शैव लोग लिंग की पूजा करने लगे। इस परिवर्तन के दो कारण हुए। ऐसा प्रतीत होता है, कि शैव-धर्म को किसी ऐसी विदेशी जाति ने विशेष रूप से अपनाया था, जिसमें लिंग की पूजा प्रचलित थी। जब कोई नया जन-समाज किसी नये धर्म को अपनाता है, तो उस जन-समाज के पुराने विश्वास व प्रथाएँ भी नये रूप में उस धर्म में समाविष्ट हो जाती हैं। जब इस्लाम का प्रचार ईरान में हुआ, तो वहाँ की अनेक बातें इस्लाम-धर्म में आ गयीं। इसी से शिया सम्प्रदाय का विकास हुआ। इसी प्रकार किसी लिंग-पूजक जाति के शैव-सम्प्रदाय को अपना लेने पर वह पूजा शैव-धर्म में भी आ गयी, और लिंग को भगवान् शिव का चिह्न या लिंग मान लिया गया। साथ ही, संसार की जो सर्वोपरि उत्पादन शक्ति है, लिंग उसका प्रतीक है। भगवान् शिव सृष्टि का पालन व संहार करते हैं। उनका चिह्न सृष्टि की इस रहस्यमयी मूलशक्ति से बढ़कर कौन-सा हो सकता है?

शैव-धर्म को जिन लोगों ने अपनाया, उनमें यौधेयों का उल्लेख करना उपयोगी है। प्राचीन भारत के गणराज्यों में यौधेय गण का बहुत प्रमुख स्थान था। इन यौधेयों के सिक्कों पर भी नन्दी सहित शिव की प्रतिमा पायी जाती है। यौधेय लोग भी 'शिव-भागवत' थे।

सूर्य की पूजा—विष्णु और शिव के समान सूर्य की पूजा भी इस समय भारत में प्रचलित हुई। सूर्य भी वैदिक देवताओं में से एक है। वैदिक काल से उसकी भी मान्यता भारत में विद्यमान थी। पर सूर्य की पूजा के लिए मन्दिरों की स्थापना नहीं की जाती थी। अब इस युग में भारत में सूर्य के भी मन्दिर बनाये गए और उनमें सूर्य की मूर्ति स्थापित की गयी। ऐसा प्रतीत होता है, कि सूर्य की इस नये रूप में पूजा का श्रेय भारत और प्राचीन ईरान (शाकद्वीप) के सम्बन्ध को है। भविष्यपुराण के अनुसार सूर्य की पूजा के लिये शाकद्वीप से मग ब्राह्मणों को बुलाया गया था। प्राचीन ईरान में सूर्य की पूजा देर से प्रचलित थी। ईरान के लोग भी आर्य-जाति के थे और उनके धर्म व संस्कृति का भारत के आर्यों से सन्निकट सम्बन्ध था। इन मग व ईरानी ब्राह्मणों ने भारत में सूर्य व मिहिर की पूजा की व्यवस्था की। कनिष्क के अनेक सिक्कों पर मिहिर की प्रतिमा भी पायी जाती है। भारत में जो सूर्य के मन्दिर अब विद्यमान हैं, उनमें मुलतान (मूलस्थानपुर) का सूर्यमन्दिर सबसे प्राचीन है। प्राचीन समय में अन्यत्र भी बहुत-से सूर्य-मन्दिर विद्यमान थे। इनके बहुत-से खंडहर इस समय काश्मीर, अलमोड़ा आदि में मिलते हैं।

बौद्ध-धर्म के ह्रास के बाद भारत में जिस धर्म का प्रचार हुआ, वह वैदिक परम्परा के अनुकूल था, वह वेदों में विश्वास करता था। पर उसका स्वरूप यज्ञ-प्रधान पुराने वैदिक धर्म से बहुत भिन्न था। उसमें कर्मकाण्ड का स्थान भक्ति व पूजा ने ले लिया था। वासुदेव कृष्ण, शिव और सूर्य के अतिरिक्त शक्ति, स्कन्द, गणपति आदि अन्य भी अनेक देवताओं की मूर्तियाँ इस समय बनीं। उनके मन्दिर भी स्थापित किये गए। इस सब प्रवृत्ति की तह में वही भक्ति-भावना काम कर रही थी, जिसका प्रतिपादन कृष्ण ने इन शब्दों में किया था, 'सब धार्मिक अनुष्ठानों को छोड़कर एक मेरी शरण में आओ'। वैदिक देवताओं की पूजा का यह एक नया प्रकार इस समय भारत में प्रचलित हो गया था।

मौर्य-युग के पश्चात् भारत में जिस प्राचीन वैदिक धर्म का नये रूप में उत्कर्ष हुआ, उसका संक्षेप से उल्लेख करने के पश्चात् अब इस धर्म के विविध सम्प्रदायों के उद्गम तथा विकास पर अधिक विस्तार के साथ प्रकाश डालना उपयोगी होगा।

(३) वैष्णव धर्म का उद्भव और विकास

वैदिक युग के देवताओं में विष्णु भी एक थे, और उनकी पूजा के लिए भी उसी प्रकार से स्तुति, उपासना तथा याज्ञिक अनुष्ठानों का आश्रय लिया जाता था जैसे कि इन्द्र, अग्नि, सोम आदि अन्य देवताओं के लिए। ऋग्वेद के एक सूक्त में विष्णु की स्तुति में यह कहा गया है, कि उनके विक्रम से सम्पूर्ण विश्व समाविष्ट है, और उन्होंने अपने तीन ही पदों से समस्त लोकों को माप लिया था। पर वेदों के समय में विष्णु की स्थिति अन्य देवताओं की तुलना में उत्कृष्ट नहीं थी। उन द्वारा भी विश्व की मूल

शक्ति व परमेश्वर के विशिष्ट गुणों व शक्तियों का ही बोध होता था। पर ब्राह्मण-ग्रन्थों तथा बाद के काल में विष्णु देवता के महत्त्व में वृद्धि होने लगी और उन्हें सृष्टि का पालनकर्ता माना जाने लगा। शतपथ ब्राह्मण में कथा आती है कि देवासुर संग्राम में असुरों ने यह स्वीकार कर लिया कि वे वामन के बराबर भूमि देवताओं को प्रदान कर देंगे। इस पर विष्णु ने वामन का अवतार ग्रहण किया, और वे भूमि पर लेट गये। धीरे-धीरे उन्होंने अपने शरीर को बढ़ाना प्रारम्भ किया और सारी पृथिवी को अपने आकार में व्याप्त कर दिया। इस प्रकार विष्णु की अद्भुत शक्ति से देव लोग सारी पृथिवी को अपने अधिकार में कर सकने में समर्थ हुए। अन्य देवताओं की तुलना में विष्णु के माहात्म्य में वृद्धि होने का यह स्पष्ट संकेत है। पर इससे यह नहीं समझना चाहिए, कि ब्राह्मण-ग्रन्थों के समय में उस ढंग से विष्णु की उपासना व भक्ति का प्रारम्भ हो गया था, जैसी कि बाद के भागवत या वैष्णव धर्म में पायी जाती है।

वैष्णव धर्म का जो रूप मौर्य युग के पश्चात् विशेष रूप से प्रकट हुआ और जिसके रूप में प्राचीन सनातन वैदिक धर्म का पुनरुत्थान हुआ, उसकी सत्ता का प्रथम स्पष्ट प्रमाण पाणिनि की अष्टाध्यायी द्वारा प्राप्त होता है। अष्टाध्यायी के एक सूत्र (४/३/९८)द्वारा वासुदेव में भक्ति रखने वाले व्यक्ति के लिए 'वासुदेवक' संज्ञा का विधान किया गया है। पाणिनि का समय मौर्य युग से पहले पांचवीं सदी ईस्वी पूर्व में माना जाता है। स्पष्ट है कि पांचवीं सदी तक भारत में एक ऐसे सम्प्रदाय का उद्भव हो चुका था, जो वासुदेव के प्रति भक्ति रखता था और उन्हें उपास्य देव मानकर उनकी पूजा किया करता था। मैगस्थनीज़ चौथी सदी ईस्वी पूर्व में भारत आया था। उसके अनुसार मथुरा के क्षेत्र में निवास करने वाले सूरसेनोई (शूरसेन) लोग हेराक्लीज़ के उपासक थे। ऐतिहासिकों के मत में हेराक्लीज़ और वासुदेव कृष्ण में अभिन्नता थी और मैगस्थनीज़ ने वासुदेव-कृष्ण को ही हेराक्लीज़ कहा है।

यद्यपि वासुदेव के प्रति भक्ति रखने वाले वैष्णव धर्म की सत्ता का प्रथम संकेत पाँचवीं सदी ईस्वी पूर्व की अष्टाध्यायी से मिलता है, पर इसमें सन्देह नहीं कि इस धार्मिक सम्प्रदाय का प्रारम्भ इस काल से बहुत पूर्व हो चुका था। इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक वासुदेव कृष्ण थे, जो सात्वत या अन्धक-वृष्णि संघ में उत्पन्न हुए थे और जिन्होंने महाभारत युद्ध में पाण्डवों का साथ दिया था। जटिल कर्मकाण्ड और हिंसा-प्रधान यज्ञों के विरुद्ध जिस लहर का प्रारम्भ वसु चैद्योपरिचर के समय में हुआ था और जिसके कारण उपनिषदों में यज्ञों की तुलना एक फूटी हुई नाव से की गई थी, उसी के परिणाम स्वरूप वासुदेव कृष्ण द्वारा एक नई विचार सरणी का सूत्रपात किया गया, जिसमें याज्ञिक अनुष्ठानों की तुलना में उपासना और भक्ति को अधिक महत्त्व दिया जाता था। जिस प्रकार बौद्ध धर्म के अनुयायी बाद में सिद्धार्थ गौतम बुद्ध को उपास्य देव मान कर उनकी मूर्तियाँ बनाने और उनकी पूजा करने में प्रवृत्त हुए, वैसे ही वासुदेव-कृष्ण के अनुयायियों ने अपने धर्माचार्य को साक्षात् विष्णु मानकर पूजना प्रारम्भ कर दिया और मंदिरों में उनकी मूर्तियों को भी प्रतिष्ठापित किया। जिस प्रकार बुद्ध के प्रति आदर प्रदर्शित करने के लिए 'तथागत' का प्रयोग किया जाता था, वैसे ही कृष्ण को 'भगवत्' की संज्ञा दी गई,

थी और उनका धर्म भी 'भागवत' कहा जाने लगा।

वैष्णव या भागवत सम्प्रदाय के प्रवर्तक वासुदेव-कृष्ण की ऐतिहासिक सत्ता में सन्देह कर सकना सम्भव नहीं है। महाभारत और पुराणों में उनके व्यक्तित्व और कृतित्व का विशद रूप से वर्णन मिलता है। वे अन्धक-वृष्णि संघ के संघ-मुख्य थे, और मगध के सम्राट् जरासंध को उन्होंने कूट युद्ध में परास्त कराया था। उनके ऐतिहासिक पुरुष के रूप पर कुछ भी प्रकाश डालना निरर्थक है। पर भागवत धर्म के प्रवर्तक या धर्माचार्य के रूप में कृष्ण का जो उल्लेख प्राचीन साहित्य में उपलब्ध होता है, उसे यहाँ निर्दिष्ट करना उपयोगी है। ऋग्वेद के एक सूक्त (८/८५) के ऋषि कृष्ण हैं, और एक मन्त्र में कृष्ण का स्तवन करते वाले मनुष्यों का भी उल्लेख है। क्योंकि वैदिक संहिताओं में ऐसे मन्त्र भी संगृहीत हैं, जिनका दर्शन या निर्माण ऋषियों द्वारा महाभारत युद्ध के समय में व उसके पश्चात् तक भी किया गया था, अतः ऋग्वेद में ऐसे सूक्त का सम्मिलित होना सर्वथा संगत है, जिसके कि ऋषि कृष्ण थे। कौशीतकी ब्राह्मण में भी एक कृष्ण का उल्लेख है, जिसे वहाँ 'आङ्गिरस' कहा गया है, और सूर्य का उपासक बताया गया है। विष्णु देवता द्वारा सूर्य का ही बोध होता था, अतः कृष्ण का सूर्य का उपासक होना या विष्णु का उपासक होना एक ही बात है। छान्दोग्य उपनिषद् में देवकीपुत्र कृष्ण का उल्लेख मिलता है, जो घोर आंगिरस नामक ऋषि के शिष्य थे, और इस ऋषि ने जिन्हें यह शिक्षा दी थी कि तप, दान, आर्जव, अहिंसा और सत्यवचन ही वास्तविक यज्ञ हैं। छान्दोग्य उपनिषद् में घोर आङ्गिरस द्वारा जो उपदेश देवकीपुत्र को दिये गये हैं, भगवद्गीता पर उनका प्रभाव स्पष्ट रूप से विद्यमान है। अनेक स्थलों पर तो दोनों ग्रन्थों में भावों के साथ-साथ शब्दों की भी समता पायी जाती है। इससे यह परिणाम निकाला गया है कि देवकीपुत्र कृष्ण ने जो उपदेश अपने गुरु ऋषि घोर आङ्गिरस से ग्रहण किये थे, उन्हीं के अनुसार उन्होंने अपने सखा व शिष्य अर्जुन को वे उपदेश दिये जो गीता में संगृहीत हैं। महाभारत और पुराणों के अनुसार अन्धक-वृष्णि संघ के संघमुख्य और छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार घोर आंगिरस के शिष्य कृष्ण का समय कौन-सा था, यह निर्धारित कर सकना बहुत कठिन है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह तो स्वीकार किया जा सकता है कि कृष्ण महाभारत युद्ध के समय में हुए थे, पर महाभारत का काल कौन-सा था यह भी निश्चित नहीं है। छान्दोग्य उपनिषद् को प्रायः छठी सदी ईस्वी पूर्व का माना जाता है। अतः घोर आङ्गिरस तथा कृष्ण का समय छठी सदी ई० पू० से पहले का ही होना चाहिए। जैन अनुश्रुति के अनुसार, वासुदेव कृष्ण अरिष्टनेमि (जो जैनों के बाईसवें तीर्थङ्कर थे) के समकालीन थे। जैनों के चौबीसवें तीर्थङ्कर छठी सदी ईस्वी पूर्व में हुए थे। अतः अरिष्टनेमि का समय उनसे पर्याप्त पहले होना चाहिए। इस तीर्थङ्कर को प्रायः नवीं सदी ईस्वी पूर्व का माना जाता है। अतः कृष्ण का काल इससे पीछे तो हो ही नहीं सकता। यदि भारतीय काल गणना को स्वीकार किया जाए, तब तो कृष्ण का काल ईस्वी सन् से ३१०० वर्ष पूर्व के लगभग होता है, क्योंकि महाभारत-युद्ध उस समय हुआ था, जबकि द्वापर युग का अन्त होकर कलियुग का प्रारम्भ हो रहा था।

कृष्ण का समय चाहे कोई भी स्वीकार किया जाए, पर यह निर्विवाद है कि वे वर्धमान महावीर और गौतम बुद्ध से कई सदी पहले हुए थे, और उन्होंने एक ऐसे नये धार्मिक सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया था, जो याज्ञिक कर्मकाण्ड की अपेक्षा तप, दान, भक्ति, उपासना, अहिंसा, सत्य व आर्जव आदि मानवीय गुणों को अधिक महत्त्व देता था और जिसका उपास्य देव विष्णु था। इस सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव अन्धक-वृष्णि या सात्वत लोगों में हुआ था, और इन्हीं में यह कई सदियों तक विकसित होता रहा था। समयान्तर में इसके अनुयायी अपने आचार्य व धर्मप्रवर्तक वासुदेव-कृष्ण को ही साक्षात् विष्णु मान कर पूजने लग गये थे, और उन्हें 'देवों के देव' की स्थिति प्राप्त हो गई थी। पर वस्तुतः वे एक ऐतिहासिक पुरुष थे। उनके पिता का नाम वसुदेव और माता का नाम देवकी था। वसुदेव के पुत्र होने के कारण वे वासुदेव कहाते थे, और सम्भवतः कृष्ण उनका गोत्र नाम था। प्राचीन ग्रन्थों में उन्हें अन्य भी अनेक नामों से स्मरण किया गया है, जिनमें गोपाल, गोविन्द और दामोदर विशेष महत्त्व के हैं। कृष्ण के जीवन के साथ अनेक ऐसी कथाएं जुड़ी हुई हैं, जिनमें उन्हें एक गोपाल बाल और गोपियों के साथ विविध प्रकार की लीलाएं व क्रीड़ाएं करते हुए प्रस्तुत किया गया है। हरिवंश, वायु तथा भागवत पुराणों में ये कथाएं बड़े विशद एवं रोचक रूप में दी गई हैं। इन कथाओं का प्रादुर्भाव कैसे हुआ और कैसे इन्हें कृष्ण के जीवन के साथ जोड़ा गया—इस प्रश्न पर भी विद्वानों ने विचार-विमर्श किया है। गोपालबाल के रूप में कृष्ण की जो कथाएं मिलती हैं, उनका एक स्रोत सम्भवतः विष्णु को 'गोपा' या गौवों का रक्षक माना जाना है। ऋग्वेद (१/२२/१८) में विष्णु के लिए गोपा विशेषण का प्रयोग किया गया है (त्रीणि पदानि चक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः)। ऋग्वेद के एक अन्य मन्त्र (१/१५४/६) में विष्णु के परम पद में बड़े-बड़े सींगों वाली गौवों का रहना भी कहा गया है। जब वासुदेव कृष्ण और विष्णु में एकात्म्य परिकल्पित कर लिया गया, तो यह सर्वथा स्वाभाविक था कि 'गोपा' विष्णु के समान कृष्ण को भी गोपाल के रूप में प्रस्तुत किया जाए। सात्वत या अन्धक-वृष्णि लोगों का निवास यमुना के समीपवर्ती प्रदेश में था और यह प्रदेश गौवों के लिए सदा से प्रसिद्ध रहा है। तैत्तिरीय संहिता में गोबल नामक एक आचार्य का उल्लेख आया है, जो 'वार्ष्ण' (वृष्णिगण के साथ सम्बन्ध रखने वाला) था। इस दशा में वृष्णियों के वासुदेव-कृष्ण के गोपा विष्णु से एकात्म्य हो जाने पर यदि उन्हें भी गोपाल कहा जाने लगे तो, इसमें आश्चर्य की क्या बात है। एक बार कृष्ण को गोपाल के रूप में स्वीकार कर लेने पर उनके गोपाल जीवन के सम्बन्ध में जो गाथाएं विकसित हुई, वे स्वाभाविक ही थीं।

कृष्ण को गोविन्द भी कहा जाता है। ऋग्वेद में इस शब्द का प्रयोग गौवों का पालन करने वाले के अर्थ में ही हुआ है। जो गौवों को प्राप्त करे, वही गोविन्द है। संस्कृत में पृथिवी को भी गौ कहते हैं। विष्णु भगवान् ने वराह का रूप धारण कर रसातल को प्राप्त हुई पृथिवी का उद्धार किया था, इस मान्यता के कारण भी उन्हें गोविन्द (गौ-पृथिवी, उसे प्राप्त कराने वाला) कहा गया था। कृष्ण का विष्णु से एकात्म्य हो जाने पर उन्हें भी गोविन्द कहा जाने लगा।

भागवत या वैष्णव धर्म के प्रवर्तक देवकीपुत्र कृष्ण, वर्धमान महावीर तथा गौतम

बुद्ध के समान ही ऐतिहासिक पुरुष थे, यह ऊपर लिखा जा चुका है। पर कतिपय विद्वान् उनकी सत्ता को ही स्वीकार नहीं करते। हाप्किन्स के अनुसार कृष्ण पाण्डव जन (कबीले) के जातीय देवता थे, जिनको बाद में विष्णु के साथ सम्बद्ध कर दिया गया। भाण्डारकर ने इस मत का उल्लेख किया है, कि बालक के रूप में कृष्ण की पूजा उस आभीर जाति में प्रचलित थी, जो ईस्वी सन् के प्रारम्भ के लगभग काल में भारत के विविध प्रदेशों में बस रही थी। आभीर लोग कहीं स्थायी रूप से बसे हुए नहीं थे, यायावर दशा में थे और पशुपालन उनका मुख्य धन्धा था। मथुरा के समीपवर्ती प्रदेश को भी उन्होंने आबाद किया था। गोपाल कृष्ण के बाल्यकाल की जो भी कथाएँ प्रचलित हैं, उनका मूल आभीर जाति के बाल देवता कृष्ण से ही समझना चाहिए। वीबर द्वारा कृष्ण के सम्बन्ध में एक अन्य कल्पना प्रस्तुत की गयी है। महाभारत के अनुसार क्षीर सागर के उत्तरी तट पर एक श्वेतद्वीप था, जिसमें श्वेत वर्ण के लोगों की एक जाति का निवास था। यह जाति नारायण की उपासिका थी। नारायण भी विष्णु का ही नाम है। इस विवरण से वीबर ने यह परिणाम निकाला है कि महाभारत में उल्लिखित श्वेतजाति ईसाई धर्म का अनुसरण करने वाले यूरोपियन लोगों की थी। श्वेत वर्ण के ये लोग क्राइस्ट के अनुयायी थे। क्राइस्ट, ख्रीस्ट तथा कृष्ण एक ही शब्द के विभिन्न रूप हैं। वैष्णव धर्म में जो नारायण के साथ कृष्ण की उपासना का भी प्रारम्भ हुआ, उसका कारण भारतीय वैष्णवों का यूरोप के गौराङ्ग ईसाइयों के साथ सम्पर्क में आना ही था। पर इस कल्पना का कोई तर्कसंगत आधार नहीं है। वस्तुतः वासुदेव-कृष्ण की देवता के रूप में पूजा ईस्वी सन् के प्रारम्भ से कई सदी पूर्व ही शुरू हो चुकी थी। छान्दोग्य उपनिषद् आदि में कृष्ण का एक धर्म गुरु के रूप में उल्लेख यह सूचित करता है, कि क्रिश्चियन धर्म के प्रवर्तक ईसा या क्राइस्ट का देवकीपुत्र या वासुदेव कृष्ण के साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं था।

वैष्णव धर्म का विकास—यह इसी प्रकरण में ऊपर लिखा जा चुका है कि सात्वत या अन्धक वृष्णि-संघ के मुख्य कृष्ण द्वारा एक नई धार्मिक विचारसरणी का सूत्रपात किया गया था, जो याज्ञिक कर्मकाण्ड की तुलना में सत्यवचन, आर्जव, भक्ति आदि को अधिक महत्त्व देती थी। कालान्तर में कृष्ण के अनुयायियों ने अपने धर्मगुरु को दैवी रूप देना प्रारम्भ कर दिया, और वे उन्हें विष्णु से अभिन्न मानने लगे। पाणिनि के समय (पाँचवीं सदी ईस्वी पूर्व) तक सात्वत लोग वासुदेव की पूजा प्रारम्भ कर चुके थे। पर विष्णु के साथ उनका एकत्त्व किस समय स्थापित हुआ, यह निर्धारित कर सकना कठिन है। महाभारत में कृष्ण के दोनों रूप दृष्टिगोचर होते हैं, मानव रूप भी और देवता रूप भी। महाभारत के सभा पर्व में शिशुपाल द्वारा कृष्ण की भर्त्सना किए जाने का विशद रूप से उल्लेख है, और युधिष्ठर की सभा में कृष्ण को जो सर्वाधिक सम्मान दिया गया, भीष्म ने उसका कारण यह बताया है कि वे वेद-वेदांग के ज्ञाता हैं। सभा पर्व में कृष्ण का रूप एक विद्वान्, नीतिज्ञ व महापुरुष का है। पर महाभारत के वन पर्व में कृष्ण और विष्णु का एकात्म्य भली भाँति निरूपित है। अनेक विद्वानों के अनुसार महाभारत की रचना का काल सातवीं सदी ईस्वी पूर्व से तीसरी सदी ईस्वी पूर्व तक है। लगभग चार

सदियों के सुदीर्घ काल में उसके विविध संदर्भों तथा आख्यानों ने वह रूप प्राप्त किया जिसमें कि वे आजकल पाये जाते हैं। इसका अभिप्राय यह हुआ, कि तीसरी सदी ईस्वी पूर्व से पहले ही वासुदेव कृष्ण और विष्णु का एकीकरण हो चुका था।

कालान्तर में विष्णु के समान नारायण से भी वासुदेव कृष्ण का एकीकरण किया गया। वैदिक साहित्य में अनेक स्थानों पर नारायण का उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद के अनुसार स्वयंभू नारायण ने सब जीवों को धारण किया था। ऋग्वेद के एक सूक्त का ऋषि भी 'नारायण' है। शतपथ ब्राह्मण में नारायण नामक एक पुरुष का उल्लेख है, जिसने कि प्रजापति के आदेश से तीन बार यज्ञ का अनुष्ठान किया था। शतपथ में ही अन्यत्र पुरुष नारायण द्वारा पंचरात्र-सत्र किये जाने का वर्णन है, जिसके परिणाम-स्वरूप उसने अन्य सबकी तुलना में उत्कृष्टता प्राप्त कर ली थी। नारायण के विषय में शतपथ का यह आख्यान भी उल्लेखनीय है कि एक बार पुरुष नारायण ने सब वसुओं, रुद्रों और आदित्यों को यज्ञस्थान से अन्यत्र भेज दिया, और स्वयं यज्ञ कर्म सम्पादित कर वे सर्वाधिकारी तथा सर्वव्यापी हो गए। इसमें सन्देह नहीं कि वैदिक साहित्य में नारायण का स्वरूप भी एक उच्च एवं उत्कृष्ट देवता का है। पहले उनकी सत्ता विष्णु से भिन्न थी, पर बाद में उनमें एकात्म्य की कल्पना कर ली गई और नारायण तथा विष्णु को एक ही माना जाने लगा। तैत्तिरीय आरण्यक के दसवें प्रपाठक का यह वाक्य बड़े महत्त्व का है—"नारायणाय विद्महे वासुदेवाय धीमहि तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्"। इसमें न केवल नारायण और विष्णु का अपितु उन दोनों का वासुदेव से भी ऐक्य परिलक्षित होता है। शेषशायी विष्णु या नारायण की जो कथा बाद में बहुत प्रचलित हुई, उसका मूल भी वैदिक साहित्य में विद्यमान है। ऋग्वेद के एक सूक्त (१०/८२) में यह कहा गया है कि "द्युलोक, पृथिवी, देवताओं और असुरों में भी पहले वह कैसा गर्भ था जो सब से पूर्व जल पर ठहरा हुआ था और जिसमें सभी देवताओं का भी अस्तित्त्व था। अज (अजन्मा) की नाभि पर ठहरे हुए इस गर्भ में सभी भुवन विद्यमान थे।" वह अजन्मा जिसकी नाभि पर गर्भ ठहरा हुआ था, नारायण ही था। 'नर' शब्द का प्रयोग वैदिक साहित्य में देवताओं के लिए भी हुआ है। नरों या देवताओं के 'अयन' या आश्रय-स्थान का नाम ही नारायण था। इस प्रकार विष्णु के समान नारायण ने भी अन्य देवताओं की तुलना में उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त कर ली थी। इस दशा में यह स्वाभाविक था कि वासुदेव-कृष्ण के उपासक लोग अपने इस देव का नारायण से भी उसी प्रकार एकत्त्व प्रतिपादित करें, जैसे कि उन्होंने विष्णु के साथ किया था।

प्राचीन ग्रन्थों में नारायण के अतिरिक्त 'नर' का भी पृथक् रूप से उल्लेख हुआ है। महाभारत के कतिपय आख्यानों में नारायण को एक ऋषि कहा गया है, जो धर्म के पुत्र तथा नर नामक एक अन्य ऋषि के साथी थे। उनके जीवन का यही उद्देश्य था कि असुरों का संहार करें। देवासुर संग्राम में देवराज इन्द्र ने नर और नारायण से बहुमूल्य सहायता प्राप्त की थी। महाभारत की एक अन्य कथा के अनुसार धर्म के पुत्र नारायण ने हिमालय पर कठोर तपस्या की थी, जिसके परिणामस्वरूप उन्हें नर नामक एक अन्य ऋषि की प्राप्ति हुई जो उन्हीं के समान तपस्वी थे। महाभारत तथा पुराणों

में विद्यमान इस प्रकार की कथाओं से कतिपय विद्वानों ने यह परिणाम निकाला है कि नर और नारायण भी दो ऐसे ऋषि थे जिनके द्वारा धार्मिक क्षेत्र में एक नई विचार-सरणी का सूत्रपात हुआ था। प्राचीन समय के धर्माचार्यों में इनका स्थान भी अत्यन्त महत्त्व का था। सात्वतों के वासुदेव-कृष्ण के समान इन्हें भी कालान्तर में दैवी माना जाने लगा था, और इनकी भी पूजा प्रारम्भ हो गई थी। नर और नारायण के उपासक 'पंचरात्रिक' कहाते थे, क्योंकि शतपथ ब्राह्मण के अनुसार पुरुष-नारायण ने पंचरात्र-सत्र का अनुष्ठान कर अन्य सबकी तुलना में उत्कृष्टता प्राप्त की थी। नर और नारायण के उपासक जिस पूजा विधि का अनुसरण करते थे, उसे 'नारायणीय धर्म' कहा जाता था। प्राचीन समय में इनका इतना महत्त्व था कि महाभारत का प्रारम्भ ही नर और नारायण को नमस्कार के साथ किया गया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि वैदिक युग के पश्चात् प्राचीन आर्य धर्म का जिस ढंग से विकास हुआ, उसमें नारायणीय धर्म का भी अपना पृथक् अस्तित्व था। जब सात्वतों के भागवत धर्म का प्रसार अन्य प्रदेशों में भी होने लगा और उसकी शक्ति निरन्तर बढ़ती गई, तो नारायणीय धर्म अपनी पृथक् सत्ता को कायम नहीं रख सका और उसी में विलीन हो गया। इसी के परिणामस्वरूप नारायण का वासुदेव-कृष्ण से और नर का अर्जुन से ऐक्य स्थापित किया गया। नर नारायण के सखा थे, और अर्जुन कृष्ण के। अतः उनके एक होने की कल्पना असंगत नहीं थी। इस प्रसंग में यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि प्राचीन समय में वासुदेव के समान अर्जुन की भी पूजा प्रचलित थी। पाणिनि की अष्टाध्यायी (४/३/९) के अनुसार वासुदेव की भक्ति करने वाले 'वासुदेवक' कहाते थे, और अर्जुन के भक्त 'अर्जुनक'।

छठी सदी ईस्वी पूर्व में जब भारत के पूर्वी प्रदेशों में वर्धमान महावीर तथा गौतम बुद्ध अपने-अपने नये धार्मिक सम्प्रदायों के विकास तथा प्रसार में तत्पर थे, मथुरा तथा उसके समीपवर्ती प्रदेशों में वासुदेव कृष्ण द्वारा प्रवर्तित भागवत धर्म स्वतन्त्र व पृथक् रूप से अपना विकास कर रहा था। उसका प्रसार पूर्वी भारत के उन प्रदेशों में नहीं हुआ, जहाँ आर्य भिन्न जातियों का बड़ी संख्या में निवास था, और जहाँ का शासक वर्ग शुद्ध क्षत्रिय न होकर 'व्रात्य' क्षत्रिय था। पर पश्चिमी तथा उत्तर-पश्चिमी भारत में भागवत धर्म फल-फूल रहा था, और वहाँ के आर्य निवासी प्राचीन वैदिक धर्म के इस नये परिवर्तित रूप को अपनाने में तत्पर थे। इस दशा में नारायणीय धर्म अपने पृथक् अस्तित्व को खोकर भागवत धर्म में लीन हो गया, और अन्य भी अनेक धार्मिक सम्प्रदायों की यही गति हुई। इस धर्म में जो अनेक कथाओं का समावेश हुआ, वासुदेव-कृष्ण को जो अनेक नये नाम व विशेषण प्राप्त हुए और उसकी पूजा विधि में जो अनेक नये तत्त्वों का समावेश हुआ, वह इसी प्रक्रिया का परिणाम था। इसी कारण वासुदेव-कृष्ण द्वाराप्रवर्तित धार्मिक सम्प्रदाय को वैष्णव और नारायणीय सदृश अन्य नामों से भी कहा जाने लगा।

चतुर्व्यूह—वासुदेव कृष्ण की पूजा के साथ-साथ भागवत सम्प्रदाय में वृष्णि-कुल के कतिपय अन्य व्यक्तियों की भी दैवी रूप से उपासना की जाने लगी। इन व्यक्तियों की संख्या चार थी। वायु पुराण के अनुसार इनके नाम संकर्षण (वसुदेव के रोहिणी से

उत्पन्न पुत्र) प्रद्युम्न (वासुदेव के रुक्मिणी से उत्पन्न पुत्र), साम्ब (वासुदेव के जाम्बवती से उत्पन्न पुत्र) और अनिरुद्ध (प्रद्युम्न के पुत्र) थे। इनमें से दो वासुदेव-कृष्ण के पुत्र, एक प्रपौत्र और एक सौतेले भाई हैं। इन चारों की भी वासुदेव के समान ही मूर्तियाँ स्थापित की जाती थीं, और भागवत सम्प्रदाय के अनुयायी इनकी भी पूजा किया करते थे। मथुरा के समीप मोरा नामक स्थान पर एक शिलालेख प्राप्त हुआ है, जो पहली सदी ईस्वी का है। इसमें तोषा नाम की एक महिला द्वारा पत्थरों से बने एक मन्दिर में पाँच वृष्णि-वीरों की मूर्तियाँ स्थापित किये जाने का उल्लेख है। इन वीरों के साथ 'भगवत' विशेषण का भी प्रयोग किया गया है, जिससे वासुदेव के अतिरिक्त अन्य चार वृष्णि-वीरों के भी भागवत सम्प्रदाय में देवता की स्थिति प्राप्त कर लेने का संकेत मिलता है। यह स्पष्ट है कि सात्वत या वृष्णि लोग वासुदेव के अतिरिक्त संकर्षण आदि अन्य चार को भी अपना उपास्य देव मानने लग गये थे। वृष्णियों के विषय में जो अनेक कथाएँ प्राचीन साहित्य में मिलती हैं, उनमें कृतवर्मा, समीक, समितिज्जय, कंक, शंकु आदि अन्य भी अनेक वीरों का वर्णन विद्यमान है, और उन्हें महारथ भी कहा गया है। पर इनमें से कोई भी उपास्य देव की स्थिति प्राप्त नहीं कर सका। यह गौरव संकर्षण आदि चार वीरों को ही क्यों प्राप्त हुआ, इसका कारण स्पष्ट नहीं है। सम्भवतः, वासुदेव-कृष्ण के समान इन द्वारा भी नई धार्मिक विचार-सरणियों का प्रारम्भ किया गया था और अपने जीवन के अन्तिम भाग में ये भी धर्माचार्य बन गये थे। इसीलिए सात्वत व वृष्णि लोग इनकी भी देवता रूप से पूजा करने लगे थे, यद्यपि कालान्तर में वासुदेव-कृष्ण की तुलना में इनका महत्त्व कम हो गया था। यही कारण था, जो बाद में देवरूप से पूजे जाने वाले संकर्षण आदि चार वृष्णि वीरों को वासुदेव-कृष्ण का ही 'व्यूह' माना जाने लगा और यह प्रतिपादित किया गया कि ये 'व्यूह' वासुदेव से ही प्रादुर्भूत हैं। वासुदेव सर्वोच्च है, और 'पर' (सर्वोपरि) रूप में उन्हीं को भक्ति की जानी चाहिए। विश्व की वही एकमात्र सत्ता हैं। पर वासुदेव ने स्वयं अपने से 'व्यूह' संकर्षण को उत्पन्न किया और साथ ही प्रकृति को भी। संकर्षण और प्रकृति के संयोग से व्यूह प्रद्युम्न और मनस्तत्व (बुद्धि) की उत्पत्ति हुई। प्रद्युम्न और मनस्तत्व के संयोग से व्यूह अनुरुद्ध और अहंकार तत्व का सृजन हुआ। संकर्षण आदि अन्य वृष्णिवीर (देव रूप से जिनकी पूजा भी वृष्णियों में प्रचलित थी) वासुदेव से स्वतन्त्र न होकर उसी से प्रादुर्भूत थे, यही प्रतिपादित करने के लिये इस व्यूह सिद्धान्त का निरूपण किया गया था। महाभारत युद्ध के समय जो वासुदेव कृष्ण अन्धक-वृष्णि संघ के संघमुख्य थे, मगधराज जरासन्ध के संहार में जिनका विशेष कर्त्तृत्व था और कौरव-पाण्डवों के युद्ध में जिन्होंने पाण्डवों की सहायता की थी, कालान्तर में भागवत सम्प्रदाय के अनुयायियों ने उन्हें सर्वोच्च देवाधिदेव या परब्रह्म की स्थिति प्रदान कर दी थी। सांख्य आदि दर्शनशास्त्रों में सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए जिस ढंग से प्रकृति, अहंकार, बुद्धि आदि तत्वों का प्रतिपादन किया गया है, कुछ उसी प्रकार वासुदेव से सृष्टि की उत्पत्ति बताते हुए संकर्षण, अनिरुद्ध आदि वृष्णि-वीरों को भी सृष्टि की उत्पत्ति की प्रक्रिया का अंग बना दिया गया है। इस प्रकार भागवत सम्प्रदाय में संकर्षण आदि की देवता रूप में पृथक् सत्ता नहीं रह गई, अपितु

वे वासुदेव-कृष्ण से ही प्रादुर्भूत 'व्यूह' मात्र रह गये।

वैष्णव धर्म का प्रसार—मथुरा के समीपवर्ती प्रदेश में वासुदेव-कृष्ण द्वारा जिस नये धार्मिक आन्दोलन का प्रारम्भ किया गया था, धीरे-धीरे अन्य प्रदेशों में भी उसका विस्तार होने लगा। वैष्णव धर्म के विस्तार की इस प्रक्रिया के कुछ संकेत हमें प्राचीन साहित्य तथा पुरातत्त्वविषयक अवशेषों से प्राप्त होते हैं। तीसरी सदी ईस्वी पूर्व तक भी यह धर्म पूर्वी भारत के लोगों को अज्ञात था, यह इस बात से सूचित होता है कि अशोक के शिलालेखों में इस धर्म का कहीं भी उल्लेख नहीं है। उनमें ब्राह्मणों, श्रमणों, आजीवकों और निर्ग्रन्थों (जैनों) के विषय में तो लिखा गया है, पर वासुदेव के अनुयायियों का कहीं उल्लेख नहीं किया गया। अशोक के शिलालेखों के ब्राह्मण सम्भवतः याज्ञिक कर्मकाण्ड का अनुष्ठान करने वाले पुरोहित वर्ग के थे, न कि भक्ति द्वारा वासुदेव की उपासना करने वाले वासुदेवक लोग। बौद्ध ग्रन्थ अंगुत्तर निकाय में धार्मिक सम्प्रदायों की एक लम्बी सूची दी गई है, पर उसमें भागवत या वासुदेवक सम्प्रदाय का परिगणन नहीं है। पर पहली सदी ईस्वी पूर्व के महानिद्देस नामक बौद्ध भाष्य-ग्रन्थ में अन्य धार्मिक सम्प्रदायों का परिगणन करते हुए वासुदेव और बलदेव (संकर्षण) के पूजकों का भी उल्लेख किया गया है। इससे सूचित होता है कि पहली सदी ईस्वी पूर्व तक भागवत सम्प्रदाय का परिचय पूर्वी भारत के लोगों को भी हो चुका था। पर पाणिनि की अष्टाध्यायी में वासुदेव के प्रति भक्ति रखने वालों का उल्लेख इस बात में कोई सन्देह नहीं रहने देता, कि पांचवीं सदी ईस्वी पूर्व में यह सम्प्रदाय गान्धार देश के निवासियों को भी ज्ञात हो चुका था, क्योंकि पाणिनि गान्धार के निवासी थे। यह समझना असंगत नहीं होगा, कि भागवत धर्म का प्रचार पूर्वी भारत में न होकर उत्तर, पश्चिम तथा दक्षिण दिशाओं की ओर हुआ। भिलसा (मध्यप्रदेश) से दो मील की दूरी पर बेसनगर में एक गरुड़ स्तम्भ विद्यमान है, जिस पर उत्कीर्ण लेख राजा भागभद्र के शासक के चौदहवें वर्ष का है। इस लेख में तक्षशिला के यवन (ग्रीक) राजा अन्तिअल्किदस के राजदूत हेलियोदोर द्वारा वासुदेव की पूजा के लिए गरुड़ध्वज स्थापित किये जाने का उल्लेख है। हेलियोदोर ने अपने नाम के साथ 'भागवत' विशेषण का प्रयोग किया है, जिससे सूचित होता है कि तक्षशिला (गान्धार) के यवन लोग भी दूसरी सदी ईस्वी पूर्व में भागवत या वैष्णव सम्प्रदाय को अपनाने लग गये थे, और मध्यदेश में भिलसा तक भी इस धर्म का प्रसार हो गया था। बेसनगर में ही एक अन्य उत्कीर्ण लेख मिला है, जिसमें भागवत (वासुदेव) की पूजा के लिए निर्मित प्रासादोत्तम (मन्दिर) के साथ एक गरुड़ध्वज के निर्माण का वर्णन है। राजस्थान के चित्तौड़गढ़ जिले में घोसुंडी नामक स्थान से उपलब्ध एक लेख में अश्वमेध यज्ञ करने वाले भागवत सम्प्रदाय के एक अनुयायी द्वारा संकर्षण और वासुदेव की पूजा के लिये एक 'पूजाशिलाप्राकार' बनवाने का वर्णन है। इस लेख में संकर्षण और वासुदेव के साथ भगवत्, अनिहत (अपराजित) और सर्वेश्वर विशेषणों का प्रयोग किया गया है। घोसुंडी का यह लेख पहली सदी ईस्वी पूर्व का माना जाता है, जिससे यह असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि पहली सदी ईस्वी पूर्व तक राजस्थान में भी भागवत वैष्णव धर्म का प्रचार हो चुका था। पहली सदी ईस्वी पूर्व का ही एक लेख महाराष्ट्र के नाना-

घाट से मिला है, जिसे कुमार वेदिश्री और शक्तिश्री की माता द्वारा उत्कीर्ण कराया गया था। सम्भवतः, यह लेख सातवाहन वंश के राजा सातकर्णी प्रथम की रानी नयनिका का है, जिसने कि अपने पति की सहधर्मिणी के रूप में एक राजसूय और दो अश्वमेध यज्ञों का अनुष्ठान किया था। नानाघाट के इस शिलालेख का प्रारम्भ धर्म, इन्द्र, संकर्षण, वासुदेव, चन्द्र, सूर्य और चार दिग्पालों (यम, वरुण, कुवेर और वासव) की स्तुति के साथ किया गया है। धर्म, इन्द्र आदि अन्य देवताओं के साथ संकर्षण और वासुदेव की भी स्तुति किया जाना इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि पहली सदी ईस्वी पूर्व में महाराष्ट्र के क्षेत्र में भी भागवत धर्म का प्रचार हो चुका था।

मध्यप्रदेश और महाराष्ट्र के बाद दक्षिणी भारत में भी भागवत धर्म का प्रसार हुआ। कृष्णा जिले के चिन्न नामक स्थान पर दूसरी सदी का एक उत्कीर्ण लेख मिला है, जिसका प्रारम्भ वासुदेव की स्तुति से किया गया है। इसी प्रकार गुन्टूर जिले से उपलब्ध पल्लव वंश के एक प्राकृत अभिलेख में भगवत् नारायण के देवकुल का उल्लेख है। इससे यह ज्ञात होता है कि दूसरी सदी तक दक्षिणी भारत में भी भागवत वैष्णव धर्म का प्रवेश हो चुका था।

यद्यपि मगध, बंग, अंग, कलिङ्ग आदि पूर्वी प्रदेशों में इस धर्म का प्रचार नहीं हुआ था, पर भारत के मध्यदेश में इसका प्रवेश ईस्वी सन् के प्रारम्भ से पूर्व ही हो चुका था। पंचाल (रुहेलखण्ड) के मित्रवंशी राजा विष्णुमित्र के तांबे के सिक्कों पर विष्णु की प्रतिमा अंकित है। इसके चार हाथ हैं, जिनमें से एक में चक्र है। ये सिक्के ईस्वी सन् के प्रारम्भ काल के माने जाते हैं, जिनसे इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि इस काल में वैष्णव धर्म का प्रचार भारत के मध्यदेश में भी हो गया था। कुशाण वंश के राजा हुविष्क के अनेक सिक्कों पर भी विष्णु की ऐसी प्रतिमा अंकित है, जिसमें उनके चार हाथ बनाये गए हैं। हुविष्क के उत्तराधिकारी कुशाण राजा का नाम वासुदेव था। कुशाण वंश के अन्यतम राजा का वासुदेव नाम होना ही इस बात का प्रमाण है, कि यह राजा वैष्णव धर्म को अपना चुका था, और इसका पूर्ववर्ती राजा हुविष्क भी भागवत धर्म के प्रति भक्ति की भावना रखता था। इन सब तथ्यों को दृष्टि में रखकर यह विश्वास के साथ कहा जा सकता है, कि मौर्यवंश के पतन के पश्चात् भारत के बड़े भाग में भागवत वैष्णव धर्म ने अच्छा महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया था।

मौर्यवंश के पतन और शुङ्ग वंश के उत्कर्ष के साथ बौद्ध धर्म के विरुद्ध जो प्रतिक्रिया हुई, उसके कारण भागवत वैष्णव धर्म को उत्कर्ष का अनुपम अवसर प्राप्त हो गया था। जब यवन और कुशाण सदृश विदेशियों का भी इस धर्म के प्रति झुकाव हुआ, और हुविष्क तथा वासुदेव ने—जिनका आधिपत्य भारत के अनेक पूर्वी प्रदेशों में भी स्वीकृत किया जाता था—इसे अपना लिया, तो इसके प्रसार में बहुत अधिक सहायता मिली। इसी का यह परिणाम हुआ, कि गुप्त वंश के शासन काल में यह भारत का सर्वप्रधान धर्म बन गया।

(४) शैव धर्म

बौद्ध धर्म के विरुद्ध प्रतिक्रिया के कारण जब वैदिक धर्म का पुनरुत्थान हुआ,

तो इस प्राचीन भारतीय धर्म ने जो अनेक परिवर्तित रूप प्राप्त किये, शैव धर्म भी उनमें एक था। इस धर्म के मूल भी वेदों में विद्यमान हैं। शिव भी वैदिक देवताओं में एक है, जिसका एक नाम रुद्र भी है। वैदिक साहित्य में इस देवता के लिए दोनों नामों का उपयोग हुआ है, रुद्र उसके भीषण या रौद्र रूप को प्रगट करने के लिए और शिव उसके कल्याणकर रूप के लिए। जब वह देवता दुष्टों का दमन तथा सृष्टि का प्रलय करता है, तो रुद्र रूप धारण कर लेता है। जब वही देवता सृष्टि का पालन व धारण करता है, तो शिव या शंकर कहाता है। अनेक बार प्रकृति भयंकर रूप ग्रहण कर लेती है। तूफान आते हैं, आँधियाँ चलती हैं। महामारियाँ फैलती हैं, और नदियों में बाढ़ें आ जाती हैं। प्रकृति की इन विनाशकारी प्रवृत्तियों में प्राचीन आर्यों ने रुद्र देवता का हाथ रहने की कल्पना की, जिसकी उपासना तथा स्तुति कर मनुष्य अपने को प्रकृति के प्रकोप से बचा सकता है। ऋग्वेद के एक मन्त्र में यह प्रार्थना की गई है, कि 'हे रुद्र ! क्रोधवश आप हमारे बच्चों, वंशजों, मनुष्यों, पशुओं और अश्वों का विनाश न करो। हम हविषों के साथ सदा तुम्हारा आवाहन करते हैं।' जहाँ रुद्र देवता का एक रूप संहारक था, वहाँ विपत्तियों से निवारण करने की शक्ति भी उनमें थी। इसीलिये ऋग्वेद में उन्हें भिषजों का 'भिषक्' और 'पशुप' (पशुओं का रक्षक) भी कहा गया है। जब इस देवता का उग्र व संहारक रूप शान्त हो जाए, तो वह शंकर, शिव या शम्भु बन जाता है। वैदिक धर्म में जैसे विष्णु देवता का महत्त्व था, वैसे ही शिव या रुद्र का भी था। इनकी महिमा में भी वेदों में अनेक सूक्त विद्यमान हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थों, उपनिषदों, सूत्र-ग्रन्थों, रामायण और महाभारत आदि अन्य प्राचीन साहित्य में भी रुद्र व शिव सम्बन्धी अनेक विवरण पाये जाते हैं, जिनसे प्राचीन आर्य धर्म में शिव या रुद्र की एक देवता के रूप में मान्यता एवं पूजा के सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं रह जाता।

1. सिन्धु घाटी की सभ्यता के अवशेषों में जो बहुत-सी मुद्राएँ उपलब्ध हुई हैं, उनमें से तीन पर एक ऐसे देवता की प्रतिमा अंकित है जिसके तीन मुख हैं और जिसके सिर पर सींग बनाये गये हैं। इस प्रतिमा के चारों ओर हिरण, हाथी, गेंडा, भैंस और शेर अंकित हैं। अनेक विद्वानों ने कल्पना की है कि यह प्रतिमा पशुपति शिव की है, जिसकी पूजा सिन्धु सभ्यता के लोगों में प्रचलित थी, और जिसे कालान्तर में आर्य जाति ने भी अपना लिया था। यदि इस कल्पना को सही मान लिया जाए, तो शिव को उपास्य मानने वाले शैव धर्म को संसार के प्राचीनतम धर्मों में मानना होगा।

2. वैदिक युग में रुद्र-शिव की उपासना के लिए भी स्तुति तथा याज्ञिक अनुष्ठानों का ही आश्रय लिया जाता था। पर जब याज्ञिक कर्मकाण्ड के प्रति आस्था में कमी आने लगी, तो इस देवता की भी प्रतिमाएँ या मूर्तियाँ बनायी जाने लगीं और भागवत-वैष्णव धर्म के समान शैव-भागवत धर्म का भी विकास हुआ। बौद्ध धर्म के विरुद्ध प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप प्राचीन आर्य धर्म का जो नया परिवर्तित रूप सम्मुख आया, उसमें शैव-धर्म का भी प्रधान स्थान था। पर वैष्णव धर्म के समान इस धर्म का विकास भी बौद्ध काल से पहले ही प्रारम्भ हो चुका था। यही कारण है, जो रामायण और महाभारत में अनेक ऐसे आख्यान विद्यमान हैं, जिन द्वारा शिव के महत्त्व तथा उनकी पूजा के संकेत

मिलते हैं। रामायण के अनुसार राजा भगीरथ ने शिव को प्रसन्न कर गंगा का भूतल पर अवतरण किया था। समुद्रमन्थन द्वारा जो विष प्राप्त हुआ था, उसे शिव ने अपने कण्ठ में उतार लिया था, यह कथा भी रामायण में पायी जाती है। हिमालय द्वारा अपनी कन्या उमा या पार्वती का शिव से विवाह किये जाने का कथानक भी रामायण में विद्यमान है। महाभारत में शिव विषयक बहुत-सी कथाएँ संकलित हैं। पाण्डव अर्जुन पाशुपत अस्त्र की प्राप्ति के लिए शिव को प्रसन्न करने के प्रयोजन से हिमालय जाकर तप करते हैं। शिव एक किरात के रूप में अर्जुन के सम्मुख प्रगट हुए। पर अर्जुन उन्हें पहचान नहीं सके। शिव किरात के रूप में प्रगट हुए हैं, यह न समझ कर अर्जुन ने उनसे युद्ध किया, जिसमें वह परास्त हो गये और भूमि पर गिर पड़े। बाद में उन्होंने शिव को पहचाना और अपने को पूर्णतया उनके अर्पित कर दिया। प्रसन्न होकर शिव ने अर्जुन को पाशुपत अस्त्र प्रदान किया। शिव की उपासना से ही अश्वत्थामा को एक खड्ग की प्राप्ति हुई थी, जिस द्वारा उसने पाण्डव-पुत्रों का वध किया था। महाभारत की एक कथा के अनुसार पुत्र की प्राप्ति के लिए स्वयं कृष्ण ने शिव की अराधना की थी। इस प्रसंग में महाभारत में यह भी कहा गया है कि इन्द्र, विष्णु और ब्रह्मा भी शिव के उपासक हैं। सुदूर दक्षिण के संगम साहित्य में भी शिव की उपासना का वर्णन मिलता है, जो इस धर्म की प्राचीनता का परिचायक है।

पाशुपत सम्प्रदाय—शैव धर्म के अनेक सम्प्रदाय हैं, जिनमें 'पाशुपत' सर्वप्रधान है। वायु और लिङ्ग पुराणों के अनुसार इस सम्प्रदाय का प्रवर्तक लकुलीश या लकुली नामक ब्रह्मचारी था, जिसका समय महायुगों के २८ वें प्रत्यावर्तन में था। यही वह समय था, जब कि कृष्ण द्वैपायन का भी जन्म हुआ था। पुराणों में कथा आती है कि महेश्वर शिव ने श्मशान में पड़े हुए एक मृत शरीर में प्रवेश कर लकुली नामक ब्रह्मचारी के रूप में अवतरण किया। यह श्मशान कायावरोहण नामक स्थान पर थी, जिसकी स्थिति गुजरात के क्षेत्र में थी। इस प्रकार पाशुपत सम्प्रदाय के अनुसार लकुलीश शिव के अवतार थे, और उन्हीं द्वारा इस सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया गया था। लकुलीश के चार शिष्य हुए थे,कुशिक, गार्ग्य, मित्रक और कौरुष्य। ये चारों भी पाशुपत सम्प्रदाय के आचार्य माने जाते हैं, और इनकी अपनी-अपनी पृथक् शिष्य परम्पराएं भी थीं। लकुलीश की सत्ता केवल पौराणिक अनुश्रुति द्वारा ही ज्ञात नहीं होती, अपितु कतिपय अभिलेखों में भी इस आचार्य का उल्लेख मिलता है। उदयपुर (राजस्थान) के उत्तर में कुछ मील की दूरी पर एकलिङ्ग का मन्दिर है, जिसके समीपवर्ती नाथ मन्दिर में एक अभिलेख विद्यमान है, जिसे ९७१ ईस्वी में उत्कीर्ण कराया गया था। इस अभिलेख के अनुसार भगवान् शिव ने भृगुकच्छ में एक ऐसे मनुष्य के रूप में अवतार लिया था, जिसने कि अपने हाथ में लगुड (डण्डा) लिया हुआ था। तेरहवीं सदी का एक अन्य अभिलेख है, जिसमें कि लाटदेश (गुजरात) के कारोहण (कायावरोहण) नामक स्थान पर निवास करने वाले भट्टारकश्री लकुलीश के रूप में शिव के अवतार ग्रहण करने का उल्लेख है। इस अभिलेख में लकुलीश के चार शिष्यों के नाम भी आये हैं, जो कौशिक, गार्ग्य, कौरुष और मैत्रेय थे। ये नाम पुराणों में उल्लिखित नामों से कुछ भिन्न हैं। पर ये अभिलेख यह

प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त हैं कि पाशुपत सम्प्रदाय का प्रवर्तक लकुलीश ही था, जिसे शैव लोग शिव का अवतार मानते थे, और जो गुजरात प्रदेश का निवासी था। पाशुपत सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने तथा शैव साधुओं के आचारविषयक नियमों का निर्धारण करने के प्रयोजन से लकुलीश ने पंचार्थ-विद्या या पंचाध्यायी नामक एक ग्रन्थ की भी रचना की थी। यह ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं है, यद्यपि माधवाचार्य ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक सर्वदर्शन-संग्रह में इससे कुछ उद्धरण दिये हैं। इनसे पाशुपत सम्प्रदाय के दार्शनिक मन्तव्यों के सम्बन्ध में कुछ जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार लकुलीश कृष्ण द्वैपायन के समकालीन थे, जिससे यह संकेत मिलता है कि उनका समय ईस्वी सन् से कुछ सदी पहले होना चाहिए। पर एक अभिलेख के आधार पर कतिपय विद्वानों ने इस आचार्य का समय दूसरी सदी ईस्वी के प्रारम्भिक भाग में प्रतिपादित किया है। गुप्त वंशी राजा चन्द्रगुप्त द्वितीय के मथुरा में उपलब्ध एक स्तम्भलेख में यह उल्लिखित है, कि पाशुपत सम्प्रदाय के एक गुरु उदिताचार्य ने उपमितेश्वर और कपिलेश्वर संज्ञक दो शिवलिङ्गों को प्रतिष्ठापित किया था। साथ ही, इस स्तम्भ लेख में यह भी लिखा है कि उदिताचार्य कुशिक की शिष्य-परम्परा में दसवें आचार्य थे। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, कुशिक लकुलीश के चार प्रधान शिष्यों में एक था। यदि उदिताचार्य के पूर्ववर्ती आचार्यों में प्रत्येक का गुरु-पद पर रहने का काल २५ वर्ष नियत किया जाए, तो लकुलीश का समय चन्द्रगुप्त द्वितीय से ९५० वर्ष पूर्व १३१ ईस्वी के लगभग बैठता है। पर इस मत को स्वीकार कर लेने पर यह समस्या उत्पन्न होती है, कि यदि लकुलीश द्वारा पाशुपत या शैव सम्प्रदाय का प्रारम्भ दूसरी सदी में किया गया, तो पतंजलि के महाभाष्य, महाभारत, रामायण आदि प्राचीन ग्रन्थों में शैव मत का उल्लेख किस प्रकार सम्भव हुआ। सम्भवतः, इस समस्या का समाधान यही है कि शैव सम्प्रदाय लकुलीश से भी पहले विद्यमान था। यह आचार्य उसका प्रवर्त्तक नहीं था, अपितु इस द्वारा उसका सुस्पष्ट रूप से तथा नये ढंग से प्रतिपादन और संगठन ही किया गया था। लकुलीश से पहले भी शैव या पाशुपत सम्प्रदाय के अनेक आचार्य हो चुके थे। जैसे कि वर्धमान महावीर जैन धर्म का अन्तिम (चौबीसवां) तीर्थंकर था, वैसे ही लकुलीश शैव धर्म के ऐसे आचार्यों में अन्तिम था, जिनकी गणना शिव के अवतारों में की जाती थी।

पाशुपत सम्प्रदाय के सिद्धान्त के अनुसार पांच पदार्थों या तत्त्वों की सत्ता स्वीकार की जाती है—(१) कार्य—जड़ और चेतन जो भी सत्ताएँ विश्व में विद्यमान हैं, वे सब कार्य रूप हैं और पाशुपत दर्शन में उन्हें 'कार्य' कहा गया है। (२) कारण—समस्त सत्ताओं (कार्यों) की सृष्टि तथा संहार करने वाला जो महेश्वर है, वही 'कारण' है। वह अपरिमित ज्ञान तथा शक्ति से सम्पन्न है, और कार्य करने में पूर्णतया स्वतन्त्र है। (३) योग—चित्त के माध्यम से योग द्वारा जीव (चेतन सत्ता) और महेश्वर में सम्बन्ध स्थापित होता है। योग के दो प्रकार हैं—क्रियारूप, जप, तप आदि करना और अक्रियारूप, क्रियाओं से निवृत्त होकर तत्त्व ज्ञान की प्राप्ति। (४) विधि—जिस साधना द्वारा जीव महेश्वर की प्राप्ति करता है, उसे विधि कहा गया है। विधि दो प्रकार की है,

मुख्य या चर्या और गौण। चर्या के भी दो प्रकार हैं, व्रत और द्वार। भस्म (राख) को शरीर पर मलना, भस्म में लेटे रहना, जप, प्रदक्षिणा और उपहार—ये 'पंच विध व्रत' माने गये हैं। 'उपहार' का अभिप्राय ऐसी साधनाओं से है, जिनको करता हुआ साधक कभी हँसता है, कभी गाता हैं, कभी नाचता है, कभी बैल के समान शब्द करता है, कभी नमस्कार करता है और कभी किसी मन्त्र का जाप करता रहता है। 'द्वार' के अन्तर्गत ऐसी साधनाएँ हैं, जिनका प्रयोग कर मनुष्य कभी जान बूझ कर लंगड़ा कर चलता है, अंगों को कंपाता है, अज्ञान की बातें करता है, और विवेकहीन बनकर निन्दनीय कार्य करता है। 'गौण' विधि में ऐसी क्रियाएँ अन्तर्गत हैं, जो 'चर्या' के लिए सहायक मानी जाती हैं, जैसे पूजा के पश्चात् शरीर पर भस्म मलना, भिक्षा माँगना, उच्छिष्ट भोजन करना और निर्माल्य। इन क्रियाओं से मनुष्य एक ऐसे साधना मार्ग पर अग्रसर होने लगता है, जिसमें उसे किसी के प्रति घृणा की अनुभूति नहीं होती। (५) दुःखान्त-दुःखों से छुटकारा पाकर मुक्त हो जाने को 'दुःखान्त' कहा गया है। मिथ्या ज्ञान, अधर्म, विषयों में आसक्ति और अल्पज्ञता सदृश दोष है, जिनके कारण जीव वन्धन में रहता है। इस बन्धन से छुटकारा पाने के लिए ज्ञानशक्ति और कर्मशक्ति को प्रयुक्त करना चाहिए। दर्शन (सूक्ष्म तत्वों का ज्ञान), मनन, श्रवण, विज्ञान (सब शास्त्रों का अविकल रूप से ज्ञान) और सर्वज्ञत्व—ज्ञानशक्ति के ये पाँच प्रकार हैं। इसी तरह कर्मशक्ति के भी तीन प्रकार हैं—मनोजवित्व (तुरन्त कार्य करना), कामरूपित्व (प्रयत्न के बिना इच्छा मात्र से विविध रूप धारण कर लेना) और विकरणधर्मित्व (इन्द्रियों के कार्य करना बन्द कर देने पर भी शक्ति तथा सामर्थ्य से सम्पन्न होना)।

कापालिक सम्प्रदाय—शैव धर्म का एक अन्य सम्प्रदाय कापालिक है, जिसके उपास्य देव भैरव हैं। भैरव को शिव का अवतार माना गया है, और कापालिक सम्प्रदाय के अनुयायी उन्हें ही सृष्टि का सर्जन तथा संहार करने वाला मानते हैं। इस सम्प्रदाय के अनुयायी सुरापान तथा अभक्ष्य भोजन करना अपनी साधना का अंग समझते हैं। ये सिर पर जटाजूट धारण करते हैं, गले में रुद्राक्ष की माला पहनते हैं, शरीर पर श्मशान की भस्म मलते हैं, और हाथ में कमण्डल के स्थान पर नर-कपाल रखते हैं। गुप्त वंश के पश्चात् भारत के धर्मों में उन प्रवृत्तियों का प्रादुर्भाव हुआ था, जिन्हें स्थूल-रूप से वाममार्गी कहा जाता है। बौद्धों में वज्रयान एक ऐसा सम्प्रदाय था, जिसमें इसी प्रकार की प्रवृत्तियाँ विद्यमान थीं। शैव धर्म में कापालिक इसी प्रकार का वाममार्गी सम्प्रदाय था। इसके अनुयायी पुरुष अपने को भैरव तथा स्त्रियाँ अपने को भैरवी के रूप में कल्पित कर स्वच्छन्द रतिक्रिया को भी साधना का अंग मानते थे। प्रसिद्ध महाकवि भवभूति ने अपने नाटक मालती माधव में श्रीशैल को कापालिकों का प्रधान पीठ (केन्द्र) बताया है। इस सम्प्रदाय की पूजाविधि का भी इस नाटक से परिचय प्राप्त होता है। कपाल-कुण्डला नाम की एक स्त्री, जो इस सम्प्रदाय की अनुयायी थी, नरकपालों की माला धारण कर नाटक की नायिका मालती को सोती हुई दशा में उसके पिता के घर से उठा ले जाती है, और श्मशान के समीप स्थित कराला-चामुण्डा की मूर्ति के सम्मुख इस प्रयोजन

से उपस्थित करती है, ताकि आचार्य अघोरघंट उसकी बलि दे सकें। इस वर्णन से ज्ञात होता है कि कापालिक लोग नरबलि को भी अपनी पूजा व साधना का अंग मानते थे। इसी सम्प्रदाय का एक वर्ग 'कालमुख' कहाता था, जिसकी साधना पद्धति और भी अधिक रौद्र थी। वे भोजन तथा जलपान के लिये नरकपाल का प्रयोग करते थे। नर-भस्म को शरीर पर लगाते थे, और सुरापान को साधना के लिये अनिवार्य मानते थे।

शैव धर्म के अन्य सम्प्रदाय—गुप्त वंश के पश्चात् भारतीय इतिहास के मध्य-काल में शैव धर्म का विशेष रूप से विकास हुआ था, जिसके कारण उसमें अनेक सम्प्र-दायों का प्रादुर्भाव हुआ, जिनमें काश्मीरी शैव सम्प्रदाय, वीरशैव या लिंगायत सम्प्रदाय और द्रविड़ देश में प्रचलित शैव सम्प्रदाय प्रमुख हैं। पर ये उस शैव धर्म से वहुत कुछ भिन्न हैं, जिसका प्रसार बौद्ध धर्म के विरुद्ध प्रतिक्रिया के काल में विशेष रूप से हुआ था और जो प्राचीन वैदिक धर्म के अन्यतम परिवर्तित स्वरूप के रूप में प्रगट हुआ था। इन सम्प्रदायों पर हम इस ग्रन्थ के पाँचवें अध्याय में प्रकाश डालेंगे।

शैव भागवत धर्म—शैव धर्म के पाशुपत, कापालिक आदि जिन सम्प्रदायों का हमने ऊपर उल्लेख किया है, उनका प्रादुर्भाव ईस्वी सन् के बाद हुआ था। पर उनसे पूर्व शिव देवता को अपना उपास्य मानकर उसी ढंग से एक धार्मिक विचारसरणी का विकास हो चुका था, जैसे कि भागवत वैष्णव धर्म का हुआ था। रामायण, महाभारत आदि प्राचीन ग्रन्थों में शैव भागवत धर्म की सत्ता के अनेक संकेत मिलते हैं, पर ठोस ऐतिहासिक आधार पर उसका उल्लेख सबसे पूर्व मैगस्थनीज़ (चौथी सदी ईस्वी पूर्व) द्वारा किया गया है। इस यवन (ग्रीक) राजदूत ने डायोनिसस और हेराक्लीज़ नामक दो भारतीय देवताओं का वर्णन किया है, जिनकी पूजा इस देश में प्रचलित थी। विद्वानों के अनुसार ये शिव और वासुदेव-कृष्ण के ग्रीक रूपान्तर हैं। पतंजलि के महाभाष्य (दूसरी सदी ईस्वी पूर्व) से ज्ञात होता है, कि उस समय श्रीशिव की भक्ति बहुत प्रच-लित थी, और शिव के उपासक 'शिव भागवत' कहाते थे। पतंजलि ने पूजा के लिए बनायी गई मूर्तियों का उल्लेख करते हुए शिव, स्कन्द और विशाख की मूर्तियों को सूचित करने वाले प्रातिपदकों के साद 'क' प्रत्यय लगाने के सम्बन्ध में कतिपय नियम प्रतिपादित किये हैं। मौर्य राजाओं ने धन एकत्र करने के लिए शिव, स्कन्द और विशाख की प्रतिमाओं का निर्माण कराया था, इसका संकेत भी महाभाष्य में विद्यमान है, जिससे पतंजलि के काल में शिव की पूजा का लोकप्रिय होना प्रमाणित होता है। हरिभद्र ने षड्दर्शन-समुच्चय में न्याय और वैशेषिक दर्शनों के कर्ता गौतम और कणाद मुनियों को शैव बताया है, और हरिभद्र के ग्रन्थ पर भाष्य लिखते हुए गुणरत्न ने नैयायिकों को शैव और वैशेषिकों को पाशुपत कहा है। षड्दर्शन-समुच्चय से भी यही सूचित होता है कि शैव या शिव भागवत धर्म उस समय तक अवश्य प्रचलित हो चुका था, जबकि न्याय और वैशेषिक दर्शनों का सूत्रपात हुआ। इस प्रसंग में यह लिखना अप्रासंगिक नहीं होगा, कि ये दोनों दर्शन सांख्य की तुलना में नवीन हैं।

कल्हणकृत राजतरङ्गिणी के अनुसार मौर्य अशोक का पुत्र जालौक शैव धर्म का अनुयायी था। जालौक द्वारा काश्मीर में अपने पृथक् राज्य की स्थापना की गई थी,

और उसका शैव धर्म में दीक्षित होना यह सूचित करता है कि तीसरी सदी ईस्वी पूर्व में उत्तर-पश्चिमी भारत में यह धर्म भली-भाँति फल-फूल रहा था। यही कारण है कि अनेक कुशाण राजाओं ने भारत के इस प्रदेश के सम्पर्क से शैव धर्म को अपना लिया था। कुशाण राजा विम कदफिसस की मुद्राओं पर शिव की मूर्ति अंकित है। उसकी बहुसंख्यक मुद्राओं में शिव के साथ नन्दी को भी अंकित किया गया है, और शिव की भुजाओं में त्रिशूल, कमण्डल और बाघाम्बर दिखाये गये हैं। इस कुशाण राजा के सिक्कों पर जो लेख अंकित हैं, उनमें उसके नाम के साथ 'माहेश्वरस्य' विशेषण का भी प्रयोग किया गया है, जिससे भी उसका शैव होना प्रमाणित होता है। यद्यपि कुशाण राजा कनिष्क को बौद्ध माना जाता है, पर उसके कतिपय सिक्कों पर शिव की मूर्ति भी अंकित है, जिससे उसके समय में शिव की पूजा के अत्यन्त लोकप्रिय होने का संकेत मिलता है। कुशाणों के अतिरिक्त अनेक शक तथा पार्थियन राजाओं ने भी शैव धर्म को स्वीकार कर लिया था। इनमें मोग्र और गोंदोफर्नेस के नाम उल्लेखनीय हैं। इन राजाओं के भी ऐसे सिक्के मिले हैं, जिन पर शिव की मूर्ति अंकित है। इन सब तथ्यों को दृष्टि में रखकर यह परिणाम सुगमता से निकाला जा सकता है, कि भागवत-वैष्णव धर्म के समान शिव-भागवत धर्म भी तीसरी-चौथी सदी ईस्वी पूर्व तक भली-भाँति विकसित हो चुका था, और ईस्वी सन् के प्रारम्भ-काल तक यह इतना शक्तिशाली हो गया था कि विदेशी आक्रान्ता जातियों के अनेक राजा भी इस धर्म को अपनाने में तत्पर थे। सम्भवतः, इस काल में यह धर्म भारत के उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों मे उसी प्रकार से लोकप्रिय था, जैसे कि मथुरा के समीपवर्ती प्रदेशों में वैष्णव धर्म था। उत्तर-पश्चिमी भारत में शैव-धर्म के विशेष रूप से प्रचार का संकेत इस बात से भी मिलता है, कि एक ग्रीक लेखक हेसेकियस के अनुसार गान्धार का देवता वृषभ था। वृषभ से यहाँ नन्दी का ही अभिप्राय है, जिन्हें शिव का वाहन माना जाता है। गान्धार की राजधानी पुष्कलावती का संरक्षक देवता नन्दी या वृषभ को ही माना जाता था, और वहाँ से एक ऐसी शक मुद्रा भी प्राप्त हुई है जिस पर नन्दी की प्रतिमा अंकित है। इसके नीचे खरोष्ठी लिपि में 'उसभे' भी लिखा है, जो वृषभ का ही अपभ्रंश है। सातवीं सदी तक भी पुष्कलावती में शैव धर्म का प्रचार रहा, यह ह्यु एन्त्सांग के यात्राविवरण से सूचित होता है। इस चीनी यात्री ने पुष्कलावती नगरी के पश्चिमी द्वार के बाहर महादेव के एक मन्दिर का उल्लेख किया है। तक्षशिला की खुदाई में सिरकप नामक स्थान पर काँसे की एक मुहर मिली है, जिसे पहली सदी ईस्वी पूर्व का माना जाता है। इस मुहर पर शिव की मूर्ति बनी हुई है, और 'शिवरक्षितस' ये शब्द ब्राह्मी तथा खरोष्ठी लिपियों में अंकित हैं। सम्भवतः, शिवरक्षित एक व्यक्ति का नाम था, जो शैव धर्म का अनुयायी था।

शैव मूर्तियाँ—नये परिवर्तित रूप में प्राचीन आर्य धर्म के पुनरुत्थान के समय विविध वैदिक देवताओं की पूजा के लिए याज्ञिक अनुष्ठानों को विशेष महत्त्व नहीं दिया जाता था। शिव-भागवत धर्म में अपने उपास्य देव की मूर्तियाँ बनाकर मन्दिरों में उन्हें प्रतिष्ठापित किया जाता था, और वहाँ उनकी पूजा की जाती थी। पतंजलि ने शिव की अर्चाओं या प्रतिमाओं का तो उल्लेख किया है, पर उनका स्वरूप कैसा होता था यह

उनके 'महाभाष्य' से ज्ञात नहीं होता। इस सम्बन्ध में पुरातत्त्व-विषयक अवशेषों से सूचित होता है कि पूजा के प्रयोजन से शिव की मूर्तियाँ प्रधानतया दो प्रकार से बनायी जाती थीं, शिवलिङ्ग के रूप में और मानवाकार रूप में। कतिपय मूर्तियाँ ऐसी भी हैं, जिनमें लिङ्ग और मानवाकार को मिला-जुला बनाया गया है। ऐसी एक मूर्ति रेनिगुन्टा (तमिलनाडु) के समीप गुड़िमल्लम नामक गाँव में है, जिसको अब तक भी पूजा जाता है। इस मूर्ति का लिङ्ग ऊंचाई में पाँच फीट है, और उसके ऊपर दो भुजाओं वाले शिव की मूर्ति बनी है। इसे पहली सदी ईस्वी पूर्व का माना जाता है। बाद में भी इस प्रकार की मूर्तियों का निर्माण होता रहा। ऐसी मूर्तियों को 'लिङ्गोद्भव मूर्ति' कहा जाता है। 'मुखलिङ्ग' भी इसी वर्ग की मूर्ति है जिसमें लिङ्ग के ऊपर एक, दो अथवा चारों दिशाओं में शिव के मुखों को बनाया जाता था। शिव का वाहन नन्दी को माना जाता है। अतः इस देवता की दोनों प्रकार (लिङ्ग रूप और मानवाकार) की मूर्तियों के साथ नन्दी की मूर्ति भी प्रतिष्ठापित की जाया करती थी। शिव के साथ-साथ पार्वती उमा की भी पूजा की जाती थी, और उनकी मूर्ति बनाने की भी प्रथा विद्यमान थी।

शैव सिद्धान्त—शिव-भागवत सम्प्रदाय के अनुसार तीन मूल पदार्थ हैं, पति, पशु और पाश। पति पदार्थ से शिव अभिप्रेत है, जो सर्वज्ञ, सर्वद्रष्टा, स्वतन्त्र और कर्ता है। जीवात्मा के शरीर के समान शिव का शरीर मल व कर्मादिक पाशों से युक्त न होकर विशुद्ध शक्तिरूप है। शिव के पाँच कार्य प्रधान हैं, सृष्टि (उद्भव), पालन (स्थिति), संहार (आदान), आवरण (तिरोभाव) और प्रसाद (अनुग्रह)। पशु का अभिप्राय जीवात्मा से है, जो अणु (सूक्ष्म) और परिच्छिन्न है। पाश से बन्धन अभिप्रेत है, जिससे बद्ध होने पर पशु (जीवात्मा) के लिये शिव रूप हो सकना सम्भव नहीं रहता। पाश चार प्रकार के होते हैं—मल, कर्म, माया और रोधशक्ति। 'मल' वह पाश है, जिससे जीवात्मा की शक्ति एवं क्रियाशक्ति तिरोहित कर दी जाती है। जैसे चावल छिलके से ढका रहता है, वैसे ही मल से जीवात्मा तिरोहित रहती है। फल की आशंका से किये जाने वाले कार्य 'कर्म' कहाते हैं, जो धर्मयुक्त तथा अधर्मयुक्त दोनों प्रकार के हो सकते हैं। 'माया' वह शक्ति है, प्रलयकाल में जो सब जीवों को अपने में लीन कर लेती है और प्रलय के अनन्तर सृष्टि होने पर उन्हें उद्भूत कर देती है। रोधशक्ति शिव की शक्ति है, जो अन्य तीन पाशों में अधिष्ठित होकर जीवात्मा (पशु) के यथार्थ स्वरूप को तिरोहित कर देती है।

शैव सिद्धान्त के अनुसार पशु (जीवात्मा) को पाशों (बन्धनों) से मुक्त होने का प्रयत्न करना चाहिए। जीवात्मा वस्तुतः शिवरूप है, पर पाशों से बद्ध होने के कारण वह बन्धनयुक्त रहती है। बन्धन से मुक्ति के लिए जो साधना अपेक्षित है, उसके चार अंग या पाद हैं—विद्यापाद, क्रियापाद योगपाद तथा चर्यापाद। विद्यापाद द्वारा पति (शिव), पशु (जीवात्मा) तथा पाश (बन्धन) के सही स्वरूप का बोध होता है। क्रियापाद में सन्ध्योपासन, मन्त्रसिद्धि, पूजा, तप, हवन आदि कर्म अन्तर्गत हैं। ये ऐसी क्रियाएँ हैं, जिन द्वारा शिव की उपासना की जाती है। योगपाद में ध्यान और योग साधना की व्याख्या होती है। चर्यापाद में यह प्रतिपादित किया जाता है, कि क्या विहित और क्या

अविहित है। शैव सिद्धान्त के अनुसार जीवात्मा के लिये जो साधना अपेक्षित है, वह विहित और अविहित में विवेक किये बिना सम्भव नहीं है। विद्या आदि चार पादों द्वारा ही शैव सम्प्रदाय के अनुयायी साधन मार्ग का अनुसरण करते हैं और इस प्रकार परम शिव तत्त्व की प्राप्ति का प्रयत्न करते हैं।

(५) अन्य देवी-देवताओं के उपासक सम्प्रदाय

बौद्ध धर्म के विरुद्ध प्रतिक्रिया के समय में प्राचीन वैदिक धर्म का जिन नये परिवर्वित रूपों में पुनरुत्थान हुआ, उनमें विष्णु और शिव की पूजा का प्रमुख स्थान था। पर इन प्रधान देवताओं या देवाधिदेवों के अतिरिक्त अन्य भी अनेक देवताओं के पूजन का इस युग में प्रारम्भ हुआ और इसके परिणामस्वरूप अनेक अन्य सम्प्रदाय विकसित हुए। इनमें सूर्य, स्कन्द-कार्तिकेय, गणेश, ब्रह्मा आदि के उपासक सम्प्रदाय उल्लेखनीय हैं। इस प्रकरण में इन्हीं पर संक्षिप्त रूप से प्रकाश डाला जायेगा।

सूर्य—वैदिक देवताओं में सूर्य का स्थान महत्त्व का था, और अन्य देवताओं के समान उसकी भी स्तुति की जाती थी। कालान्तर में विष्णु और शिव की तुलना में सूर्य का महत्त्व कम हो गया। पर उपनिषदों में भी उसकी महिमा का वर्णन है। तैत्तिरीय उपनिषद् के अनुसार सूर्य ब्रह्म से अभिन्न है, और वह समस्त जगत् का कारण है। सब प्राणियों की उत्पत्ति उसी से होती है। पर वैदिक और उत्तर-वैदिक युग में सूर्य की उपासना के लिये मूर्तियों का निर्माण नहीं किया जाता था। सूर्य की सबसे प्राचीन मूर्ति भरहुत से उपलब्ध हुई है, जो तीसरी सदी ईस्वी पूर्व की है। यह मूर्ति मानव के रूप में है, और इस द्वारा सूर्य देवता को एक मनुष्य के रूप में प्रदर्शित किया गया है। कुशाण राजाओं के अनेक सिक्कों पर भी सूर्य की प्रतिमा अंकित है।

भारत में मानव रूप से सूर्य की पूजा का सूत्रपात सम्भवतः ईरान के साथ सम्पर्क से हुआ था। भविष्य पुराण के अनुसार कृष्ण और जाम्ववती के पुत्र साम्ब ने सिन्ध में चन्द्रभागा के तट पर सूर्य का एक मन्दिर बनवाया था, जिसमें पूजा के लिये शक द्वीप से 'मग' ब्राह्मण बुलाये गये थे। गरुड़ पुराण में यही बात कुछ भिन्न प्रकार से वर्णित है। कृष्ण के पुत्र साम्ब को कुष्ठ रोग हो गया था, जिसके उपचार के लिए गरुड़ द्वारा शक-द्वीपी ब्राह्मणों को बुलाया गया और उन्होंने सूर्य की पूजा कर साम्ब को रोग से मुक्त किया। वराहमिहिर की बृहत्संहिता में भी यह स्पष्ट रूप से लिखा गया है, कि सूर्य देवता की मूर्तियों की प्रतिष्ठा मगों द्वारा की गई थी। इस ग्रंथ के अनुसार सूर्य की मूर्ति उदीच्य वेशधारिणी (उत्तर के शीतप्रधान देशों के लोगों के पहरावे वाली) होनी चाहिये। इससे भी संकेत मिलता है, कि भारत में सूर्य की मूर्तियाँ बनाकर उन्हें मन्दिरों में प्रतिष्ठापित करने की परम्परा का सूत्रपात ईरान के मगों द्वारा हुआ था। ईरान के शक लोग भी विशाल आर्य जाति की एक शाखा थे और वे भी भारतीय आर्यों के समान विविध देवी-देवताओं की पूजा किया करते थे, यह मत अब ऐतिहासिक स्वीकार कर चुके हैं। सूर्य भारतीय आर्यों का भी देवता था, और ईरान के शक आर्यों का भी। जिस रूप में शक उसकी पूजा करते थे, भारतीय आर्यों ने भी उसे अपनाया और उसकी जो

अनेक मूर्तियाँ पश्चिमी भारत में प्रतिष्ठापित कीं, वे शकद्वीपी आर्यों द्वारा पूजित सूर्य-मूर्तियों के सदृश थीं। पर विशुद्ध भारतीय परम्परा का अनुसरण कर सूर्य की ऐसी मूर्तियाँ भी बनायी गई हैं, जिनमें सूर्य देवता सात घोड़ों वाले रथ पर सवार होते हैं, और उषा तथा प्रत्यूषा नामक दो देवियाँ उनके साथ अन्धकार को विदीर्ण करने के लिये बाण चला रही होती हैं। ऐसी एक अत्यन्त सुन्दर मूर्ति बोधगया से प्राप्त हुई हैं। मथुरा आदि से भी सूर्य की अनेक मूर्तियाँ मिली हैं, जो भारतीय परम्परा के अनुरूप हैं। ये मूर्तियाँ प्रायः ईस्वी सन् के प्रारम्भ काल की हैं, जिससे इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि वैदिक धर्म के पुनरुत्थान काल में शिव और विष्णु के समान सूर्य की पूजा भी भारत में प्रचलित हो गई थी।

शक्ति और शाक्त सम्प्रदाय—मातृदेवी की पूजा के संकेत सिन्धु सभ्यता के अवशेषों में भी पाये जाते हैं। वहाँ बहुत-सी मृण्मूर्तियाँ पायी गई हैं, जो स्त्रियों की हैं और जिनका उपयोग पूजा के लिये किया जाता था। पर प्रायः सभी वैदिक देवता पुरुष हैं, यद्यपि ऋग्वेद के कुछ सूक्तों में उषा तथा वाग्देवी की भी स्तुति की गई है। कालान्तर में अम्बिका, दुर्गा, काली और उमा सदृश जिन अनेक देवियों की पूजा भारत में प्रचलित हुई, वेदों में उनका कहीं उल्लेख नहीं मिलता। पर हिन्दू धर्म के अन्य तत्त्वों के समान देवी या शक्ति की पूजा का मूल भी वेदों में ही है, इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता। ऋग्वेद के एक सूक्त में वाग्देवी की स्तुति इन शब्दों में की गई है—"ब्रह्म के द्वेषियों के संहार के लिये मैं ही रुद्र का धनुष चढ़ाती हूँ, मैं ही सेनाओं को रण-क्षेत्र में लाती हूँ, मैं ही आकाश और पृथिवी पर सर्वत्र व्याप्त हूं।" पर शक्ति या देवी की पूजा का जिस रूप में प्रारम्भ परवर्ती काल में हुआ, उसका अधिक स्पष्ट रूप से संकेत सर्वप्रथम ब्राह्मण-ग्रन्थों, आरण्यकों और उपनिषदों में मिलता है। शतपथ ब्राह्मण में अम्बिका को रुद्र की बहन कहा गया है, और तैत्तिरीय आरण्यक में रुद्र की पत्नी पार्वती का उल्लेख है। केन उपनिषद् में उमा को विद्या की देवी मानकर हैमवती (हिमालय की पुत्री) बताया गया है। उत्तर-वैदिक काल में यह विचार भली-भाँति विकसित हो चुका था कि सम्पूर्ण जगत् की अधीश्वरी के रूप में ऐसी देवी की भी सत्ता है, जो 'देवों के देव' शिव या ब्रह्म की शक्तिरूप है। विश्व की इस आदि शक्ति या देवी की स्वतन्त्र रूप से पूजा का सुस्पष्ट रूप से जो वर्णन महाभारत में मिलता है, वह महत्त्व का है। युद्ध में विजय प्राप्त करने के प्रयोजन से कृष्ण के परामर्श पर अर्जुन ने देवी दुर्गा की स्तुति की, और उन्हें काली, कुमारी, कपाली, महाकाली, उमा, कात्यायनी, चण्डी, कान्तारवासिनी, कौशिकी आदि नामों से स्मरण किया। इस प्रसंग में महाभारत में यह भी कहा गया है कि जो कोई इस प्रकार से देवी की स्तुति करता है, वह संग्राम में विजयी होता है और उसे सदा लक्ष्मी की प्राप्ति होती है। महाभारत में अन्यत्र भी देवी की स्तुति-विषयक अनेक संदर्भ विद्यमान हैं, जिनसे इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि इस ग्रन्थ के रचना काल तक देवी, उमा या दुर्गा ने एक शक्तिमती देवी की स्थिति प्राप्त कर ली थी और लोग सुख समृद्धि तथा विजय प्राप्ति के लिये उसकी आराधना करने लग गये थे।

देवी की उत्पत्ति तथा उसके विविध रूपों के सम्बन्ध में बहुत-सी कथाएँ पुराणों में भी विद्यमान हैं। मार्कण्डेय पुराण में देवी को ही समस्त प्राणियों में शक्ति, शान्ति, क्षान्ति, दया, तुष्टि, बुद्धि और माता के रूप में अवस्थित बताया गया है। इसी पुराण की एक अन्य कथा के अनुसार महिषासुर का संहार करने के लिये विष्णु, शिव, ब्रह्मा, इन्द्र, चन्द्र, वरुण, सूर्य आदि विविध देवताओं के तेज से एक देवी का प्रादुर्भाव हुआ और महिषासुर के संहार के कारण वह 'महिषासुरमर्दिनी' के नाम से विख्यात हुई। एक अन्य पौराणिक कथा के अनुसार शुम्भ, निकुम्भ जैसे असुरों के आतंक से त्रस्त होकर जब देवताओं ने हिमालय जाकर देवी की स्तुति की, तो उन्होंने अपने को प्रगट कर असुरों का विनाश किया और वह अम्बिका, काली, कौशिकी, चामुण्डा आदि नामों से प्रसिद्ध हुई। ये विभिन्न नाम देवी के क्यों पड़े, इसकी व्याख्या भी पुराणों में विद्यमान है। देवी के सम्बन्ध में जो भी कथानक प्राचीन साहित्य में पाये जाते हैं, उन सबसे यह संकेत मिलता है कि स्त्री रूपी इस देवता की कल्पना शक्ति के रूप में ही की गई थी। शक्ति के अनेक रूप हो सकते हैं। सौम्य रूप जैसे मातृ शक्ति, प्रचण्ड रूप जैसे असुरों का संहार करने व युद्ध में विजयी होने की शक्ति, और कामप्रधान रूप। इन तीनों रूपों को दृष्टि में रखकर अनेक देवियों की कल्पना की गई, और फिर यह मान लिया गया कि ये सब देवियाँ एक ही देवी की विविध प्रकार की शक्तियों को अभिव्यक्त करती हैं, वस्तुतः देवी एक ही है। जनसाधारण में प्रायः देवी के सौम्य रूप की ही पूजा प्रचलित हुई। उमा, पार्वती और लक्ष्मी देवी के सौम्य रूप को ही प्रगट करती हैं। देवी का प्रचंड रूप प्रगट करने के लिये दुर्गा, चण्डी, कपाली आदि की कल्पना की गई, और कापालिक व कालमुख सदृश सम्प्रदाय उनको इसी प्रचण्ड रूप में पूजने लगे। देवी के कामप्रधान रूप की पूजा शाक्त सम्प्रदाय द्वारा की जाती है, जो शक्तिरूपी इस देवी को आनन्द-भैरवी, त्रिपुरसुन्दरी और ललिता सदृश नामों से स्मरण करते हैं। शक्ति के इन विभिन्न रूपों की पूजा का विधान तन्त्र साहित्य में बड़े विस्तार के साथ किया गया है। शक्ति का जो कामप्रधान रूप है, उसकी पूजा के लिये ऐसे विधि-विधानों का अनुसरण किया गया, जो वाममार्गी विचारधारा के अनुरूप हैं।

शिव और विष्णु के समान दुर्गा, अम्बिका, चण्डी आदि के रूप में देवी की मूर्तियों का भी निर्माण प्रारम्भ हुआ। वर्तमान समय में बहुत-से ऐसे मन्दिर भारत में विद्यमान हैं, जिनमें दुर्गा, काली आदि की देवी-मूर्तियाँ प्रतिष्ठापित हैं। पर ये मन्दिर प्रायः मध्यकाल के हैं। देवी (उमा के रूप में) का सर्वप्रथम मूर्त रूप में अंकन सम्भवतः कुशाण राजा हुविष्क के सिक्कों पर दिखायी देता है, जिन पर कि वे शिव के साथ या शिव के बिना दोनों प्रकार से अंकित हैं। इससे यह सूचित होता है कि पहली सदी ईस्वी तक देवी की मूर्तियाँ बनाने और उनकी पूजा करने की प्रथा प्रारम्भ हो चुकी थी। गान्धार और काश्मीर देवी पूजा के सबसे पुराने केन्द्र थे।

श्री व लक्ष्मी—स्त्री-देवताओं या देवियों में जिस प्रकार उमा का सम्बन्ध शिव के साथ था, वैसे ही विष्णु के साथ श्री व लक्ष्मी का सम्बन्ध माना जाता था। सबसे पूर्व लक्ष्मी का उल्लेख ऋग्वेद में आया है। वैदिक युग में इस देवी का सम्बन्ध इन्द्र देव के साथ था।

पर बाद में उसे विष्णु के साथ जोड़ दिया गया। विष्णु पुराण के अनुसार दुर्वासा ऋषि के शाप के कारण इन्द्र देव ने लक्ष्मी को खो दिया था, और समुद्र मन्थन के पश्चात् जब वे फिर प्रगट हुईं तो विष्णु ने उन्हें प्राप्त कर लिया। उत्तर-वैदिक काल व उसके कुछ समय पश्चात् वैदिक युग के देवताओं में इन्द्र की तुलना में विष्णु का महत्त्व बहुत बढ़ गया था। अतः यह स्वाभाविक था कि समृद्धि की देवी लक्ष्मी या श्री का भी इसी देवता से सम्बन्ध स्थापित किया जाये। पूजा के लिये लक्ष्मी की प्रतिमाएँ भी ईस्वी सन् से पहले ही बनायी जाने लगी थीं। भरहुत के भग्नावशेषों में श्री व लक्ष्मी की चार प्रतिमाएँ मिली हैं, जिनमें एक को बैठी हुई दशा में और तीन को खड़ी हुई दशा में बनाया गया है। उत्तर-पश्चिमी भारत के विविध प्रदेशों से अनेक ऐसी मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं, जिन पर लक्ष्मी की प्रतिमा अंकित है। इनमें लक्ष्मी को कमल पर पालथी मार कर बैठे हुए दिखाया गया है और उसके दोनों ओर कमलों पर खड़े हुए हाथी अपनी सूँडों से लक्ष्मी का अभिषेक कर रहे हैं। ईस्वी सन् से पहले की कुछ सदियों में अन्य देवी-देवताओं के समान लक्ष्मी की भी मूर्तियाँ बनने लग गई थीं, और नये परिवर्तित आर्य धर्म में लक्ष्मी की पूजा को भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हो गया था।

गणपति या गणेश—वैदिक युग के देवताओं में गणपति भी एक थे, जिनके लिये वेदों में महाहस्ती, एकदन्त, दन्ती और वक्रतुण्ड शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं। इसी देवता को गणेश भी कहा जाता है। गणपति व गणेश का अर्थ है, गणों का स्वामी। प्राचीन धार्मिक परम्परा में रुद्र या शिव के अनेक गण माने गये हैं, जिनके स्वामी को गणेश या गणपति कहते थे। प्रारम्भ में यह भी रुद्र व शिव का ही नाम था, पर बाद में उसने एक पृथक् देवता का रूप प्राप्त कर लिया। पौराणिक कथाओं के अनुसार वे शिव के द्वितीय पुत्र हैं। शिव के अन्य पुत्र कार्तिकेय या स्कन्द थे, जिन्हें देवों का सेनानी भी कहा गया है। गणेश विघ्नों का अन्त कर जीवन को मंगलमय बनाते हैं। यही कारण है, जो प्रत्येक शुभ कार्य के प्रारम्भ में उनकी पूजा की जाती है। अन्य प्राचीन देवताओं के समान गणपति की भी मूर्तियाँ बनायी गईं और मन्दिरों में प्रतिष्ठापित कर उसकी भी पूजा प्रारम्भ हुई।

स्कन्द या कार्तिकेय—वैदिक संहिताओं में इस देवता का उल्लेख नहीं मिलता। पर रामायण, महाभारत तथा पुराणों में उसके सम्बन्ध में अनेक कथाएं विद्यमान हैं। रामायण में उन्हें अग्नि और गंगा का पुत्र कहा गया है, यद्यपि अन्यत्र उन्हें शिव और पार्वती का पुत्र माना गया है। स्कन्द देवताओं की सेना के नायक थे, और उन्होंने तारकासुर का संहार किया था। एक पृथक् देवता की स्थिति स्कन्द ने चाहे कभी प्राप्त की हो, पर इस में सन्देह नहीं कि पाँचवीं सदी ईस्वी पूर्व तक उनकी पूजा भलीभाँति प्रचलित हो चुकी थी। पाणिनि ने शिव, स्कन्द और विशाख की मूर्तियों का उल्लेख किया है, और पतंजलि के महाभाष्य से भी स्कन्द की पूजा प्रमाणित होती है। कुशाण राजा हुविष्क के अनेक सिक्कों पर स्कन्द, कुमार, विशाख और महासेन की प्रतिमाएं भी अंकित हैं। पहले कुमार और महासेन स्कन्द के ही नाम थे। देवताओं का सेनापति होने के कारण इस देवता को महासेन भी कहा जाता था। सम्भवतः, विशाख भी स्कन्द का ही अन्यतम नाम था। पर समयान्तर में इनको पृथक्-पृथक् मान लिया गया और इनकी मूर्तियाँ भी पृथक् रूप में बनायी जाने लगीं।

चौथा अध्याय

जैन और बौद्ध धर्मों की प्रगति

(१) जन धर्म का प्रसार और उसके सम्प्रदायों का विकास

जैन धर्म का प्रसार—वर्धमान महावीर के समय में जैन धर्म पूर्वी भारत तक ही सीमित था। ज्ञातृक गण के अतिरिक्त कोशल, मगध, विदेह और अङ्ग जनपदों में भी उसका प्रचार हो चुका था। पर भारत के सुदूरवर्ती जनपदों और प्रदेशों में अभी जैन मुनियों ने जाना प्रारम्भ नहीं किया था। सम्भवतः, इसीलिये छेदसूत्र के अनुसार जैन मुनियों को यह अनुमति दी गई थी कि वे पूर्व में अंग-मगध तक, दक्षिण में कौशाम्वी तक, पश्चिम में स्थूणा तक और उत्तर में कुणाला तक ही जा आ सकें। स्थूणा और कुणाला से कौन-से स्थान अभिप्रेत थे, यह स्पष्ट नहीं है। पर दक्षिण में कौशाम्बी का उल्लेख यह सूचित करने के लिये पर्याप्त है कि जैन धर्म का प्रसार अभी मध्य तथा दक्षिणी भारत में नहीं हुआ था। छेद सूत्र जैनों के प्राचीन धार्मिक साहित्य के अन्तर्गत है।

बौद्ध भिक्षुओं के समान जैन मुनि भी संघों में संगठित थे। मुनियों के ये संघ या सन्दोह समय-समय पर किसी नये प्रदेश में प्रवेश कर लेते थे, और वहाँ के निवासी जैन मुनियों की तपश्चर्या, सदाचारमय जीवन तथा विद्वत्ता से आकृष्ट होकर उनके अनुयायी बन जाते थे। जैन धर्म के प्रसार का यही ढंग था। महाराज खारवेल के समय तक कलिङ्ग में जैन धर्म का प्रवेश हो चुका था, यह इस राजा के हाथीगुम्फा अभिलेख से स्पष्ट है, जहाँ कि उसके साथ 'भिक्षुराज' विशेषण का भी प्रयोग किया गया है और यह भी लिखा है कि मगध पर आक्रमण कर वह उन जैन मूर्तियों को कलिङ्ग वापस ले आया था, जो पहले नन्द वंश के किसी राजा द्वारा कलिङ्ग से मगध ले जायी गई थीं। इससे यह परिणाम निकलता है, कि कलिङ्ग (उड़ीसा) में जैन धर्म का प्रचार नन्द वंश के शासन काल (चौथी सदी ई० पू०) में हो चुका था। खारवेल जैन धर्म का अनुयायी था, और उसने कुमारी पर्वत (खण्डगिरि) पर जैन साधुओं के लिये अनेक गुफाओं का भी निर्माण कराया था। उसकी पट्टमहिषी द्वारा जैन साधुओं के लिये वनवायी गई एक गुफा का भी मंचपुरी गुहा अभिलेख में उल्लेख विद्यमान है। कलिङ्ग में उदय गिरि पर्वत पर भी कुछ गुफाएँ हैं, जिन्हें वडुख नामक कुमार ने जैन साधुओं के लिए बनवाया था। यह वडुख खारवेल के बाद हुआ था, और इस द्वारा भी जैन साधुओं के लिये गुफा का बनवाना यह प्रमाणित करने के लिये पर्याप्त है कि खारवेल के बाद भी कलिङ्ग में जैन धर्म फलता-फूलता रहा।

कलिङ्ग के समान मथुरा के प्रदेश में भी ईस्वी सन् के प्रारम्भ से पूर्व ही जैन धर्म का प्रवेश हो चुका था। इस क्षेत्र में एक पुराने जैन मन्दिर के अवशेष विद्यमान हैं, जिसे ईस्वी सन् से पहले का माना जाता है। इसके समीप बहुत-सी जैन मूर्तियाँ तथा

आयागपट आदि भी प्राप्त हुए हैं जिन पर कतिपय लेख भी उत्कीर्ण हैं। इनका समय ईस्वी सन् की पहली दो सदियों में निर्धारित किया गया है। इसमें सन्देह नहीं कि अब से कम से कम दो हजार वर्ष पूर्व मथुरा के प्रदेश में भी जैन धर्म का प्रचार हो गया था, और जैन मुनि वहाँ से दक्षिण की ओर आगे बढ़ कर उज्जैन भी जाने लग गये थे। जैन अनुश्रुति के अनुसार मौर्य राजा अशोक का पौत्र राजा सम्प्रति उज्जैन में ही प्रसिद्ध जैन आचार्य सुहस्ति के सम्पर्क में आया था, और उसके उपदेशों से प्रभावित होकर इस मौर्य राजा ने जैन धर्म को स्वीकार कर लिया था। जैन धर्म के इतिहास में राजा सम्प्रति का वही स्थान है, जो बौद्ध धर्म के इतिहास में अशोक का है। सम्प्रति ने जैन धर्म के प्रसार के लिये भारी उद्योग किया था। प्रसिद्ध जैन ग्रन्थ 'परिशिष्ट पर्व' के अनुसार एक बार रात्रि के समय सम्प्रति के मन में यह बात आई कि अनार्य देशों में भी जैन धर्म का प्रचार करना चाहिये, ताकि (जैन) साधु वहाँ भी स्वतन्त्र रूप से विचरण कर सकें। यह सोचकर उसने ऐसे अनार्य देशों को, जो उसे कर प्रदान करते थे और उसकी अधीनता स्वीकार करते थे, यह आदेश दिया कि मेरे द्वारा भेजे हुए राजपुरुष जैसे-जैसे मार्ग प्रदर्शित करें, वैसे-वैसे किया जाये। यह आदेश प्रदान कर सम्प्रति ने अपने राजपुरुषों को साधुओं के वेश में अनार्य देशों में भेजा, और उन्होंने सम्प्रति के प्रभाव से शीघ्र ही अनार्य देशों के लोगों को जैन धर्म का अनुयायी बना लिया। जिन 'अनार्य' देशों में जैन धर्म के प्रचार के लिये सम्प्रति ने अपने राजपुरुषों का प्रयोग किया था, परिशिष्ट पर्व के अनुसार वे आन्ध्र और द्रमिल (द्रविड़) थे। दक्षिणी भारत में जैन धर्म का जो प्रवेश हुआ, उसका प्रधान श्रेय सम्प्रति को ही दिया जाना चाहिये। इस राजा का समय दूसरी सदी ईस्वी पूर्व में था। 'बृहत्कल्पसूत्र' नामक जैन ग्रन्थ की टीका में आन्ध्र और द्रविड़ के अतिरिक्त महाराष्ट्र और कुडुक्क को भी उन देशों में गिना गया है जो पहले जैन साधुओं के लिये 'घोर' तथा 'प्रत्यपायबहुल' थे, पर सम्प्रति के प्रयत्न से जो 'साधु सुख प्रचार' हो गये थे। अशोक के समान सम्प्रति ने भी अपने राज्य तथा पड़ौस के देशों में बहुत-से चैत्यों, मन्दिरों तथा मठों का निर्माण कराया था। परिशिष्ट पर्व में लिखा है कि सम्प्रति ने त्रिखण्ड भारत क्षेत्र (भारतवर्ष) को जिनायतनों (जैन मन्दिरों) से मण्डित कर दिया था। 'कल्प सूत्र' की सुबोधिनी टीका के अनुसार सम्प्रति ने सवा करोड़ त्रिनालय (जैन मन्दिर) बनवाये थे। इस कथन में अतिशयोक्ति अवश्य है, पर इसमें सन्देह नहीं कि सम्प्रति द्वारा बहुत-से जैन मन्दिरों का निर्माण कराया गया था। राजस्थान और सौराष्ट्र के बहुत से प्राचीन जैन मन्दिरों के विषय में यह किंवदन्ती प्रचलित है कि उन्हें सम्प्रति ने ही बनवाया था। इसमें सचाई चाहे हो या न हो, पर यह सुनिश्चित रूप से कहा जा सकता है कि सम्प्रति जैन धर्म का प्रबल समर्थक था और उसने बहुत-से जैन मन्दिरों का निर्माण कराया था। भारत के दक्षिणी प्रदेशों में जैन धर्म का जो प्रसार हुआ, वह प्रधानतया सम्प्रति के प्रयत्न का ही परिणाम था।

बहुत-से जैन ग्रन्थों में अशोक के पितामह चन्द्रगुप्त मौर्य को भी जैन धर्म का अनुयायी लिखा गया है। उनके अनुसार अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में चन्द्रगुप्त ने जैन आचार्य भद्रबाहु से मुनिव्रत की दीक्षा ग्रहण कर ली थी, और मौर्य साम्राज्य के

राजसिंहासन का परित्याग कर वे जैन मुनियों का जीवन बिताने लगे थे। इसी समय में बारह वर्ष का घोर दुर्भिक्ष पड़ा, जिसके कारण जैन साधुओं के लिये उत्तरी भारत में भिक्षा द्वारा अपना निर्वाह कर सकना सम्भव नहीं रहा। अब आचार्य भद्रबाहु ने यह निश्चय किया, कि अपने मुनि-सन्दोह के साथ दक्षिण की ओर प्रस्थान कर दिया जाए, क्योंकि वहाँ के प्रदेश दुर्भिक्ष के प्रभाव से मुक्त थे। उनके शिष्य चन्द्रगुप्त भी अपने गुरु के साथ दक्षिण गये, और वहाँ उन सबने उस स्थान पर आश्रय ग्रहण किया, जिसे वर्तमान समय में श्रवण वेलगोल कहते हैं और जो कर्नाटक राज्य में है। श्रवण वेलगोल की स्थानीय अनुश्रुति के अनुसार चन्द्रगुप्त और भद्रबाहु का इस स्थान के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था। वहाँ एक पर्वत का नाम 'चन्द्रगिरि' है, जिसके विषय में यह समझा जाता है कि उसका यह नाम चन्द्रगुप्त नामक एक महात्मा के नाम पर पड़ा था। इसी पर्वत पर एक गुफा भी है जिसे भद्रबाहु-स्वामी की गुफा कहते हैं। श्रवण वेलगोल में अनेक अभिलेख विद्यमान हैं जो संस्कृत और कन्नड भाषाओं में हैं। इनसे भी जैन ग्रन्थों की उस अनुश्रुति की पुष्टि होती है, जिसमें घोर दुर्भिक्ष के कारण भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त के दक्षिण-प्रवास का वर्णन है। भद्रबाहु के साथ श्रवण वेलगोल जाकर बसने की बात जिस चन्द्रगुप्त के सम्बन्ध में जैन ग्रन्थों में पायी जाती है, वह अशोक का पितामह चन्द्रगुप्त था या उसका पौत्र चन्द्रगुप्त (जिसका दूसरा नाम 'सम्प्रति' भी था), इस प्रश्न पर ऐतिहासिकों में मतभेद है। पर इसमें सन्देह नहीं कि मौर्य वंश के शासन काल में ही जैन धर्म भारत के दक्षिणी प्रदेशों में भी प्रचलित हो चुका था, और आन्ध्र, कर्नाटक तथा तमिलनाडू सर्वत्र जैन साधु जाने-आने लग गये थे।

जैन धर्म के प्रसार के प्रसंग में कालकाचार्य की कथा का उल्लेख करना भी उपयोगी है। जैन साहित्य का एक ग्रन्थ 'कालकाचार्य कथा' है, जिसके अनुसार उज्जैन के राजा का नाम गर्दभिल्ल था। उसके राज्य में कालकाचार्य नामक एक जैन मुनि निवास करते थे, जिनकी बहन सरस्वती नाम की थी। उसने जैन धर्म में दीक्षित होकर भिक्षुणी व्रत ले लिया था। सरस्वती परम सुन्दरी थी। राजा गर्दभिल्ल ने उसके रूप के प्रति आकृष्ट होकर उसका बलपूर्वक अपहरण कर लिया। इससे कालकाचार्य बहुत क्रुद्ध हुए। उन्होंने प्रयत्न किया कि गर्दभिल्ल के सामन्त राजा तथा सेनापति आदि अपने दुराचारी राजा के विरुद्ध उठ खड़े हों, पर उन्हें सफलता प्राप्त नहीं हुई। इस पर वे सिन्ध नदी को पार कर उस प्रदेश में चले गये, जहाँ शकों का राज्य था। शकों का अधिपति 'साहानुसाहि' कहाता था, और उसके अधीनवर्ती 'साहियों' की संख्या ९६ थी। कालकाचार्य ने एक साही की राजसभा में आश्रय प्राप्त कर लिया, और क्योंकि वे ज्योतिष शास्त्र में पारंगत थे अतः शीघ्र ही शक लोग उनको अत्यन्त आदर की दृष्टि से देखने लगे। शनैः शनैः शकों पर उनका प्रभाव बहुत बढ़ गया और उनकी प्रेरणा से अनेक शकसाही अपनी सेनाओं को साथ लेकर गर्दभिल्ल के विरुद्ध युद्ध के लिये चल पड़े। सिन्ध नदी को पार कर वे सौराष्ट्र पहुँचे, और ढक्कगिरि में उन्होंने वर्षा ऋतु बिताई। वर्षा बीत जाने पर वे लाटदेश (गुजरात) गये और वहाँ से पूर्व की ओर आगे बढ़ते हुए वे उज्जैन के समीप जा पहुँचे। अब कालकाचार्य ने गर्दभिल्ल को यह सन्देश

भेजा कि सरस्वती को तुरन्त बन्धन-मुक्त कर दिया जाये, अन्यथा उज्जैन पर चढ़ाई कर उसे ध्वंस कर दिया जायेगा। गर्दभिल्ल ने इसकी कोई परवाह नहीं की, जिसके कारण शक सेनाओं ने उज्जैन पर चढ़ाई कर दी। युद्ध में गर्दभिल्ल परास्त हो गया, और कालकाचार्य की बहन सरस्वती बन्धन से मुक्त कर दी गई। इस प्रकार उज्जैन पर शकों ने अधिकार कर लिया, पर वे देर तक वहाँ शासन नहीं कर सके। शीघ्र ही गर्दभिल्ल के पुत्र विक्रमादित्य ने प्रतिष्ठान (पैठन) से एक सेना को साथ लेकर उज्जैन पर आक्रमण किया और शकों की शक्ति का विध्वंस कर अपने पिता के राज्य को हस्तगत कर लिया। शकों को परास्त करने के कारण ही विक्रमादित्य 'शकारि' कहाया, और उसने अपने नाम से एक नये संवत् का प्रारम्भ किया जो आज तक भी विक्रम संवत् के नाम से प्रचलित है। जैन ग्रंथ 'तिलोयपंजति' के अनुसार महावीर के निर्वाण के ४६१ वर्ष पश्चात् (६६ ईस्वी पूर्व) शकों ने उज्जैन पर कब्जा किया था। विक्रमादित्य ने इसके कुछ साल बाद उज्जैन पर से शकों के आधिपत्य का अन्त किया। विक्रम संवत् का प्रारम्भ ५७ ई० पू० में हुआ था, जो जैन अनुश्रुति की सत्यता की ओर संकेत करता है। जहाँ तक जैन धर्म के प्रसार का सम्बन्ध है, कालकाचार्य की कथा का अनेक दृष्टियों में महत्त्व है। इससे यह तो स्पष्ट ही है, कि पहली सदी ईस्वी पूर्व में उज्जैन में जैन धर्म का प्रचार था, और वहाँ जैन भिक्षुणियों के संघ की भी सत्ता थी। सरस्वती ऐसे ही एक भिक्षुणी-संघ में सम्मिलित हुई थी। जैन अनुश्रुति के अनुसार गर्दभिल्ल का पुत्र विक्रमादित्य जैन धर्म का प्रबल समर्थक था। उसे जैन धर्म का अनुयायी बताने का श्रेय आचार्य सिद्धसेन को दिया जाता है, जो अपने समय के प्रसिद्ध जैन विद्वान् थे। विक्रमादित्य की राज-सभा में नौ रत्न विद्यमान् थे, जिनमें एक को 'क्षपणक' कहा गया है। क्षयणक जैन साधुओं के लिये प्रयुक्त होता था। कुछ विद्वानों ने प्रतिपादित किया है कि विक्रमादित्य की राजसभा के नौ रत्नों में जिस रत्न को क्षपणक कहा गया है, वह आचार्य सिद्धसेन ही थे। यह तो स्पष्ट ही है कि पहली सदी ईस्वी पूर्व में उज्जैन तथा उसके समीपवर्ती प्रदेशों में जैन धर्म भलीभाँति स्थापित हो चुका था। पर कालकाचार्य की कथा से यह संकेत भी मिलता है कि इस काल में सिन्ध नदी के पश्चिम में स्थित प्रदेशों में भी जैन धर्म का प्रवेश हुआ। कालकाचार्य के प्रभाव से शकों को भी वर्धमान महावीर की शिक्षाओं से परिचय हुआ, जिसके परिणामस्वरूप सिन्ध तथा उसके पश्चिम के प्रदेशों के लोग भी जैन धर्म के प्रति आकृष्ट होने लगे।

सौराष्ट्र (काठियावाड़) तथा गुजरात में जैन धर्म ईस्वी सन् के प्रारम्भ के समीप-वर्ती काल में भलीभाँति स्थापित हो चुका था, इसका प्रमाण जूनागढ़ के एक शिलालेख से प्राप्त हुआ है, जो गिरिनगर की चन्द्रगुफा में उत्कीर्ण है। अभिलेख के अनेक अंश मिटे हुए हैं, अतः इसे उत्कीर्ण कराने वाले व्यक्ति का नाम नहीं जाना जा सका है। पर इसे उत्कीर्ण कराने वाले के प्रपितामह का नाम चष्टन था और पितामह का जयदामा। जयदामा का पुत्र रुद्रदामा था, और उसके पुत्र का नाम दमजदश्री था, जिसका काल दूसरी सदी ईस्वी में माना जाता है और जो १५० ईस्वी के लगभग राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ था। अतः यह अनुमान किया गया है कि चन्द्रगुफा के इस लेख को राजा

दमजदश्री द्वारा ही उत्कीर्ण करवाया गया था। इस अभिलेख का महत्त्व यह है कि इस के अनुसार कतिपय ऐसे व्यक्तियों ने इस स्थान पर 'समाधिमरण' किया था, जो कि जरामरण से मुक्त थे और जिन्हें 'केवलिज्ञान' प्राप्त था। ऐसे सिद्ध पुरुषों के 'समाधिमरण' की स्तुति 'देव-असुर-नाग-यक्षों' द्वारा भी की गई थी। इस अभिलेख में 'केवलिज्ञान' और 'समाधिमरण' सदृश जो शब्द आये हैं, उनसे इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि यह स्थान जैन साधुओं और मुनियों का केन्द्र था और वहाँ निवास करते हुए कतिपय मुनि जरामरण से मुक्त होकर केवलिज्ञान प्राप्त करने में समर्थ हुए थे और जैन धर्म के चरम आदर्श को सम्मुख रख कर उन्होंने निराहार होकर समाधि ग्रहण की थी और उसी द्वारा अपने जीवन का अन्त किया था। इसी क्षेत्र में धंक नामक एक अन्य स्थान पर भी कतिपय गुफाएँ विद्यमान हैं, जिनमें ऋषभ, पार्श्व और महावीर सदृश अनेक जैन तीर्थङ्करों की मूर्तियाँ पायी गई हैं। ये गुफाएं भी ईस्वी सन् की प्रारम्भिक सदियों की ही हैं। यह स्पष्ट है कि इस काल में सौराष्ट्र और गुजरात भी जैन धर्म के महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गये थे।

जैन धर्म की प्रगति—तीसरी सदी तक भारत के प्राय: सभी प्रदेशों में जैन धर्म का प्रवेश हो चुका था। पर उत्तरी बिहार तथा मगध में, जहाँ इस धर्म का प्रारम्भ हुआ था, अब इसका अधिक प्रभाव नहीं रहा था। इसका कारण यह था कि मौर्यों के बाद पाटलिपुत्र को राजधानी बनाकर जिन राजवंशों ने उत्तरी भारत के बड़े भाग पर शासन किया, उन्होंने पुराने वैदिक धर्म को अपना लिया था और उनकी नीति के कारण बौद्ध और जैन धर्मों को राज्य का संरक्षण प्राप्त नहीं होता था। पर जनता के सम्भ्रान्त तथा धनी व्यापारी वर्ग के लोग अब भी जैन मुनियों के प्रति श्रद्धा का भाव रखते थे और जैन मूर्तियों की प्रतिष्ठा करना गौरव की बात समझते थे। गुप्त वंश के सम्राट् भागवत वैष्णव धर्म के अनुयायी थे और उनके शासन काल में इस धर्म का बहुत उत्कर्ष हुआ था। पर इसका यह अभिप्राय नहीं कि गुप्तों के काल में उत्तरी भारत से जैन धर्म का सर्वथा लोप हो गया था। बंगाल के राजशाही जिले में पहाड़पुर नामक एक स्थान है, जहाँ ४७८ ईस्वी का एक ताम्रपत्र उपलब्ध हुआ है। इसमें वाराणसी के पंच-स्तूप निकाय सम्प्रदाय के निर्ग्रन्थ (जैन) आचार्य गुहनन्दी की अध्यक्षता में विद्यमान एक जैन विहार को एक गृहस्थ तथा उसकी पत्नी द्वारा दान में दी गई जागीर का उल्लेख है। चीनी यात्री ह्युएनत्सांग (सातवीं सदी) के अनुसार तक्षशिला के समीपवर्ती प्रदेशों में श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों जैन सम्प्रदायों के जैन साधु अच्छी बड़ी संख्या में विद्यमान थे और पूर्वी भारत में पुण्ड्रवर्धन तथा समतट में दिगम्बर निर्ग्रन्थ साधुओं का बड़ी संख्या में निवास था। पांचवी सदी के एक अभिलेख में एक महिला द्वारा एक जैन मूर्ति के प्रतिष्ठापन का उल्लेख है, और इसी काल के एक अन्य अभिलेख से यह ज्ञात होता है कि एक गृहपति द्वारा उदयगिरि (मालवा) में तीर्थङ्कर पार्श्व की मूर्ति की प्रतिष्ठा करायी गई थी। आठवीं सदी में विरचित 'कुवलयमालाकहा' के अनुसार यवन राजा तोरमाण हरिगुप्त नामक आचार्य का शिष्य था। हरिगुप्त की शिष्य परम्परा में यक्षदत्त आदि जो अनेक शिष्य हुए, उन्होंने गुजरात में जैन धर्म के प्रचार के लिये महत्त्वपूर्ण

कार्य किया। कुवलयमालाकहा में जिस यवन राजा तोरमाण का उल्लेख है, सम्भवतः वह प्रसिद्ध हूण आक्रान्ता तोरमाण ही है, जो भारत में आकर भारतीय धर्मों के प्रभाव में आ गया था। कोई आश्चर्य नहीं कि उसने हरिगुप्त से जैन धर्म का भी परिचय प्राप्त किया हो, यद्यपि उसके जैन धर्म को ग्रहण कर लेने की बात को स्वीकृत कर सकना तो सम्भव नहीं है। तोरमाण के अभिलेखों से सूचित होता है कि उसने नारायण की पूजा के लिये एक मन्दिर का निर्माण कराया था, और एक बौद्ध विहार भी उस द्वारा बनवाया गया था। वस्तुतः, अन्य अनेक विदेशी आक्रान्ताओं के समान तोरमाण ने भी भारत के सभी प्रमुख धर्मों व सम्प्रदायों के प्रति अपनी आस्था प्रगट की थी, और यदि आचार्य हरिगुप्त से उसने जैन धर्म के उपदेशों का भी श्रवण किया हो, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। हरिगुप्त के शिष्यों ने गुजरात में जैन धर्म के प्रचार में विशेष सफलता प्राप्त की थी, यह इस बात से भी सूचित होता है कि मध्यकाल के वहाँ के अनेक राजाओं द्वारा जैन धर्म को संरक्षण प्राप्त था।

शुङ्ग, कण्व, सातवाहन और गुप्त वंशों के उत्कर्ष के कारण उत्तरी भारत में जैन धर्म को राजकीय संरक्षण प्राप्त नहीं रहा था। पर दक्षिणी भारत के अनेक राजवंश जैन धर्म के संरक्षक थे और उनके शासन काल में दक्षिण में इस धर्म ने बहुत उन्नति की। कर्नाटक के गंग वंश के विषय में यह अनुश्रुति है कि उसका संस्थापक माधव प्रथम जैन आचार्य सिंहनन्दी का शिष्य था। माधव का काल चौथी सदी के उत्तरार्ध में था। माधव के पश्चात् गंग वंश में जो राजा हुए, उनमें एक अविनीत (५००-५४० ईस्वी) था, जिसने विजयकीर्ति नामक जैन आचार्य से शिक्षा प्राप्त की थी। अविनीत का उत्तराधिकारी दुर्विनीत (५४०-६०० ई०) था, जो पूज्यपाद नामक जैन आचार्य का शिष्य था। जैन विद्वानों में पूज्यपाद का उच्च स्थान है। इसमें सन्देह नहीं कि माधव, अविनीत और दुर्विनीत सदृश गंग राजाओं ने जैन आचार्यों से शिक्षा प्राप्त की थी। स्वाभाविक रूप से वे जैन धर्म के प्रति श्रद्धा रखते थे और जैन मन्दिरों तथा मठों के लिये उन्होंने दानपुण्य भी किया था। पर उनके अभिलेखों में शैव तथा वैष्णव धर्मों के प्रति भी श्रद्धा प्रगट की गई है, और उन द्वारा इन धर्मों के धर्मस्थानों को दिये गये दान का भी उल्लेख है। वस्तुतः, भारत के अन्य राजाओं के समान गंगवंशी राजा भी विविध धर्मों के प्रति उदार दृष्टि रखते थे। पर उनके शासन काल में कर्नाटक के प्रदेश में जैन धर्म भी भलीभाँति फल फूल रहा था, यह निर्विवाद है।

सुदूर दक्षिण के प्रदेशों में जैन मुनि अपने धर्म के प्रचार के लिये गये थे और सातवीं सदी तक द्रविड़ क्षेत्रों में भी इस धर्म का भलीभाँति प्रचार रहा था। प्राचीन जैन अनुश्रुति के अनुसार प्रसिद्ध जैन विद्वान् समन्तभद्र कांची में चिरकाल तक रहे थे, और प्राकृत भाषा के अन्यतम प्राचीन लेखक कुन्दकुन्द शिवकुमार महाराज के गुरु थे। शिवकुमार महाराज दक्षिण के पल्लव वंश के थे। सर्वनन्दी नामक जैन विद्वान् ने प्राकृत भाषा का अपना ग्रन्थ 'लोक विभाग' कांची के राजा सिंहवर्मा के शासन काल में लिखा था। इन सब जैन आचार्यों का समय पाँचवीं सदी या इससे भी पूर्व का माना जाता है। सुदूर दक्षिण में इनकी सत्ता उस क्षेत्र के प्रदेशों में जैन धर्म के प्रसार का स्पष्ट प्रमाण है।

द्रविड़ देश में जैन संघ को 'मूलसंघ' कहा जाता था। इस संघ में चार गण सम्मिलित थे, जिसके नाम नन्दीगण, सेनगण, सिंहगण और देवगण थे। जैन अनुश्रुति के अनुसार इनकी स्थापना भद्रबाहु द्वितीय के शिष्य अर्हद्बली के चार शिष्यों द्वारा की गई थी, जिनके नाम क्रमशः माधनन्दी, जिनसेन, सिंह और देव थे। इसमें सन्देह नहीं कि द्रविड़ प्रदेशों में भी जैन संघ भलीभाँति संगठित था। यही कारण है जो ह्यु एन्त्साँग ने लिखा था कि पाण्डय देश में निर्गन्थ (जैन) लोगों का अच्छी बड़ी संख्या में निवास है। कालान्तर में जब शैव और वैष्णव सन्तों ने, जो कि नायनार और आलवार कहाते थे, इस प्रदेश में अपने धर्मों के प्रचार के लिये विशेष रूप से उद्योग प्रारम्भ किया, तो जैन धर्म का वहाँ ह्रास होने लगा, और वहाँ के निवासी प्रधानतया शैव और वैष्णव धर्मों के अनुयायी हो गये।

जैन सम्प्रदायों का विकास और जैनों की महासभाएँ - जैन धर्म के दो मुख्य सम्प्रदाय हैं, दिगम्बर और श्वेताम्बर। इनका विकास किस प्रकार हुआ, इसे समझने के लिये वर्धमान महावीर के बाद के जैन इतिहास पर दृष्टिपात करना आवश्यक है। महावीर के पश्चात् उनकी शिष्य परम्परा में सर्वप्रधान स्थान क्रमशः इन्द्रभूति गौतम, सुधर्म और जम्बूस्वामी का था। ये तीनों महावीर के समान 'अर्हत् केवली' थे और इन तीनों ने भी निर्वाण पद प्राप्त किया था। इनका काल ५२७ से ४६५ ईस्वी पूर्व तक था, और दिगम्बर तथा श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों के लोग इन्हें समान रूप से मानते हैं। इन तीन 'केवलियों के पश्चात् पाँच 'श्रुतकेवली' हुए, जिनमें अन्तिम आचार्य भद्रबाहु थे। इन्हें जैन आगमों (शास्त्रों) का पूर्ण ज्ञान था, पर ये निर्वाण पद को प्राप्त नहीं कर सके थे। भद्रबाहु से पहले के चार श्रुतकेवलिओं के नामों के विषय में दिगम्बर और श्वेताम्बर अनुश्रुतियों में भेद है, पर दोनों भद्रबाहु की सत्ता को समान रूप से स्वीकार करते है। भद्रबाहु चन्द्रगुप्त मौर्य के समकालीन थे, और उनके समय में मगध में एक घोर दुर्भिक्ष पड़ा था, जो बारह वर्ष तक रहा था। दुर्भिक्ष के इस सुदीर्घ काल में जैन संघ के लिये मगध में रह सकना सम्भव नहीं रहा था, और उसे अन्यत्र प्रवास करने के लिये विवश होना पड़ा था। दिगम्बर अनुश्रुति के अनुसार भद्रबाहु के नेतृत्व में जैन संघ ने दक्षिण की ओर प्रस्थान किया था, और श्वेताम्बर अनुश्रुति के अनुसार उसने नेपाल जाकर आश्रय ग्रहण किया था। पर सभी जैन साधु इस समय मगध छोड़कर अन्यत्र नहीं चले गये थे। सम्भवतः, ऐसे साधु मगध में रह गये थे, जो वृद्धावस्था व अन्य कारणों से यात्रा के योग्य नहीं थे। इस समय जो जैन संघ मगध में ही रहता रहा, उसके नेता आचार्य स्थूलभद्र थे। दुर्भिक्ष के कारण इस संघ में सम्मिलित साधुओं के जीवन की परिस्थितियाँ ऐसी नहीं थीं कि वे सम्पूर्ण रूप से उन नियमों का पालन कर सकें जो जैन मुनियों, साधुओं व भिक्षुओं के लिये विहित थे। परिस्थितियों से विवश होकर वे आचरण-सम्बन्धी कुछ नियमों को परिवर्तित कर देने के लिये प्रवृत्त हुए, और इसी से जैन संघ में उस मतभेद का विकास प्रारम्भ हुआ जिसने कि कुछ समय पश्चात् जैन धर्म को दो सम्प्रदायों में विभक्त कर दिया। जैन साधु प्रायः दिगम्बर रूप में रहा करते थे। पर दुर्भिक्ष के समय में मगध के साधुओं ने श्वेत वस्त्र पहनने शुरू कर दिये थे। इसी प्रकार

आचरण विषयक कतिपय अन्य नई बातें भी उन्होंने प्रारम्भ कर दी थीं। मगध से बाहर रहने वाले दिगम्बर साधु वस्त्र धारण करने वाले मुनियों को मान्यता देने के लिये सहमत नहीं हुए, और इस प्रकार दोनों सम्प्रदायों के गुरु व आचार्य भी भिन्न-भिन्न हो गये। यही कारण है, कि भद्रबाहु के पश्चात् दोनों सम्प्रदायों के गुरु एक नहीं रहे।

बारह वर्ष के दुर्भिक्ष की समाप्ति पर मगध के जैन संघ के नेता आचार्य स्थूल-भद्र ने एक महासभा का पाटलिपुत्र में आयोजन किया, जिसका प्रयोजन जैन आगम (शास्त्र) को विशुद्ध रूप में संकलित करना था। भद्रबाहु इस समय जीवित थे, पर वे इस महासभा में सम्मिलित नहीं हुए। इसी कारण उनके अनुयायियों ने भी स्थूलभद्र द्वारा संकलित आगम की प्रामाणिकता को स्वीकृत नहीं किया। इस समय से जैन संघ के गुरुओं की दो परम्पराएँ प्रारम्भ हो गई, एक स्थूलभद्र के वे उत्तराधिकारी थे जिन्हें श्वेताम्बर सम्प्रदाय मान्य समझता है और दूसरे भद्रबाहु के उत्तराधिकारी जो दिगम्बर सम्प्रदाय की दृष्टि में मान्य हैं। इस प्रसंग में यह ध्यान में रखना चाहिए कि भद्रबाहु की मान्यता दोनों सम्प्रदायों को स्वीकार्य है, यद्यपि उनके उत्तराधिकारी आचार्यों के सम्बन्ध में उनमें मतभेद हो गया। श्वेताम्बर अनुश्रुति में भी स्थूलभद्र को भद्रबाहु के उत्तराधिकारी के रूप में ही प्रस्तुत किया गया है।

मौर्यवंश के पतन के पश्चात् मागध साम्राज्य पर पुष्यमित्र शुङ्ग का अधिकार हो गया। शुङ्ग राजाओं के समय में प्राचीन वैदिक धर्म का पुनरुत्थान हुआ, और वेदों के प्रामाण्य को स्वीकार न करने वाले जैन संघ के लिये मगध व पाटलिपुत्र निरापद स्थान नहीं रह गये। इस दशा में मगध के जैन संघ ने पाटलिपुत्र से प्रवास कर उज्जैन में आश्रय ग्रहण किया। मालवा की यह नगरी पहले भी जैन धर्म का महत्त्वपूर्ण केन्द्र थी। आचार्य सुहस्ती ने यहीं मौर्य राजा सम्प्रति को जैन धर्म में दीक्षित किया था। अनेक सदियों तक स्थूलभद्र के उत्तराधिकारी जैन आचार्य उज्जैन को ही केन्द्र बनाकर अपने कार्य में तत्पर रहे। बाद में इस संघ ने जो कि श्वेताम्बर सम्प्रदाय का था, गुजरात की प्रसिद्ध नगरी वल्लभी को अपने केन्द्र बनाया, जिसके कारण यह सम्प्रदाय गुजरात और काठियावाड़ में विशेष रूप से प्रसारित हुआ। भद्रबाहु प्रथम के समय में जैन संघ का बड़ा भाग दक्षिण चला गया था। कर्नाटक में इसके प्रयत्न से जैन धर्म का बहुत उत्कर्ष हुआ, और वहाँ से वह आन्ध्र तथा द्रविड़ प्रदेशों में फैला। दक्षिण के ये जैन दिगम्बर सम्प्रदाय के थे। उज्जैन (बाद में वल्लभी) और कर्नाटक के अतिरिक्त मथुरा भी जैन धर्म का एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र रहा। इस नगरी के जैन गुरु न श्वेताम्बर सम्प्रदाय के थे और न दिगम्बर सम्प्रदाय के। यही कारण है, जो मथुरा के अनेक आचार्यों को दोनों सम्प्रदायों के गुरुओं में सम्मानास्पद स्थान प्राप्त है।

स्थूल भद्र के समय से दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों में पृथक्त्व की जो भावना विकसित होनी प्रारम्भ हुई थी, ईस्वी सन् की पहली सदी के चौथे चरण में वह पूर्णता को प्राप्त कर गई। श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अनुसार तीन 'केवलियों' और पाँच 'श्रुतकेवलियों' के पश्चात् आठ 'दशपूर्वी' हुए थे, जिनमें अन्तिम वज्रस्वामी थे। ६९ ईस्वी में इनकी मृत्यु हो गई थी। इनके पश्चात् वज्रसेन श्वेताम्बर संघ के प्रधान

आचार्य बने, और उनके समय में श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदाय पूर्णतया एक-दूसरे से पृथक् हो गये।

जैनों की जो अनेक महासभाएँ समय-समय पर आयोजित की गई, उनका प्रयोजन जैन शास्त्रों को प्रामाणिक रूप में संकलित करना ही था। वर्धमान महावीर के निर्वाण के २०० वर्ष पश्चात् जो महासभा पाटलिपुत्र में आचार्य स्थूलभद्र द्वारा आयोजित की गई थी, इसका उल्लेख इसी प्रकरण में ऊपर किया जा चुका है। इसके पश्चात् कलिङ्गराज खारवेल ने भी जैन मुनियों और श्रमणों की एक सभा का आयोजन सुपर्वत-विजयचक्र के कुमारी पर्वत पर निर्मित एक विशाल भवन में किया था। तीर्थङ्कर महावीर के मुख से जो द्वादश अंग निस्सरित हुए थे, उनका शुद्ध रूप से संकलन ही इस सभा का भी उद्देश्य था। जैनों की एक अन्य महासभा पहली सदी ईस्वी में दक्षिणी भारत के वेणाकतटीपुर नामक स्थान पर हुई। यह स्थान आन्ध्र प्रदेश में वेण नदी के तट पर स्थित था। जैन अनुश्रुति के अनुसार महावीर की गुरु शिष्य परम्परा में २८वें गुरु लोहाचार्य के पश्चात् कोई ऐसा विद्वान् नहीं रह गया था, जो किसी एक 'अङ्ग' का भी सम्पूर्ण रूप से ज्ञान रखता हो। पर ऐसे विद्वान् इस समय में भी विद्यमान थे, जिन्हें 'अङ्गों' का आंशिक रूप से ज्ञान था। इस प्रकार के ज्ञान को संकलित करने के लिये आचार्य अर्हद्वली की अध्यक्षता में आयोजित वेणाकतटीपुर की इस महासभा ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया। चौथी सदी के प्रारम्भ में आर्य स्कन्दिल नामक जैन आचार्य ने मथुरा में एक महासभा का आयोजन किया, जिसमें श्वेताम्बर सम्प्रदाय के बहुत-से मुनि व साधु एकत्र हुए। इसी समय में एक अन्य महासभा वल्लभी में आयोजित की गई, जिसके प्रधान नागार्जुनसूरी थे। इन दोनों महासभाओं ने भी जैन शास्त्रों के संकलन का कार्य किया। पाँचवीं सदी के मध्य भाग में देवर्धिगणी क्षमा श्रमण के नेतृत्व में एक बार फिर श्वेताम्बर सम्प्रदाय के आचार्य वल्लभी में एकत्र हुए और उन्होंने अपने धर्मशास्त्रों को शुद्ध रूप में संकलित करने का प्रयत्न किया। इस पुस्तक के दूसरे अध्याय में जैनों के जिस धार्मिक साहित्य का उल्लेख किया गया है, वल्लभी की इस महासभा ने ही उसे उस रूप में संकलित किया था, जिसमें वह अब उपलब्ध है।

(२) जैन धर्म के दार्शनिक सिद्धान्त

जैन धर्म के आचार-तत्त्व पर इस ग्रन्थ के दूसरे अध्याय में प्रकाश डाला जा चुका है। भारत के आस्तिक दर्शनों के समान जैन दर्शन भी अत्यन्त विकसित है, और उसमें भी अनेक विचार-सम्प्रदायों की सत्ता है। पर कतिपय सिद्धान्त ऐसे भी हैं, जिन्हें सब जैन समान रूप से स्वीकार्य समझते हैं। जैनों के अनुसार सृष्टि के कर्ता के रूप में ईश्वर की सत्ता स्वीकार नहीं की जाती। साथ ही, मनुष्य को जीवन-मरण के बन्धन से मुक्त होने के लिये ईश्वर की उपासना, स्तुति व भक्ति करने की भी कोई आवश्यकता नहीं है। मनुष्य अपने भाग्य का स्वयं विधाता होता है। पाप और पुण्य मनुष्य के कर्मों से होते हैं, और उन्हीं के अनुसार वह फल प्राप्त करता है। सब प्राणी अपने कर्मों के अनुसार विविध योनियाँ प्राप्त करते हैं और इस प्रकार जन्म-मरण के चक्कर में फँसे

रहते हैं। कर्म फल को भोगे बिना मुक्ति सम्भव नहीं है। पुनर्जन्म इसीलिए होता है कि प्राणी अपने कर्मों के फल को भोग सके। अतः प्रत्येक मनुष्य का यह उद्देश्य होना चाहिये कि वह कर्मों से मुक्त होकर निर्वाण प्राप्त करे। कर्मफल की समाप्ति से ही निर्वाण या मोक्ष सम्भव है। इसी बात को सम्मुख रखकर जैन धर्म में निवृत्ति मार्ग का प्रतिपादन किया गया है। प्रवृत्ति मार्ग पर चलता हुआ मनुष्य सदा सुख और समृद्धि के लिये प्रयत्न करता है, और अनेकविध कर्मों का निष्पादन करता है। पर जब वह प्रवृत्ति मार्ग का परित्याग कर निवृत्ति मार्ग को अपना लेता है, तो वह सुखोपभोग की इच्छा छोड़कर अपने को सब कर्मों से निवृत्त कर लेता है, और कर्मों के अभाव में उनके फल की प्राप्ति के लिये उसे जन्म ग्रहण करने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती।

जैन सिद्धान्त के अनुसार जीवों की संख्या अनगिनत है। प्रत्येक जीव में दो अंश होते हैं, आत्मा और भौतिक तत्त्व। आत्मा अनन्त, असीम और सत् है। इसके विपरीत भौतिक तत्त्व असत् है। सत् रूप आत्मा असत् भौतिक तत्त्वों से आच्छन्न रहने के कारण बन्धन में रहती है और उसका वास्तविक सत् रूप प्रगट नहीं हो पाता। जब आत्मा भौतिक तत्त्व के बन्धन से मुक्त हो जाती है, तभी निर्वाण की प्राप्ति होती है जो प्रत्येक जीव का परम लक्ष है। निर्वाण तभी सम्भव है, जब आत्मा भौतिक तत्त्व से पृथक् होकर अपने सत् रूप का सही ज्ञान प्राप्त कर ले।

यद्यपि जैन दार्शनिक सृष्टि कर्ता के रूप में ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करते, पर वे लोकोत्तर सत्ता में विश्वास रखते हैं। कोई भी मनुष्य अपने सद्गुणों की अतिशयता से लोकोत्तर स्थिति प्राप्त कर सकता है, यह उनका मन्तव्य है। इस दृष्टि से जैन सिद्धान्त और सांख्य दर्शन में बहुत समता है। सांख्य भी सृष्टि कर्ता के रूप में ईश्वर की सत्ता को नहीं मानता, पर ऐसे सर्वशक्तिमान् लोकोत्तर पुरुष को वह प्रतिपादित करता है, जो 'निरतिशय' हो, जिससे अधिक ज्ञानी व शक्तिसम्पन्न कोई न हो, जो सबसे अधिक ज्ञानी व शक्तिशाली हो। सांख्य दर्शन के प्रणेता कपिलमुनि ऐसे ही व्यक्ति थे। इसी प्रकार वर्धमान महावीर सदृश जिन महापुरुषों ने 'केवली' होकर निर्वाण प्राप्त किया, वे भी लोकोत्तर पुरुष थे और सबके लिये पूजायोग्य हैं। जैन लोगों ने इन महापुरुषों की मूर्तियाँ बनाई और उन्हें उसी प्रकार से पूजना शुरू किया, जैसे कि शैव और वैष्णव धर्मों में शिव, विष्णु, स्कन्द, भैरव, शक्ति आदि की पूजा की जाती थी।

जैन दर्शन या सिद्धान्त का एक प्रधान मन्तव्य 'स्याद्वाद' है, जिसके अनुसार किसी भी बात या तथ्य को सुनिश्चित रूप से प्रतिपादित कर सकना सम्भव नहीं समझा जाता। प्रत्येक समय व प्रत्येक दशा में ज्ञेय वस्तु का स्वरूप एक नहीं हो सकता, वह भिन्न ही होता है। उदाहरणार्थ यह प्रश्न लीजिये कि क्या जीवात्मा की सत्ता है? जैन दर्शन के अनुसार इस प्रश्न के सात उत्तर दिये जा सकते है—(१) शायद है (स्यात् अस्ति)। (२) शायद नहीं है (स्यान्नास्ति)। (३) शायद है और शायद नहीं है (स्यात् अस्ति च नास्ति च)। (४) शायद उसे वर्णित नहीं किया जा सकता (स्यात् अवक्तव्यम्)। (५) शायद है किन्तु उसे वर्णित नहीं जा सकता (स्यात् अस्ति च अवक्तव्य च)। (६) शायद

नहीं है और उसे वर्णित नहीं किया जा सकता (स्यान्नास्ति च अवक्तव्यं च) (७) शायद है और शायद नहीं है और उसे वर्णित भी नहीं किया जा सकता (स्यादस्ति च नास्ति च अवक्तव्यं च)। जैनों के अनुसार प्रत्येक पदार्थ की सत्ता सापेक्ष है। क्योंकि उसकी सत्ता है, अतः वह 'सत्' है। पर कतिपय दशाओं में उसे 'असत्' भी मानना पड़ सकता है। स्याद्वाद के इस सिद्धान्त के कारण जैन विचारधारा में आग्रह की गुँजाइश नहीं रह जाती। हम जिसे जिस रूप में देखते हैं, हमें जिसका ज्ञान जिस रूप में होता है, वही एकान्त सत्य है, ऐसा आग्रह जैन दर्शन को अभीष्ट नहीं है।

(३) विविध बौद्ध सम्प्रदायों का विकास

द्वितीय महासभा—बुद्ध के निर्वाण के कुछ समय पश्चात् ही उनके अनुयायियों में अनेक प्रश्नों पर मतभेद उत्पन्न होने प्रारम्भ हो गये थे। ये मतभेद सम्भवतः विविध जनपदों में प्रचलित विभिन्न प्रकार के आचरणों तथा उन नियमों के सम्बन्ध में थे, जिनका पालन करना बौद्ध भिक्षुओं के लिये आवश्यक समझा जाता था। भारत के पूर्वी और पश्चिमी प्रदेशों के रहन-सहन, आचार-विचार और खान-पान में भिन्नता थी। यह स्वाभाविक था कि इसका प्रभाव भिक्षुओं पर भी पड़े। भारत के मध्य देश में बौद्ध धर्म का भली-भाँति प्रचार हो चुका था, और वैशाली व पाटलिपुत्र (पूर्वी क्षेत्र में) तथा कौशाम्बी व उज्जैन (पश्चिमी क्षेत्र में) बौद्धों के प्रधान केन्द्र थे। इन क्षेत्रों में निवास करने वाले भिक्षुओं में जिन प्रश्नों पर मतभेद हुए, वे एक प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार निम्नलिखित थे—(१) शृङ्गीलवण कल्प—आवश्यकता के समय उपयोग के लिये पशुओं के सींगों में नमक को संचय किया जाय या नहीं। (२) द्वयंगुल कल्प—दोपहर के बाद दो अंगुल छाया आ जाने के समय तक भोजन किया जा सकता है या नहीं। (३) ग्रामान्तर-कल्प—एक बार भोजन कर लेने पर दूसरे गाँव में जाकर भोजन के लिये भिक्षा माँगी जा सकती है या नहीं। (४) आवास कल्प—एक ही क्षेत्र के अनेक आवासों में रहकर उपोसथ-कर्म किया जा सकता है या नहीं। (५) अनुमति कल्प—पहले कर्म करके बाद में उसके लिये अनुमति ली जा सकती है या नहीं। (६) आचीर्ण कल्प—मेरे आचार्य व उपाध्याय ने जैसा किया हो, वैसा ही मुझे भी करना चाहिये या नहीं। (७) अमथित कल्प—दूध को दही बनाने के लिये रख दिया गया है पर अभी वह दही नहीं बन पाया है। ऐसे दूध का सेवन किया जा सकता है या नहीं। (८) जलोशि पान—जो सुरा अभी ठीक प्रकार से सुरा नहीं बनी है या जो ताड़ी अभी मद्य रूप से उठी नहीं है, उसका पान किया जा सकता है या नहीं (९) अदशकनिसदन-बिना किनारी वाले आसन या चटाई का उपयोग किया जा सकता है या नहीं। (१०) जातरूप रजत कल्प—सोना, चाँदी को भिक्षा में ग्रहण किया जा सकता है या नहीं। स्थविर (वृद्ध या पुराने भिक्षु) इनका उत्तर न में देते थे। उनकी दृष्टि में इनका प्रयोग भिक्षुओं के लिये निषिद्ध था। पश्चिमी प्रदेशों के भिक्षु भी इसी विचार के समर्थक थे। पर वैशाली तथा पाटलिपुत्र के भिक्षुओं के विचार में इनमें कोई दोष नहीं था। इस मतभेद ने इतना उग्ररूप धारण कर लिया, कि इसे दूर करने के लिये बुद्ध के निर्वाण के सौ वर्ष पश्चात् बौद्धों की दूसरी

संगीति (महासभा) का वैशाली में आयोजन किया गया, जिसमें सात सौ भिक्षु सम्मिलित हुए। इसीलिये यह महासभा 'सप्तशतिका' भी कहाई।

स्थविरवाद और महासांधिक सम्प्रदाय—वैशाली की महासभा ने भिक्षुओं के मतभेदों को दूर करने के लिये एक उपसमिति की नियुक्ति की, जिसके आठ सदस्य थे। पूर्वी प्रदेशों के भिक्षुओं में से आचार्य सर्वकामी, साल्ह, क्षुद्रशोभित और वार्षभग्रामिक को तथा पश्चिमी प्रदेशों के भिक्षुओं में से रेवत, साणवासी सम्भूत, काकंडक पुत्र यश और सुमन को उपसमिति का सदस्य बनाया गया। इन भिक्षुओं में आचार्य सर्वकामी सबसे वृद्ध तथा विद्वान् थे। उन्हें महासभा तथा उसकी उपसमिति का अध्यक्ष नियत किया गया। उपसमिति तथा महासभा में चिरकाल तक विचार-विमर्श के पश्चात् बहुसम्मति से यह निर्णय हुआ, कि दस विवादग्रस्त विषयों में आचार्य कल्प (मेरे उपाध्याय व आचार्य ने जैसा किया हो वैसा ही मुझे भी करना चाहिये) तो बौद्ध भिक्षुओं के लिये विहित व स्वीकार्य है, अन्य नौ नहीं। इस प्रकार वैशाली की द्वितीय महासभा में पूर्वी प्रदेशों के भिक्षु पराजित हुए। पर वे इस महासभा के निर्णय को स्वीकार करने के लिये उद्यत नहीं थे। परिणाम यह हुआ कि उन्होंने अपनी एक पृथक् महासभा संगठित की, जिसमें उपस्थित भिक्षुओं की संख्या दस हजार थी। इसी कारण इसे 'महासंगीति' या 'महासंघ' का नाम दिया गया। इस महासंघ ने विवादग्रस्त दसों बातों को धर्मानुकूल ठहराया। जिन्होंने महासंघ के इस निर्णय को स्वीकार किया, वे 'महासांघिक' नाम से प्रसिद्ध हुए। इस प्रकार बुद्ध के सौ साल पश्चात् बौद्धों में दो सम्प्रदाय बन गये, महासांघिक और स्थविरवादी। जो पुराने भिक्षु (स्थविर) पुराने आचार-विचार के पक्षपाती व रूढ़िवादी थे, उन्हें 'स्थविरवादी' कहा जाने लगा।

स्थविरवादी सम्प्रदाय—कालान्तर में स्थविरवाद भी अनेक सम्प्रदायों में विभक्त हो गया। पहले उसके दो भाग हुए, महिशासक और वात्सिपुत्रीय। महिशासक सम्प्रदाय से सर्वास्तिवादी, काश्यपीय, सौत्रान्तिक और सुत्तवादी सम्प्रदायों का विकास हुआ, और वात्सिपुत्रीय से धर्मोत्तरीय, भद्रयानिक, छन्दागारिक और सम्मितीय सम्प्रदायों का। इस प्रकार स्थविरवाद के बारह सम्प्रदाय हो गये। दूसरी ओर महासांघिक सम्प्रदाय से भी गोकुलिक, व्यावहारिक, प्रज्ञप्तिवादी, बाहुलिक और चैत्यवादी सम्प्रदाय विकसित हुए। स्थविरवाद के सम्प्रदायों की संख्या बारह थी और महासांघिक सम्प्रदायों की छह। इस-प्रकार पाँचवीं सदी ईस्वी पूर्व में बौद्ध संघ अठारह निकायों (सम्प्रदायों) में विभक्त हो गया था।

तिब्बती अनुश्रुति के अनुसार स्थविरवाद (थेरवाद) के प्रवर्तक आचार्य महाकच्छायन थे, जो उज्जैन के निवासी थे। इस सम्प्रदाय के प्रधान केन्द्र उज्जैन, मथुरा और कौशाम्बी थे, और इसके धर्मग्रन्थों (त्रिपिटक) की भाषा पालि थी। अशोक के पुत्र महेन्द्र ने जिस बौद्ध धर्म का लंका में प्रचार किया था, वह स्थविरवाद ही था और वह पालिभाषा के त्रिपिटक को अपने साथ लंका ले गया था। लंका का महाविहार स्थविरवाद का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था, और अब तक भी लंका में इसी सम्प्रदाय का प्रचार है।

स्थविरवाद से जिन अनेक निकायों का विकास हुआ, उनमें सर्वास्तिवाद सबसे अधिक महत्त्व का है। तिब्बती अनुश्रुति के अनुसार इसका प्रवर्तक राहुलभद्र था। प्रारम्भ में इसका प्रधान केन्द्र मथुरा में था, पर बाद में काश्मीर तथा गान्धार में इसका विशेष रूप से प्रचार हुआ। कुशाण राजा कनिष्क इसी के प्रभाव में आया था। कनिष्क का साम्राज्य मध्य एशिया में भी विस्तृत था। अतः उसके शासनकाल में इस सम्प्रदाय का मध्य एशिया में भी प्रवेश हुआ और वहाँ के भिक्षु बौद्ध धर्म के जिस निकाय को चीन ले गये वह सर्वास्तिवाद ही था। इस सम्प्रदाय की भाषा संस्कृत थी, और इस के धर्मग्रन्थ (त्रिपटक) भी संस्कृत में ही थे। चीनी यात्री ह्यु एन्त्सांग और इत्सिंग जिस त्रिपिटक को अपने साथ चीन ले गये थे, वह भी इसी सम्प्रदाय का था। सर्वास्तिवाद का मूल संस्कृत त्रिपिटक इस समय उपलब्ध नहीं है, यद्यपि चीनी भाषा में उसके अनुवाद विद्यमान हैं। मध्य एशिया तथा चीनी तुर्किस्तान से इस सम्प्रदाय के मूल संस्कृत त्रिपिटक के कुछ अंश इस समय उपलब्ध भी हुए हैं। स्थविरवाद से सर्वास्तिवाद का आधारभूत भेद इस बात पर था, कि यह सम्प्रदाय सब वस्तुओं व पदार्थों की सत्ता को स्वीकार करता था। इसी कारण इसका नाम भी 'सर्वास्तिवाद' पड़ गया था। इसके अनुसार जीव या आत्मा के पाँच 'धर्म' होते हैं, जो सदा कायम रहते हैं, और जिन्हें 'नित्य' समझना चाहिये। जन्म के साथ इनका नये सिरे से प्रादुर्भाव नहीं होता और मृत्यु के साथ इनका अन्त नहीं हो जाता। जिस प्रकार न्याय और वैशेषिक दर्शनों में प्रकृति तथा परमाणुओं को नित्य माना जाता है, वैसे ही सर्वास्तिवादी भी जीव व आत्मा तथा उनके धर्मों को नित्य मानते हैं। स्थविरवाद के अन्य सम्प्रदायों (महिशासक, सम्मितीय, वात्सीपुत्रीय आदि) का अपने मूलसम्प्रदाय से साधारण भेद ही था, विशेष भेद नहीं था।

महासांघिक सम्प्रदाय—जैसा कि अभी ऊपर लिखा जा चुका है, इस सम्प्रदाय का प्रारम्भ वैशाली की महासभा के समय में हुआ था। शुरू में इसका प्रधान केन्द्र वैशाली में रहा, पर बाद में आन्ध्रप्रदेश में इसका विशेष रूप से प्रसार हुआ, और अमरावती तथा नागार्जुनीकोण्ड इसके प्रधान केन्द्र बन गये। क्योंकि आन्ध्र प्रदेश के लोगों में महासांघिक सम्प्रदाय बहुत लोकप्रिय था, अतः इसे आन्ध्रक या अन्धक भी कहा जाने लगा था। अपने त्रिपिटक के लिये इस सम्प्रदाय ने प्राकृत भाषा का प्रयोग किया था। यद्यपि इसके प्राकृत भाषा के धर्मग्रंथ इस समय उपलब्ध नहीं हैं, पर इसके विनयपिटक का चीनी भाषा में अनुवाद प्राप्य है। भिक्षुओं के आचरण-विषयक नियमों को लेकर स्थविरवादी और महासांघिक सम्प्रदायों में जो मतभेद प्रादुर्भूत हुए थे, इसी प्रकरण में उनपर प्रकाश डाला जा चुका है। पर इन सम्प्रदायों के दार्शनिक मन्तव्यों में जिस मतभेद का विकास हुआ, वह अधिक महत्त्व का है। महासांघिक सम्प्रदाय के अनुसार बुद्ध लोकोत्तर तथा अमानव थे। इसके विपरीत स्थविरवादी बुद्ध के मानव रूप में विश्वास रखते थे। इन दोनों सम्प्रदायों में एक अन्य महत्त्वपूर्ण भेद मनुष्य के परम लक्ष्य के सम्बन्ध में भी था। स्थविरवादी यह मानते थे कि मनुष्य का लक्ष्य अर्हत् पद की प्राप्ति होना चाहिए, पर महासांघिक सम्प्रदाय के मत में बुद्धत्व की प्राप्ति ही मनुष्य का परम ध्येय है।

बौद्धों की तीसरी महासभा—वैशाली की महासभा के पश्चात् राजा अशोक के समय तक के लगभग १२० वर्षों में बौद्ध धर्म अठारह निकायों (सम्प्रदायों) में विभक्त हो गया था। यद्यपि बौद्धों के इतने अधिक सम्प्रदाय उस समय में विद्यमान थे, पर भिक्षुसंघ को 'चातुर्दिश' माना जाता था। कोई भी भिक्षु चाहे वह किसी भी सम्प्रदाय का क्यों न हो, कहीं के किसी भी संघ में सम्मिलित व उपस्थित हो सकता था। एक पक्ष में एक बार संघ में जो उपोसथ होता है, उसमें उपस्थित प्रत्येक भिक्षु, को यह कहना पड़ता है कि विगत पक्ष (पखवाड़े) में उसने कोई ऐसा कार्य नहीं किया जिस द्वारा संघ के विनय (नियमों) का उल्लंघन हुआ हो। पर अशोक के समय तक बौद्ध भिक्षुओं के इतने अधिक सम्प्रदाय विकसित हो चुके थे और उनके नियमों तथा आचरण आदि में इतना भेद हो गया था कि एक सम्प्रदाय के अनुसार जो बातें विहित थीं, वे अन्य सम्प्रदायों के मत में निषिद्ध थीं। महासांघिक सम्प्रदाय के भिक्षु दोपहर बाद सूर्य के दो अंगुल ऊपर उठ जाने तक भोजन करने में कोई दोष नहीं मानते थे। पर स्थविरवादी भिक्षु इसे 'विनय' के प्रतिकूल समझते थे। उपोसथ में यदि कोई महासांघिक भिक्षु सम्मिलित हो, तो चाहे वह दोपहर के बाद भी भोजन ग्रहण करता रहा हो, यही कहता था कि उसने 'विनय' के नियमों का अतिक्रमण नहीं किया है। पर स्थविरवादी भिक्षु उसके इस कथन को स्वीकार नहीं करते थे और उनका यह मत होता था, कि उस महासांघिक भिक्षु को उपोसथ में सम्मिलित नहीं होना चाहिए था। इस प्रकार जो विवाद प्रादुर्भूत हुए, उनके कारण भारत के बहुत-से विहारों में सात वर्षों तक उपोसथ नहीं हो सका था। पाटलिपुत्र का अशोकाराम भी ऐसा ही विहार था, जिसमें सात वर्षों से उपोसथ नहीं हुआ था। इस विहार में हजारों भिक्षु निवास करते थे, जो विविध सम्प्रदायों के अनुयायी थे। इस दशा में उनमें विनय-सम्बन्धी प्रश्नों पर मतभेद होना स्वाभाविक था। इन्हीं मतभेदों को दूर करने के प्रयोजन से राजा अशोक द्वारा बौद्धों की तीसरी संगीति (महासभा) का पाटलिपुत्र में आयोजन किया गया, जिसका अध्यक्ष मोग्गलिपुत्त तिस्स को बनाया गया। सम्भवतः, इन्हीं आचार्य का अन्य नाम उपगुप्त भी था। इस महासभा द्वारा यह प्रयत्न किया गया कि विविध बौद्ध सम्प्रदायों के मतभेदों को दूर कर सत्य सिद्धान्तों का निर्धारण किया जाए। इस कार्य के लिए आचार्य तिस्स ने एक हजार ऐसे भिक्षुओं को चुन लिया जो परम विद्वान् और धार्मिक थे। इन भिक्षुओं की सभा आचार्य तिस्स की अध्यक्षता में नौ मास तक होती रही। धर्म-सम्बन्धी सब विवादग्रस्त विषयों पर इस सभा में विचार किया गया, और तिस्स ने उन सब सम्प्रदायों के उन मतों का खण्डन किया जो स्थविरवाद को स्वीकार्य नहीं थे। तिस्स द्वारा विरचित कथावत्थु स्थविरवादी सम्प्रदाय के अभिधम्मपिटक के पांचवें सुत्त के रूप में बौद्ध धर्मग्रन्थों के अन्तर्गत है। यह कह सकना कठिन है कि तीसरी महासभा द्वारा बौद्ध संघ के आन्तरिक मतभेदों व विवादों में कोई कमी आई थी। पर इसमें सन्देह नहीं कि इस महासभा के निर्णयों के कारण स्थविरवाद को बहुत बल प्राप्त हुआ था। क्योंकि राजा अशोक तिस्स के शिष्य थे, अतः इस सम्प्रदाय को राजकीय संरक्षण भी प्राप्त हुआ और मौर्य युग में उसका विशेष रूप से उत्कर्ष हुआ। पाटलिपुत्र की महासभा ने देश-

विदेश में बौद्ध धर्म के प्रचार का जो महान् आयोजन किया था, उसका उल्लेख इस ग्रन्थ में पहले किया जा चुका है। इस महासभा द्वारा नियुक्त विविध प्रचारक मण्डलों ने जिस बौद्ध धर्म का देश-देशान्तर में प्रचार किया था, वह स्थविरवाद ही था। इसी का यह परिणाम हुआ कि कुछ समय के लिये स्थविरवाद बौद्ध धर्म में प्रमुख स्थान प्राप्त कर सकने में समर्थ हो गया। राजा अशोक के बाद से ईस्वी सन् की दूसरी सदी तक उत्तरी भारत में इसी सम्प्रदाय की प्रधानता रही, और मौर्यों के पतन काल में जिन यवनों तथा अन्य विदेशी लोगों ने भारत पर आक्रमण कर उसके उत्तर-पश्चिमी व पश्चिमी प्रदेशों पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था, वे भी इसी सम्प्रदाय तथा इसके अन्तर्गत विविध निकायों के सम्पर्क में आये और उनमें से बहुतों ने इन्हें अंगीकार भी कर लिया।

काश्मीर और गान्धार स्थविरवाद के सर्वास्तिवादी निकाय के प्रधान केन्द्र थे। इस दशा में यह सर्वथा स्वाभाविक था कि विदेशी यवन आदि जातियाँ इसी निकाय के सम्पर्क में आयें। क्योंकि अशोक के समय में हुई बौद्धों की तीसरी महासभा द्वारा बौद्ध-धर्म के स्थविरवाद सम्प्रदाय का समर्थन किया गया था, अतः महासांघिक सम्प्रदाय के लिए मगध के क्षेत्र में फलते-फूलते रहना सुगम नहीं रह गया था। सम्भवतः, इसी कारण मौर्यवंश की शक्ति के ह्रास काल में इसने आन्ध्रप्रदेश में जाकर आश्रय ग्रहण किया था और अमरावली तथा नागार्जुनकोण्ड को केन्द्र बनाकर अपना उत्कर्ष प्रारम्भ किया था। इन स्थानों से प्राप्त हुए अभिलेखों में महासांघिकों के प्रायः सभी सम्प्रदायों का उल्लेख मिलता है। मौर्यों के पतन काल में ही आन्ध्र में सातवाहन वंश ने अपने स्वतन्त्र राज्य की स्थापना कर ली थी। सम्भवतः, सातवाहन राजाओं का संरक्षण महासांघिक सम्प्रदायों को प्राप्त था, और इसीलिये वहाँ निश्चिन्त रूप से उनका विकास हो सका था।

यवन राजाओं के शासन में बौद्ध धर्म का उत्कर्ष—भारत के अनेक यवन राजाओं तथा उनके उच्च पदाधिकारियों ने बौद्ध धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली थी। इनमें मिनान्दर (मिलिन्द) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस यवन राजा की राजधानी शाकल (सियालकोट) नगरी थी, और पश्चिमी पंजाब के अनेक प्रदेश उसके शासन में थे। वहाँ शासन करते हुए मिनान्दर बौद्ध भिक्षुओं के सम्पर्क में आया, और स्थविर-नागसेन से उसने बौद्ध धर्म की दीक्षा भी ग्रहण कर ली। बौद्ध ग्रन्थों में उसे 'मिलिन्द' लिखा गया है, और 'मिलिन्दपन्हो' (मिलिन्द प्रश्नाः) नामक ग्रन्थ में उन प्रश्नों के उत्तर दिये गये हैं, जिन्हें उसने अपने गुरु नागसेन से पूछा था। मिनान्दर के अनेक सिक्कों पर बौद्ध धर्म के धर्मचक्रप्रवर्तन का चिह्न 'धर्मचक्र' अंकित है, और उसके नाम के साथ 'ध्रमिक' (धार्मिक) विशेषण का प्रयोग किया गया है। बौद्ध धर्म के इतिहास में मिनान्दर का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उसके विषय में बौद्ध ग्रन्थों में यह भी लिखा गया है कि उसकी मृत्यु के पश्चात् उसकी अस्थियों को सुरक्षित रखा गया था और उसके राज्य के अन्तर्गत प्रदेशों में उन्हें उसी ढंग से बाँट दिया गया था, जैसे कि बुद्ध के महापरिनिर्वाण के पश्चात् उनकी अस्थियों को बाँटा गया था। एक अन्य यवन

राजा एगेथोक्लीज़ ने भी बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लिया था। उसके सिक्कों पर बौद्ध स्तूप तथा बोधिवृक्ष अंकित हैं। इसी प्रकार अन्य भी बहुत-से यवनों ने बौद्ध धर्म को अपना लिया था। ऐसे बहुत-से अभिलेख उपलब्ध हुए हैं, जिनमें कि इन यवन बौद्धों द्वारा बौद्ध संघ व धर्म के लिये किये गये दानों का उल्लेख है। जुन्नर की गुहाओं के एक अभिलेख से सूचित होता है, कि इरिल नामक एक यवन ने वहाँ अपने व्यय से दो जलाशयों का निर्माण कराया था। इसी क्षेत्र में चिट नामक एक यवन द्वारा भोजनमण्डप के निर्माण के लिये बौद्ध संघ को दिये गये दान का वर्णन एक अभिलेख में विद्यमान है। नासिक में 'दातामितियक' (दात्तामित्री नगरी के निवासी) योनक (यवन) धर्मदेव के पुत्र इन्द्राग्निदत्त द्वारा सतरहवीं लेण (गुफा) के खुदवाने और उसमें चैत्यगृह तथा जलाशय बनवाने का उल्लेख है। दात्तामित्री नगरी का उल्लेख पतंजलि के महाभाष्य में भी आया है। सम्भवतः, इसकी स्थापना यवन राजा दिमित्र (डेमेट्रियस) द्वारा करायी गई थी। कार्ले की गुफाओं के अभिलेखों में भी दो यवनों के दानपुण्य का उल्लेख विद्यमान है। इसमें सन्देह नहीं कि उत्तर-पश्चिमी तथा पश्चिमी भारत के यवन लोगों ने भारतीयों के सम्पर्क में आकर अन्य भारतीय धर्मों के समान बौद्ध धर्म को भी ग्रहण कर लिया था। केवल भारत में बसे हुए यवन ही नहीं, अपितु भारत के पश्चिमी सीमान्त के परे के यवन देशों (सीरिया, ईजिप्ट आदि) के निवासी भी इस काल में बौद्ध धर्म में दीक्षित होने लग गये थे। अशोक के समय में आचार्य तिस्स की योजना के अनुसार जो अनेक प्रचारक मण्डलियाँ बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए 'योन' (यवन) देशों में गई थीं, उन्हें अपने कार्य में अच्छी सफलता प्राप्त हुई थी। महावंश के अनुसार लंका के राजा दुट्ठगामणी ने एक महास्तूप के निर्माण के अवसर पर जब एक महोत्सव का आयोजन किया (दूसरी सदी ईस्वी पूर्व), तो उसमें सम्मिलित होने के लिये जो बहुत-से बौद्ध आचार्य दूर-दूर से आये थे, उनमें अलसन्द (ईजिप्ट में अलेग्जेण्ड्रिया) नगरी के यवन स्थविर महाधर्मरक्षित भी थे।

कनिष्क और बौद्ध धर्म की चतुर्थ महासभा—कुशाण वंश के प्रसिद्ध राजा कनिष्क की बौद्ध धर्म के प्रति अगाध आस्था थी, और इस धर्म के इतिहास में उसका प्रायः वही स्थान है जो मौर्य राजा अशोक का है। कनिष्क के काल के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार वह बुद्ध के महापरिनिर्वाण के ४०० वर्ष पश्चात् जम्बुद्वीप का स्वामी बना था। इस प्रकार कनिष्क का समय पहली सदी ईस्वी पूर्व में होना चाहिये। पर प्रायः ऐतिहासिक ईसा की पहली सदी के उत्तरार्ध में उसका समय मानते हैं। कनिष्क का साम्राज्य बहुत विस्तृत था। प्रायः सम्पूर्ण उत्तरी भारत उसके अन्तर्गत था, और काश्मीर, गान्धार तथा मध्य एशिया पर भी उसका शासन विद्यमान था। पुष्पपुर (पेशावर) को राजधानी बनाकर वह इस विशाल साम्राज्य का शासन करता था। पुष्पपुर में कनिष्क ने एक विशाल स्तूप का निर्माण कराया था, जो ४०० फीट ऊंचा था और जिसमें तेरह मंजिलें थीं। छठी और सातवीं सदियों में जो अनेक चीनी यात्री भारत आये, उन्होंने न केवल पेशावर के इस विशाल स्तूप का अपितु अन्य भी अनेक ऐसे चैत्यों तथा स्तूपों का उल्लेख किया है जिनका निर्माण कनिष्क द्वारा

कराया गया था। यद्यपि कनिष्क अन्य धर्मों के प्रति भी आस्था रखता था और उसके सिक्कों पर शिव, सूर्य आदि की प्रतिमाएं भी अंकित हैं, पर इसमें सन्देह नहीं कि उसने बौद्ध धर्म को अपना लिया था और उसके संरक्षण के कारण इस धर्म की बहुत उन्नति हुई थी।

बौद्ध धर्म की दृष्टि से कनिष्क के समय की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना बौद्धों की चतुर्थ महासभा है। इसका जिस ढंग से वर्णन चीनी और तिब्बती अनुश्रुतियों में मिलता है, वह एकसदृश नहीं है। चीनी विद्वान् ह्यु एन्त्सांग के अनुसार कनिष्क इस बात से बहुत क्षोभ अनुभव करता था कि बौद्ध धर्म में बहुत-से सम्प्रदायों की सत्ता है जो बुद्ध द्वारा प्रतिपादित धर्म की व्याख्या भिन्न-भिन्न प्रकार से करते हैं। इन भेदों के दूर करने के लिए उसने बौद्ध विद्वानों की एक महासभा आयोजित की, जिसके अधिवेशन काश्मीर के कुण्डलवन नामक विहार में हुए। आचार्य वसुमित्र को इस महासभा का अध्यक्ष नियत किया गया, और उनके नेतृत्व में महासभा में एकत्र बौद्ध विद्वानों ने बौद्ध धर्म-शास्त्रों के वास्तविक अभिप्राय के सम्बन्ध में चिरकाल तक विचार-विमर्श किया। इस विचार-विमर्श के परिणामस्वरूप त्रिपिटक के प्रत्येक पिटक—सुत्त, विनय और अभिधम्म—पर प्रामाणिक भाष्य लिखे गये जो एक-एक लाख श्लोकों के थे। कनिष्क के आदेश से इन भाष्यों को ताम्रपत्रों पर उत्कीर्ण कराके एक स्तूप में रख दिया गया। त्रिपिटक पर लिखे गये इन भाष्यों व टीकाओं को बौद्ध साहित्य में 'विभाषा' की संज्ञा दी गई है। तिब्बती अनुश्रुति के अनुसार बौद्ध धर्म की यह चौथी महासभा काश्मीर के कुण्डलवन के बजाय जालन्धर में आयोजित की गई थी, और उसमें जो एक हजार भिक्षु सम्मिलित हुए थे उनमें पाँच सौ के नेता आचार्य पार्श्व थे और पाँच सौ के आचार्य वसुबन्धु। महा-सभा के इन दो पक्षों के क्या-क्या मन्तव्य थे, यह स्पष्ट नहीं है। सम्भवतः, आचार्य पार्श्व और वसुबन्धु उन दो पक्षों का प्रतिनिधित्व कर रहे थे, जो सर्वास्तिवादी और महासांघिक सम्प्रदायों के रूप में इस समय बौद्ध धर्म के दो पृथक् दृष्टिकोणों को प्रस्तुत करते थे, और जिनके कारण कुछ समय पश्चात् यह धर्म उन दो विभागों में विभक्त हो गया जो हीनयान और महायान नाम से विख्यात हैं।

महायान और हीनयान—राजा अशोक के समय तक बौद्ध धर्म में अठारह निकायों (सम्प्रदायों) का विकास हो चुका जा, जिनमें सर्वप्रधान स्थविरवाद और महासांघिक थे। स्थविरवाद से सर्वास्तिवाद निकाय का विकास हुआ, जो काश्मीर, गान्धार आदि में विशेष रूप से प्रचलित था। महासांघिक सम्प्रदाय का केन्द्र पहले मगध और वैशाली में था, पर बाद में आन्ध्र प्रदेश में उसका विशेष रूप से प्रचार हुआ जहाँ उसके प्रधान केन्द्र अमरावती और नागार्जुनकोण्ड थे। यहाँ महासांघिक संघ का एक अन्य सम्प्रदाय विकसित हुआ, जिसे वैपुल्यवाद कहा जाता है। इस सम्प्रदाय के अनुयायी अन्य बौद्धों से जिन विषयों पर मतभेद रखते थे, वे निम्नलिखित थे—(१) बौद्ध संघ न दान ग्रहण करता है, न उसे परिग्रह करता है, न उसका उपभोग करता है, और संघ को दान देने से न ही महाफल की प्राप्ति होती है। (२) न बुद्ध लोक में आकर रहे और न उन्होंने धर्मोपदेश किया। (३) किसी विशेष अभिप्राय से मैथुन का भी सेवन किया जा

सकता है। वैपुल्यवादियों की ये तीनों ही बातें ऐसी थीं, जो बौद्ध धर्म में विप्लव मचा देने वाली थीं। विशेषतया बुद्ध के सम्बन्ध में यह प्रतिपादित करना कि उन्होंने न कभी मानव तन धारण कर संसार में अवतरण किया, न उन्होंने कभी धर्म का उपदेश दिया, एक ऐसा विचार प्रस्तुत करता था जिससे बुद्ध पूर्णतया लोकोत्तर व अमानव बन जाते थे। इस सम्प्रदाय का प्रधान केन्द्र श्रीधान्यकटक में था, और वहीं से उसका प्रचार लंका में भी हुआ, जहाँ के अभयगिरि विहार के भिक्षु इसके अनुयायी हो गये और जिसके कारण लंका में भी स्थविरवाद का विरोधी एक सम्प्रदाय स्थापित हो गया।

वैशाली में आयोजित हुई बौद्ध धर्म की द्वितीय महासभा में महासांघिक सम्प्रदाय द्वारा जिस नई प्रवृत्ति का सूत्रपात किया गया था और जिसके कारण अनेक बौद्ध विद्वान् रूढ़िवाद का परित्याग कर नये मन्तव्यों का प्रतिपादन करने के लिए प्रवृत्त हुए थे, उसी से कालान्तर में वैपुल्यवाद का और फिर महायान सम्प्रदाय का विकास हुआ। प्रायः यह माना जाता है कि महायान का प्रादुर्भाव कनिष्क के समय में हुई चौथी बौद्ध महासभा के पश्चात् हुआ था। पर जो विचारधारा व प्रवृत्तियाँ महायान की विशेषताएं थीं, उनका प्रादुर्भाव व विकास कनिष्क के समय से पहले ही शुरू हो चुका था। अष्टसाहस्त्रिका-प्रज्ञापारमिता नामक ग्रन्थ में महायान के विकास के विषय में भविष्यवाणी के रूप में यह लिखा गया है कि पारमिताओं का प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थों का प्रचार पहले दक्षिणापथ में होगा, जहाँ से फिर पूर्व की ओर और फिर उत्तर की ओर उनका प्रचार होगा। इससे स्पष्ट है कि महायान (जो दस पारमिताओं को प्रतिपादन करने वाला सम्प्रदाय है) दक्षिणापथ (आन्ध्र) में प्रादुर्भूत हुआ, जहाँ से बाद में उसका प्रचार भारत के पूर्वी तथा उत्तरी प्रदेशों में हुआ। इस प्रज्ञापारमिता ग्रन्थ का चीनी भाषा में अनुवाद लोकरक्ष द्वारा दूसरी सदी के मध्य भाग में किया गया था। अतः यह अनुमान कर सकना असंगत नहीं होगा, कि इस ग्रन्थ का निर्माण पहली सदी तक अवश्य हो चुका होगा और उस समय तक महायान सिद्धान्त न केवल दक्षिणापथ में अपितु पूर्वी तथा उत्तरी भारत में भी प्रचारित हो चुके थे। इस सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक कौन थे, इस प्रश्न पर विद्वानों में मतभेद है। पर उन आचार्यों के नाम हमें ज्ञात हैं जिन्होंने कि इसके मन्तव्यों के प्रतिपादन तथा प्रचार के सम्बन्ध में विशेष कर्तृत्व प्रदर्शित किया था। इसी प्रकरण में आगे चल कर इन आचार्यों का परिचय देने का प्रयत्न किया जायेगा।

यह प्रायः निर्विवाद है कि पहली सदी में कनिष्क के समय तक महायान सम्प्रदाय की पृथक् रूप से सत्ता स्थापित हो गई थी। महायानी लोग अन्य बौद्ध सम्प्रदायों को हीन दृष्टि से देखते थे और इसी कारण उन्हें हीनयान कहा करते थे। सम्भवतः, हीनयान संज्ञा का यही मूल था। पर कालान्तर में इस शब्द का प्रयोग रूढ़ि रूप से किया जाने लगा, और बौद्धों में विविध सम्प्रदायों के दो वर्ग हो गये। कुछ सम्प्रदाय हीनयान के अन्तर्गत थे और कुछ महायान के। इन सम्प्रदायों के धर्मग्रन्थ (त्रिपिटक) पृथक् थे, इनके दार्शनिक सिद्धान्तों तथा मन्तव्यों में भेद था और इनके भिक्षुओं के आचरण एवं विनय के नियम भी एक-दूसरे से भिन्न थे।

महायान के सिद्धान्त—यद्यपि महायान के अनेक सम्प्रदाय हैं, पर उनके जो

मन्तव्य एक समान हैं, उन्हें संक्षिप्त रूप से इस प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है—

(१) पारमिताओं का प्रतिपादन तथा बोधिसत्त्व का विचार— महायानी लोग यह मानते थे कि मानव जीवन का परम उद्देश्य बोधिसत्त्व की स्थिति को प्राप्त करना है। बोधिसत्त्व वह है जो दूसरों के कल्याण के लिये अपना सर्वस्व त्याग देता है, स्त्री और बच्चों का उत्सर्ग कर देता है, अंधे को दृष्टि दान करने के लिये अपनी आँखों को निकाल कर दे सकता है, भूखे बाघ की क्षुधा को शान्त करने के लिये अपना शरीर अर्पण कर देने को तैयार होता है और परोपकार के लिये किसी कष्ट को कष्ट नहीं समझता। बुद्ध पद को प्राप्त करने से पूर्व शाक्य गौतम ने बोधिसत्त्व के रूप में अनेक जन्म लिये थे और इस प्रकार दूसरों का हित सम्पादित किया था। मनुष्य का आदर्श यही होना चाहिए कि दुःखतप्त प्राणियों के आर्तिनाशन के लिये अपना सर्वस्व न्यौछावर कर बोधिसत्त्व के रूप में जीवन व्यतीत करे और अन्त में बुद्धत्व प्राप्त कर अपना निर्वाण कर ले। पर कोई व्यक्ति बोधिसत्त्व के इस आदर्श को तभी प्राप्त कर सकता है, जबकि वह कतिपय गुणों को उच्चतम सीमा तक अपने में विकसित कर ले। गुणों के विकास की इसी पराकाष्ठा को महायान सिद्धांत में 'पारमिता' कहा गया है। पहले छह पारमिताएं थीं, जो बाद में बढ़ कर दस हो गईं— (क) दान, (ख) शील या सच्चरित्रता, (ग) क्षान्ति या सहनशीलता, (घ) वीर्य या मानसिक शक्ति, (ङ) प्रज्ञा, (च) ध्यान या मन की एकाग्रता, (छ) उपायकौशल्य या उपाय ढूंढने में कुशलता, (ज) प्रणिधान या दृढ़ संकल्प, (झ) बल, और (ण) ज्ञान। इनमें से एक-एक गुण की पारमिता (पराकाष्ठा) को पहुँचने के लिए मनुष्य को अनेक जन्म ग्रहण करने की आवश्यकता होती है। पर यह आवश्यक नहीं, कि इन गुणों की प्राप्ति के लिये मनुष्य सांसारिक जीवन को त्याग कर भिक्षु व्रत ग्रहण करे। गृहस्थ व जीवन की किसी भी दशा में रहते हुए मनुष्य इन गुणों की पारमिता को प्राप्त कर सकता है। बोधिसत्त्व के रूप में विविध जन्म लेकर इन गुणों की पराकाष्ठा तक पहुँचने का विचार सबसे पहले जातक कथाओं में मिलता है। पालि भाषा में लिखित ये जातक खुद्दक निकाय के अन्तर्गत हैं, और सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय इनकी मान्यता को बहुत महत्त्व देता है। सर्वास्तिवाद पुराने स्थविरवाद का अन्यतम सम्प्रदाय था। अतः यह स्वीकार करना होगा, कि बोधिसत्त्व के विचार का प्रतिपादन महायान के प्रादुर्भाव से पहले भी किया जाता था। पर पहले यह माना जाता था कि बहुत-से जन्मों में गुणों की पराकाष्ठा तक पहुँचने का अभ्यास करके बोधिसत्त्व पद को प्राप्त कर सकना सबके लिये सम्भव नहीं होता। गौतम बुद्ध जैसे व्यक्ति एक कल्प में एक ही होते हैं, जो बहुत-से जन्मों में गुणों का विकास कर बोधिसत्त्व बन पाते हैं। पर महासांघिकों ने इस मन्तव्य का प्रतिपादन किया कि गुणों की पराकाष्ठा तक पहुँचने का प्रयत्न कर सब कोई बोधिसत्त्व और बुद्धत्व पद को प्राप्त कर सकते हैं। इसी मत को महायान सम्प्रदाय ने भी अपना लिया, और उस द्वारा भी यह प्रतिपादित किया जाने लगा कि बोधिसत्त्व असंख्य हो सकते हैं, और प्रत्येक प्राणी को इसी के लिये प्रयत्न करना चाहिये। पर बोधिसत्त्व की स्थिति को प्राप्त करने के लिये व्यक्ति को अनेक 'भूमियों' (दशा या सीढ़ी) में से गुजरना होता है। एक भूमि के बाद ही साधक दूसरी भूमि में पहुँच सकता है। ये भूमियाँ निम्नलिखित हैं—मुदिता,

विमला, प्रभाकारी, अर्चिष्मती, सुदुर्जया, अभिमुक्ति, दूरङ्गमा, अचला, साधमती और धर्ममेघ। निर्वाण की प्राप्ति के लिये ये क्रमागत सीढ़ियाँ हैं।

(२) बुद्ध की लोकोत्तर एवं अमानव रूप से कल्पना—गौतम बुद्ध के अनुयायी शुरू में अपने गुरु को एक 'मनुष्य' मानते थे, जिन्होंने अन्य प्राणियों के समान जन्म ग्रहण किया, जो संसार में रहे और जिनकी शिक्षाएं व मन्तव्य सबके लिए कल्याणकारी थे। पर महासांघिकों ने बुद्ध को एक लोकोत्तर सत्ता के रूप में प्रतिपादित करना प्रारम्भ किया, और यह माना कि बुद्ध ने न कभी जन्म लिया और न वे इस संसार में आ कर रहे। महायानियों ने इसी मत को और अधिक विकसित किया। उनके अनुसार बुद्ध अन्य प्राणियों के समान शरीर धारण नहीं करते और न जन्म-मरण के चक्र में पड़ते हैं। वे तो अपनी इच्छानुसार किसी भी रूप में और कितने ही समय के लिये अपने को प्रगट कर सकते हैं। लोक में उनका प्रगट होना अन्य प्राणियों से सर्वथा भिन्न होता है।

(३) मूर्ति पूजा—जब तक गौतम बुद्ध को एक मनुष्य माना जाता रहा, उनकी मूर्तियाँ बनाने व विभिन्न प्रकार से उनकी पूजा करने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं हो सकता था। पर जब महासांघिक सम्प्रदाय ने उन्हें लोकोत्तर व अमानव मानना प्रारम्भ किया, तो अलौकिक देवता के रूप में उनकी पूजा भी शुरू हो गई। बुद्ध के शिष्यों के हृदय में अपने गुरु के प्रति अगाध श्रद्धा थी। इसीलिये उनके महापरिनिर्वाण के पश्चात् सबने यह यत्न किया था कि उनके भौतिक अवशेषों को संभाल कर रख लिया जाए। इन अवशेषों पर स्तूप बनाने की प्रवृत्ति भी बौद्ध लोगों में उत्पन्न हो गई थी, और श्रद्धालु व्यक्ति उनकी पूजा भी करने लगे थे। साथ ही, वे उन स्थानों का दर्शन करने के लिये भी जाने लग गये थे, जहाँ कि गौतम बुद्ध ने जन्म लिया, जहाँ उन्होंने तपस्या कर बोध प्राप्त किया, जहाँ उन्होंने धर्मचक्रप्रवर्तन किया और जहाँ उनका निर्वाण हुआ। बौद्धों की दृष्टि में ये पवित्र तीर्थ थे, और इनकी यात्रा करना वे पुण्यकार्य मानते थे। पर महायान के विकास के साथ बुद्ध की मूर्तियाँ भी बनायी जाने लगीं और भक्तिभाव के साथ उनकी पूजा प्रारम्भ हुई। बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् पाँच सौ वर्ष के लगभग तक उनकी मूर्तियों के निर्माण व पूजा का प्रचलन नहीं हुआ था। इस काल में उनकी पूजा बोधिवृक्ष, धर्मचक्र आदि के प्रतीकों द्वारा ही की जाती थी। पर महासांघिक और महायानी विचारधारा के अनुसार जब बुद्ध को लोकोत्तर देवता के रूप में प्रतिपादित किया जाने लगा, तो यह स्वाभाविक था कि उनकी मूर्तियाँ बनाकर मन्दिरों में प्रतिष्ठापित की जाएं और देवता के रूप में उनकी पूजा की जाए। ईस्वी सन् के प्रारम्भ से कुछ पूर्व भारत में देवी-देवताओं की पूजा की प्रथा प्रारम्भ हो गई थी। शुङ्गकाल में प्राचीन वैदिक धर्म का जो पुनरुत्थान हुआ था, उसमें देवताओं की पूजा के लिये याज्ञिक कर्मकाण्ड का उतना महत्त्व नहीं था, जितना कि शिव, विष्णु आदि देवताओं के प्रतीकों तथा मूर्तियों की पूजा का था। बौद्ध-धर्म में भी इसी प्रवृत्ति का प्रारम्भ हुआ, और उसके अनुयायी केवल धर्मचक्र सदृश प्रतीकों की पूजा से संतुष्ट न होकर बुद्ध की मूर्तियों का निर्माण करने और उनकी पूजा करने के लिए प्रवृत्त हुए। बुद्ध के भौतिक अवशेषों पर स्तूप बनाने की प्रवृत्ति पहले भी विद्यमान थी, पर अब उन पर विशाल स्तूपों का निर्माण प्रारम्भ हुआ और बौद्ध लोग

विविध प्रकार से उनकी पूजा करने लग गये। लोकोत्तर बुद्ध के प्रति भक्ति बौद्ध धर्म का अब एक महत्त्वपूर्ण अंग बन गई। जिस प्रकार पुराणों में शिव, विष्णु आदि देवताओं के माहात्म्य का बड़े विशद रूप से वर्णन है, वैसे ही बौद्ध ग्रन्थों में बुद्ध की महिमा का अतिरंजित रूप से बखान किया जाने लगा और यह कहा जाने लगा कि उनकी प्रतिमा के दर्शन मात्र से या उनकी पूजा के लिये एक फूल तक अर्पित कर देने से अनन्त फल की प्राप्ति होती है। महायान विचारधारा ने बुद्ध को ऐसा रूप प्रदान कर दिया, जो पौराणिक देवी-देवताओं के ही सदृश था। क्योंकि महायानी लोग बोधिसत्त्व की स्थिति प्राप्त करना मानव-जीवन का आदर्श मानते थे, और यह समझते थे कि इस सृष्टि में कितने ही व्यक्ति इस स्थिति को प्राप्त करने में सफल होते रहे हैं, अतः बहुत-से ऐसे बोधिसत्त्वों की पूजा भी इस सम्प्रदाय में प्रारम्भ हुई और उनकी भी मूर्तियाँ बनायी जाने लगीं।

महायान के प्रमुख आचार्य और उन द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय— महासांघिकों की विचारसरणी को अपना कर जिस महायान का प्रादुर्भाव हुआ था, कालान्तर में वह भी अनेक सम्प्रदायों में विभक्त हो गया, जिनमें योगाचार (विज्ञानवाद) और माध्यमिक (शून्यवाद) मुख्य हैं। योगाचार के प्रवर्त्तक आचार्य नागार्जुन थे। इनके सम्बन्ध में अनेकविध कथाएं बौद्ध अनुश्रुति में पायी जाती हैं। ह्युएन्त्सांग के अनुसार उनका जन्म विदर्भ (बरार) के एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उनकी बुद्धि अत्यन्त तीक्ष्ण थी। ६० दिनों में ही उन्होंने सम्पूर्ण त्रिपिटक का अध्ययन कर लिया था। प्राचीन वैदिक व पौराणिक शास्त्रों के भी वे अगाध पण्डित थे। उनका समय ईस्वी सन् की दूसरी सदी में माना जाता है। अपने समय के सातवाहन राजा से उनकी मैत्री थी। कतिपय लेखों में नागार्जुन ने सातवाहन राजा के लिए सुहृद् शब्द का भी प्रयोग किया है। कुछ समय तक वे नालन्दा के बौद्ध विहार के प्रधान स्थविर भी रहे थे, और उनकी विद्वत्ता के कारण ज्ञान तथा विद्या के केन्द्र के रूप में नालन्दा की कीर्ति दूर-दूर तक फैल गई थी। इस काल में बोधगया का वज्रासन हीनयान का प्रमुख केन्द्र था। पर नागार्जुन के कारण नालन्दा की तुलना में उसका महत्त्व कम होने लगा था। इस आचार्य द्वारा जिस दार्शनिक सम्प्रदाय का प्रतिपादन किया गया, उसे माध्यमिक या शून्यवाद कहते हैं। अपने दर्शन को प्रतिपादित करने के लिए नागार्जुन ने माध्यमिककारिका नामक ग्रन्थ की रचना की थी, और उस पर 'अकुतोभया' नाम से एक टीका भी लिखी थी। इसके अतिरिक्त उन्होंने अन्य भी अनेक दार्शनिक ग्रन्थों का प्रणयन किया था। उनके बीस ग्रन्थों के चीनी भाषा में अनुवाद इस समय भी उपलब्ध हैं। नागार्जुन के माध्यमिक या शून्यवाद के अनुसार वस्तुएं न तो पूर्ण रूप से असत् हैं और न ही पारमार्थिक दृष्टि से सत् हैं। न कोई वस्तु ऐकान्तिक सत् है और न ऐकान्तिक असत्, अपितु उसका स्वरूप दोनों के मध्य बिन्दु पर ही निर्णीत किया जा सकता है, जो शून्यरूप ही होगा। शून्यवाद दो प्रकार के सत्यों का निर्देश करता है, परमार्थ सत्य और संवृति सत्य। जगत् की सत्ता अवश्य है, पर सांवृतिक या व्यावहारिक रूप से। अविद्या, मोह आदि संवृतियों से परमार्थिक सत्य आवृत रहता है, और वह जगत् दृश्यमान होता है व्यावहारिक रूप से जिसकी सत्ता है। वस्तुओं का परमार्थ रूप—जो अविद्या, मोह आदि से संवृत न हो—ही परम सत्य है, जिसके ज्ञान से

संवृतिजन्य कष्टों का अन्त हो जाता है। पर व्यावहारिक सत्य को जानकर ही उस परमार्थ सत्य का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है, जिसे जान करके निर्वाण पद की उपलब्धि सम्भव है। शून्यवाद में इस परमार्थ तत्त्व को ही 'शून्य' कहा गया है, क्योंकि वह अनिर्वचनीय है। नागार्जुन के प्रधान शिष्य आर्यदेव थे, चीनी अनुश्रुति के अनुसार जो सुदूर दक्षिण अथवा सिंहल द्वीप के निवासी थे। उन्होंने चतुश्शतक नामक एक ग्रन्थ की रचना की थी, जिसमें माध्यमिक सम्प्रदाय के सिद्धान्तों पर किये जाने वाले आक्षेपों का खण्डन था।

महायान के योगाचार (विज्ञानवाद) सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक आचार्य असङ्ग थे। उनका जन्म पेशावर के एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। प्रारम्भ में वे सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय के अनुयायी थे, जो उस समय गान्धार में विशेष रूप से प्रचलित था। पर कालान्तर में वे महायान के अनुयायी हो गये, और उन द्वारा योगाचार सम्प्रदाय का प्रारम्भ किया गया। असङ्ग के भाई वसुबन्धु भी महायान के प्रसिद्ध आचार्य थे, और उन्होंने भी योगाचार के विकास में बहुत सहायता की थी। इन आचार्यों का काल नागार्जुन से कुछ समय बाद माना जाता है। विज्ञानवाद के अनुसार सत्ता दो प्रकार की होती है, व्यावहारिक और पारमार्थिक। व्यावहारिक सत्ता के भी दो भेद हैं, एक परिकल्पित सत्ता, जैसे रज्जु में सर्प का भ्रम, और दूसरी परतन्त्र सत्ता जैसे रज्जु की सत्ता। पारमार्थिक सत्ता या परम तत्त्व वह चित्त है, जो ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान तीन रूपों में रहता है। अविद्या के कारण ये पृथक् रूप से आभासित होते हैं, यद्यपि परमार्थ में ये चित्त से अभिन्न हैं। चित्त को 'आलय विज्ञान' भी कहा जाता है। प्राणियों के सभी विज्ञान—कायिक, वाचिक और मानसिक—के वासना रूप बीजों का यह चित्त आलय या घर है, जिसके कारण वह 'आलय विज्ञान' कहाता है। ये बीज पल्लवित होकर संसार के व्यवहार के रूप में प्रगट होते हैं, जिसके परिणामस्वरूप 'प्रवृत्ति विज्ञान' का निर्माण होता है। चित्त या विज्ञान को ही एकमात्र वास्तविक सत्ता स्वीकार करने के कारण यह सम्प्रदाय 'विज्ञानवाद' के नाम से विख्यात हुआ, और योग तथा आचार पर विशेष बल देने के कारण 'योगाचार' नाम से।

महायान के आचार्यों में अश्वघोष का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वे कनिष्क के समकालीन थे, और बौद्धों की चतुर्थ महासभा के सम्बन्ध में उनका कर्तृत्व बड़े महत्त्व का था। वे न केवल बौद्ध धर्म के महान् आचार्य थे, अपितु एक उत्कृष्ट कवि और नाटककार भी थे। सौन्दरनन्द और बुद्धचरित नाम से उन्होंने दो काव्यों की रचना की, और शारद्वतीपुत्रप्रकरण नामक एक नाटक की भी। उनकी ये रचनाएं इस समय उपलब्ध भी हैं, यद्यपि बुद्धचरित और शारद्वतीपुत्रप्रकरण के अभी कुछ अंश ही प्राप्त हो सके हैं। चीनी और तिब्बती भाषाओं में इनके अनुवाद अविकल रूप से विद्यमान हैं। इनके अतिरिक्त अश्वघोष द्वारा लिखे गये कतिपय अन्य भी ग्रन्थ चीनी भाषा में अनुवादों के रूप में उपलब्ध हैं, जिनका सम्बन्ध महायान सम्प्रदाय से है। इन ग्रन्थों में वज्रसूची विशेष महत्त्व का है। इसमें वर्णव्यवस्था का तीव्र रूप से खण्डन किया गया है। श्रद्धोत्पादशास्त्र नामक एक अन्य ग्रन्थ का चीनी भाषा में अनुवाद उपलब्ध है, जिसमें योगाचार के सिद्धान्तों का विशद रूप से प्रतिपादन किया गया है। इसका लेखक

भी अश्वघोष को माना जाता है, यद्यपि अनेक विद्वानों के अनुसार यह अश्वघोष महाकवि तथा नाटककार अश्वघोष से भिन्न था।

कुशाणों के शासन काल में प्रादुर्भूत होकर महायान का बहुत उत्कर्ष हुआ। नागार्जुन और असङ्ग जैसे विद्वान् दार्शनिकों ने जिस युक्तिसंगत रूप से इसके सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया, उसके कारण तत्कालीन बुद्धिजीवी लोगों में इस सम्प्रदाय की धाक जम गई। शून्यवाद और विज्ञानवाद ने जिन दर्शनों का निरूपण किया, वे अत्यन्त उच्च वतर्क पर आधारित थे। पर महायान के लोकप्रिय होने का एक महत्त्वपूर्ण कारण यह भी था, कि सर्वसाधारण बौद्ध लोगों के लिए उसकी पूजाविधि बहुत आकर्षक थी। हीनयान या पुराना बौद्ध धर्म ईश्वर या किसी भी लोकोत्तर सत्ता में विश्वास नहीं रखता था। महायान द्वारा बौद्धधर्म में आस्तिकता के तत्त्वों का प्रवेश हुआ। बुद्ध को अमानव तथा लोकोत्तर प्रतिपादित कर इस सम्प्रदाय ने उसे एक ऐसे देवता का रूप प्रदान कर दिया, शिव और विष्णु के समान ही जिसकी पूजा की जा सकती थी। केवल बुद्ध ही नहीं, अपितु बोधिसत्त्वों की पूजा भी महायान द्वारा प्रारम्भ की गई। बोधिसत्त्व ऐसी सत्ताएँ हैं, जो प्राणिमात्र के आर्तिविनाशन तथा परित्राण के लिए सदा उद्यत रहते हैं। अवलोकितेश्वर जैसे बोधिसत्त्व सदा यह देखते रहते हैं कि कौन प्राणी कष्ट से पीड़ित है। वे भक्तों के प्रति दयालु हैं, और सदा उनके उद्धार के लिये तत्पर हैं। ऐसे बोधिसत्त्वों की पूजा से मनुष्य अभिलषित फल प्राप्त कर सकते हैं। महायान की पूजा पद्धति में बुद्ध और बोधिसत्वों की पूजा का विशिष्ट स्थान था। उनकी भक्ति को यह सम्प्रदाय निर्वाण की प्राप्ति का साधन मानता था। हीनयान के अनुसार अर्हत पद की प्राप्ति के लिए कठोर साधना की आवश्यकता होती थी, पर महायान द्वारा एक ऐसी पूजापद्धति का प्रतिपादन किया गया था, जो बहुत सरल थी और जिसे सर्वसाधारण लोग सुगमता से अपना सकते थे।

हीनयान—महायान के प्रादुर्भाव से पूर्व बौद्ध धर्म का जो रूप था, महायानी उसे हीनयान कहते थे। इस पुराने बौद्ध धर्म के अनुसार बुद्ध लोकोत्तर व अमानव न होकर एक महापुरुष मात्र थे, अतः उनकी मूर्ति बनाकर मन्दिर में प्रतिष्ठापित करने का कोई प्रयोजन नहीं है। मनुष्य के जीवन का अन्तिम उद्देश्य निर्वाण प्राप्त करना है, जिसके लिए उस अष्टाङ्ग मार्ग का अनुसरण करना आवश्यक है, जिसका प्रतिपादन बुद्ध द्वारा किया गया था। सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प आदि का पूर्ण रूप से आचरण करके ही मनुष्य अपने जीवन को कल्याणमय बना सकता है, और संयम तथा साधना द्वारा निर्वाण पद की प्राप्ति कर सकता है। अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिए मनुष्य को स्वयं ही साधना करनी होगी, किसी अलौकिक सत्ता की भक्ति व पूजा कर मनुष्य अपने लक्ष्य तक नहीं पहुंच सकता।

महायान के समान हीनयान ने भी अनेक दार्शनिक पद्धतियों का विकास किया, जिनमें वैभाषिक और सौत्रान्तिक प्रधान हैं। दृश्यमान संसार की वस्तुओं या बाह्यसत्ता और चित्तसत्ता के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए वैभाषिक और सौत्रान्तिक दार्शनिकों ने जो सूक्ष्म विवेचन किया है, उसका यहाँ उल्लेख करना उपयोगी नहीं है। बौद्धों के ये

दर्शनशास्त्र छह आस्तिक दर्शनों से भिन्न पद्धति का अनुसरण करते हैं। हीनयान के दर्शन में ईश्वर या किसी अलौकिक सत्ता को स्वीकार नहीं किया गया है। साथ ही, बाह्य पदार्थों की यथार्थ रूप में सत्ता को भी वह स्वीकार नहीं करता। वैभाषिक सम्प्रदाय के चार महान् आचार्य हुए, वसुमित्र, धर्मत्रात, घोषक और बुद्धदेव। बौद्धों की चौथी महासभा द्वारा त्रिपिटक का जो प्रामाणिक भाष्य तैयार कराया था और जिसे 'विभाषा' कहा जाता है, उसके लिखने में वसुमित्र का बहुत कर्तृत्व था। धर्मत्रात वसुमित्र के मामा थे, और उन्होंने भी 'विभाषा' के संकलन में सहयोग दिया था। घोषक तुखार देश के थे। उनके ग्रन्थ 'अभिधर्मामृतशास्त्र' में सर्वास्तिवादी अभिधर्म के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। सौत्रान्तिक सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य कुमारलात थे, जिनका समय अश्वघोष से कुछ बाद का माना जाता है। इस सम्प्रदाय के अन्य आचार्यों में श्रीलाभ का नाम उल्लेखनीय है।

हीनयान का प्रचार इस समय भारत के दक्षिण तथा दक्षिण-पूर्वी देशों—लंका, बरमा, थाईलैण्ड आदि—में है, और महायान का भारत के उत्तर व उत्तर-पूर्व में स्थित देशों - तिब्बत, चीन, मंगोलिया, कोरिया, जापान आदि—में है।

(५) वज्रयान

बौद्ध धर्म के विविध सम्प्रदायों का विकास किस प्रकार हुआ, इस विषय पर ऊपर प्रकाश डाला जा चुका है। शुरू में इस धर्म का जो रूप था, उसे स्थविरवाद कहा जाता है। पहले महासांघिक निकाय उससे पृथक् हुआ, और धीरे-धीरे ये सम्प्रदाय अठारह निकायों के रूप में विकसित हुए। महासांघिक सम्प्रदाय से ही कालान्तर में वैपुल्यवाद का विकास हुआ और उससे महायान सम्प्रदाय का। महायान के योगाचार सम्प्रदाय ने योग की एक ऐसी साधना का सूत्रपात किया था, जिसमें गूढ़ मन्त्रों और धारणियों (मन्त्रपदों) का महत्त्वपूर्ण स्थान था। 'सद्धर्म पुण्डरीक' ग्रन्थ में ऐसी धारणियाँ दी गई हैं, जिनका पाठ करने पर साधक सब विपत्तियों व संकटों से बचा रहता है। बाद में धारणियों की संख्या बढ़ती गई। उनके विषय में यह माना जाता था कि उनका पाठ करने से साधक यक्ष, नाग, राक्षस, हिंस्र पशु आदि से ही नहीं अपितु राजकीय दण्ड के भय से भी मुक्ति प्राप्त कर सकता है। बोधिसत्त्व पद की प्राप्ति के लिए भी धारणियों तथा मन्त्रों के जप को उपयोगी माना जाने लगा था। योगाचार सम्प्रदाय में धारणियों के साथ-साथ अनेकविध गुह्य साधनाओं का भी निरूपण किया जाता था, जो गुरु-शिष्य परम्परा द्वारा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में चलती जाती थीं। गुह्य साधनाओं में विश्वास करने वाले इसी सम्प्रदाय से वज्रयान का विकास हुआ। धीरे-धीरे बौद्ध धर्म के इसी रूप ने भारत में प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया। सातवीं सदी में विशेष रूप से विकसित होकर बौद्ध धर्म के जिस सम्प्रदाय का मध्यकालीन भारत में प्रमुख रूप से प्रचलन हुआ, वह वज्रयान ही था।

जो स्थान पौराणिक हिन्दू-धर्म में वाममार्ग का है, वही बौद्ध-धर्म में वज्रयान का है। तान्त्रिक क्रियाओं का प्रवेश भारत के इन धर्मों में किस प्रकार हुआ, यह विषय

बड़े महत्त्व का है। मारण, मोहन, उच्चाटन आदि की अद्भुत शक्ति जिन शब्दों में हो, उन्हें मन्त्र कहा जाता है। न केवल भारत में अपितु संसार के अन्य प्राचीन देशों में भी यह विश्वास प्रचलित था, कि मन्त्रशक्ति का प्रयोग कर मनुष्य अभिलषित फल को प्राप्त कर सकता है। साथ ही, लोग यह भी समझते थे, कि जादू-टोना आदि अभिचार-क्रियाएं वस्तुतः फलवती होती हैं। आधुनिक युग में भी मनुष्य समाज का मन्त्रशक्ति और जादू-टोनों में विश्वास पूर्णतया नष्ट नहीं हुआ है। बौद्ध धर्म के प्रादुर्भाव से पूर्व भी भारत में मन्त्र-शक्ति और अभिचार-क्रियाओं में विश्वास की सत्ता थी। यद्यपि वैदिक युग में लोग प्राकृतिक शक्तियों में दैवी भावना करके और उनके अधिष्ठातृ-देवताओं की कल्पना करके याज्ञिक अनुष्ठानों द्वारा उन्हें संतुष्ट करने का प्रयत्न करते थे, पर साथ ही मन्त्र-तन्त्र में भी उनको विश्वास था। इसके लिये वे कई प्रकार की अभिचार-क्रियाएं किया करते थे, और उनमें औषधियों का भी प्रयोग होता था। कौटलीय अर्थशास्त्र में इस प्रकार की बहुत-सी क्रियाओं का उल्लेख किया गया है, जिनके लिये आचार्य चाणक्य ने 'औपनिषदिक' शब्द का प्रयोग किया है। ये क्रियाएं गुप्त रखी जाती थीं। इन्हें केवल वही व्यक्ति जान सकता था, जो गुरु का अत्यधिक विश्वासपात्र हो। इस दशा में इनके लिये 'औपनिषदिक' शब्द सर्वथा उपयुक्त था। चाणक्य ने नन्द का विनाश करने के लिये जहाँ सेना और कूटनीति का प्रयोग किया था, वहाँ साथ ही 'अभिचार-वज्र' से भी काम लिया था। कौटलीय अर्थशास्त्र में स्पष्ट रूप से इस बात का उल्लेख है। बौद्ध-धर्म के प्रादुर्भाव के बाद जिस युग में महात्मा बुद्ध के अनुयायियों में तन्त्र-मन्त्र का प्रचलन नहीं था, चाणक्य सदृश आचार्य औपनिषदिक क्रियाओं का प्रतिपादन करते थे, और अभिचार-वज्र का प्रयोग करते थे।

जब भारत की जनता में तन्त्र-मन्त्र की शक्ति के प्रति विश्वास विद्यमान था, तो यह कैसे सम्भव था, कि बौद्ध-धर्म उससे अछूता रह जाता। यद्यपि बुद्ध अन्धविश्वासों और रहस्यमयी क्रियाओं के विरोधी थे, और जीवन की साधना का ही उपदेश उन्होंने दिया था, पर जब सर्वसाधारण जनता ने उनके धर्म को अपनाया, तो वह अपने मज्जा-तन्तुगत विश्वासों को कैसे दूर कर सकती थी। परिणाम यह हुआ, कि बौद्ध-धर्म में भी तन्त्र-मन्त्र का प्रवेश हुआ।

बौद्धों के वैपुल्यवादी सम्प्रदाय का यह भी मन्तव्य था, कि विशेष अभिप्राय से भिक्षु और भिक्षुणी मैथुन का भी सेवन कर सकते हैं। बौद्ध-संघ में जो व्यक्ति भिक्षु या भिक्षुणी बनने के लिये प्रव्रज्या ग्रहण करते थे, वे सब वृद्ध या 'लुप्तव्यवाय' ही नहीं होते थे। बहुत-से युवक व युवतियां भी प्रव्रज्या ग्रहण कर संघ में शामिल हो जाते थे। भिक्षुओं और भिक्षुणियों को एक साथ रहने का अवसर नहीं मिलता था, क्योंकि उनके संघ और विहार पृथक्-पृथक् होते थे। पर जो हजारों-लाखों युवक-युवतियाँ प्रव्रज्या ग्रहण कर पीत बस्त्र धारण कर लेते थे, वे सब काम-वासना को वशीभूत करने में समर्थ हों, यह सम्भव नहीं था। भिक्षु बन जाने के बाद भी उनमें मैथुन की इच्छा बनी रहती थी। सम्भवतः, इसीलिये वैपुल्यवादियों ने 'विशेष अभिप्राय' से (एकाभिप्रायेण) मैथुन की अनुमति प्रदान की थी। मानव-शरीर की प्राकृतिक आवश्यकता को गृहस्थाश्रम के

सीधे और सरल मार्ग द्वारा पूर्ण न कर सकने के कारण बौद्धों ने 'विशेष अभिप्राय' की आड़ ली, और रहस्यपूर्ण शब्द-जाल द्वारा मैथुन-क्रिया को 'सम्यक् संबुद्ध' बनने के लिये सहायक प्रतिपादित करना प्रारम्भ किया। वज्रगुरु काम-वासना की पूर्ति के लिये मैथुन का सेवन नहीं करता, अपितु सम्यक्-सम्बुद्ध व सिद्ध बनने के विशेष अभिप्राय से ही इसका प्रयोग करता है। वैपुल्यवादियों ने जो विचारसरणी प्रतिपादित की थी, उसी ने महायान को जन्म दिया। मैथुन-विषयक उनके विचार महायान में भी आ गये थे। पर बाद में उन्होंने बड़ा जोर पकड़ा, और वज्रगुरु व सिद्ध बनने के लिये लोग ऐसे उपायों का प्रयोग करने लगे, जो गुह्य और रहस्यमय थे, और जिनमें मैथुन-क्रियाओं को भी स्थान था। आठवीं सदी के बाद जब वज्रयान का भली-भाँति विकास हो गया था, वैपुल्यवादियों द्वारा बोया गया बीज एक महान् वृक्ष के रूप में परिणत हो गया, और सिद्धि को प्राप्त करने के इच्छुक साधक लोग भैरवी चक्र की आड़ में ऐसी बातें करने लगे, जो धार्मिक संघ के लिये तो क्या सभ्य समाज के लिये भी घृणास्पद थीं।

वज्रयान के रूप में केवल मैथुन ही बौद्ध-धर्म में प्रविष्ट नहीं हुआ, अपितु तन्त्र-मन्त्र और हठयोग ने भी उसमें महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया। शुरू में बौद्ध लोग अपने धार्मिक सूत्रों (सुत्तों) का पाठ किया करते थे। पर ये सूत्र बहुत बड़े-बड़े थे। इनके पाठ में बहुत समय लगता था। वैपुल्यवादियों ने विचार किया, कि लम्बे-लम्बे सूत्रों के पाठ से जो फल प्राप्त होता है, वह संक्षिप्त शब्द-समूह से भी प्राप्त हो सकना चाहिये, क्योंकि शब्द में विशेष शक्ति होती है, और उस शक्ति के लिये सुदीर्घ सूत्रों की आवश्यकता नहीं होनी चाहिये। इसलिये वैपुल्यवादियों ने कुछ पंक्तियों की छोटी-छोटी 'धारणियाँ' बनाई, और उनके पाठ द्वारा भी वही फल माना, जो सूत्रों के पाठ से प्राप्त होता था। पर धारणियों का पाठ भी लोगों को कष्टकर प्रतीत होता था, अतः बाद में मन्त्रों की सृष्टि की गयी, जिनमें केवल कुछ शब्द ही होते थे। 'ओं मुने मुने महामुने स्वाहा' 'ओं आ हुँ' आदि इसी प्रकार के मन्त्र थे, जिनके जप से बौद्ध लोग अभिलषित फल की आशा रखते थे। मन्त्र-शक्ति के विश्वास के साथ-साथ यौगिक क्रियाओं ने भी बौद्ध-धर्म में प्रवेश किया। बौद्धधर्म के प्रादुर्भाव से पूर्व ही भारत में योगक्रियाएँ प्रचलित हो चुकी थीं। इसमें सन्देह नहीं, कि इन क्रियाओं द्वारा शरीर की उन्नति और मानसिक शक्तियों के विकास में सहायता मिलती थी। जनता योगियों के प्रति श्रद्धा रखती थी, और उनके अनेक प्रकार के चमत्कारों को देखकर चमत्कृत भी हो जाती थी। जब जनता को योग में श्रद्धा थी, तो यह कैसे सम्भव था, कि बौद्ध-धर्म के आचार्य उसकी उपेक्षा करते। बौद्ध-धर्म के जो प्रचारक शाक्यकुलोत्पन्न सिद्धार्थ को अलौकिक व अमानव बताकर या मानव-शरीर में बुद्ध की सत्ता से ही इन्कार कर जनता को अपने धर्म में अनुरक्त करने के लिये प्रयत्नशील थे, वे योग-सिद्धियों की उपेक्षा करते, यह सम्भव नहीं था। इस प्रवृत्ति का परिणाम यह हुआ, कि धीरे-धीरे भारत में बौद्ध-धर्म ने एक ऐसा रूप धारण कर लिया, जिसके अनुसार बुद्ध अलौकिक पुरुष थे, जिसके छोटे-छोटे मन्त्र अभिलषित फल प्रदान करने वाले थे, और जिसके गुरु लोग योगाभिचार-क्रियाओं, गुह्य सिद्धियों और रहस्यमय साधनाओं द्वारा वज्रगुरु या सिद्ध पद प्राप्त कर लेते थे। इन सिद्ध गुरुओं

को न सदाचारमय जीवन की आवश्यकता थी, और न इन्द्रियजय की। उचित-अनुचित, खाद्य-अखाद्य आदि का कोई विचार इनके सम्मुख नहीं था, क्योंकि ये इन तुच्छ बातों से ऊंचे उठकर सिद्ध दशा को प्राप्त कर चुके थे। जब मनुष्य साधारण जीवन से ऊँचा उठकर सिद्ध बन जाता है, तो उसके लिये कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य व उचित-अनुचित का भेद ही नहीं रह जाता। इन भेदों से ऊंचा उठने के लिये ही वह सब पदार्थों को खाद्य मानता है, स्त्रीमात्र से मैथुन करना अपनी साधना में सहायक समझता है, और मदिरा सेवन को योग-क्रियाओं के लिये आवश्यक मानता है। आठवीं सदी तक यह वज्रयान भारत में भली-भांति विकसित हो गया था, और जनता इसके सिद्धों के प्रति अत्यधिक आदर-भावना रखने लग गयी थी।

(६) बौद्ध धर्म का अन्य देशों में प्रचार

मौर्य राजा अशोक के समय में बौद्ध धर्म का अन्य देशों में किस प्रकार प्रसार हुआ, इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। कनिष्क का साम्राज्य गान्धार और मध्य एशिया आदि में भी विस्तृत था, अतः उसके शासन काल में यह धर्म उसके साम्राज्य के अन्तर्गत इन देशों में भी प्रसारित हुआ। भारत के मध्य देश में शैव, वैष्णव आदि धर्मों के उत्कर्ष हो जाने पर भी भारत के अनेक प्रदेशों में बौद्ध-धर्म फलता-फूलता रहा, और इस धर्म के प्रचारक विदेशों में जाकर तथागत बुद्ध के धर्म का प्रचार करने में तत्पर रहे। साथ ही, व्यापार तथा उपनिवेश स्थापित करने के प्रयोजन से जो बहुत-से भारतीय शुङ्ग वंश के बाद के काल में दक्षिण-पूर्वी एशिया तथा मध्य एशिया के विविध प्रदेशों में गये, वे भी बौद्ध धर्म को इन प्रदेशों में अपने साथ ले गये। पाँचवी सदी में जावा तथा उसके समीपवर्ती द्वीपों में बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिये गुणवर्मा ने अनुपम कार्य किया, और चीन के सम्राट् के निमन्त्रण पर वह चीन भी गया। मध्य एशिया के कुची आदि राज्यों में बौद्ध धर्म के प्रसार का प्रधान श्रेय कुमारजीव को प्राप्त है। काशगर और यारकन्द में विविध शास्त्रों का अध्ययन कर वह कुची गया, और वहाँ से चीन। प्रचार कार्य में सहायता के लिये कुमारजीव ने बहुत-से विद्वानों को भारत से चीन बुलाया था, जिनमें पुण्यत्रात, संघदेव और धर्मयश प्रमुख थे।

४३५ ई० में आचार्य गुणभद्र मध्यदेश से चीन गये। संस्कृत की पुस्तकों को चीनी भाषा में अनूदित करने के लिये उन्होंने बड़ा प्रयास किया। कुल मिलाकर ७८ बौद्ध-ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया गया, जिनमें से अब केवल २८ ही प्राप्त होते हैं। ७५ वर्ष की आयु में ४६८ ई० में चीन में ही उनकी मृत्यु हुई। गुणभद्र के बाद ४८१ ई० में धर्मजातयश और छठी सदी में धर्मरुचि, रत्नमति, बोधिरुचि और गौतम प्रज्ञारुचि नाम के विद्वान् भारत के मध्य देश से चीन गये, और बौद्ध-ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद करने तथा धर्मप्रचार में व्यापृत रहे। चीन के लोग मगध तथा उसके समीप के प्रदेशों को ही मध्यदेश कहते थे, और वहाँ नालन्दा और काशी उस समय विद्या के सबसे बड़े केन्द्र थे। ये सब पंडित इन्हीं नगरों के महाविहारों से सम्बन्ध रखते थे। भारतीय पण्डितों के निरन्तर चीन में जाने का यह परिणाम हुआ, कि उस

देश के विहारों में हजारों की संख्या में भारतीय भिक्षु निवास करने लगे। एक अनुश्रुति के अनुसार छठी सदी के शुरू में चीन में भारतीय भिक्षुओं की संख्या तीन हजार के लगभग थी। इन्हीं भारतीय पण्डितों के प्रयत्नों का यह परिणाम हुआ, कि बौद्धधर्म की दृष्टि से छठी सदी चीन के इतिहास में सुवर्णयुग मानी जाती है। वहाँ का सम्राट् वू-ती बौद्ध धर्म का कट्टर अनुयायी था। अपने जीवन के अंतिम भाग में भारतीय आदर्श के अनुसार उसने राज्य का परित्याग कर भिक्षुओं के काषाय वस्त्र भी धारण कर लिये थे। ५३९ ई० में वू-ती की प्रेरणा से एक चीनी मंडल भारत इस उद्देश्य से आया, कि यहाँ से बौद्ध-ग्रन्थों को अपने देश में ले जाए। यह मण्डल चीन को वापस लौटते हुए परमार्थ नाम के एक प्रसिद्ध विद्वान् को भी अपने साथ ले गया, और इसी के प्रयत्न से चीन में बौद्ध-धर्म के योगाचार-सम्प्रदाय का प्रवेश हुआ। परमार्थ ने असंग और वसुबन्धु के ग्रन्थों का भी चीनी भाषा में अनुवाद किया। छठी सदी में जो अन्य भारतीय पण्डित चीन गये, उनमें जिनगुप्त, ज्ञानभद्र, जिनयश और गौतमधर्मज्ञान के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें से जिनगुप्त पेशावर का रहने वाला था। उसने भारतीय धर्म-ग्रन्थों को चीनी भाषा में अनूदित करने के लिये एक संघ की स्थापना की, जिसमें बहुत-से भारतीय और चीनी पण्डित शामिल हुए। इस संघ ने अपने उद्देश्य में अपूर्व सफलता प्राप्त की, और सैकड़ों संस्कृत पुस्तकों का अनुवाद चीनी भाषा में किया।

सातवीं सदी के मध्यभाग में प्रसिद्ध चीनी भिक्षु ह्यु एनत्सांग भारत आया। वह चीन लौटते समय ६५७ बौद्ध-ग्रन्थों को अपने साथ ले गया। चीन में रहनेवाले भारतीय पण्डित जो कार्य कर रहे थे, उसमें इन ग्रन्थों से बहुत सहायता मिली। भारत के बौद्ध-धर्म में उस समय बहुत जीवनी शक्ति थी, इसीलिये नये नये आचार्य दर्शन, धर्म आदि पर नये-नये ग्रन्थों की रचनाएं करते रहते थे। चीन के बौद्ध पण्डित किसी नये बौद्ध-दर्शन के विकास में प्रयत्नशील नहीं थे, वे अपने धर्मगुरु भारत के विविध आचार्यों द्वारा लिखे ग्रन्थों को अपनी भाषा में पढ़कर ही धर्म व तत्त्वज्ञान की पिपासा को शान्त कर लेते थे। आठवीं सदी के प्रारम्भ में आचार्य अमोघवज्र चीन गया। वह तंत्रशास्त्र का बड़ा पण्डित था। मगध के बौद्ध महाविहारों में उस समय तांत्रिक धर्म (वज्रयान) का जोर था। अमोघवज्र ने ४१ तंत्रग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। चीन के राजा की उसमें अपार श्रद्धा थी। उसने उसे 'राज्यकर्णधार' और 'त्रिपिटक-भदन्त' की उपाधियों से विभूषित किया था। अमोघवज्र और उसके अन्य साथियों से ही चीन में तांत्रिक धर्म का प्रवेश हुआ। ९७१ ई० में मन्जुश्री और फिर ९७३ ई० में धर्मदेव नाम के आचार्य चीन गये। वे नालन्दा के निवासी थे। धर्मदेव ने ४६ ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। १००४ ईस्वी में धर्मरक्ष अनेक पण्डितों के साथ चीन गया। वह भी मगध का निवासी था। ९६ वर्ष की आयु में १०५३ ई० में चीन में ही उसकी मृत्यु हुई। इसके बाद सन् १०५३ में ज्ञानश्री नाम के आचार्य ने मगध से चीन के लिये प्रस्थान किया। सम्भवतः, यह अन्तिम आचार्य था, जो भारत से चीन में धर्म-प्रचार के लिये गया था। ग्यारहवीं सदी के बाद चीनी अनुश्रुति में किसी ऐसे भारतीय पण्डित का उल्लेख नहीं मिलता, जो चीन जाकर बौद्ध-धर्म के प्रचार में व्यापृत रहा हो। तुर्कों के जो आक्रमण

ग्यारहवीं सदी के शुरू में भारत पर प्रारम्भ हो गये थे, उन्होंने इस देश की व्यवस्था और शांति पर कठोर कुठाराघात किया था। इन नये प्रकार के म्लेच्छों व 'यवनों' के आक्रमणों से भारत की जीवनी-शक्ति निर्बल पड़ने लग गयी थी, और मगध के महाविहार भी देर तक अपनी सता को कायम रखने में असमर्थ रहे थे। इसमें सन्देह नहीं, कि मगध और भारत के अन्य प्रदेशों के पण्डितों ने चीन जाकर वहाँ भारतीय धर्म, भाषा, सभ्यता, कला और संस्कृति के प्रचार के लिये जो अनुपम कार्य किया, वह भारत के इतिहास के लिये अत्यन्त गौरव की वस्तु है।

तिब्बत में बौद्ध-धर्म का प्रवेश चौथी सदी के शुरू में हुआ था। मौर्य राजा अशोक के समय में जो बौद्ध-प्रचारक हिमवन्त प्रदेश में धर्म-प्रचार के लिये गये थे, सम्भवतः, उन्हीं की शिष्य-परम्परा ने बाद में तिब्बत में भी कार्य किया। पर इन आचार्यों के नाम इस समय तक ज्ञात नहीं हुए हैं। तिब्बत में बौद्ध-धर्म का प्रचार विशेष रूप से सातवीं सदी में हुआ। उस समय तिब्बत में स्रोङ्-ग्चन्-गम्-पो नाम का प्रतापी राजा राज्य करता था। इसके दो विवाह हुए, एक चीन के किसी राजा की कुमारी से और दूसरा नैपाल के राजा अंशुवर्मन् की कन्या भृकुटीदेवी से। ये दोनों कुमारियाँ बौद्ध-धर्म को माननेवाली थीं। इनके प्रभाव से राजा ने भी बौद्ध-धर्म को अपनाया। इसी वंश में आगे चलकर खि-स्रोड-ल्दे-ब्चन तिब्बत का राजा हुआ। इसका एक अमात्य चीन देश का रहने वाला और कट्टर बौद्ध था। उसके प्रभाव से राजा ने शांतरक्षित नाम के भारतीय आचार्य को तिब्बत आने का निमन्त्रण दिया। आचार्य पद्मसम्भव के सहयोग से शान्तरक्षित ने तिब्बत में बौद्ध-धर्म का प्रचार किया। आठवीं सदी में जिन भारतीय पण्डितों ने तिब्बत में अपना काम शुरू किया था, वे मगध के निवासी थे। मगध के महाविहारों के अनुकरण में तिब्बत की राजधानी ल्हासा से तीस मील दक्षिण-पूर्व में सम्-ये नामक स्थान पर उन्होंने एक महाविहार का निर्माण कराया, जो बहुत समय तक तिब्बत में ज्ञान और विद्या का केन्द्र रहा। यह अब तक भी विद्यमान है, और तिब्बत के प्रसिद्ध विहारों में गिना जाता है। यह बौद्धों के सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। शांतरक्षित इसी सम्प्रदाय के अनुयायी थे। उन्होंने अपने सहयोग के लिये बारह अन्य पण्डितों को भारत से बुलाया, और इन्हीं के प्रयत्न से तिब्बती लोग भी बौद्ध भिक्षु बनने लगे। पद्मसम्भव तांत्रिक अनुष्ठानों में विश्वास करता था। उसके प्रयत्नों से तिब्बत में वज्रयान का प्रवेश हुआ। इनके बाद आर्यदेव, बुद्धकीर्ति, कुमारश्री, कर्णपति, कर्णश्री, सूर्यध्वज, सुमतिसेन और कमलशील आदि अनेक भारतीय आचार्य तिब्बत गये, और उन्होंने इस दुर्गम देश में भारतीय धर्म के प्रचार का श्लाघनीय प्रयत्न किया। इन आचार्यों में कमलशील का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्हें खास तौर पर भारत से बुलाया गया था। एक चीनी बौद्ध भिक्षु जिसका नाम ह्वा-शंग था, इस समय तिब्बत में बौद्ध धर्म के शून्यवाद सम्प्रदाय का प्रचार करने में व्यापृत था। भारतीय आचार्य सर्वास्तिवाद और माध्यमिक सम्प्रदायों के अनुयायी थे। ह्वा-शंग का मुकाबला करने के लिये यह आवश्यकता अनुभव हुई, कि भारत से एक प्रकाण्ड पण्डित को तिब्बत बुलाया जाय। इसी उद्देश्य से कमलशील तिब्बत गये, और राजा के सभापतित्व में हुई

विशाल सभा में चीनी भिक्षु के साथ उनका शास्त्रार्थ हुआ। शास्त्रार्थ में कमलशील की विजय हुई, और ह्वा-शंग ने अपने हाथों से उन्हें जयमाला पहनाई। कमलशील का तिब्बत में बड़ा आदर हुआ। उन्हें लोग दूसरा भगवान् बुद्ध मानने लगे। इस भारतीय आचार्य का विविध मसालों से सुरक्षित किया हुआ शव अब तक तिब्बत के एक विहार में सुरक्षित है, और तिब्बती लोग उसे बड़े सम्मान की दृष्टि से देखते हैं। भारतीय विद्वानों ने बौद्ध-धर्म के संस्कृत-ग्रन्थों का तिब्बती भाषा में अनुवाद भी शुरू किया। संस्कृत की पुस्तकों का तिब्बती में अनुवाद करने के लिये जिनमित्र, शीलेन्द्रबोधि, दानशील, प्रज्ञा-वर्मन्, सुरेन्द्रबोधि आदि अनेक भारतीय पण्डित तिब्बत बुलाये गये, और उनके प्रयत्नों से न केवल सम्पूर्ण बौद्ध त्रिपिटक, अपितु अन्य भी बहुत-से ग्रन्थों का तिब्बती भाषा में अनुवाद किया गया। नवीं सदी में यह प्रक्रिया निरन्तर जारी रही, और अन्य भी अनेक भारतीय पण्डित तिब्बत गये। तिब्वत में अनेक लोग ऐसे भी थे, जो बौद्ध-धर्म के द्वेषी थे, और भारतीय आचार्यों के महत्त्व को पसन्द नहीं करते थे। इनके विरोध के कारण दसवीं सदी में भारतीय पण्डितों का तिब्बत जाना कुछ समय के लिये रुक गया। पर ग्यारहवीं सदी में फिर स्मृति, धर्मपाल, सिद्धपाल, गुणपाल, प्रज्ञापाल, सुभूति, श्रीशांति और दीपंकर श्रीज्ञान अतीश आदि अनेक आचार्य तिब्बत गये। इनमें अतीश के सम्बन्ध में अधिक विस्तार से लिखने की आवश्यकता है। ये विक्रमशिला महाविहार के प्रधान कुलपति थे। इनकी कीर्ति को सुनकर तिब्बत के राजा ने एक दूतमण्डल इस उद्देश्य से भेजा था, कि अतीश को तिब्बत में निमंत्रित करे। सत्तर वर्ष के वृद्ध होने पर भी आचार्य अतीश तिब्बत गये और वहाँ जाकर उन्होंने बौद्ध-धर्म को पुनः संगठित किया। अतीश बहुत बड़े विद्वान् थे, उन्होंने २०० के लगभग ग्रन्थ लिखे, जिनमें पुराने संस्कृत ग्रन्थों के तिब्बती अनुवाद भी सम्मिलित हैं। उनकी मृत्यु तिब्बत में ही हुई। ल्हासा से बीस मील की दूरी पर क्यु-ची नदी के तट पर उनकी समाधि अब तक भी विद्यमान है, और तिब्बती लोग उसे बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखते है। तिब्बत में बौद्धधर्म का जो संगठन आचार्य अतीश ने किया था, वही कुछ परिवर्तित रूप में वहां अब तक विद्यमान है।

मगध के महाविहारों के विविध बौद्ध-आचार्यों ने चीन और तिब्बत में धर्म और संस्कृति के प्रचार के लिये जो उद्योग किया, वह वस्तुतः अनुपम था।

(७) बौद्ध-धर्म का ह्रास

अनेक गुप्त सम्राट् और मगध के पालवंशी राजा जिस बौद्ध धर्म के अनुयायी थे और जिसके महाविहारों के विद्वान् आचार्य बारहवीं सदी तक ज्ञान और धर्म के सन्देश-वाहक होकर सुदूर देशों में जाया करते थे, वह मुसलमानों के आक्रमणों के बाद भारत में सर्वथा लुप्त-सा हो गया, यह बात बड़े आश्चर्य की है। मौर्यों के बाद भारत में पौराणिक वैदिक धर्म के पुनरुत्थान का जो आन्दोलन शुरू हुआ था, उसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। भारत के सर्वसाधारण गृहस्थ ब्राह्मणों और श्रमणों का समान रूप से आदर करते थे। वे अपनी स्थानीय परम्पराओं के अनुसार विविध प्रकार के अनुष्ठानों को सम्पन्न करते थे, और सब संन्यासियों व भिक्षुओं की एकसदृश सेवा करते थे। विदेशों

में जो बौद्ध प्रचारक गये, वे एक नयी सभ्यता और संस्कृति के सन्देशवाहक भी थे, क्योंकि वहाँ के निवासी भारत की अपेक्षा बहुत पिछड़े हुए थे। पर भारत में वे केवल धर्म का ही नेतृत्व करते थे। यहाँ उन्हें किसी नई सभ्यता व संस्कृति का प्रचार नहीं करना था। बौद्ध-संघ की आन्तरिक शिथिलता के साथ-साथ ज्यों-ज्यों अन्य धर्मों के ब्राह्मणों व संन्यासियों में जीवन और स्फूर्ति बढ़ती गयी, त्यों-त्यों बौद्ध भिक्षुओं का जनता पर प्रभाव कम होता चला गया।

इसके अतिरिक्त, पौराणिक धर्म के पुनरुत्थान के साथ जिन देवी-देवताओं की उपासना का प्रारम्भ हुआ था, वे भारत की प्राचीन परम्परा के अनुसार लोगों के हृदय में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते थे। बौद्ध लोग उनकी उपेक्षा नहीं कर सके। उन्होंने भी उन देवी-देवताओं को नये नामों से अपने धर्म में स्थान देना शुरू किया। मंजुश्री, तारा, अवलोकितेश्वर आदि के रूप में अनेक देवी-देवताओं ने बौद्ध-धर्म में भी प्रवेश कर लिया था। बौद्धों के जो बहुत-से सम्प्रदाय व उप-सम्प्रदाय धीरे-धीरे विकसित हो गये थे, उन्होंने पौराणिक धर्म से उनके भेद को बहुत कम कर दिया था। तंत्रवाद के प्रवेश से तो शक्ति के उपासक पौराणिक और वज्रयानी बौद्ध एक-दूसरे के बहुत समीप आ गये थे। भगवान् के दस अवतारों में पौराणिक लोगों ने बुद्ध को भी शामिल कर लिया था। जिस महा-प्रतापी सिद्धार्थ के अनुयायी न केवल भारत में अपितु सुदूर विदेशों में भी संस्कृत-भाषा, भारतीय धर्म और भारतीय संस्कृति के प्रचार में लगे थे, जिसके स्तूपों, चैत्यों और विहारों से सारा सभ्य संसार आच्छादित था, वह भगवान् का साक्षात् अवतार नहीं था तो क्या था ? पौराणिक लोग बुद्ध को अवतार मानते थे और बौद्ध लोग भारत के पुराने देवी-देवताओं और दार्शनिक विचारसरणी का अनुसरण करते थे। इस दशा में यदि उनका आपस का भेद बहुत कम रह गया हो, तो यह सर्वथा स्वाभाविक था।

गुप्त सम्राटों में कुछ वैष्णव, कुछ शैव और कुछ बौद्ध थे। एक ही परिवार में भिन्न-भिन्न व्यक्ति भिन्न-भिन्न धर्मों के अनुयायी हो सकते थे। सम्राट् हर्षवर्धन सूर्य की उपासना करता था, शिव को मानता था, और साथ ही बौद्ध स्थविरों में भी श्रद्धा रखता था। पालवंशी राजा बौद्ध थे, पर ब्राह्मण पण्डितों को दान देने में और पौराणिक मन्दिरों की सहायता करने में वे संकोच नहीं करते थे। भारत के विविध धर्मों का भेद इस समय केवल उनके नेताओं में ही शेष रह गया था। बौद्ध भिक्षु अपने महाविहारों में रहते थे, पौराणिक संन्यासी आश्रमों और मठों में निवास करते थे। विभिन्न धर्मों के इन विविध पण्डितों में प्रायः शास्त्रार्थ चलते रहते थे। जिस धर्म के पण्डित, ब्राह्मण व संन्यासी अधिक विद्वान् व त्यागी होते, वही जनता पर अपना अधिक प्रभाव कायम कर लेता। सातवीं सदी में अनेक ऐसे पौराणिक विद्वान् भारत में हुए, जिन्होंने अपनी विद्वत्ता, तर्क और प्रभाव से सबको चकाचौंध-सा कर दिया। प्रभाकर और कुमारिल भट्ट के नाम इनमें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। कुमारिल ने बौद्ध सिद्धान्तों पर आक्रमण किये, और वैदिक अनुष्ठानों तथा प्राचीन दर्शनपद्धति के गौरव को पुनरुज्जीवित किया। बाद में शंकराचार्य ने सारे भारत में भ्रमण कर बौद्धों के साथ शास्त्रार्थ किये, और बौद्ध-भिक्षुसंघों के मुकाबले में अपने मठों की स्थापना की, जिनमें हजारों संन्यासी

विद्याध्ययन में व्यापृत रहने लगे। इन संन्यासियों के सम्मुख बौद्ध भिक्षुओं का प्रभाव मन्द पड़ गया। बौद्ध-संघ को कायम हुए हजार से ऊपर साल हो चुके थे, वैभवपूर्ण सम्राटों के दान और साहाय्य से उसके पास अपार सम्पत्ति एकत्र हो गयी थी। मगध के महाविहारों में हजारों भिक्षु निश्चिन्त होकर आनन्द के साथ जीवन व्यतीत करते थे। उन्हें लोगों के पास भिक्षापात्र लेकर जाने की आवश्यकता अब नहीं रही थी। वे नाम को ही भिक्षु थे। इसके विपरीत आश्रमों और मठों में रहने वाले संन्यासियों में इस समय नई स्फूर्ति विद्यमान थी। परिणाम यह हुआ, कि भारतीयों की श्रद्धा बौद्ध भिक्षुओं में कम हो गयी, और वे संन्यासियों के उपदेशों को अधिक सम्मान के साथ श्रवण करने लगे।

बारहवीं सदी के अन्त में मुसलमानों के आक्रमणों से जब मगध के महाविहार तथा अन्य प्रदेशों के संघाराम और विहार नष्ट हुए, तो बौद्ध-भिक्षुओं के रहे-सहे प्रभाव का भी अन्त हो गया। सुदूर दक्षिण के संन्यासियों के मठ मुसलमानों के आक्रमणों से बचे रहे थे। रामानुज, शंकराचार्य आदि ने जिन नये धार्मिक आन्दोलनों का सूत्रपात किया था, उनके केन्द्र दक्षिणी भारत में ही थे। वहाँ के संन्यासी बाद में भी भारत भ्रमण करते हुए जनता को धर्म का मार्ग प्रदर्शित करते रहे। मगध के मुसलिम आक्रान्ताओं द्वारा पराभूत होने और बौद्ध विहारों के ध्वंस के बाद बहुत-से भिक्षु नेपाल और तिब्बत की ओर चले गये थे। मुसलमानों को बौद्ध-भिक्षुओं से बहुत द्वेष था। जब मुसलमानों ने मध्य एशिया पर हमले किये थे, तो उस क्षेत्र में भी बौद्ध-धर्म का प्रचार था। वहाँ भी उन्होंने बौद्ध-विहारों और भिक्षुओं का विनाश किया था। भारत में भी उन्हें जब वही विहार और वही भिक्षु दिखायी दिए, तो उन्होंने यहाँ भी उनके साथ बड़ी क्रूरता का बरताव किया। भारत से बौद्ध धर्म के लोप का यह भी एक महत्त्वपूर्ण कारण था।

वज्रयान के विकास ने भी भारत में बौद्ध-धर्म के ह्रास में बहुत सहायता दी। सातवीं सदी के बाद भारत में जिस बौद्ध-धर्म का प्रचार था, वह मुख्यतया वज्रयान ही था। इस सम्प्रदाय के सिद्ध वज्रगुरु जिस प्रकार का जीवन व्यतीत करते थे, वह अन्ध-विश्वासी और अन्धभक्त लोगों को चाहे अपने प्रति अनुरक्त रख सके, पर विचारशील लोग उससे कदापि संतोष अनुभव नहीं कर सकते थे। बौद्ध-संघ के पास धन की कमी नहीं थी। इस धन का उपयोग वे अब एक ऐसे विलासपूर्ण व उच्छृंखल जीवन को बिताने में करने लगे थे, जिसे उन्होंने रहस्यमय साधनाओं और जटिल वाग्जाल की आड़ लेकर योगसिद्धि का उपाय मान रखा था। दूसरी ओर कुमारिल और शंकर जैसे पंडित जहाँ अगाध विद्वान् थे, वहाँ साथ ही त्यागी और तपस्वी भी थे। उन्होंने अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिये पण्डितों और संन्यासियों की जिन मण्डलियों को संगठित किया, वे पवित्र और त्यागमय जीवन में विश्वास रखती थीं। परिणाम यह हुआ, कि जनता की श्रद्धा बौद्ध-धर्म में कम होने लगी, और वह प्रधानतया उन महाविहारों में ही केन्द्रित रह गया, जिन्हें राजाओं से प्रचुर सहायता प्राप्त होती थी, और जिनके पास अतुल धनराशि संचित थी। इसमें संदेह नहीं, कि कुमारिल और शंकर के बाद भी भारत में बौद्ध-धर्म का प्रचार रहा। बंगाल और मगध के पाल राजा धर्म से बौद्ध थे। प्रतापी गहड़वाल वंश

के अनेक राजपुरुषों ने भी बौद्ध-धर्म के प्रति भक्ति प्रदर्शित की थी। कतिपय अन्य राजवंश भी बौद्ध-धर्म के अनुयायी रहे। पर इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता, कि मध्य युग में न भारत की बहुसंख्यक जनता ही बौद्ध-धर्म की अनुयायी रही थी, और न उसके बहुसंख्यक राजवंश थी। मौर्यों के बाद वैदिक धर्म का जो पुनरुत्थान हुआ था, वह धीरे-धीरे जोर पकड़ता जा रहा था। कुमारिल और शंकर जैसे पण्डितों के प्रयास के कारण जनता की श्रद्धा वैदिक व पौराणिक सम्प्रदायों के प्रति बढ़ रही थी। इस युग में वैष्णवों और शैवों में भी यह शक्ति थी, कि वे विदेशी जातियों को अपने धर्मों में दीक्षित कर सकें, और विदेशों में जाकर अपने धर्म का प्रचार करें। मध्ययुग में बौद्ध-धर्म का प्रधान केन्द्र मगध था, जहाँ बौद्ध-धर्म के अनुयायी पाल राजाओं का शासन था। अन्यत्र इस धर्म का तेजी के साथ ह्रास हो रहा था। जब मुहम्मद बिन बख्तियार खिलजी जैसे धर्मान्ध आक्रान्ताओं ने बिहार के बौद्ध-केन्द्रों को भूमिसात् कर दिया, तब यह धर्म इस देश से लुप्त हो गया।

(८) भारतीय संस्कृति को बौद्ध-धर्म की देन

यद्यपि बौद्ध-धर्म भारत से लुप्त हो चुका है, पर वह इस देश की संस्कृति, विचार-सरणी और जीवन पर अपना गहरा प्रभाव छोड़ गया है। एक हजार साल से भी अधिक समय तक बौद्ध-धर्म का इस देश में प्रचार रहा। इस सुदीर्घ काल में इस धर्म ने यहाँ के सामाजिक जीवन को इतना अधिक प्रभावित किया, कि बौद्ध-धर्म को लुप्त हुए आठ सदी के लगभग समय बीत जाने पर भी उसका प्रभाव अभी तक विद्यमान है। भारत की संस्कृति और जीवन को बौद्धों ने जिस प्रकार प्रभावित किया है, उसका संक्षेप में निम्नलिखित प्रकार से निदर्शन किया जा सकता है :—

(१) भारतीय दर्शन पर बौद्ध-धर्म का बहुत अधिक प्रभाव है। प्राचीन समय में वैदिक या आस्तिक दर्शनों का किस प्रकार विकास हुआ, इस पर हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं। पर भारतीय दर्शनशास्त्र का विकास प्राचीन काल में ही समाप्त नहीं हो गया था। बौद्ध-युग और बाद के काल में भी उसका विकास जारी रहा। नव्य न्याय प्राचीन न्यायशास्त्र से बहुत अधिक विकसित है। वेदान्त का प्रतिपादन जिस रूप में शंकराचार्य ने किया, वह उपनिषदों व ब्रह्मसूत्रों के वेदान्त से अनेक अंशों में भिन्न है। दर्शनशास्त्र का जिस ढंग से विकास बाद में हुआ, उसमें बौद्ध पण्डितों का बड़ा कर्त्तृत्व था। भारतीय न्यायशास्त्र का सूत्रपात और विकास करने में अक्षपाद, वात्स्यायन, वाचस्पति, उदयनाचार्य और गंगेशोपाध्याय ने जो कार्य किया, उससे कम महत्त्वपूर्ण कार्य नागार्जुन, वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्त्ति, प्रज्ञाकरगुप्त और ज्ञानश्री आदि बौद्ध पण्डितों ने नहीं किया। इन बौद्ध-पण्डितों की छाप न्यायशास्त्र पर बहुत अधिक स्पष्ट है। शंकराचार्य के वेदान्त पर भी बौद्ध विचारसरणी का प्रभाव बहुत अधिक है। शंकर का मायावाद नागार्जुन के शून्यवाद का ही रूपान्तर है। शंकर सृष्टिकर्त्ता के रूप में ईश्वर की आवश्यकता को नहीं मानता। उसका 'ब्रह्म' सृष्टि का कारण अवश्य है, पर ब्रह्म सृष्टि को बनाता नहीं है, अपितु माया से अवच्छिन्न होकर सृष्टि के रूप में

उसका आभासमात्र हो जाता है। शंकर के अनुयायी श्रीहर्ष का 'खण्डनखण्डखाद्य' बौद्धों के माध्यमिक दर्शन से अधिक भिन्न नहीं है। यही कारण है, जो अनेक विचारकों ने शंकर को प्रच्छन्न बौद्ध कहा है। सांख्य जैसा दर्शन जो सृष्टिकर्त्ता ईश्वर को न मानकर कपिल के रूप में एक सर्वाधिक ज्ञानवान् व्यक्ति को गुरु-रूप से प्रतिपादित करता है, वह भी बौद्ध दर्शन के प्रभाव का ही परिणाम है। इसमें सन्देह नहीं, कि भारत के दर्शन-शास्त्रों का जिस रूप में आगे चलकर विकास हुआ, उस पर बौद्ध दर्शनों का प्रभाव बहुत स्पष्ट है।

(२) बौद्ध-धर्म ने याज्ञिक अनुष्ठान और पशुहिंसा के विरुद्ध आवाज उठाई थी। इसीलिये जब शुङ्ग-युग में पुराने वैदिक धर्म का पुनरुत्थान हुआ, तो यज्ञों और याज्ञिक अनुष्ठानों में पशुबलि का वह स्थान नहीं रहा, जो बौद्धों से पहले था। बौद्ध-धर्म के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में भागवत, शैव आदि जो पौराणिक सम्प्रदाय प्रचलित हुए, वे भक्ति और पूजा-धर्म को यज्ञों की अपेक्षा अधिक महत्त्व देते थे। यदि बौद्ध लोग जीवन की उन्नति के लिए महात्मा बुद्ध को जनता के सम्मुख आदर्श के रूप में पेश करते थे, तो भागवत धर्म के आचार्यों ने कृष्ण और राम को पूर्ण पुरुषों के रूप में उपस्थित किया। यदि बुद्ध की भक्ति द्वारा मनुष्य परमलाभ प्राप्त कर सकता था, तो राम और कृष्ण सदृश लोकोत्तर व्यक्तियों (ईश्वर के अवतारों) की भक्ति भी उसे अभिलषित फल प्राप्त करा सकती थी। बौद्ध-धर्म में जो स्थान बुद्ध का था, भागवतधर्म में वही वासुदेव कृष्ण का था। बौद्ध लोग बुद्ध की पूजा के लिये चैत्यों का निर्माण करते थे और उनमें बुद्ध की मूर्ति स्थापित करते थे, तो पौराणिकों ने कृष्ण, राम, शिव, स्कन्द और विशाख की प्रतिमाएँ बनाकर मन्दिरों में उनकी प्रतिष्ठा करना प्रारम्भ कर दिया था। ज्यों-ज्यों बौद्धों के पूजा-पाठ में आडम्बर की वृद्धि हुई, पौराणिकों ने भी उसका अनुसरण कर अपनी पूजा को जटिल बना लिया। मन्दिरों में कृष्ण व राम की जो मूर्तियाँ स्थापित होती थीं, उनका साज-शृंगार किया जाने लगा। उनको संतुष्ट करने के लिये नाचने और गाने की प्रथा शुरू हुई, और उनके सम्मुख भोग लगाया जाने लगा। बौद्धों के वज्रयान के समान पौराणिक धर्म में भी अब ऐसे सम्प्रदाय उत्पन्न हुए, जो अलौकिक सिद्धि प्राप्त करना ही अपना ध्येय मानते थे। अब शैवों के पाशुपत और कापालिक सम्प्रदायों ने बहुत जोर पकड़ा। ये दोनों सम्प्रदाय वज्रयानी बौद्धों के समान सिद्धियों में विश्वास रखते थे, और उसके लिये अनेक रहस्यमय अनुष्ठानों का प्रतिपादन करते थे। बाद में शाक्त सम्प्रदाय बहुत प्रबल हुआ, जो आनन्दभैरवी आदि देवियों की पूजा करता था। इसी सम्प्रदाय को वाममार्ग भी कहते थे।

(३) बौद्ध विहारों के अनुकरण में पौराणिक सम्प्रदायों ने मठों का संगठन किया। इन मठों में हजारों संन्यासी या साधु एक साथ रहने लगे, और उनका जीवन बौद्ध-भिक्षुओं से अधिक भिन्न नहीं रहा। बौद्धों से पूर्व भारत में मठों या विहारों की प्रथा नहीं थी। उस युग में अरण्यों में आश्रमों की सत्ता अवश्य थी, जिनमें तत्त्वचिन्तक ऋषि-मुनि अपने पुत्र-कलत्र के साथ निवास करते थे, और ज्ञानपिपासुओं को उपदेश करते थे। पर प्रव्रज्या द्वारा भिक्षुव्रत लेकर हजारों भिक्षुओं का विहार में निवास करना

बौद्ध-धर्म द्वारा ही प्रारम्भ हुआ, और उसी के अनुकरण में पौराणिक सम्प्रदायों के मठ संगठित हुए, जिनमें संन्यास लेकर बहुत-से साधु एक साथ निवास करने लगे।

(४) भारत में विद्या और ज्ञान के विकास में भी बौद्धों ने बहुत भाग लिया। संस्कृत व्याकरण में चन्द्रगोमि का व्याकरण अपना विशेष स्थान रखता है, यद्यपि उसने वैदिक संस्कृत का स्पर्श नहीं किया, क्योंकि वह बौद्ध था। काशिकाकार जयादित्य और न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि बौद्ध-धर्म के अनुयायी थे। पाणिनि मुनि की अष्टाध्यायी की इन दोनों टीकाओं का व्याकरण-साहित्य में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। संस्कृत के अत्यन्त प्रसिद्ध कोश 'अमरकोश' का रचयिता अमरसिंह बौद्ध था। आयुर्वेद की रसायन शाखा के विकास में आचार्य नागार्जुन ने बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया। कालिदास से पूर्व महाकवि अश्वघोष ने 'बुद्धचरित' और 'सौन्दरानन्द' जैसे महाकाव्य, और 'राष्ट्रपाल' व 'सारिपुत्र' जैसे नाटक लिखकर संस्कृत-काव्य की उस धारा को प्रारम्भ किया, जिसे आगे चलकर कालिदास और भवभूति ने बहुत उन्नत किया। हर्ष ने नागानन्द लिखकर बोधिसत्त्व के आदर्श का चित्रण किया। हिन्दी-साहित्य के प्रारम्भ का श्रेय भी बौद्ध विद्वानों को ही प्राप्त है। बौद्ध विद्वानों की सदा यह नीति रही, कि उन्होंने अपने मन्तव्यों का प्रचार करने के लिये ऐसी भाषा का प्रयोग किया, जिसे सर्वसाधारण जनता भली-भाँति समझ सकती थी। बुद्ध ने अपने उपदेश पालि भाषा में दिये थे। इसीलिए स्थविरवाद के त्रिपिटक की भाषा पालि ही थी। वज्रयान के विकास होने पर उसके सिद्ध गुरुओं ने एक ऐसी अपभ्रंश भाषा को अपने उपदेशों के लिए प्रयुक्त किया, जो उस समय जनता की भाषा थी, और जो आगे चलकर विकसित होती-होती हिन्दी के रूप में परिवर्तित हो गयी। यही कारण है, कि सरहपा सिद्ध को हिन्दी का आदिकवि माना जाता है। यह वज्रयानी सिद्ध सातवीं सदी में हुआ था। उदाहरण के लिये इनका एक दोहा यहाँ उल्लखित करना उपयोगी होगा :

जह मन पवन न संचरइ, रवि शशि नाह प्रवेश
तहि वट चित्त विसाम करु, सरहे कहिअ उवेश ।।

(५) भारत की मूर्त्तिकला और वास्तुकला के विकास में बौद्धों ने बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य विया। सांची, भरहुत, गान्धार व मथुरा की कलाएं बौद्धों की ही कृति थीं। अजन्ता, बाघ आदि के गुहामन्दिर और उनकी दीवारों पर बनाये गये सुन्दर चित्र बौद्धों द्वारा इस क्षेत्र में किये गये कार्य के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। एलोरा, अजन्ता, कार्ले आदि में पहाड़ काटकर बनाये गये भव्य प्रासाद बौद्ध शिल्पियों की ही कृति हैं। बड़े-बड़े चैत्यों, स्तूपों और विहारों के निर्माण में जो कर्तृत्व बौद्धों ने प्रदर्शित किया, वह वस्तुतः अद्भुत था। बौद्धों के प्रयत्न से ही वास्तुकला के ये विविध नमूने भारत में सर्वत्र व्याप्त हो गये, और भारत के जो प्राचीनतम भवन, मूर्त्तियाँ आदि अविकल एवं खण्डहर रूप में आजकल उपलब्ध होते हैं, वे सब प्रायः बौद्धों द्वारा ही बनवाये गये थे।

(६) अहिंसा, प्राणिमात्र का हित व कल्याण और सदाचारमय जीवन के जो आदर्श बौद्ध-धर्म ने उपस्थित किये थे, वह आज तक भी भारतीयों के जीवन को अनुप्राणित करते हैं। बौद्धों ने अपने धर्म के प्रचार के लिये कभी पाशविक बल का उपयोग

नहीं किया। सब प्राणियों के प्रति मैत्रीभावना ही उनकी लोकप्रियता में प्रधान कारण हुई। बौद्धों की इसी भावना का यह परिणाम हुआ, कि इस देश में धार्मिक विद्वेष कभी उस रूप में प्रगट नहीं हुआ, जैसा कि अन्यत्र हुआ था।

(७) महात्मा बुद्ध के सन्देश को विदेशों में दूर-दूर तक फैलाकर बौद्ध-प्रचारकों ने भारतीय भाषा, सभ्यता, संस्कृति और साहित्य को सार्वभौम रूप प्रदान किया। भारत के प्राचीन इतिहास का यह सबसे अधिक उज्ज्वल और गौरवपूर्ण पहलू है। उत्तर-पश्चिम और दक्षिण-पूर्व के सुविस्तृत क्षेत्रों में किस प्रकार बृहत्तर भारत का विकास हुआ था, इस विषय पर संक्षेप के साथ भी यहाँ लिख सकना सम्भव नहीं है। पर यह स्वीकार करना होगा कि भारतीय संस्कृति का इतने विशाल क्षेत्र में प्रसार करने का प्रधान श्रेय बौद्धों को ही प्राप्त है, और यही उनकी भारतीय इतिहास को सबसे महत्त्वपूर्ण देन है।

पांचवां अध्याय

वैष्णव और शैव धर्मों का उत्कर्ष

(१) वैष्णव धर्म का विकास

वासुदेव कृष्ण द्वारा जिस नई धार्मिक विचारधारा का सूत्रपात किया गया था, शुङ्ग वंश के शासन काल में बौद्ध धर्म के विरुद्ध प्रतिक्रिया के कारण उसका किस प्रकार उत्कर्ष हुआ, इस पर इस ग्रन्थ के तीसरे अध्याय में प्रकाश डाला जा चुका है। अनेक यवन व अन्य विदेशी आक्रान्ता भी उसके प्रभाव में आये, और कालान्तर में वह भारत का सर्वप्रधान धर्म बन गया। गुप्त वंश के अनेक प्रतापी सम्राट् वैष्णव धर्म के अनुयायी थे, और चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य सदृश अनेक गुप्त सम्राटों ने अपने सिक्कों में अपने नाम के साथ 'परम भागवत' विशेषण का प्रयोग किया है। चन्द्रगुप्त द्वितीय के समान कुमारगुप्त और स्कन्दगुप्त भी अवश्य ही भागवत या वैष्णव धर्म के अनुयायी थे। चन्द्रगुप्त द्वितीय और समुद्रगुप्त के सिक्कों पर गरुड़ की प्रतिमा अंकित है, जिसे विष्णु का वाहन माना जाता है। गुप्त सम्राटों के संरक्षण के कारण वैष्णव धर्म की बहुत उन्नति हुई, और बहुत-से वैष्णव मन्दिरों का उनके शासन-काल में निर्माण हुआ। इस युग के अनेक शिलालेखों में धर्मप्राण भक्त लोगों द्वारा बनवाये गए विष्णु-मन्दिरों और विष्णु-ध्वजों का उल्लेख है। उदयगिरि (उड़ीसा) में चतुर्भुज विष्णु की एक मूर्ति है, जो ४०० ईस्वी की है। गाजीपुर (उत्तर प्रदेश) जिले के मितरी नामक स्थान से स्कन्दगुप्त का एक स्तम्भलेख उपलब्ध हुआ है, जिसमें वासुदेव कृष्ण की मूर्ति का उल्लेख है और यह कहा गया है कि उसकी पूजा के लिए ग्राम का दान किया गया था। जूनागढ़ (काठियावाड़) में विद्यमान स्कन्दगुप्त के समय के एक अभिलेख में विष्णु के मन्दिर के निर्माण का उल्लेख है। सागर (मध्य प्रदेश) जिले के एरण नामक स्थान पर बुधगुप्त के समय का एक अभिलेख है, जिससे जनार्दन (वासुदेव) के सम्मान में ध्वजस्तम्भ का निर्माण कराया जाना सूचित होता है। इसी प्रकार के कितने ही अन्य अभिलेख मिले हैं, जो गुप्त युग में विष्णु मन्दिरों के निर्माण पर प्रकाश डालते हैं। वैष्णव धर्म के अनुसार प्रलय के समय डूबती हुई पृथिवी का भगवान् विष्णु ने वराह अवतार ग्रहण कर उद्धार किया था। विदेशी जातियों तथा म्लेच्छों के आक्रमणों के कारण भारत में जो एक प्रकार का प्रलय उपस्थित हो गया था, उसमें भारतभूमि का उद्धार करने वाले गुप्तवंशी सम्राटों के शासन काल में यदि भगवान् के वराहावतार की विशेष रूप से पूजा प्रारम्भ हो गई हो, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। ५०० ईस्वी के लगभग की वराह की एक मूर्ति एरण में विद्यमान है, जिस पर उत्कीर्ण अभिलेख में वराहावतार के रूप में विष्णु के मन्दिर के निर्माण का उल्लेख है। बुधगुप्त के समय के दामोदरपुर अभिलेख से ज्ञात होता है कि कौशिकी और कोका नदियों के संगम पर हिमवच्छिकर में श्वेतवराहस्वामी और कोकामुखस्वामी के दो मन्दिर विद्यमान

थे। यह स्थान नेपाल के वराह क्षेत्र में है, और वहाँ के मन्दिरों में जो मूर्तियाँ प्रतिष्ठापित थीं, वे विष्णु के वराहावतार की ही थीं। वराहावतार की सबसे महत्त्वपूर्ण मूर्ति उदयगिरि गुहा (मालवा में) की दीवार पर उभारी गई है। यह मूर्ति अत्यन्त विशालकाय है। और इसमें पृथिवी का उद्धार करते हुए वराहरूपी विष्णु को चित्रित किया गया है।

अवतारवाद—गुप्त वंश तथा उसके पश्चात् के समय में केवल वैष्णव धर्म का प्रसार ही नहीं हुआ, अपितु अनेक रूपों में उसका विकास भी हुआ। यह विकास प्रधानतया अवतारवाद के रूप में था। भगवान् समय-समय पर अवतार ग्रहण कर मनुष्यों का उद्धार करते हैं, यह विचार भारत में बहुत प्राचीन समय से प्रचलित था। शतपथ ब्राह्मण में जलप्लावन की कथा के साथ भगवान् के मत्स्यावतार का उल्लेख मिलता है। शतपथ ब्राह्मण में ही अन्यत्र प्रजापति द्वारा कूर्म (कच्छप) का रूप ग्रहण कर 'प्रजाओं' के सृजन का वर्णन है। विष्णु ने वराह का अवतार लेकर पृथिवी का उद्धार किया, इसके संकेत ब्राह्मण ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर विद्यमान हैं। वामन का रूप धारण कर विष्णु ने तीन पगों से सारी पृथिवी को नाप लिया था, इस कथा का मूल ऋग्वेद में भी पाया जाता है, यद्यपि इसका विस्तृत विवरण तैत्तिरीय ब्राह्मण में विद्यमान है। तैत्तिरीय में भगवान् के नृसिंह अवतार का भी वर्णन मिलता है। इसमें सन्देह नहीं कि अवतारवाद का विचार बहुत प्राचीन है, पर वैष्णव धर्म में उसे विशेष रूप से विकसित किया गया और वह इस धर्म का प्रधान अंग बन गया। ब्राह्मण ग्रन्थों में भगवान् के मत्स्य, कूर्म, वराह और नृसिंह के जो अवतार निरूपित किये गए हैं, सम्भवतः वे प्राणियों के क्रमिक विकास को सूचित करते हैं, और उन द्वारा प्राचीन भारतीय चिन्तकों ने आलंकारिक शैली में एक वैज्ञानिक तथ्य का प्रतिपादन किया है। पर वैष्णव धर्म के अनुसार भगवान् विष्णु अपने भक्तों व साधुजनों के परित्राण, अधर्म के नाश तथा धर्म के संस्थापन के लिए समय-समय पर विश्व में अवतार लेते हैं। कृष्ण और राम के रूप में विष्णु ने ही पृथिवी पर अवतार लिया था, और इसीलिए उनकी मूर्तियों को प्रतिष्ठापित करना और उनकी पूजा करना वैष्णव धर्म में विहित है।

महाभारत के नारायणीय खण्ड में एक स्थान पर वराह, वामन, नृसिंह और वासुदेव-कृष्ण इन चार अवतारों का उल्लेख है, और अन्यत्र राम भार्गव और राम दाशरथि को भी अवतार रूप में लिखकर अवतारों की संख्या छह तक पहुँचा दी गई है। फिर मत्स्य, कूर्म, हंस और कल्की को भी अवतारों में सम्मिलित कर दस अवतार गिना दिये गये हैं। पुराणों में न केवल अवतारों की संख्या में भेद है, अपितु उनके नाम भी भिन्न-भिन्न हैं। कहीं दस अवतार गिनाये गए हैं, कहीं चौबीस और कहीं उनतालीस। जयदेव के गीतगोविन्द के अनुसार कृष्ण तो साक्षात् विष्णु थे, और उनके दस अवतार मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, राम भार्गव (परशुराम), राम दाशरथी (दशरथ के पुत्र राम) राम हलधर (बलराम), बुद्ध और कल्की थे। क्षेमेन्द्र (१०५० ईस्वी) के दशावतारचरित में भी बुद्ध को विष्णु का अन्यतम अवतार कहा गया है, जिससे बौद्ध और पौराणिक हिन्दू धर्मों में समन्वय स्थापित हो जाने का संकेत मिलता है। विष्णु के सभी अवतारों की किसी-न-किसी रूप में पूजा भारत में प्रचलित रही है। वामन की उपासना तमिल प्रदेश के आलवारों

में चिरकाल तक होती रही, और वराह को भी वे अपना उपास्य देव मानते रहे। पर मत्स्य, नृसिंह, वराह और कूर्म सदृश अवतारों ने वैसा महत्त्वपूर्ण स्थान कभी प्राप्त नहीं किया, जैसा कि राम को प्राप्त हुआ। वासुदेव कृष्ण को तो साक्षात् विष्णु या भगवान् माना जाता रहा, और राम को प्रायः उनके समकक्ष स्थान प्रदान किया गया।

राम की पूजा—विष्णु के अवतार के रूप में राम की पूजा कब प्रारम्भ हुई, यह प्रश्न विवादग्रस्त है। महाभारत और रामायण में राम की कथा जिस रूप में वर्णित है, उसके अनुसार वे एक आदर्श पुत्र, आदर्श भाई, आदर्श राजा और वीर अवश्य थे, पर वे किसी सम्प्रदाय के प्रवर्तक और धर्म के उपदेष्टा भी हों, यह सूचित नहीं होता। कृष्ण के समान उन्होंने कोई धार्मिक तत्त्व भी प्रतिपादित नहीं किये थे। पर उनका चरित्र ऐसा था, जिसे सर्वसाधारण जनता के सम्मुख आदर्श के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता था। ईस्वी सन् के प्रारम्भ होने से कुछ सदी पूर्व भारत की धार्मिक विचारसरणी में याज्ञिक कर्मकाण्ड का महत्त्व घटने लग गया था, और उसका स्थान उपासना और भक्ति लेने लग गई थीं। उपासना के लिए कोई उपास्य देव भी होने चाहिएं, भक्त लोग जिनकी भक्ति कर सकें। बौद्ध धर्म में बुद्ध तथा बोधिसत्त्वों को इसी आवश्यकता के कारण उपास्य देवों का रूप दिया जाने लगा था। भागवत वैष्णवों ने इसी कारण राम को उपास्य देव के रूप में प्रस्तुत किया, ऐसे राम को जो आदर्श पुत्र, आदर्श भाई, आदर्श पति और आदर्श राजा थे और रावण जैसे राक्षस का संहार कर जिन्होंने धर्म की विजय स्थापित की थी। दाशरथि राम जो रामायण और महाभारत की कथाओं के अनुसार पहले एक महापुरुष-मात्र थे, अब एक उपास्य देव के रूप में उन्हें प्रस्तुत किया जाने लगा और उन्हें विष्णु का अवतार मान लिया गया। उपास्य देव व अवतार के रूप में राम की मान्यता का स्पष्ट वर्णन महाकवि कालिदास के रघुवंश में विद्यमान है, जहाँ यह लिखा है कि क्षीरसागर में शेषनाग पर शयन करने वाले भगवान् विष्णु ने रावण का ध्वंस करने के लिए दशरथ के पुत्र राम के रूप में अवतार लिया था। कालिदास का समय चौथी सदी के अन्त में माना जाता है। अतः इसमें सन्देह नहीं कि गुप्तवंश के प्रारम्भिक शासन काल तक दाशरथि राम को विष्णु का अवतार कहा जाने लगा था। गुप्तवंशी चन्द्रगुप्त द्वितीय की पुत्री प्रभावती गुप्ता को एक अभिलेख में 'अत्यन्तभगवद्भक्ता' और भगवत्‌रामगिरिस्वामी की उपासिका कहा गया है। नागपुर के समीप विद्यमान रामतेक ही प्राचीन समय में रामगिरि कहाता था, और रामगिरिस्वामी से दाशरथि राम ही अभिप्रेत था, इसमें सन्देह की गुंजाइश नहीं है। वर्तमान समय में भी रामतेक में ऐसे मन्दिर विद्यमान हैं, जिनमें राम, लक्ष्मण और सीता की मूर्तियाँ प्रतिष्ठापित हैं। वराहमिहिर (छठी सदी) ने उन नियमों व विधि का उल्लेख किया है, जिनके अनुसार राम की मूर्ति बनायी जानी चाहिए। इसमें सन्देह नहीं कि गुप्त वंश के शासन काल में विष्णु के अवतार के रूप में राम की पूजा भारत में प्रचलित हो चुकी थी। केरल के आलवार सन्त कुलशेखर की राम में अगाध भक्ति थी। राम की कथा को सुनते हुए वे इस प्रकार आवेश में आ जाते थे कि स्वयं राम के साथ ऐकात्म्य अनुभव करने लगते थे। रावण द्वारा सीता का हरण करने और उन्हें ले जाकर रखने का प्रसंग सुनते हुए वे स्वयं समुद्र की ओर दौड़ पड़े थे, ताकि समुद्र को पार कर सीता को

रावण से छुड़ा लें। कुलशेखर केरल के राजा थे और उनका समय नौवीं सदी के पूर्वार्ध में था। सन्त आलवारों की परम्परा का अनुसरण कर उन्होंने जिन भक्ति गीतों की रचना की, उनका पाँचवाँ भाग राम के अवतार के साथ सम्बन्ध रखता है, और इन गीतों में राम के प्रति अगाध भक्ति प्रदर्शित की गई है।

पर अवतार के रूप में राम की पूजा का विशेष रूप से प्रचार ग्यारहवीं सदी के लगभग हुआ। अमितगिरि (१०१४ ई०) के अनुसार राम को सर्वज्ञ, सर्वव्यापी और समस्त जगत् का त्राता माना जाता था। आनन्दतीर्थ के विषय में कहा गया है कि वे वदरिकाश्रम से राम की एक मूर्ति लाये थे और १२६४ ईस्वी के लगभग उन्होंने नरहरि-तीर्थ को राम और सीता की मूर्तियाँ लाने के लिए जगन्नाथपुरी भेजा था। इस काल के लगभग के ऐसे ग्रन्थ भी विद्यमान हैं, जिनमें राम की पूजा के निमित्त मन्त्रों का उल्लेख है। हेमाद्रि (तेरहवीं सदी) ने अपने व्रतखण्ड में चैत्र शुक्लानवमी के दिन राम जन्म को मनाने का प्रतिपादन किया है। 'अध्यात्म रामायण' नामक ग्रन्थ में राम को देव के रूप में ऐसे ढंग से प्रस्तुत किया गया है, जैसे कि वे नित्य, आनन्दमय तथा साक्षी मात्र हों। कतिपय विद्वान् अध्यात्म रामायण को स्वामी रामानन्द की रचना मानते हैं, जिनका सम्य चौदहवीं सदी में था और जिन द्वारा राम भक्ति की परम्परा को विशेष वल प्राप्त हुआ था। इस समय से राम को परब्रह्म का पूर्ण अवतार माना जाने लगा, और उनकी भक्ति का महत्व बहुत बढ़ गया। वाल्मीकि रामायण में राम एक मनुष्य थे, इसीलिए जब वे सीता और लक्ष्मण के साथ शरभंग मुनि के आश्रम में गये, तो उन तीनों ने मुनि के चरणों का स्पर्श किया। पर अध्यात्म रामायण के अनुसार जब राम शरभंग के आश्रम में गये, तो मुनि राम को देख कर उठ खड़े हुए और उन्होंने दैवी अतिथि के रूप में राम की पूजा की। स्वामी रामानन्द द्वारा राम की भक्ति का एक नया सम्प्रदाय प्रारम्भ किया गया, जिसे 'रामावत' कहते हैं। इसके अनुसार राम और सीता ही उपास्य हैं, और उनकी उपासना की विधि में भक्ति व भजन का प्रमुख स्थान है। रामानन्द के शिष्यों नें अनेक शूद्र व नीची समझे जाने वाली जातियों के लोग भी शामिल थे, क्योंकि राम की भक्ति करने वाले सब कोई उनकी दृष्टि में एक समान स्थिति रखते थे। रामानन्द और उनके शिष्यों ने राम की भक्ति के लिये संस्कृत के बजाय हिन्दी भाषा का प्रयोग किया और उन्होंने अपनी रचनाएँ प्रायः हिन्दी में ही कीं। इसका परिणाम यह हुआ कि रामभक्ति का आन्दोलन उत्तर भारत में बहुत प्रबल हो गया। रामानन्द की शिष्य परम्परा में कबीर, तुलसीदास, रैदास, मलूकदास, दादू आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। विशेषतया, तुलसीदास ने रामचरितमानस की रचना कर जहाँ दाशरथि राम के चरित्र को अत्यन्त उज्ज्वल रूप में प्रस्तुत किया, वहाँ साथ ही उनके अवतार रूप तथा देवत्त्व को भी प्रकट किया। राम की पूजा के लिए अब बड़ी संख्या में मन्दिरों का निर्माण होने लगा, और उत्तरी भारत में उनकी पूजा बहुत लोकप्रिय हो गई।

वैष्णव धर्म में जिस रूप में राम और कृष्ण की पूजा वर्तमान समय में प्रचलित है, उसे बहुत प्राचीन नहीं समझा जा सकता। विष्णु के जिन अन्य अवतारों का प्राचीन साहित्य में वर्णन है, उनकी पूजा का स्थान अब बहुत गौण हो गया है। पर प्राचीन समय

में वैष्णव धर्म का स्वरूप क्या था, इस सम्बन्ध में विवेचन करना उपयोगी है। वासुदेव-कृष्ण की पूजा किस प्रकार प्रारम्भ हुई, इस पर तीसरे अध्याय में प्रकाश डाला जा चुका है। गुप्तवंश के काल में वैष्णव धर्म ने भारत के प्रधान धर्म की स्थिति प्राप्त कर ली थी, और विभिन्न अवतारों के रूप में विष्णु की पूजा प्रचलित थी। गुप्तवंश के पश्चात् जिन अनेक राजवंशों ने भारत के विविध प्रदेशों में अपने राज्य स्थापित किये, उनमें भी बहुत-से वैष्णव धर्म के अनुयायी थे। पूर्वी चालुक्यवंश के राजाओं ने गरुड़ को अपना राजचिह्न निर्धारित किया था, जो उनके वैष्णव होने का प्रमाण है। हर्षवर्धन के समय में भी वैष्णव धर्म उन्नत दशा में था। बाण ने हर्षचरित में भागवत और पांचरात्रिक सम्प्रदायों का उल्लेख किया है। कादम्बरी में श्रीकृष्ण के आख्यान विद्यमान हैं। दक्षिण के चालुक्यवंशी राजा मंगलेश द्वारा एक गुहा मन्दिर में विष्णु, नारायण, वराह तथा नरसिंह की मूर्तियाँ गढ़ायी गई थीं। एलोरा के गुहामन्दिरों में १५वाँ गुहामन्दिर वैष्णव धर्म की दृष्टि में बड़े महत्त्व का है। उसमें विष्णु के विभिन्न अवतारों की विशाल मूर्तियाँ शिलाओं को काट-काट कर बनायी गई हैं। एक मूर्ति में विष्णु शेषनाग पर विश्राम कर रहे हैं, और लक्ष्मी उनके चरण दबा रही हैं, और विष्णु की नाभि से निकले हुए कमल पर ब्रह्मा विराजमान हैं। नरसिंह, वामन, वराह तथा गोवर्धनधारी कृष्ण की मूर्तियाँ भी इस गुहामन्दिर में हैं, जो सातवीं तथा उसके बाद की सदियों में वैष्णव धर्म के उत्कर्ष को सूचित करती हैं। एलोरा के इन गुहामन्दिरों का निर्माण पाँचवीं-छठी सदियों में शुरू हो गया था।

मध्यकाल में वैष्णव धर्म—राजा हर्षवर्धन के पश्चात् भारतीय इतिहास का वह युग प्रारम्भ हुआ, जिसे राजपूत काल कहते हैं। इस काल में अनेक राजपूत राजवंश भारत के विविध प्रदेशों में शासन करने लग गये थे, और देश में कोई एक शक्तिशाली साम्राज्य नहीं रह गया था। इस युग में भी वैष्णव धर्म की भारत में प्रधानता रही। खलीमपुर-दानपत्र में 'ओ३म् नमो नारायणाय' से विष्णु को प्रणाम निवेदन किया गया है। इसी प्रकार 'ओ३म् नमो भगवते वासुदेवाय' भी विष्णु के प्रति प्रणाम निवेदन का एक प्रकार था। उत्तरी बंगाल के पहाड़पुर नामक स्थान पर मध्यकाल की जो अनेक कलाकृतियाँ विद्यमान हैं, उनमें गोवर्धनधारी कृष्ण की प्रतिमा भी है। प्रतिहार वंश के राजा भोज के एक अभिलेख में विष्णु को नमस्कार करने के अनन्तर उन्हें निर्गुण और सगुण दोनों रूपों में कहा गया है। राजपूत काल में बहुत-से विष्णु-मन्दिरों का भी निर्माण हुआ, जिनका उल्लेख इस काल के अभिलेखों में विद्यमान है। चन्देल राजा परमर्दि के बटेश्वर अभिलेख में इस राजा द्वारा बनाये गये 'वैष्णव प्रासाद' और उसमें स्थापित हरि का उल्लेख है। खजुराहो में चन्देल राजाओं ने बहुत-से मन्दिरों का निर्माण कराया था, जिनमें अनेक विष्णु-मन्दिर भी थे। बंगाल के सेनवंशी राजाओं ने कतिपय अभिलेखों में अपने नाम के साथ 'परम वैष्णव' विरुद का प्रयोग किया है। बंगाल के पालवंशी राजा धर्मपाल के काल में बने एक विष्णु मन्दिर का उल्लेख उसके एक अभिलेख में विद्यमान है। पालवंशी नारायणपाल के समय के एक अभिलेख में गरुड़ध्वज का उल्लेख है। राजपूत युग की विष्णु की अनेक मूर्तियाँ इस समय पायी गई हैं, जिनमें उन्हें अपने हाथों में

शंख, चक्र, गदा और पद्म लिये हुए बनाया गया है। विष्णु के साथ लक्ष्मी और गरुड़ की मूर्तियाँ बनाने की प्रथा भी इस समय विद्यमान थी। चेदिवंश के राजा गांगेय देव, चन्देल राजा कीर्तिवर्मा और काश्मीर की रानी दिद्दा के ऐसे सिक्के मिले हैं, जिन पर लक्ष्मी की मूर्ति अंकित है। विष्णु के विभिन्न अवतारों की मूर्तियाँ जिस ढंग से गुप्तवंश के शासन-काल में बनायी जाती थीं, वैसी ही राजपूत काल में भी बनायी जाती रहीं। मत्स्य, वराह, नृसिंह, कूर्म आदि के रूप में विष्णु ने जो अवतार लिये थे, राजपूत युग के अनेक अभिलेखों में उनका भी उल्लेख किया गया है और उनकी अनेक मूर्तियाँ भी मिली हैं जो इसी युग की हैं। इन सब तथ्यों को दृष्टि में रखने पर इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि भारतीय इतिहास के मध्य युग में वैष्णव धर्म अच्छी उन्नत दशा में था।

(२) दक्षिण भारत में वैष्णव धर्म की प्रगति

जिस समय उत्तरी भारत में बौद्ध धर्म के विरुद्ध प्रतिक्रिया होकर नये एवं परिवर्तित रूप में प्राचीन वैदिक धर्म का पुनरुत्थान हुआ और वैष्णव तथा शैव धर्मों का प्रसार होने लगा, प्रायः तभी दक्षिण में भी इन धर्मों का उत्कर्ष प्रारम्भ हुआ। भागवत-पुराण में भविष्यवाणी के रूप में लिखा गया है कि द्रविड़ देश में, जहाँ ताम्रपर्णी, कावेरी आदि नदियाँ बहती हैं, नारायण के भक्त बड़ी संख्या में होंगे। इससे यह सूचित होता है कि भागवत की रचना के समय तक सुदूर दक्षिण में भी भागवत धर्म का भली-भाँति प्रचार हो चुका था।

आलवार—दक्षिण में भागवत धर्म को लोकप्रिय बनाने में उन सन्तों का प्रधान कर्त्तृव्य था, जो आलवार नाम से विख्यात हैं। ये पण्डित व विद्वान् न होकर भक्त हुआ करते थे और अपने उपास्य देव की भक्ति का ही उपदेश किया करते थे। इनका मत था कि भगवान् के प्रति अगाध प्रेम रखते हुए भक्ति द्वारा उसे रिझाने में ही मनुष्य का हित है। इसीलिये उसकी भक्ति में इन भक्त सन्तों ने बहुत से गीतों की रचना की, जिन्हें आज तक भी दक्षिण भारत में बड़े प्रेम के साथ गाया जाता है। वे आलवार सन्त संख्या में बारह थे। प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार पहले आलवार का समय ४२०३ ईस्वी पूर्व था। इन आलवारों के नाम निम्नलिखित हैं—सरोयोगी (४३०३ ई०पू०), भूतयोगी (४२०३ ई०पू०), महायोगी (४२०३ ई०पू०), भक्तिसार (४२०३ ई०पू०), शठकोप (३१०२ ई०पू०), मधुरकवि (३१०२ ई०पू०), कुलशेखर (३०७५ ई०पू०), विष्णुचित्त (३०६५ ई०पू०) गोदा (३००५ ई०पू०), भक्ताड्घ्रिरेणु (२८१४ ई०पू०), योगिवाहन (२७६० ई०पू०) और परकाल (२७०६ ई०पू०)। पर प्राचीन अनुश्रुति का यह तिथिक्रम आधुनिक विद्वानों को स्वीकार्य नहीं है। पुरातत्त्व सम्बन्धी अवशेषों के अनुशीलन द्वारा इसे अस्वीकार्य माना गया है। सातवां आलवार कुलशेखर केरल का राजा था, और उसका काल बारहवीं सदी के पूर्वार्ध में था। कुलशेखर का समय निश्चित हो जाने पर उसके पूर्ववर्ती तथा परवर्ती आलवारों का काल उस ढंग से प्राचीन नहीं माना जा सकता, जैसा कि अनुश्रुति से ज्ञात होता है। यदि कुलशेखर का समय बारहवीं सदी के पूर्वार्ध में मान लिया जाए, तो प्रथम आलवार का समय ईस्वी सन् के प्रारम्भ

काल म या उससे कुछ पहले मानना होगा, क्योंकि प्रथम आलवार सरोयोगी और कुलशेखर के समय में लगभग १२०० साल का अन्तर है। यही समय है, जबकि उत्तरी भारत में भी वैष्णव धर्म का विशेष रूप से उत्कर्ष शुरू हुआ था। दक्षिण के ये बारहों आलवार द्रविड़ देश के निवासी थे, और इनका सम्बन्ध किसी एक ही वर्ण या जाति से नहीं था। विष्णुचित्त का जन्म ब्राह्मण कुल में हुआ था, कुलशेखर क्षत्रिय था, और परकाल कुल्ल (दस्यु) कुल का था। विभिन्न जातियों में जन्म लेने पर भी दक्षिण के वैष्णवों में इन आलवारों का समान रूप से आदर है, और इनके गीत व रचनाएँ नालायरप्रबन्धम् में संगृहीत हैं। इस ग्रन्थ में कुल मिलाकर ४००० श्लोक हैं, और द्रविड़ देशों के वैष्णव-मन्दिरों में आज तक उनका पाठ किया जाता है।

आचार्य और उन द्वारा स्थापित सम्प्रदाय—दक्षिण के वैष्णव गुरुओं के दो वर्ग थे, आलवार और आचार्य। आलवार सन्त भक्ति और आत्मार्पण के गीतों व श्लोकों द्वारा वैष्णव धर्म का प्रचार करते थे, और आचार्य युक्ति तथा तर्क से अपने सिद्धान्तों व मन्तव्यों का प्रतिपादन करते थे। सबसे प्रथम वैष्णव आचार्य नाथमुनि थे, जिन्होंने न्यायतत्त्व और योग-रहस्य ग्रन्थ लिखे थे। उनके उत्तराधिकारी यामुन मुनि या यामुनाचार्य थे, जिन द्वारा लिखे हुए ग्रन्थों में आगम प्रामाण्य, महापुरुष निर्णय, सिद्धित्रय और गीता-संग्रह प्रसिद्ध हैं। यामुनमुनि के बाद रामानुज हुए, जो वैष्णव आचार्यों में सबसे प्रसिद्ध हैं। कहते हैं, कि यामुनमुनि ने अपने उत्तराधिकारी के लिये यह आदेश दिया था कि वह ब्रह्मसूत्रों पर एक नया भाग्य लिखे। इसका कारण यह था कि शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित अद्वैतवाद में भक्ति के लिये कोई स्थान नहीं रह जाता था। जब ब्रह्म को ही एक मात्र सत्ता माना जाए, जीवात्मा की उससे पृथक् कोई सत्ता न हो, तो मनुष्य किसकी भक्ति करे। इस मत के अनुसार मोक्ष का यही उपाय था, कि मनुष्य को यह सत्यज्ञान हो जाए कि वह ब्रह्म से अभिन्न है। सदियों का अन्धकार दीपक के प्रकाश से क्षण भर में दूर हो जाता है। इसी प्रकार जगत् के मिथ्या और केवल ब्रह्म के सत्य होने का ज्ञान प्राप्त कर मनुष्य जन्म-मरण के बन्धन से सदा के लिये मुक्त होकर ब्रह्म में लीन हो सकता है। इस तर्क के कारण शंकराचार्य के अनुयायी वेदान्ती लोगों की दृष्टि में ज्ञान का ही महत्त्व था, भक्ति का नहीं। यही कारण था, जो यामुनमुनि ने यह इच्छा प्रगट की थी, कि उनके उत्तराधिकारी द्वारा ब्रह्मसूत्र का एक ऐसा भाष्य लिखा जाए, जिसमें ब्रह्म और आत्मा के पृथक्त्व का प्रतिपादन किया गया हो और जिसके परिणामस्वरूप युक्ति और तर्क द्वारा वैष्णव लोग भक्ति की उपादेयता का निरूपण कर सकें। यामुनाचार्य की यह इच्छा रामानुज ने पूरी की। वैष्णव आचार्यों में रामानुज का स्थान सर्वोपरि है। उनका जन्म १०१७ ईस्वी में हुआ था, और उन्होंने कान्ची में रहकर यादव प्रकाश नाम के अद्वैतवादी गुरु से शिक्षा ग्रहण की थी। पर उन्हें अद्वैतवाद स्वीकार्य प्रतीत नहीं हुआ। आलवार सन्तों की रचनाओं का अध्ययन कर वे वैष्णव बन गये, और यामुनाचार्य के उत्तराधिकारी बने। अब उन्होंने श्रीरंगम् को अपना केन्द्र बनाया, और वहाँ निवास करते हुए ब्रह्म सूत्रों तथा उपनिषदों पर नये भाष्य लिखे। साथ ही, उन्होंने वेदान्त सार, वेदान्त संग्रह और वेदान्तदीप नामक अन्य ग्रन्थों

की भी रचना की। तर्क द्वारा अपने मत का प्रतिपादन करते हुए रामानुज ने उत्तरी भारत के तीर्थस्थानों की भी यात्रा की, और कर्नाटक के होयसल वंशी राजा विट्ठलदेव को अपने धर्म में दीक्षित किया। इस राजा का शासनकाल ११०४ से ११४१ ईस्वी तक था, और वैष्णव धर्म की दीक्षा ले लेने पर यह विष्णुवर्धन नाम से प्रसिद्ध हुआ था।

रामानुज ने ब्रह्म सूत्रों तथा उपनिषदों की जिस नये ढंग से व्याख्या की, उस द्वारा उन्होंने 'विशिष्टाद्वैत' नाम के एक नवीन दार्शनिक वाद का प्रतिपादन किया। इस के अनुसार केवल ब्रह्म ही एकमात्र सत्ता नहीं हैं, अपितु तीन नित्य सत्ताएँ हैं, जीवात्मा (चित्), जड़ जगत् (अचित्) और परमात्मा (ईश्वर)। परमात्मा नित्य, शुद्ध, आनन्द-रूप, जगत की स्रष्टा, पालक तथा संहारक और ज्ञान व शक्तिसम्पन्न है। वह समस्त चेतन एवं अचेतन भूतों में व्याप्त है, सब भूतों में अन्तर्यामी है, और जीवात्मा तथा जड़ जगत् उसके गुण हैं। जीवात्मा और जड़ जगत् परमात्मा के शरीर के समान हैं। जैसे शरीर और आत्मा से मिलकर मनुष्य बनता है, वैसे ही जीवात्मा, जड़ जगत् और परमात्मा से मिलकर ब्रह्म बनता हैं। ब्रह्म बाह्य जगत् का उपादान कारण भी है, और निमित्त कारण भी। सृष्टि से पूर्व परमात्मा का शरीर सूक्ष्म रूप से रहता है, और सृष्टि हो जाने पर जगत् के रूप में उसका विस्तार हो जाता है। इस दृष्टि से ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है। परमात्मा सर्वत्र व्याप्त है, अन्तर्यामी है। अन्तर्यामी आत्मा के रूप में वह सृष्टि की इच्छा करता है, सूक्ष्म प्रकृति का विस्तार करता है। इस प्रकार वह जगत् का निमित्त कारण बन जाता है। रामानुज द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त को विशिष्टाद्वैत कहा जाता है, क्योंकि उसमें अद्वैत मत को इस ढंग से निरूपित किया गया है, जिससे कि आत्मा की पृथक् सत्ता बनी रहती है और उस द्वारा परमात्मा की भक्ति किया जाना सार्थक होता है। क्योंकि जीवात्मा और जड़ जगत् परमात्मा के विशिष्ट गुण हैं, अतः ब्रह्म अद्वैत होते हुए भी ऐसा रूप प्राप्त कर लेता है, जिसमें आत्मा की एक विशिष्ट सत्ता बनी रहती है। अतः केवल ज्ञान से ही मुक्ति सम्भव नहीं है। मुमुक्ष को चाहिए कि वह विधिपूर्वक परमात्मा की भक्ति करे। अपने विशिष्ट रूप में ब्रह्म या परमात्मा से पृथक् होने के कारण जीवात्मा के लिये यह सम्भव व आवश्यक है कि वह भक्ति मार्ग का अनुसरण करे।

रामानुज के पश्चात् दक्षिण में वैष्णव धर्म के जो अनेक आचार्य हुए, उनमें मध्वाचार्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनका समय तेरहवीं सदी में माना जाता है। शंकराचार्य के अद्वैतवाद और रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैतवाद के मुकाबले में मध्वाचार्य ने एक नये सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, जिसे द्वैतवाद कहते हैं और जिसके अनुसार जीवात्मा और परमात्मा भिन्न सत्ताएं हैं। यह सिद्धान्त प्रतिपादित करता है कि ईश्वर तथा जीवात्माओं में, ईश्वर तथा जड़ जगत् में, जीवात्मा तथा जड़ जगत् में, एक जीवात्मा तथा अन्य जीवात्माओं में और एक जड़ पदार्थ तथा अन्य जड़ पदार्थों में भेद है। इस प्रकार मध्वाचार्य के मत में परमात्मा, जीवात्मा और जड़ जगत् या प्रकृति भिन्न सत्ताएँ हैं, और जीवात्मा भी एक न होकर असंख्य हैं। सृष्टि की उत्पत्ति, पालन, विनाश, सब भूतों का नियन्त्रण, ज्ञान प्रदान करना, स्वयं को प्रकाशित करना, भूतों को संसार के बन्धन

में बांधना और उनका उद्धार करना परमात्मा के कार्य हैं। जीव अनेक प्रकार के होते हैं। कुछ ऐसी स्थिति में होते हैं कि ब्रह्मत्व को प्राप्त कर सकें, अन्य सदा जीवन-चक्र में फँसे रहने वाले होते हैं, और अन्य अन्धकार की स्थिति में रहने योग्य। क्योंकि जीवात्मा परमात्मा से सर्वथा भिन्न है, अतः ज्ञान, सत्कर्म तथा भक्ति द्वारा वह ब्रह्मत्व की प्राप्ति के लिये प्रयत्न कर सकता है। रामानुज और मध्वाचार्य ने जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादम किया, उनके कारण वैष्णवों को वह दार्शनिक आधार प्राप्त हो गया जिसकी उन्हें आवश्यकता थी।

वैष्णव धर्म के आचार्यों में निम्बार्काचार्य का उल्लेख करना भी आवश्यक है। जन्म से वे तैलङ्ग ब्राह्मण थे और बेल्लारी जिले के निम्ब नामक ग्राम के निवासी थे। उनके पिता जगन्नाथ वैष्णव धर्म के अनुयायी थे। वे किस समय हुए, यह सुनिश्चित रूप से निर्धारित नहीं किया जा सका है। पर उनका समय रामानुजाचार्य के कुछ बाद माना जाता है। निम्बार्काचार्य ने जो सिद्धान्त प्रतिपादित किये, वे रामानुज के सिद्धान्तों से भिन्न हैं। उनके मत में जड़ जगत्, जीवात्मा और परमात्मा एक दूसरे से भिन्न भी हैं और अभिन्न भी हैं। वे अभिन्न इस अर्थ में हैं कि जड़ जगत् और जीवात्मा की अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। वे अपनी सत्ता तथा क्रिया के लिये परमात्मा पर आश्रित हैं। ब्रह्म सब में है, वह सब का नियामक है और सब की क्रियाएँ उसी के अधीन हैं। इस दृष्टि से निम्बार्काचार्य अद्वैतवाद के समर्थक थे। पर साथ ही वे यह भा मानते थे कि जड़ जगत्, जीवात्मा तथा परमात्मा की पृथक् सत्ता भी है, और वे तीन पृथक् तत्त्व हैं। इस दृष्टि से वे द्वैत या त्रैतवाद के भी समर्थक थे। उनके मत में जीवात्मा अणु है, सब शरीरों में उसकी पृथक्-पृथक् सत्ता है, और वे असंख्य हैं। जीवात्मा के दो प्रकार हैं, जीवन-मरण के चक्र से मुक्त और आनन्दमय तथा जीवन चक्र में बद्ध। इन दूसरी प्रकार की जीवात्माओं के उद्धार का एकमात्र साधन भक्तिमार्ग का अनुसरण करता है। निम्बार्काचार्य ने कृष्ण के रूप में विष्णु की भक्ति पर बहुत जोर दिया, और गोपियों तथा राधा के प्रति प्रेम को आदर्श बनाकर उन्होंने कृष्ण की भक्ति का प्रतिपादन किया। उन द्वारा जिस सम्प्रदाय का प्रारम्भ किया गया, वह प्रधानतया वृन्दावन में केन्द्रित था। यद्यपि वे दक्षिण के निवासी थे, परन्तु मथुरा के समीपवर्ती प्रदेशों को उन्होंने अपना कार्यक्षेत्र बनाया, और उनका सम्प्रदाय उत्तरी भारत में विशेष रूप से लोकप्रिय हुआ। निम्बार्क के अनुयायी ललाट पर गोपी चन्दन की दो लम्बी रेखाएँ खींचते हैं और उनके बीच में काले रंग का एक टीका भी लगा देते हैं। वे तुलसी की लकड़ी की कण्ठी भी गले में धारण करते हैं। रामानुजाचार्य द्वारा वैष्णव धर्म को जिस रूप में प्रतिपादित किया गया था, वह 'श्रीसम्प्रदाय' कहाता है। इसके अनुयायी नासिका की जड़ से शुरू कर मस्तिष्क के अन्त तक गोपीचन्दन का खड़ा तिलक लगाते हैं और उसके बीच में पीली या लाल रेखा अंकित कर देते हैं। साथ ही, वे अपने ललाट, कण्ठ, दोनों बाहु, दोनों पार्श्व, नाभि, पीठ, कानों के मूल तथा सिर के मध्य भाग पर शंख-चक्र या रामनाम भी अंकित करते हैं।

वैष्णव धर्म के सम्प्रदायों में बल्लभ सम्प्रदाय विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसके

संस्थापक वल्लभाचार्य थे, जो आन्ध्रदेश में उत्पन्न हुए थे। उनका समय पन्द्रहवीं सदी के उत्तरार्ध में माना जाता है। उनकी शिक्षा काशी में हुई, जहाँ उन्होंने वेदों और शास्त्रों का भलीभाँति अध्ययन किया। भारत के अनेक प्रदेशों का भ्रमण कर उन्होंने मथुरा-वृन्दावन को अपना कार्यक्षेत्र बनाया। वल्लभाचार्य ने भी ब्रह्मसूत्रों पर भाष्य लिखा, जिसे 'अणुभाष्य' कहा जाता है। उनके दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार परमात्मा अपने एकाकी रूप में पूर्णतया प्रसन्न न रह सकने के कारण अपने को ही प्रकृति, जीवात्मा और अन्तर्यामी आत्मा के रूपों में विभाजित करता है। जैसे अग्नि से जो चिनगारियाँ निकलती हैं, वे अग्नि से पृथक् प्रतीत होती हैं पर अग्नि से भिन्न नहीं होतीं, इसी प्रकार एक परमात्मा से निकली हुई प्रकृति और जीवात्मा भी परमात्मा से पृथक् सत्ता रखती हुई प्रतीत होने पर भी उससे भिन्न नहीं होतीं। परमात्मा सत् चित् और आनन्द है। जीवात्मा सत् और चित् है। प्रकृति केवल सत् है। सच्चिदानन्द रूप परमात्मा की शक्ति का नाम 'माया' है, जिससे विरहित हो जाने पर जीवात्मा परमात्मा के साथ एक रूप हो जाती है। परमात्मा की कृपा के बिना जीवात्मा माया से विरहित नहीं हो पाती, और जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हो सकना उसके लिये सम्भव नहीं होता। अतः मोक्ष साधन का एकमात्र उपाय परमात्मा की कृपा या अनुग्रह को प्राप्त करना ही है। ईश्वर के अनुग्रह को ही वल्लभ सम्प्रदाय के लोग 'पुष्टि' कहते हैं, और इसी के कारण उनका सम्प्रदाय 'पुष्टि मार्ग' भी कहाता है। पुष्टिमार्ग द्वारा उपदिष्ट भक्ति का अनुसरण करने वाला भक्त पूर्ण प्रेम के साथ भगवान् की परिचर्या करता है और दत्तचित्त होकर उसके गुणों का श्रवण करता है। भक्तों को मोक्ष का एकमात्र साधन मानने वाले वल्लभ सम्प्रदाय ने निवृत्ति मार्ग की अपेक्षा प्रवृत्ति मार्ग को अधिक श्रेयस्कर माना। गृहस्थ जीवन व्यतीत करते हुए मनुष्य भगवान् की भक्ति दत्तचित्त होकर कर सकता है। इसीलिए वल्लभाचार्य ने भी विवाह कर गृहस्थ जीवन व्यतीत किया था, और उनके वंशजों ने कालान्तर में श्रीनाथद्वारा में श्रीनाथ जी की, कांकरोली में द्वारकानाथ जी की, कोटा में मथुरेश जी की, जयपुर में मदनमोहन जी की, गोकुल में गोकुलनाथ जी की, सूरत में बालकृष्ण जी की और अहमदाबाद में नटवरलाल जी की मूर्तियाँ प्रतिष्ठापित कर उनके लिए विशाल मन्दिरों का निर्माण कराया था। इन सब मन्दिरों में भगवान् कृष्ण की विविध रूपों में पूजा हुआ करती थी। कृष्ण की मूर्ति का शृंगार करना, उन्हें स्नान कराना, उन पर केसर का लेप करना, उन्हें भोग अर्पित करना, उन्हें शयन कराना आदि इस सम्प्रदाय की पूजा-विधि की विशेषताएँ हैं। कृष्णभक्तों को चाहिये कि वे अपने उपास्य देव के साथ सखी-भाव स्थापित करें और उसी प्रकार से उनसे प्रेम करें जैसे कि राधा व गोपियाँ कृष्ण के प्रति करती थीं, यह इसी सम्प्रदाय द्वारा प्रतिपादित किया जाता है। इस सम्प्रदाय के लोगों का आराध्य देव कृष्ण का वह स्वरूप है, जिसमें वे अलौकिक लीलाएँ करते हैं और एक प्रकार का लोकोत्तर सरस जीवन व्यतीत करते हैं। वर्तमान समय में इस सम्प्रदाय का प्रचार विशेष रूप से गुजरात के धनी-मानी व्यापारी वर्ग में है।

भक्ति मार्ग—दक्षिणी भारत के विविध आचार्यों द्वारा वैष्णव धर्म को जो स्वरूप प्रदान किया गया, उसमें भक्ति को प्रधान स्थान प्राप्त था। भक्तिमार्ग भारत के लिए

नवीन नहीं था। अन्धक-वृष्णि संघ के क्षेत्र में वासुदेव कृष्ण द्वारा जिस भागवत धर्म का सूत्रपात किया गया था, उसमें यौगिक कर्मकाण्ड की तुलना में भक्ति को अधिक महत्त्व दिया जाता था। पर कृष्ण का यह धर्म समन्वयात्मक था। इसमें ज्ञान, कर्म और भक्ति को समान रूप से स्थान दिया गया था। यही कारण है कि 'परम भागवत' और 'परम-वैष्णव' गुप्त सम्राट् अश्वमेध सदृश यज्ञों का भी अनुष्ठान करते थे। सातवीं सदी में वज्रयान सम्प्रदाय का विकास शुरू होने पर उत्तरी भारत में जो धार्मिक विचारसरणी प्रबल हुई, उसमें या तो साधना को प्रधान स्थान दिया जाता था और या ज्ञान को। भक्ति का उसमें महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं था। ब्रह्म और जीवात्मा की एकता को प्रतिपादित करने वाले शांकर अद्वैतवाद में भी भक्ति का विशेष स्थान नहीं था। वह भी ज्ञान को ही महत्व देता था। ऐसी दशा में दक्षिणी भारत में ऐसे अनेक सन्त तथा आचार्य हुए, जो भक्ति-मार्ग का प्रतिपादन करते थे और विष्णु की भक्ति को ही मोक्ष का एकमात्र साधन मानते थे। शंकराचार्य के अद्वैतवाद और बौद्धों के शून्यवाद व विज्ञानवाद में ईश्वर और जीवात्मा की पृथक् सत्ता नहीं थी और इन मतों को स्वीकार कर लेने पर जीवात्मा के लिए भक्ति मार्गों का अनुकरण निरर्थक हो जाता था। इसीलिए रामानुजाचार्य और मध्वाचार्य जैसे वैष्णव आचार्यों ने विशिष्टाद्वैत और द्वैत वादों का प्रतिपादन कर भक्ति-मार्ग को दार्शनिक आधार प्रदान किया। दार्शनिक विवेचन द्वारा पुष्टि पाकर दक्षिणी भारत में भक्तिमार्ग की बहुत उन्नति हुई, और दक्षिण से चली हुई भक्ति की लहर ने उत्तरी भारत को भी व्याप्त कर लिया। यह लहर तेरहवीं सदी में महाराष्ट्र पहुँची, और बाद में उत्तरी भारत में उसका प्रवेश हुआ। इस समय में तुर्क-अफगानों के आक्रमणों के कारण उत्तरी भारत की हिन्दू जनता बहुत त्रस्त थी। इस्लाम के कारण यह आवश्यक हो गया था, कि भारत के धार्मिक नेता हिन्दू धर्म को एक ऐसा रूप प्रदान करे, जिससे मुसलिम शासकों और पीरों से हिन्दू धर्म की रक्षा हो सके। परिणाम यह हुआ कि भारत के विविध प्रदेशों में अनेक ऐसे धार्मिक आन्दोलनों का सूत्रपात हुआ, जो दक्षिण के भक्ति-मार्ग से प्रभावित थे। इन आन्दोलनों के कारण वैष्णव धर्म ने न केवल एक नया रूप प्राप्त किया, अपितु सर्वसाधारण जनता में उसे इस ढंग से प्रचारित कर दिया कि वही भारत का लोकप्रिय धर्म बन गया।

(३) वैष्णव धर्म का लोकप्रिय रूप

भारतीय इतिहास के तुर्क-अफगान युग में जो अनेक ऐसे सन्त महात्मा उत्पन्न हुए, जिन्होंने भक्ति मार्ग का अनुसरण कर पुरातन धर्म को एक लोकप्रिय स्वरूप प्रदान किया, अब उनका संक्षेप के साथ उल्लेख किया जायगा।

ज्ञानदेव—भक्ति की जो धारा सुदूर दक्षिण से प्रवाहित होनी प्रारम्भ हुई थी, वह धीरे-धीरे उत्तर की ओर बढ़ने लगी, और इस्लाम के आक्रमणों द्वारा उत्पन्न परि-स्थितियों में उसने बहुत उपयोगी कार्य किया। तेरहवीं सदी के अन्त में महाराष्ट्र के पंढरपुर नामक स्थान को केन्द्र बनाकर एक नये वैष्णव सम्प्रदाय का प्रारम्भ हुआ, जिसे 'वाराकरी' सम्प्रदाय कहते हैं। इस सम्प्रदाय के अनुयायी कृष्ण की 'विट्ठल-भगवान्' के

रूप में पूजा करते थे, और उनकी पूजाविधि में भक्ति और कीर्त्तन का प्राधान्य था। अद्वैतवाद में विश्वास रखते हुए भी वाराकरी सम्प्रदाय के लोग भक्तिमार्ग का प्रतिपादन करते हैं। इसके प्रवर्त्तकों में सन्त ज्ञानदेव सर्व-प्रधान थे। उन्होंने गीता पर ज्ञानेश्वर नाम का भाष्य मराठी भाषा में लिखा, जिसमें इस सम्प्रदाय के मन्तव्यों को दार्शनिक ढंग से प्रतिपादित किया गया है। ज्ञानदेव को गुरु गोरखनाथ की नाथयोगी शिष्य-परम्परा में सम्मिलित किया जाता है ! इसका कारण यह है कि उनके विचारों पर उत्तरी भारत के ज्ञान मार्ग का भी प्रभाव था। वस्तुतः, ज्ञानदेव ने ज्ञान और भक्ति में बड़े सुन्दर ढंग से समन्वय किया, और अपने शिष्यों को यह उपदेश दिया कि वे ईश्वर के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर भक्ति द्वारा उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करें। ज्ञानदेव का समय तेरहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में माना जाता है।

नामदेव—ज्ञानदेव के समय में ही महाराष्ट्र में एक अन्य सन्त उत्पन्न हुए, जिनका नाम नामदेव (१२७०–१३५० ई०) था। इन्होंने दक्षिणी और उत्तरी भारत में दूर-दूर तक यात्राएँ की, और जनता को भक्ति मार्ग का उपदेश दिया। मराठी भाषा में विरचित अभंगों के अतिरिक्त इनकी हिन्दी रचनाएँ भी प्रचुर मात्रा में मिलती हैं। नामदेव सगुण भक्ति मार्ग के अनुयायी थे, यद्यपि बाद में ज्ञानदेव के संग के कारण नाथपन्थ के प्रभाव में भी आ गये थे। इस समय भारत के बहुत-से प्रदेशों में नाथपन्थी योगियों के मत का प्रचार था, जो अन्तर्मुख साधना द्वारा सर्वव्यापक निर्गुण ब्रह्म के ज्ञान को ही मोक्ष का साधन मानते थे। ज्ञानदेव के सम्पर्क में आकर सन्त नामदेव का झुकाव भी योगियों के मार्ग की ओर हो गया। यही कारण है, कि उनकी रचना में भक्ति-मार्ग द्वारा सगुण ब्रह्म की उपासना और ज्ञान व साधना द्वारा निर्गुण ब्रह्म का साक्षात्कार —दोनों ही प्रकार के विचार पाये जाते हैं।

महाराष्ट्र में सन्त नामदेव ने भगवान् की भक्ति व प्रेम की जो धारा प्रवाहित की, अनेक मुसलमान भी उससे प्रभावित हुए और उनके शिष्य बन गये। यह सर्वथा उचित भी था, क्योंकि नामदेव के भक्ति मार्ग के लिये न मन्दिरों की आवश्यकता थी, और न मस्जिदों की। उनकी दृष्टि में हिन्दू और मुसलमान सब एकसमान थे। जिसे सत्य ज्ञान हो, वही उनकी दृष्टि में उत्कृष्ट था। नामदेव की निम्नलिखित वाणियाँ उनकी विचारसरणी को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त हैं :—

हिन्दू अन्धा, तुरकौ काना। दुवौं ते ज्ञानी सयाना ।।

हिन्दू पूजै देहरा, मुसलमान मसीद। नाम सोई सेविया, जहाँ देहरा न मसीद।

जिस प्रकार के विचार आगे चलकर उत्तरी भारत में सन्त कबीर ने प्रगट किये, प्रायः वैसे ही उनसे कुछ समय पूर्व महाराष्ट्र में सन्त नामदेव ने अभिव्यक्त किये। धीरे-धीरे ये ही विचार सम्पूर्ण भारत में व्याप्त हो गये, और इनके कारण भारत के विविध धर्मों के स्वरूप में बहुत कुछ परिवर्त्तन आ गया।

स्वामी रामानन्द—उत्तरी भारत में इस्लाम के प्रवेश के बाद हिन्दू धर्म ने जो नवीन रूप प्राप्त किया, उसका प्रधान श्रेय अनेक अंशों में स्वामी रामानन्द को है। ये रामानुजाचार्य की शिष्य-परम्परा में थे, और पन्द्रहवीं सदी के अन्तिम भाग में हुए थे।

इनके समय में दिल्ली का सुलतान सिकन्दर लोदी था, जिसका शासन काल १४८६ से १५१७ ईस्वी तक था। 'श्री रामार्चन पद्धति' नामक पुस्तक में रामानन्द ने अपनी पूरी गुरु-परम्परा दी है। उसके अनुसार वे रामानुजाचार्य के बाद १४ वीं शिष्य पीढ़ी में हुए थे। उनके गुरु राघवानन्द काशी में निवास करते थे, और उन्हीं से इन्होंने दीक्षा ग्रहण की थी। रामानुजाचार्य व उनकी शिष्य परम्परा के लोग वैकुण्ठवासी भगवान् विष्णु के उपासक थे, और उन्हीं की भक्ति को मोक्ष का साधन मानते थे। रामानन्द ने भक्ति के इस मार्ग में एक नये तत्त्व का समावेश किया। उन्होंने भगवान् की भक्ति के लिए वैकुण्ठवासी अगोचर विष्णु के स्थान पर मानव शरीर धारण कर राक्षसों का संहार करने वाले विष्णु के अवतार राम का आश्रय लिया, और उन्हीं के प्रेम व भक्ति को मोक्ष का साधन माना। राम और कृष्ण को विष्णु का अवतार मानने का विचार इस युग से पूर्व भी भारत में विद्यमान था। पर राम के रूप में ही विष्णु की भक्ति करने के विचार के प्रवर्त्तक स्वामी रामानन्द ही थे। सम्भवतः, विष्णु के अवतारों की पूजा पहले भी भारत में प्रचलित थी, पर रामानन्द ने राम की भक्ति को इतना व्यापक रूप प्रदान किया, कि वह हिन्दू धर्म का प्रधान तत्त्व बन गई।

रामानन्द से पूर्व रामानुज सम्प्रदाय में केवल द्विजातियों को ही दीक्षा दी जाती थी, पर रामानन्द ने रामभक्ति का द्वार सब जातियों के लिए खोल दिया। भक्तमाल के अनुसार उनके प्रधान शिष्य निम्नलिखित थे—अनन्तानन्द, सुखानन्द, सुरसुरानन्द, नरहर्यानन्द, भवानन्द, पीपा, कबीर, सेन, धन्ना, रैदास, पद्मावती और सुरसरी। इन बारह शिष्यों में से कबीर जाति के जुलाहे थे, और सेन नाई। रैदास जाति के चमार थे। नीची समझी जाने वाली जातियों के लोगों को अपनी शिष्यमण्डली में सम्मिलित करना वैष्णव आचार्यों के लिए एक नई बात थी। इस्लाम के प्रवेश के कारण हिन्दू धर्म को जो एक धक्का लगा था, और उसके कारण उसमें जो नई स्फूर्ति उत्पन्न हुई थी, यह उसी का परिणाम था। अपने मन्तव्यों का प्रचार करने के लिए स्वामी रामानन्द ने बौद्धों के भिक्षुओं के समान साधुओं के एक नये दल का संगठन किया, जो वैरागी कहाते हैं। वैरागी साधुओं का सम्प्रदाय अब तक भी विद्यमान है, और अयोध्या व चित्रकूट उसके प्रधान केन्द्र हैं।

चैतन्य—स्वामी रामानन्द के समय में ही बंगाल में एक प्रसिद्ध वैष्णव सन्त हुए, जिनका नाम चैतन्य था। उनका समय १४८५ से १५३३ तक था। वे नदिया के एक ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे, और चौबीस वर्ष की आयु में सांसारिक जीवन का परित्याग कर उन्होंने अपना सब ध्यान हरि की भक्ति में लगा दिया था। वे हरि या विष्णु के कृष्णावतार के उपासक थे, और कृष्ण भक्ति को ही मोक्ष-प्राप्ति का साधन मानते थे। कृष्णदास कविराज ने 'चैतन्य चरितामृत' ग्रन्थ में उनकी जीवनी को विशद रूप से लिखा है। उनके अनुसार कृष्ण के प्रति प्रेम ही मानव-जीवन की परम साधना है। कृष्ण की भक्ति में वे ऊंच-नीच के भेद-भाव को कोई स्थान नहीं देते थे। उनका एक शिष्य हरिदास जाति से अछूत था। हरिदास ने एक बार चैतन्य से कहा, कि वे उसे स्पर्श न करें, क्योंकि वह अछूत है। इस पर चैतन्य आवेश में आ गये। प्रेम के आवेश में उन्होंने

हरिदास को छाती से लगा लिया, और उससे कहा—तुम्हारा यह शरीर मेरा अपना है, इसमें एक ऐसी आत्मा का निवास है, जो प्रेम और समर्पण की भावना से परिपूर्ण है, तुम्हारा यह शरीर एक मन्दिर के समान पवित्र है। चैतन्य अपने शिष्यों को उपदेश करते थे, कि वे प्रेम की वेदी पर अपने सर्वस्व को अर्पण कर दें। इसीलिये ब्राह्मण और शूद्र, हिन्दू और मुसलमान—सब उनके सन्देश को भक्ति के साथ सुनते थे, और उनके अनुकरण में जाति और धर्म के भेद को भूल जाते थे।

कबीर— रामानन्द के शिष्यों में कबीर सर्वप्रधान थे। उनकी जाति, जन्म, कुल आदि के सम्बन्ध में कोई निश्चित मत स्थिर नहीं किया जा सकता। हिन्दू लोग उन्हें हिन्दू मानते हैं, और मुसलमान उन्हें मुसलिम समझते हैं। इस युग की धार्मिक प्रवृत्तियों ने हिन्दुओं और मुसलमानों को किस अंश तक एक-दूसरे के समीप ला दिया था, कबीर इसके सर्वोत्तम उदाहरण हैं। इस सम्बन्ध में सब एकमत हैं कि उनका जन्म जुलाहा कुल में हुआ था, और काशी में उन्होंने अपने जीवन का अच्छा बड़ा भाग व्यतीत किया था। कबीर का मुख्य कार्य यह था, कि उन्होंने हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच की गहरी खाई को पाटने तथा इन दोनों धर्मों में समन्वय और सहयोग की भावना को विकसित करने का प्रयत्न किया। हिन्दू और मुसलमान धर्मों के बाह्य भेदों, रूढ़ियों और आडम्बरों की उपेक्षा करके उन्होंने इन धर्मों की आन्तरिक एकता को प्रतिपादित किया।

कबीर रामानन्द के शिष्य थे, जो राम की भक्ति पर बल देते थे। पर इस युग की बहुसंख्यक भारतीय जनता नाथपन्थियों के प्रभाव के कारण भक्ति मार्ग से विमुख थी, और ऐसी अन्तःसाधना पर जोर देती थी, जिसमें प्रेमतत्व का अभाव था। ये नाथपन्थी लोग भगवान् को निर्गुण रूप में देखते थे, और निर्गुण व निराकार ब्रह्म के लिए भक्ति का विषय बन सकना सम्भव नहीं था। रामानन्द के शिष्य होते हुए भी सन्त कबीर पर नाथपन्थी सम्प्रदाय का प्रभाव था। इसीलिये उन्होंने राम या कृष्ण के रूप में भगवान् की उपासना न करके निर्गुण व निराकार रूप में ही उसकी पूजा की। पर यह करते हुए भी उन्होंने प्रेम के मार्ग को अपनाया, और वैष्णव भक्तों के समान निर्गुण भगवान् से प्रेम करने व उसकी भक्ति का उपदेश दिया। इस प्रकार कबीर द्वारा प्रतिपादित मत नाथ-पन्थी योगियों और रामानन्द के भक्ति मार्ग का सुन्दर समन्वय था। अपने गुरु रामानन्द के समान कबीर भी राम के उपासक थे, पर उनके राम धनुर्धारी सीतापति राम न होकर ब्रह्म के पर्याय मात्र थे। जिस प्रकार कबीर ने नाथपन्थी सम्प्रदाय के निर्गुण ब्रह्म की प्रेम द्वारा उपासना करने का उपदेश दिया, वैसे ही इस युग के अन्य सन्तों का अनुसरण कर उन्होंने ऊंच-नीच और हिन्दू-मुस्लिम के भेद-भाव को भी दूर करने का प्रयत्न किया। उनकी दृष्टि में अल्लाह और राम में, करीम और केशव में या हरि और हजरत में कोई भेद नहीं था। हिन्दुओं और मुसलमानों में एकता की स्थापना करते हुए कबीर दोनों धर्मों के बाह्य आडम्बर और पूजा पाठ की विधि पर समान रूप से आक्षेप किया करते थे।

दो सदी से भी अधिक समय तक हिन्दू और मुसलमान भारत में एक साथ निवास कर रहे थे। धीरे-धीरे वे एक-दूसरे के बहुत निकट आ गये थे। इसीलिये कबीर-

दास जैसे सन्त दोनों धर्मों को खरी-खरी बातें सुना सकते थे, और उन्हें एक ऐसे धर्म का मार्ग दिखा सकते थे, जो दोनों को समान रूप से स्वीकार्य हो। इस्लाम का सूफी सम्प्रदाय प्रेम के जिस मार्ग का उपदेश करता था, वह कबीर के निर्गुण भक्ति के मार्ग से बहुत भिन्न नहीं था। मुसलमानों का अल्लाह वैष्णवों के विष्णु के समान राम व कृष्ण के रूप में मानव-शरीर को धारण नहीं करता। उसका स्वरूप नाथ-पन्थियों के निर्गुण ब्रह्म से बहुत भिन्न नहीं है। यदि सूफी लोग इस निर्गुण अल्लाह के प्रति प्रेम कर सकते थे, तो हिन्दू लोग अपने निर्गुण निराकार भगवान् के प्रति प्रेम या भक्ति क्यों नहीं कर सकते? कबीर के उपदेशों से हिन्दू और मुसलमान एक-दूसरे से बहुत समीप आ गये थे, और इसीलिए उनकी शिष्य मण्डली में अब तक भी हिन्दू और मुसलमान दोनों विद्यमान हैं, और उनकी मृत्यु होने पर दोनों ने ही उनके शव पर दावा किया था।

गुरु नानक—जिस समय वर्तमान समय के उत्तर प्रदेश में स्वामी रामानन्द हिन्दू धर्म में नवीन जीवन का संचार करने में प्रवृत्त थे, प्रायः उसी समय पंजाब में एक महान् सन्त सुधारक अपना कार्य कर रहे थे, जिनका नाम गुरु नानक था। नानक का जन्म लाहौर से ३० मील दूर तलवंडी नामक ग्राम में १४६९ ईस्वी में हुआ था। उनके जीवन के सम्बन्ध में बहुत-सी बातें ज्ञात हैं, पर उनका यहाँ उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं। गृहस्थ जीवन को व्यतीत करते हुए उनका ध्यान भगवान् की ओर आकृष्ट हुआ, और वे सांसारिक सुख को लात मारकर भगवान् का साक्षात्कार करने के लिए प्रवृत्त हुए। इस उद्देश्य से उन्होंने प्रायः सम्पूर्ण भारत की यात्रा की, और भारत से बाहर मक्का भी गये। उनकी दृष्टि में हिन्दू और मुसलमानों में कोई भेद नहीं था। यात्रा करते हुए जब वे हरिद्वार आये, तो उनके सिर पर मुसलमान कलन्दरों की पगड़ी थी, और मस्तक पर हिन्दुओं की भाँति टीका लगा हुआ था। उनकी वेश-भूषा को देखकर यह कोई नहीं समझ सकता था, कि वे हिन्दू हैं या मुसलमान। उनके दो शिष्य सदा उनके साथ रहा करते थे, जिनमें एक मुसलमान था। वे न हिन्दुओं और मुसलमानों में कोई भेद करते थे, और न ऊंची और नीची जातियों में। हिन्दुओं और मुसलमानों में अभेद की स्थापना करते हुए उन्होंने कहा था :—

बन्दे इक्क खुदाय के हिन्दू मुसलमान।
दावा राम रसूल कर, लड़दे बेईमान॥

गुरु नानक ने जो नया पन्थ शुरू किया था, वह हिन्दू धर्म और इस्लाम का समन्वयात्मक पन्थ था। इस युग की प्रवृत्ति का वह मूर्त्तिमान रूप था। आगे चलकर यही सिक्ख धर्म के रूप में परिवर्तित हो गया, और दस गुरुओं के नेतृत्व में उसने बहुत अधिक उन्नति की। पंजाब के क्षेत्र में इस धर्म का बहुत अधिक प्रभाव है।

रैदास—स्वामी रामानन्द के शिष्यों में रैदास भी एक थे, जो जाति से चमार थे। इन्हीं से उस सम्प्रदाय का प्रारम्भ हुआ, जिसे "रैदासी" कहते हैं। चमार जाति के लोग प्रायः इस मत के अनुयायी हैं। यद्यपि ये अछूत जाति में उत्पन्न हुए थे, पर इनकी भक्ति से आकृष्ट होकर बहुत-से ब्राह्मण और द्विज भी इनको दण्डवत् किया करते थे। भारत की सन्त परम्परा में इनका नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है। यह हिन्दू

धर्म का दुर्भाग्य था, कि वैष्णव धर्म में जात-पांत की उपेक्षा करने की जो प्रवृत्ति इस युग में शुरू हुई थी, वह पूर्णतया सफल नहीं हो सकी, और रैदास के अनुयायी व सजातीय लोग एक पृथक् पन्थ के रूप में परिवर्तित हो गये। पर रैदास जैसे अछूत कुलों में उत्पन्न सन्तों का ब्राह्मणों तक से पूजा जाना इस युग की धार्मिक जागृति का परिचायक अवश्य है।

इस युग में अन्य भी बहुत-से ऐसे सन्त-महात्मा हुए, जिन्होंने जात-पाँत के भेद-भाव की उपेक्षा कर मनुष्यों की एकता और भक्ति-मार्ग का उपदेश दिया। महाराष्ट्र के सन्त नामदेव के शिष्य चोखमेला जाति के महार थे। महार लोग अछूत माने जाते हैं। जब सन्त चोखमेला पंढरपुर के प्रसिद्ध मन्दिर का दर्शन करने के लिए गये, तो उसके ब्राह्मण पुरोहितों ने उन्हें मन्दिर में प्रविष्ट होने से रोका। इस पर उन्होंने कहा—ईश्वर अपने बच्चों से भक्ति और प्रेम चाहता है, वह उनकी जाति को नहीं देखता। रैदास, चोखमेला, नानक, कबीर आदि सन्त जो नई प्रवृत्ति हिन्दू-धर्म में उत्पन्न कर रहे थे, उसने इस धर्म में नवजीवन का संचार करने में बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य किया। बाद में तुलसीदास, मीराबाई आदि ने सन्तों की परम्परा को आगे बढ़ाया।

(४) शैव धर्म की प्रगति

शैव धर्म के उद्भव तथा विकास पर इस ग्रन्थ के तीसरे अध्याय में प्रकाश डाला जा चुका है। वैष्णव धर्म के साथ-साथ यह धर्म भी भारत के विभिन्न प्रदेशों में फलता-फूलता रहा। चौथी सदी में जब गुप्तवंश के प्रतापी राजाओं ने अपनी शक्ति का उत्कर्ष किया और भारत के बड़े भाग को अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया, तो शैव धर्म की तुलना में वैष्णव धर्म की अधिक उन्नति प्रारम्भ हुई, क्योंकि गुप्तवंश के बहुसंख्यक राजा वैष्णव धर्म के अनुयायी थे। पर इसका यह अभिप्राय नहीं, कि गुप्त युग में शैव धर्म का ह्रास होने लग गया था। वस्तुतः, शैव धर्म ने भी इस काल में अच्छी उन्नति की। संस्कृत के सबसे महान् कवि कालिदास शिव के उपासक थे। उन्होंने अपने प्रसिद्ध महाकाव्य 'रघुवंश' का प्रारम्भ 'पार्वतीपरमेश्वरौ' की वन्दना के साथ किया है। 'कुमार-सम्भव' काव्य में उन्होंने कुमार या स्कन्द के सम्भव (जन्म) का बड़े उदात्त व सरस रूप से वर्णन किया है। कालिदास का समय गुप्त युग में ही माना जाता है। वे चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य की राजसभा के नौ रत्नों में एक थे। महाकवि भारवि ने अपने प्रसिद्ध महाकाव्य किरातार्जुनीय में अर्जुन और किरात वेशधारी शिव के युद्ध का वर्णन किया है। भारवि का समय छठी सदी में प्रतिपादित किया गया है, जब भारत में गुप्त-वंश का शासन था। वायुपुराण और मत्स्यपुराण की रचना भी गुप्त युग में ही हुई थी। इन पुराणों में शिव की महिमा तथा पूजा का विशद रूप से उल्लेख है। गुप्त वंशी राजा कुमार गुप्त प्रथम (४१५—४५५ ई०) के सिक्कों पर मयूर पर आरूढ़ कार्तिकेय (स्कन्द) की प्रतिमा अंकित है, जिससे यह संकेत मिलता है कि यह राजा कार्तिकेय का उपासक था, जिन्हें शिव का पुत्र माना गया है। कुमार गुप्त ने अपने पुत्र का नाम स्कन्द-गुप्त रखा था, यह बात भी शैव धर्म के प्रति उसकी आस्था को सूचित करती है।

गुप्त वंश के समय में तथा उससे पूर्व जिन अनेक विदेशी जातियों ने भारत पर आक्रमण किया था, उनके अनेक राजाओं तथा अन्य व्यक्तियों ने शैव धर्म को भी अपनाया था। शैव धर्म को अपनाने वाले यवनों तथा शकों का पहले उल्लेख किया जा चुका है। कुशाण वंश का राजा विम कदफिसस (पहली सदी) शैव धर्म का अनुयायी था। उसके सिक्कों के पृष्ठ भाग पर प्रायः त्रिशूलधारी शिव की प्रतिमा अंकित है, और कुछ सिक्कों पर शिव के साथ नन्दी को भी प्रदर्शित किया गया है। कनिष्क का बौद्ध धर्म के प्रति अधिक झुकाव था, और उसे बौद्ध ही माना जाता है। पर वह शैव धर्म के प्रति भी आस्था रखता था, यह उसके सिक्कों से स्पष्ट है। उसके बहुत-से सिक्कों पर शिव की मूर्ति भी अंकित है। कनिष्क के उत्तराधिकारी कतिपय अन्य कुशाण राजा भी शैव धर्म के प्रति आस्था रखते थे, यह उनके सिक्कों से सूचित होता है। गुप्तवंश के शासन काल में छठी सदी में भारत पर हूणों ने आक्रमण किये थे, जिनके कारण गुप्त साम्राज्य को बहुत क्षति उठानी पड़ी थी। प्रसिद्ध हूण राजा मिहिरकुल शैव धर्म का अनुयायी था, और उसने बौद्धों पर अत्याचार भी किये थे। मिहिरकुल के समान अन्य हूण लोगों ने भी भारत में आकर शैव धर्म को अपना लिया था। हर्ष का समकालीन बंगाल का राजा शशांक शैव धर्म का अनुयायी था। वाकाटक, मैत्रक, कदम्ब और परिव्राजक वंशों के राजा भी मुख्यतया इसी धर्म को मानने वाले थे। गुप्तवंश के शिलालेखों में दो अमात्यों का उल्लेख आया है, जो शैव धर्म के अनुयायी थे। इनके नाम शाव और पृथ्वीषेण हैं। अपने नाम को अमर करने के लिये इन्होंने शिव-मन्दिरों का निर्माण कराया था। गुप्त युग तथा उसके पश्चात् के काल में जो बहुत-से शिव-मन्दिर भारत में बने, उनके अनेक अवशेष इस समय भी विद्यमान हैं, और उनकी उपलब्ध मूर्तियों द्वारा इस धर्म के प्रचार के सम्बन्ध में परिचय प्राप्त किया जा सकता है।

गुप्त युग से पहले ही शिव, कार्तिकेय, गणेश, दुर्गा आदि की मूर्तियों का निर्माण प्रारम्भ हो गया था। शिव की मूर्तियाँ दो प्रकार से बनायी जाती थीं, मानवाकार में और लिङ्ग के रूप में। गुप्तवंश के समय में भी इन्हीं दोनों प्रकारों से शिव की मूर्तियां बनायी जाती रहीं। मानवाकार शिव की मूर्तियों में कोसाम से प्राप्त हुई शिव-पार्वती की मूर्ति उल्लेखनीय है। इसमें शिव और पार्वती साथ-साथ खड़े हैं, दोनों ने अपने दांयें हाथ ऊपर की ओर उठाये हुए हैं, शिव के बायें हाथ में जल पात्र है, और पार्वती ने अपने बायें हाथ में त्रिशूल लिया हुआ है। इस मूर्ति के आधार-भाग पर स्कन्दगुप्त के समय का एक अभिलेख भी उत्कीर्ण है। एल्लोरा के गुहा मन्दिरों में कैलाश-मन्दिर सबसे महत्त्व का है। इसका निर्माण आठवीं सदी में राष्ट्रकूट वंश के राजा कृष्ण द्वारा कराया गया था। मन्दिर के लिये चट्टान का कटाव करते हुए शिल्पियों ने बहुत-सी पौराणिक गाथाएं उस पर उत्कीर्ण कर दी हैं। इनमें से अनेक कथाओं का सम्बन्ध शैव धर्म के साथ है। एक दृश्य में रावण कैलाश को उठा रहा है और भय से त्रस्त पार्वती शिव के विशाल भुजदण्ड का सहारा लिये खड़ी है। शिव अचल होकर खड़े हैं, और अपने चरणों से कैलाश को दबाकर रावण के श्रम को व्यर्थ कर रहे हैं। एक अन्य चित्र में शिव और पार्वती का विवाह अंकित किया गया है। अन्य अनेक स्थानों पर विद्यमान मध्य काल के

अन्य गुहा-मन्दिरों में भी शिव की मूर्तियों तथा चित्रों आदि की सत्ता है। गुप्त काल तथा उसके बाद की जो शैव मूर्तियां इस समय उपलब्ध हैं, उनमें सारनाथ के संग्रहालय में विद्यमान लोकेश्वर शिव का एक सिर उल्लेखनीय है, जिसके जटाजूट अत्यन्त कलात्मक ढंग से बनाये गये हैं। शिव की लिंगरूप मूर्तियों में नागोद से प्राप्त हुई एकलिङ्गमुख-मूर्ति विशेष महत्त्व की है। इसमें शिव लिङ्ग के एक ओर सिर की आकृति बनी है, जिस पर रत्नजटित मुकुट है और जटाजूट के ऊपर अर्धचन्द्र विद्यमान है। ललाट पर शिव का तृतीय नेत्र भी प्रदर्शित किया गया है। इसमें सन्देह नहीं, कि गुप्त काल में वैष्णव धर्म का उत्कर्ष हो जाने पर भी शैव धर्म का भारत में प्रचार रहा, और उसके भी अनेक सम्प्रदाय विकसित होते रहे।

दक्षिणी भारत में शैव धर्म—वैष्णव धर्म के आलवार सन्तों के समान शैव धर्म के भी बहुत-से सन्त दक्षिणी भारत में हुए, जिन्होंने सर्वसाधारण जनता में शिव की उपासना के प्रचार के सम्बन्ध में बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया। इन सन्तों को नायन्मार या अडियार कहा जाता है, और ये संख्या में ६३ थे। आलवार सन्तों के समान इन नायन्मार सन्तों ने भी तमिल भाषा में गीतों, भजनों व श्लोकों की रचना की, जिनका संकलन नम्बि-आण्डार-नम्बि द्वारा किया गया था। नायन्मार सन्तों के श्लोकों के संग्रह 'तिरुमुंडै' कहाते हैं, और ये संख्या में ११ हैं। पहले सात संग्रहों में सम्बन्दर, अप्पर और सुन्दरर की रचनाएं संकलित हैं, आठवें संग्रह में मणिक्कवाचकर की, और दसवें संग्रह में तिरुमूलर की रचनाएं दी गई हैं, और नौवें तथा ग्यारहवें संग्रहों में विविध सन्तों की वाणियां संगृहीत की गई हैं। शैव सन्तों में अप्पर, सम्बन्दर, मणिक्कवाचकर और सुन्दरर प्रमुख हैं। इन्हें 'समयाचार्य' कहा गया है, और इन द्वारा भक्ति के चार प्रकारों का निरूपण किया गया है, दास मार्ग—उस ढंग से भक्ति करना जैसे कि दास अपने स्वामी की करता है, सत्पुत्र-मार्ग—उस ढंग से भक्ति करना जैसे एक सत्पुत्र अपने माता-पिता की करता है, सखामार्ग—उस प्रकार से भक्ति करना जैसे मित्र मित्र की करता है, और सन्मार्ग—भक्ति का सच्चा मार्ग। अप्पर पल्लव वंश के प्रसिद्ध राजा महेन्द्रवर्मा प्रथम (६००-६३० ईस्वी) का समकालीन था। यह राजा पहले जैन धर्म का अनुयायी था, पर अप्पर के सम्पर्क में आकर उसने शैव धर्म को अपना लिया था। 'मत्त विलास-प्रहसन' नामक एक साहित्यिक कृति को इसी राजा की रचना माना जाता है। इसमें बौद्ध भिक्षुओं के प्रति अनेक व्यङ्ग किये गये हैं। महेन्द्र वर्मा के शैव धर्म को ग्रहण कर लेने पर कांची शैव धर्म का प्रमुख केन्द्र बन गया और इस राजा द्वारा अपने राज्य में बहुत-से शैव मंदिरों का निर्माण कराया गया। महेन्द्र के उत्तराधिकारी पल्लव राजा शैव धर्म के संरक्षक एवं अनुयायी थे। उनके समय में दक्षिणी भारत में शैव धर्म ने बहुत उन्नति की। पर शैवों के इस उत्कर्ष का प्रधान कारण राजाओं का संरक्षण न होकर अप्पर सदृश नायन्मार सन्तों द्वारा सर्वसाधारण जनता में इस धर्म का प्रचार था।

मणिक्कवाचकर का जन्म मदुरा के समीप वाडवूर के एक ब्राह्मण कुल में हुआ था। बाल्यावस्था में ही उसने सब वेद शास्त्रों का भलीभाँति अध्ययन कर लिया था। उसकी प्रतिभा तथा विद्वत्ता की कीर्ति सुनकर पाण्ड्य देश के राजा ने उसे अपना प्रधान-

मन्त्री नियुक्त किया, जिसके कारण उसे संसार के सब सुख-वैभव प्राप्त हो गये। पर उसका झुकाव अध्यात्म और धर्म की ओर था। गौतम बुद्ध के समान सब लौकिक सुखों का परित्याग कर वह सन्त हो गया, और शैव धर्म के प्रचार में उसने अपना सारा जीवन लगा दिया। चिदम्बरम् में बौद्ध विद्वानों को शास्त्रार्थ में परास्त कर उसने शैव धर्म की प्रतिष्ठा स्थापित की। तमिल साहित्य में मणिक्कवाचकर की रचनाओं का वही स्थान है, जो संस्कृत में उपनिषदों का है। सम्बन्दर का समय सातवीं सदी के पूर्वार्ध में था। और उसने मदुरा के पाण्ड्य राज्य की रानी तथा प्रधान मन्त्री को शैव धर्म में दीक्षित किया था। ये भी पहले जैन धर्म के अनुयायी थे। बाद में पाण्ड्य देश के राजा को भी सम्बन्दर ने शैव धर्म की दीक्षा प्रदान कर दी थी। इस प्रकार पाण्ड्य देश में शैव धर्म का प्रचार कर सम्बन्दर चोड़ राज्य में गया, और वहाँ से उसने उत्तरी भारत की यात्रा की। दक्षिणी भारत के शैव सन्तों में सम्बन्दर का इतना महत्त्व है कि तिरुमुडै के प्रथम संग्रह में उसी की उक्तियों को संकलित किया गया है। शैव धर्म के प्रचार के लिये सम्बन्दर को जैनों और बौद्धों के मतों का उग्र रूप में खण्डन करना पड़ा था। यही कारण है कि उसकी रचनाओं में इनके प्रति कठोर वचनों का भी प्रयोग मिलता है। सुन्दरर का जन्म दक्षिणी आर्कोट जिले के एक शैव परिवार में हुआ था, पर उसका मुख्य कार्यक्षेत्र केरल में था। वहाँ के राजा चेरमान पेरुमाल से उसकी मैत्री थी, और उसके प्रयत्न से केरल में भी शैव धर्म का भलीभांति प्रचार हो गया था। इस नायन्मारद्वारा शिव भक्ति के सखा मार्ग का प्रतिपादन किया गया है।

नायन्मार सन्तों के प्रयत्न का ही यह परिणाम हुआ, कि दक्षिणी भारत में शैव धर्म बहुत लोकप्रिय हो गया, और वहां बहुत-से शिव-मन्दिरों का निर्माण हुआ। इनमें प्रतिष्ठापित शिव-मूर्तियां अच्छी बड़ी संख्या में वर्तमान समय में भी विद्यमान हैं। ये मूर्तियाँ अनेक प्रकार की हैं, यथा अर्धनारीश्वर मूर्ति जिनमें शिव और पार्वती को संयुक्त रूप से बनाया जाता है, नृत्यमूर्ति जिनमें शिव को नटराज के रूप में प्रदर्शित किया जाता है, और अनुग्रहमूर्ति जिनमें शिव के कल्याणकारी रूप का निरूपण होता है। शिव की नृत्यमूर्ति में नटराज शिव की मूर्तियां बहुत प्रसिद्ध हैं जो कला की दृष्टि से अद्वितीय हैं। इनके निर्माण के लिये कांस्य तथा ताम्र का प्रयोग किया जाता है, और ये दक्षिण के बहुत-से मन्दिरों में प्रतिष्ठापित हैं।

शंकराचार्य—दक्षिणी भारत के शैव धर्म पर प्रकाश डालने के प्रसंग में शंकराचार्य का भी उल्लेख करना आवश्यक है। अद्वैतवाद के प्रबल समर्थक यह आचार्य केरल में उत्पन्न हुए थे और इनका समय नौवीं सदी के अन्तिम भाग में माना जाता है। ये असाधारण प्रतिभासम्पन्न और विलक्षण विद्वान् थे। ब्रह्मसूत्रों, भगवद्गीता और उपनिषदों पर भाष्य लिखकर उन्होंने अद्वैतवाद का प्रतिपादन किया। उनके मत में ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है, जगत् मिथ्या है और जीवात्मा ब्रह्म से भिन्न नहीं है। ब्रह्म सृष्टि का उपादान कारण भी है और निमित्त कारण भी। अत्यन्त उत्कृष्ट तर्क द्वारा अपने सिद्धान्त का निरूपण करने के अतिरिक्त शंकराचार्य ने शिव की स्तुति में अनेक श्लोकावलियों की भी रचना की, और शिव को देवाधिदेव के रूप में प्रतिपादित किया।

भारत के प्रायः सभी प्रदेशों की यात्रा कर उन्होंने न केवल बौद्धों से शास्त्रार्थ किये, अपितु शैव धर्म में जो अनेक विकृतियां उत्पन्न हो गई थीं, उनका भी निराकरण किया। उज्जैन में उन्होंने भी पाशुपत सम्प्रदाय के एक आचार्य को शास्त्रार्थ में परास्त किया। पाशुपत शैव धर्म का ही एक सम्प्रदाय था, पर शंकराचार्य को उनके मन्तव्य स्वीकार्य नहीं थे। उत्तरी भारत में वे उत्तराखण्ड और काश्मीर भी गये थे, और पूर्व, पश्चिम, दक्षिण तथा उत्तर—सर्वत्र उन्होंने अपने मठों की स्थापना की थी। अगाध पाण्डित्य और अनुपम तर्क द्वारा उन्होंने सर्वत्र अपने विरोधियों को शास्त्रार्थ में परास्त किया, और धर्म तथा दर्शन के क्षेत्र में अद्भुत दिग्विजय की। यद्यपि शंकराचार्य शैव धर्म के अनुयायी थे, पर उन्होंने पंचायतन पूजा का निरूपण किया, जिसमें शिव, विष्णु, शक्ति, सूर्य और गणेश की पूजा का विधान था। शंकर एक अर्थ में समन्वयवादी थे, और उन्होंने विविध हिन्दू देवी-देवताओं को एक मानते हुए उन सबकी पूजा का प्रतिपादन किया था। एक ब्रह्म को ही सत्ता मानने वाले शंकराचार्य के लिये यह स्वाभाविक भी था कि वे विविध देवी-देवताओं में भी अभेद का प्रतिपादन करें। इसी का यह परिणाम हुआ कि हिन्दू मन्दिरों में अनेक देवताओं की मूर्तियाँ प्रतिष्ठापित की जाने लगीं। मध्यकाल के बहुत-से मन्दिरों में किसी एक देवता की मूर्ति न होकर अनेक देवताओं की मूर्तियों की जो प्रतिष्ठापित किया जाने लगा, वह उसी प्रवृत्ति का परिणाम था जिसे शंकराचार्य ने पंचायतन पूजा का नाम दिया है और जिसके कारण इस प्रवृत्ति को स्वीकार करने वाले 'स्मार्त' कहाने लगे थे।

काश्मीर का शैव सम्प्रदाय—शैव धर्म का जिन विविध सम्प्रदायों के रूप में विकास हुआ, उनमें काश्मीर के शैव सम्प्रदाय का विशेष महत्त्व है। इस सम्प्रदाय का प्रारम्भ आठवीं सदी के अन्तिम भाग में या नौवीं सदी के प्रारम्भ में वसुगुप्त नामक आचार्य द्वारा किया गया था। प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार भगवान् शिव ने स्वयं वसुगुप्त को शिव सूत्रों का दर्शन कराया था। ये शिव सूत्र महादेव पर्वत की एक शिला पर उत्कीर्ण थे। इस सम्प्रदाय की दो शाखाएं हैं, स्पन्दशास्त्र और प्रत्यभिज्ञाशास्त्र। वसुगुप्त स्पन्दशास्त्र के प्रवर्त्तक थे, जिसके मुख्य ग्रन्थ 'शिवसूत्राणि' और 'स्पन्दकारिका' हैं। सम्भवतः, शिवसूत्राणि की रचना वसुगुप्त द्वारा ही की गई थी, पर शैव लोगों की दृष्टि में उसका इतना अधिक आदर था कि उसे साक्षात् शिव द्वारा प्रदत्त माना जाने लगा था। वसुगुप्त के शिष्य कल्लट थे, जिन्होंने कि अपने गुरु के मत का प्रतिपादन करने तथा अपने शिष्यों को शिक्षा देने के प्रयोजन से स्पन्दकारिका की रचना की थी। कल्लट राजा अवन्तिवर्मा (८५४ ईस्वी) के समय में हुए थे, और काश्मीर के शैव सम्प्रदाय के विकास एवं प्रचार में उनका अनुपम कर्त्तृत्व था। इस सम्प्रदाय के अन्य आचार्यों में उत्पल, रामकण्ठ और अभिनवगुप्त के नाम उल्लेखनीय हैं। स्पन्दशास्त्र के इन आचार्यों के अनुसार शिव या शम्भु ही एकमात्र सत्य सत्ता है, जो अपनी इच्छा से समस्त पदार्थों का सृजन करता है। वह स्वयं जगत् को इस प्रकार से प्रतिभासित करता है, जैसे वह उससे भिन्न हो, पर वस्तुतः ऐसा नहीं है। शिव विश्वमय भी है, और विश्वोत्तीर्ण भी है।

काश्मीर के शैव सम्प्रदाय की प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र शाखा के प्रवर्त्तक सोमानन्द थे, जिनका समय दसवीं सदी के अन्त में माना जाता है। उन्होंने यह मत प्रतिपादित किया था, कि यद्यपि हम सब ईश्वर के अंश हैं या वस्तुतः ईश्वर हैं, पर हम इस तथ्य की प्रत्यभिज्ञा नहीं कर पाते। जीव ईश्वर के स्वरूपगत विशुद्ध आनन्द का अनुभव नहीं कर पाता, क्योंकि उसे यह ज्ञान नहीं होता कि वह स्वयं ईश्वर है और जो गुण ईश्वर में हैं वे उसमें भी हैं। परन्तु जब गुरु के उपदेशों से मनुष्य को यह ज्ञान हो जाता है कि वह भी ईश्वर के गुणों से युक्त हैं, तो वह अपने में ईश्वर की प्रत्यभिज्ञा करने में समर्थ हो जाता है और उसमें उत्कृष्ट आनन्द का उदय होने लगता है। इस प्रकार काश्मीर में जिस शैव सम्प्रदाय का विकास हुआ, उसके अपने पृथक् दार्शनिक मन्तव्य थे। काश्मीर में इसी शैव मत का प्रसार हुआ था।

वीर शैव या लिंगायत सम्प्रदाय – दक्षिणी भारत में शैव धर्म का एक सम्प्रदाय वीरशैव या लिंगायत भी है, जिसका साहित्य प्रधानतया कन्नड़ भाषा में है। वसव पुराण के अनुसार इसके प्रवर्तक वसव नामक ब्राह्मण थे, जो कलचूरि राजा बिज्जल (११५७-११६७ ईस्वी) के मन्त्री थे। इस सम्प्रदाय के अनुसार शिव ही परम तत्त्व है, जिसमें उपास्य और उपासक के रूप में लीला करने की शक्ति है। सब सृष्टि शिव से उत्पन्न होती है और उसी में उसका तादात्म्य हो जाता है।

(५) तान्त्रिक सम्प्रदाय या वाममार्ग

जिन प्रवृत्तियों और विचारसरणी द्वारा बौद्ध धर्म में वज्रयान का विकास हुआ था, उन्हीं के कारण वैदिक धर्म की परम्परा में तान्त्रिक सम्प्रदाय प्रादुर्भूत हुआ। भारत में शक्ति रूप देवी की पूजा चिरकाल से प्रचलित थी, और उसे तीन रूपों में पूजा जाता था, सौम्य रूप में, प्रचण्ड रूप में और कामप्रधान रूप में। तान्त्रिक सम्प्रदाय के लोग देवी की पूजा उसके कामप्रधान रूप में ही किया करते थे। इस सम्प्रदाय का भी अपना पृथक् साहित्य है, जिसे तन्त्र कहते हैं। तन्त्र साहित्य भी बहुत प्राचीन है। सातवीं से नौवीं सदी के हस्तलिखित तन्त्र ग्रन्थ नेपाल में उपलब्ध हुए हैं, और कम्बोडिया के एक अभिलेख से सूचित होता है कि नौवीं सदी में भारत के तन्त्र ग्रन्थों को वहाँ ले जाया गया था। बौद्ध तन्त्रों का चीनी भाषा में अनुवाद आठवीं सदी में किया जा चुका था, और तिब्बती भाषा में दसवी सदी में। इन सब बातों को दृष्टि में रखकर यह परिणाम निकाला गया है कि तन्त्र साहित्य का विकास छठी सदी के लगभग प्रारम्भ हो चुका था। यही वह समय था, जबकि बौद्धों में वज्रयान और वैदिक परम्परा में तान्त्रिक सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ।

तन्त्र साहित्य में सिद्धि व मोक्ष को प्राप्त करने के लिये जिन विधि-विधानों का प्रतिपादन किया गया है, वे अत्यन्त जटिल हैं। उनके अनुसार आध्यात्मिक उन्नति के इच्छुक मनुष्यों के लिये प्रगति की तीन सीढ़ियां या दशाएँ (भाव) है, जिन्हें पशु, वीर और दिव्य की संज्ञा दी गई है। पशुभाव में साधक सदाचार के उन सब नियमों का पालन करता है, जिन्हें समाज में मान्यता प्राप्त हो। वह पशु के समान जीवन व्यतीत

करता है और प्रचलित मान्यताओं का अनुसरण करता है। पशुभाव की भी चार दशाएं हैं, वेदाचार, वैष्णवाचार, शैवाचार और दक्षिणाचार। इन दशाओं में साधक सामान्य विधि-विधानों के अनुसरण, विष्णु की पूजा, शिव की भक्ति और देवी के ध्यान की ओर अपना मन लगाता है। पशु-भाव में साधक हिंसा से बचता है, मद्य का सेवन नहीं करता, इन्द्रियों को वश में रखता है, तप दान और देव पूजा को महत्त्व देता है, और काम के वशीभूत नहीं होता। वह साधारण धार्मिक व्यक्तियों के समान धर्म का सेवन करता है, यद्यपि दक्षिणाचार दशा को प्राप्त होने पर वह कतिपय गुह्य साधनाओं का भी प्रारम्भ कर देता है। वीर भाव की दो दशाएं होती हैं, वामाचार और सिद्धान्ताचार। तन्त्र ग्रन्थों में जो गुह्य साधनाएं विहित हैं, वामाचार की दशा में साधक द्वारा उनका साधन शुरू कर दिया जाता है। ये साधनाएँ अत्यन्त गुह्य तथा जटिल है, अतः इनके लिये साधक को गुरु के पथ-प्रदर्शन में काम करना होता है और बड़े कठोर नियमों के अधीन रहने की आवश्यकता होती है। समाज की मान्यताओं की इनमें जरा भी परवाह नहीं की जाती, और सर्वसाधारण लोग जिन बातों को सदाचार या नैतिक आदर्श समझते हैं, उन्हें स्वीकार्य या अनुसरणीय नहीं माना जाता। क्या खाद्य है और क्या अखाद्य, क्या पेय है और क्या अपेय, क्या करणीय है और क्या नहीं, किस स्त्री से यौन-सम्बन्ध विहित है और किससे नहीं—इन बातों का कोई विवेक वामाचार दशा में साधक के लिये नहीं रहता। उसकी दृष्टि में सब स्त्रियां कुलनायिका, भैरवी व योगिनी के रूप में शक्ति की प्रतीक होती हैं, और सब पुरुष भैरव के रूप में शिव के प्रतीक होते हैं। साधक सभी स्त्रियों को गम्य समझता है, किसी के साथ भी यौन-सम्बन्ध स्थापित कर सकता है। इसी प्रकार मांस, मदिरा और मत्स्य के सेवन में भी उसके लिये कोई बाधा नहीं होती। इन सबका सेवन तान्त्रिक गुह्य साधना का अंग माना जाता है। पर वामाचार दशा में गुह्य साधनाएं किसी निर्धारित स्थान पर रात्रि के समय में गुप्त रूप से ही की जाती हैं। अभी साधक में इतना साहस नहीं होता कि वह इन्हें खुले तौर पर कर सके। पर जब साधक सिद्धान्ताचार की दशा में पहुँच जाता है, तो वह इन साधनाओं को निर्भय होकर खुले तौर पर करने लगता है। पञ्चमकारों (मांस, मत्स्य, मदिरा, मुद्रा और मैथुन) का सेवन उसकी साधना पद्धति का अनिवार्य अंग बन जाता है, और इनके सेवन के लिये उसे न किसी विशिष्ट स्थान की अपेक्षा होती है और न विशिष्ट समय की। सिद्धान्ताचार की दशा को प्राप्त 'वीर' साधक की मानसिक दशा इतनी निर्लिप्त तथा निर्द्वन्द्व हो जाती है, कि उसकी दृष्टि में खाद्य-अखाद्य, पेय-अपेय, गम्य-अगम्य और करणीय-अकरणीय का कोई भी भेद नहीं रह जाता। कोई भी कर्म उसे किसी भी प्रकार से प्रभावित नहीं कर पाता और वह अपनी सभी क्रियाओ से अलिप्त रहता है। जब साधक इस दशा को पहुँच जाता है, तो उसकी साधना की वह अन्तिम दशा आती हैं, जिसे कौलाचार कहते हैं। इस द्वारा साधक 'दिव्य' भाव को प्राप्त कर लेता है। दिव्य भाव में मनुष्य सब नैतिक मान्यताओं, सदाचार के नियमों, पाप-पुण्य के भेद, घृणा, प्रीति, विधि-निषेध आदि से ऊपर उठ जाता है। जैसे ईश्वर के लिये कोई विधि निषेध नहीं होते, उसकी इच्छा ही सर्वोपरि होती है, ऐसे ही दिव्य भाव को प्राप्त तान्त्रिक साधक के लिये किसी

भी मर्यादा की सत्ता नहीं रह जाती। वह स्वच्छन्द रूप से आचरण करता है। पर इस दशा को उच्छृंखलता कहना उचित नहीं होगा, क्योंकि अत्यन्त कठोर साधना द्वारा ही यह दशा प्राप्त होती है। यह सही है कि इस साधना मार्ग की आड़ लेकर मनुष्य उच्छृंखल व अनैतिक जीवन की ओर भी प्रवृत्त हो सकता है। इसीलिये तान्त्रिक सम्प्रदाय के अनुसार गुरु के मार्ग प्रदर्शन में ही इस साधना पद्धति का अनुसरण आवश्यक कहा गया है। पर यह सर्वथा स्वाभाविक था कि दिव्य एवं मुक्त भाव को प्राप्त करने के लिये की जाने वाली गुह्य साधनाओं की आड़ लेकर कतिपय स्त्री-पुरुष पतन के मार्ग पर भी चलने लग जाएं। इसी कारण वज्रयान के समान तान्त्रिक सम्प्रदाय या वाममार्ग ने भी एक ऐसा विकृत रूप प्राप्त कर लिया, जो उसके आदर्शों के अनुकूल नहीं था।

(६) जादू टोने तथा अभिचार क्रियाएँ

प्राचीन भारत में न केवल बौद्ध, जैन, शैव तथा वैष्णव जैसे धर्म प्रचलित थे, अपितु लोग कतिपय ऐसी रहस्यमयी सत्ताओं में भी विश्वास रखते थे, जिन्हें भूत, प्रेत या जिन्न सदृश संज्ञाओं से आजकल कहा जाता है। चाणक्य ने इन्हें 'रक्षांसि' कहा है। इनको संतुष्ट करने के जिन उपायों का प्रयोग किया जाता था, वे किसी ग्रन्थ में प्रतिपादित नहीं हैं। पर उनका परिचय चाणक्य के अर्थशास्त्र से प्राप्त किया जा सकता है। यहां हम उसी के आधार पर जनता के इस विश्वासों का संक्षेप से परिचय देंगे।

आठ दैवी महाभयों में 'रक्षांसि' भी एक है। जिस प्रकार अग्नि, उदक, व्याधि (महामारी), दुर्भिक्ष, मूषिका, व्याल (हिंस्र पशु) और सर्पों के उत्पात के निवारण के लिए उपाय करना आवश्यक है, वैसे ही 'रक्षांसि' के उत्पातों का निवारण भी किया जाना चाहिये। इस प्रयोजन से कौटलीय अर्थशास्त्र में आथर्वण उपायों और 'मायायोग-विद्' तापसों द्वारा प्रतिपादित अनुष्ठानों का आश्रय ग्रहण करने की व्यवस्था की गई है। इन अनुष्ठानों के स्वरूप के सम्बन्ध में हमें अधिक ज्ञान नहीं हैं। पर रक्षों के महाभय को दूर करने का एक उपाय यह था, कि पर्वो के अवसर पर छत्र, उल्लोपिका, हस्त (सम्भवतः, हाथ का चित्र), पताका और छागोपहार (बकरे की बलि) द्वारा चैत्यपूजा करायी जाए। रक्ष एक ऐसी सत्ता थे, जो अदृश्य, अज्ञात और रहस्यमय थे। अतः उनके भय को दूर करने का उपाय भी ऐसा ही हो सकता था, जो कि 'माया योग' के ज्ञाताओं द्वारा निरूपित हो। रक्षों की सत्ता के सम्बन्ध में जनता का विश्वास इतना बद्धमूल था कि कौटल्य ने राज्य और राजा की भलाई के लिए अनेक प्रकार से उसका उपयोग करने का सुझाव दिया है।

केवल 'रक्षोभय' के निवारण के लिए ही आथर्वण उपायों और मायायोगविदों द्वारा प्रतिपादित अनुष्ठानों का प्रयोग नहीं किया जाता था, अपितु व्याधि, दुर्भिक्ष आदि अन्य दैवी विपत्तियों के निवारण के लिए भी ये साधन प्रयोग में लाये जाते थे। व्याधि को दूर करने के लिये जहाँ चिकित्सक औषधियों का प्रयोग करते थे, वहाँ सिद्ध तापस शान्ति-प्रायश्चित द्वारा भी उन्हें शान्त करते थे। महामारी के फैलने पर श्मशान में गाय को दुहने और धड़ को जलाने जैसे उपाय भी प्रयोग में लाये जाते थे। कौटल्य का यह मत

था, कि दैवी भयों के प्रतीकार के लिये मायायोगविद् सिद्ध तापस अत्यन्त उपयोगी होते हैं, अतः राजा उन्हें सम्मानपूर्वक अपने राज्य में बसाये और उनकी पूजा भी किया करे।

मायायोगविद् और सिद्ध तापस जिन उपायों द्वारा दैवी तथा मानुषी विपत्तियों का निवारण किया करते थे, कौटल्य ने उन्हें 'आथर्वण' और 'औपनिषदिक' क्रियाओं की संज्ञा प्रदान की है। अर्थशास्त्र में एक पूरा अधिकरण है, जिसमें इन औपनिषदिक क्रियाओं का विशद रूप से निरूपण किया गया है। इन औपनिषदिक प्रयोगों में अनेकविध विषों और उग्र औषधियों को काम में लाया जाता था, और साथ ही अनेक तन्त्र-मन्त्रों और जादू टोनों को भी। इन प्रयोगों के अनेक प्रयोजन थे, जैसे बहुत बड़ी संख्या में दूसरों को बेहोश कर देना या उनका घात कर देना, किसी प्रदेश में जलाशयों और नदियों के जल को दूषित कर देना, बीमारी उत्पन्न करना या महामारी फैलाना, अपने को अदृश्य कर लेना, चिरकाल तक भोजन के बिना रह सकना, किसी को अन्धा कर देना, बन्द द्वार को मन्त्र-बल से खोल देना, दूसरों को वश में कर लेना, रात्रि के अन्धकार में भी देख सकना, व्याधि का निवारण करना, किसी को गूंगा और बहरा बना देना और विष के प्रभाव को नष्ट करना। इसी प्रकार के अन्य भी बहुत-से प्रयोजनों के लिये कौटल्य ने औपनिषदिक प्रयोगों का प्रतिपादन किया है। इन प्रयोगों के लिये जो औषधियाँ व अन्य सामग्री अपेक्षित थी और इनका अनुष्ठान करते हुए जिन मन्त्रों का उच्चारण किया जाता था, उन सबका विवरण भी कौटलीय अर्थशास्त्र में विद्यमान है। यह निर्णय कर सकना कठिन है कि ये औपनिषदिक प्रयोग किस अंश तक कार्यक्षम थे। पर इसमें सन्देह नहीं कि प्राचीन भारतीय इन पर विश्वास करते थे, और क्रियात्मक दृष्टि से भी इनका उपयोग किया करते थे। शत्रु सेना के घात के लिये, शत्रु के दुर्ग की विजय के लिये और शत्रु से अपनी रक्षा के लिये कौटल्य ने इन प्रयोगों का निरूपण किया है, और साथ ही अपने गुप्तचर विभाग के लिये भी। मौर्य शासनतन्त्र के बहुत-से गुप्तचर सिद्ध तापसों का भेस बनाकर भी शत्रु राज्य का भेद लेने के लिये प्रयत्नशील रहते थे। ये गुप्तचर इसी कारण अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त कर सकते थे, क्योंकि सर्वसाधारण जनता जादू-टोने, तन्त्र-मन्त्र और अलौकिक सिद्धियों में विश्वास रखती थी।

मौर्य युग के भारतीय तन्त्र-मन्त्र, जादू-टोने और अभिचार क्रियाओं आदि में भी विश्वास रखते थे, यह कौटलीय अर्थशास्त्र से स्पष्ट है। इनका उपयोग वे पर-स्त्री या पर-पुरुष को वश में लाने, प्रभूत सम्पत्ति को प्राप्त करने, शत्रु के राज्य में बीमारी फैलाने, सन्तान की प्राप्ति और चिरायु होने सदृश प्रयोजनों से किया करते थे। पर-स्त्री को वश में करने की क्रिया को 'संवनन' कहते थे। कौटल्य ने लिखा है कि यदि कोई व्यक्ति यह दावा करे कि वह मन्त्र के प्रयोग, औषधि या श्मशान में किये जाने वाले अनुष्ठान द्वारा स्त्रियों को वश में ला सकता है, तो सत्री (गुप्तचर) जाकर उसे कहे—'मैं अमुक की पत्नी, कन्या व वधू की कामना करता हूँ। मैं चाहता हूं, कि वह भी मेरी कामना करने लगे। इसके लिये आप यह धन स्वीकार कर लें।' यदि वह व्यक्ति ऐसा करने को उद्यत हो जाए, तो उसे 'संवननकारक' मान कर प्रवासित कर दिया जाए। कौटल्य को संवनन-कारक लोग पसन्द नहीं थे, वे उन्हें राज्य के लिये हानिकारक भी समझते थे। पर तन्त्र-

मन्त्र के प्रयोग द्वारा पर-स्त्रियों को वश में करने की प्रथा मौर्य युग में विद्यमान थी, यह असंदिग्ध है।

तन्त्र-मन्त्र के प्रयोग का सहारा 'जम्भक विद्या' में भी लिया जाता था। धन की प्राप्ति आदि के लिये इस विद्या का उपयोग किया जाता था। कौटल्य ने लिखा है—सिद्ध का भेस बनाकर गुप्तचर 'दूष्य' (जिस पर अपराधी होने का सन्देह हो) व्यक्ति के पास जाए और जम्भक विद्या द्वारा और अधिक धन प्राप्त करने के लिए प्रेरित करते हुए उसे कहे—'मैं ऐसे कर्म (अनुष्ठान) में प्रवीण हूँ, जिससे मनुष्य अक्षय हिरण्य (अनन्त धन) की प्राप्ति, राजद्वारिक (राजद्वार में प्रवेश), स्त्री हृदय (स्त्री के हृदय को जीत सकना), अरिव्याधिकर (शत्रु को रुग्ण कर देने), आयुष्यं (स्वयं चिरायु प्राप्त कर सकना) और पुत्रीयं (पुत्र प्राप्ति) में सफलता प्राप्त कर सकता है। यदि दूष्य व्यक्ति सत्री (गुप्तचर) की बात में विश्वास कर ले, तो किस प्रकार चैत्य में ले जाकर उसे अपने वश में ले आया जाए, इसका कौटल्य ने विशद रूप स प्रतिपादन किया है। इसमें सन्देह नहीं, कि जम्भक विद्या द्वारा सिद्ध तापस लोग ऐसे अनुष्ठान किया करते थे, जिनसे अक्षय हिरण्य की प्राप्ति हो सके, राजद्वार में प्रवेश सम्भव हो, पर-स्त्री के हृदय को वश में लाया जा सके, शत्रु को रुग्ण किया जा सके, स्वयं चिरायु हुआ जा सके और पुत्र की प्राप्ति की जा सके।

जम्भक विद्या के समान 'माणव विद्या' का उपयोग भी जादू-टोने और तन्त्र-मन्त्र आदि के लिये किया जाता था। इस विद्या का प्रयोग करने में कुशल व्यक्ति मन्त्र द्वारा बन्द द्वारों को खोल देते थे, जागते हुए लोगों को सुला देते थे, किसी भी मनुष्य को अदृश्य कर देते थे, और पर-स्त्री को वश में ले आते थे। इन कार्यों के लिये वे द्वारापोहमन्त्र (ऐसा मन्त्र जिससे बन्द द्वार खुल जाए), प्रस्वापन मन्त्र (ऐसा मन्त्र जिससे जागता हुआ मनुष्य सो जाए), अन्तर्धानमन्त्र (जिससे मनुष्य अदृश्य हो जाए) और संवनन मन्त्र (जिससे परस्त्री वश में आ जाए) का प्रयोग किया करते थे। सम्भवतः, कौटल्य इस विद्या में विश्वास नहीं रखते थे। इसका प्रयोग उन्होंने अपने सत्रियों (गुप्तचर) द्वारा इस प्रयोजन से कराया है, ताकि चोरों और डाकुओं को पकड़ा जा सके। सिद्ध का वेश बनाये हुए गुप्त-चर ऐसे लोगों के पास जाएँ, जिन पर कि डाकू आदि होने का सन्देह हो। अपने साथी गुप्तचरों की सहायता से उन्हें वे यह विश्वास दिलाएँ, कि वे माणव विद्या में प्रवीण हैं, और बन्द द्वारों को मन्त्रशक्ति से खोल सकते हैं, जागते हुए मनुष्यों को सुला सकते हैं, किसी को भी अदृश्य कर सवते हैं, और पर-स्त्री को वश में ला सकते हैं। ये सब कार्य गुप्तचर स्वयं करके दिखायेंगे, पर किसी जादू-टोने या तन्त्र-मन्त्र से नहीं, अपितु पहले से सिखाये हुए अपने गुप्तचर साथियों की सहायता से। पर इसमें सन्देह नहीं, कि मौर्य युग की सर्वसाधारण जनता को तन्त्र-मन्त्र और जादू-टोने में विश्वास था, इसीलिए वह सिद्ध तापसों का भेस बनाये हुए गुप्तचरों के वश में सुगमता से आ जाती थी।

प्राचीन भारत में सर्वसाधारण लोग किस हद तक सिद्ध तापसों की अलौकिक शक्तियों में विश्वास रखते थे, यह कौटलीय अर्थशास्त्र के उस प्रसंग से स्पष्ट हो जाता है, जिसमें शत्रुओं को परास्त करने के लिए कुटिल नीति का निरूपण किया गया है। वहाँ

लिखा है—मुण्ड या जटिल के भेस में गुप्तचर बहुत-से चेलों के साथ नगर के समीप आकर ठहर जाएँ। लोगों को यह जताया जाए, कि सिद्ध की आयु चार सौ साल है, और वह पर्वत की गुहा के निवासी हैं। शिष्य जन अपने गुरु के लिए मूल फल प्राप्त करने के प्रयोजन से नगर में जाकर राजा और अमात्यों को भगवद्दर्शन (अपने सिद्ध गुरु के दर्शन) के लिए प्रेरित करें। जब राजा दर्शन के लिये आए, तो उसे पुराने राजा और देश के सम्बन्ध में बातें बताए और कहे—'सौ-सौ वर्ष की आयु के पूर्ण हो जाने पर मैं अग्नि में प्रवेश करके फिर से बाल हो जाता हूँ। अब मैं आपके सम्मुख चौथी बार अग्नि में प्रवेश करूँगा। आप अवश्य ही देखने के लिए आइये। जो इच्छा हो, तीन वर माँग लें।' जब राजा को सिद्ध के प्रति विश्वास हो जाए, तो उसे यह कहा जाए कि अब आप अपनी पत्नी और पुत्रों के साथ सात दिन-रात यहाँ आकर निवास करें और धार्मिक कृत्यों का अवलोकन करें। जब राजा वहाँ निवास के लिए आ जाए, तो उसे पकड़ लिया जाए। कौटलीय अर्थशास्त्र का यह उद्धरण यह स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त है कि मौर्य युग के भारतीयों के विश्वास प्रायः उसी ढंग के थे, जैसे आजकल के भारतीयों में पाये जाते हैं। मुण्ड या जटिल सिद्ध तापस का भेस बनाकर गुप्तचर लोग न केवल सर्वसाधारण जनता को अपितु अमात्यों और राजाओं को भी ठग लिया करते थे। इसका कारण यही था, कि उस काल में तन्त्र-मन्त्र, अलौकिक सिद्धि, अभिचारक्रिया आदि के प्रति लोगों का विश्वास बहुत बद्धमूल था।

फलित ज्योतिष में विश्वास के सम्बन्ध में भी अनेक निर्देश कौटलीय अर्थशास्त्र में विद्यमान हैं। ज्योतिषियों के लिए कौटल्य ने मौहूर्तिक, नैमित्तिक और कार्तान्तिक शब्दों का प्रयोग किया है। मुहूर्त, निमित्त (शकुन), स्वप्न (सुपने), लक्षण या अंगविद्या (शरीर के विविध चिह्न तथा हस्तरेखाएँ), नक्षत्रों की स्थिति और पशु-पक्षियों की आवाज द्वारा ज्योतिषी लोग भविष्यफल बताया करते थे। ज्योतिषियों को राजकीय सेवा में भी रखा जाता था। कौटल्य ने कार्तान्तिक, नैमित्तिक और मौहूर्तिक के लिये एक सहस्र पण वार्षिक वेतन का विधान किया है। विविध प्रकार के ये ज्योतिषी जहाँ भावी घटनाओं के विषय में राजा को सूचित करते रहते थे, वहाँ साथ ही गुप्तचर विभाग में भी इनका बहुत उपयोग था। बहुत-से गुप्तचर मौहूर्तिक आदि के वेश बनाकर ही जनता की गतिविधि पर दृष्टि रखा करते थे, और शत्रु राज्य के गुप्त भेदों का पता किया करते थे।

ऐसा प्रतीत होता है, कि कौटल्य को फलित ज्योतिष, नक्षत्र फल आदि पर अधिक विश्वास नहीं था। इसीलिये लाभ-विघ्नों (जिन बातों से लाभ प्राप्ति में विघ्न उपस्थित होता है) का परिगणन करते हुए उन्होंने काम, क्रोध, मान आदि के साथ ही 'मंगल-तिथिनक्षत्रेष्टित्व' का भी उल्लेख किया है, जिसका अभिप्राय मंगलकारी तिथि और इष्ट नक्षत्र के प्रति विश्वास रखना है। कौटल्य की सम्मति में नक्षत्रों को इष्ट और अनिष्ट मानना और मंगल तिथि की तलाश में रहना कार्यसिद्धि और लाभ के मार्ग में बाधक ही थे, साधक नहीं। इसीलिये उन्होंने यह भी लिखा है—"जो मूर्ख लोग बहुत अधिक नक्षत्र की परवाह करते हैं, अर्थ (सफलता या समृद्धि) उनसे निवृत्त हो जाते हैं। अर्थ ही अर्थ

का नक्षत्र होता है (सम्पत्ति से ही सम्पत्ति प्राप्त होती है), तारे इस सम्बन्ध में क्या कर सकते हैं। सैकड़ों यत्न करने के अनन्तर ही मनुष्य अर्थ को प्राप्त कर पाता है। जिस प्रकार हाथी से हाथी वश में लाये जाते हैं, वैसे ही अर्थ से अर्थ की प्राप्ति होती है।" कौटल्य की ये उक्तियाँ निस्सन्देह अत्यन्त महत्त्व की हैं। यद्यपि प्राचीन भारत के बहुसंख्यक लोग शकुन विचारने, नक्षत्र फल जानने और अंगों के लक्षणों द्वारा भविष्य जानने के लिए प्रयत्नशील रहते थे, पर ऐसे विचारकों का भी सर्वथा अभाव नहीं था जो इन्हें निरर्थक समझते थे।

(६) शैव, वैष्णव आदि धर्मों का अन्य देशों में प्रसार

बौद्ध धर्म के स्थविरों तथा भिक्षुओं ने तथागत बुद्ध के अष्टांगिक आर्य धर्म का देश-देशान्तर में प्रचार करने के लिए महान् उद्योग किया था, जिसके परिणामस्वरूप यह धर्म वर्तमान समय में भी लंका, वर्मा, थाईलैण्ड, जापान, तिब्बत आदि कितने ही विदेशों में विद्यमान हैं। प्राचीन समय में शैव और वैष्णव सदृश वैदिक सम्प्रदायों के आचार्य और संन्यासी भी देश-विदेश में अपने सनातन धर्म के प्रचार के लिये गए थे और उन्हें अपने प्रयत्न में असाधारण सफलता भी प्राप्त हुई थी। वर्तमान समय में इण्डोनेशिया के अन्तर्गत वाली ही एकमात्र ऐसा द्वीप है जहाँ प्राचीन समय से प्रचलित हिन्दू धर्म की सत्ता है। पर एक समय था, जबकि सुमात्रा, बोर्नियो, जाबा, कम्बोडिया, लाओस, विएतनाम और दक्षिण-पूर्वी चीन सदृश कितने ही प्रदेशों में शैव, वैष्णव और शाक्त धर्म प्रचलित थे, और इन धर्मों के अनुयायियों ने वहाँ बहुत-से मन्दिरों का निर्माण कराया था, जिनमें शिव, विष्णु, दुर्गा, गणेश आदि की मूर्तियाँ प्रतिष्ठापित थीं। इन प्रदेशों में सनातन वैदिक धर्म का प्रचार कब, किस प्रकार और किन आचार्यों द्वारा किया गया था, इसका वृत्तान्त अभी ज्ञात नहीं हो सका है, पर यह असंदिग्ध है कि शैव, वैष्णव आदि वैदिक धर्म केवल भारत तक ही सीमित नहीं रहे थे, अपितु उनका प्रचार पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी एशिया के प्रायः सभी देशों में हुआ था, और पश्चिमी एशिया के अनेक देश भी उनके प्रभाव में आये बिना नहीं रहे थे। यही कारण है, कि इन प्रदेशों—विशेषतया दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध देशों से सैकड़ों की संख्या में ऐसे अभिलेख उपलब्ध हुए हैं जो संस्कृत भाषा में हैं और जिनमें वहाँ के राजाओं तथा अन्य अभिजात व्यक्तियों द्वारा बनवाये हुए मन्दिरों तथा उनमें प्रतिष्ठापित मूर्तियों का उल्लेख है। ऐसी बहुत-सी मूर्तियाँ तथा मन्दिरों के अवशेष इस समय भी वहाँ विद्यमान हैं।

छठा अध्याय

वर्णव्यवस्था और जातिभेद

(१) वर्ण और जाति

प्राचीन भारत का समाज वर्णाश्रम व्यवस्था पर आधारित था। इस देश के चिन्तकों ने मानव समाज को चार वर्गों या वर्णों में और मानव जीवन को चार आश्रमों में विभक्त किया था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—ये चार वर्ण हैं। किसी भी समाज के मनुष्यों को इन चार वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। जो पढ़ने-पढ़ाने, धार्मिक कर्मकाण्ड का अनुष्ठान करने, और धर्ममार्ग के अनुसरण के लिये प्रेरित करने के काम करें, उन्हें ब्राह्मण कह सकते हैं। देश की बाह्य और आभ्यन्तर शत्रुओं में रक्षा करना और समाज में शान्ति एवं सुरक्षा की व्यवस्था करना क्षत्रिय वर्ग का कार्य है। कृषि, पशु-पालन, व्यापार, व्यवसाय, उद्योग आदि द्वारा सम्पत्ति का उत्पादन जिन सर्वसाधारण लोगों द्वारा किया जाए, उन्हें वैश्य कहा जा सकता है। जो अन्य तीनों वर्णों के लोगों की सेवा में रहकर अपना जीवन व्यतीत करें, वे शूद्र हैं। ये चार ऐसे वर्ण हैं, जो किसी भी समाज में हो सकते हैं। इन्हीं को दृष्टि में रखकर भारत के प्राचीन विचारकों ने यह प्रतिपादित किया था, कि सब कोई को अपने-अपने वर्ण-धर्म का पालन करना चाहिये और राज्यसंस्था का भी यह कर्त्तव्य है कि वह सबको अपने-अपने स्वधर्म में स्थिर रखे। इसी में प्रत्येक व्यक्ति तथा समाज का हित एवं कल्याण है। भारत के राजशास्त्र-प्रणेताओं तथा नीतिकारों ने इस मन्तव्य पर बहुत बल दिया है, और यही कारण है कि प्राचीन भारत का सामाजिक जीवन अनेक अंशों में वर्णव्यवस्था पर आधारित रहा है।

पर वर्ण और जाति पर्यायवाची शब्द नहीं हैं। वर्ण और जाति में भेद है। वर्ण संख्या में चार हैं, पर जातियों की संख्या सैकड़ों में हैं। कितनी ही जातियाँ ऐसी हैं जिन्हें किस वर्ण के अन्तर्गत किया जाये यह सुनिश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। कायस्थ जाति न ब्राह्मण वर्ग में सम्मिलित की जा सकती है, और न क्षत्रिय, वैश्य, या शूद्र वर्गों में। जाट जाति के लोगों का प्रधान कार्य कृषि है। स्मृतियों और नीतिग्रन्थों के अनुसार कृषिकार्य वैश्यों का है। पर जाट कभी अपने को वैश्य कहाना स्वीकार नहीं करेंगे। खत्री, अरोड़ा, महाजन सदृश अनेक जातियों का मुख्य कार्य व्यापार है। पर वे अपने को क्षत्रिय वर्ग का समझते हैं। सैनी, कोरी, मुरई आदि जातियों के लोगों के धन्धों का सम्बन्ध प्रधानतया खेती से है, पर वे वैश्य नहीं माने जाते। जुलाहों, बढ़इयों, दरजियों आदि की पृथक् जातियाँ हैं। पर इन्हें चातुर्वर्ण्य में किस वर्ण के अन्तर्गत किया जाये, यह निर्विवाद नहीं है। जिन्हें आजकल 'हरिजन' जातियाँ कहा जाने लगा है, उनके पूर्वज शूद्र वर्ण के अन्तर्गत थे, यह भी सुनिश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। वास्तविकता यह है, कि

जाति और वर्ण न केवल एक नहीं हैं, अपितु उनमें कोई स्पष्ट सम्बन्ध भी नहीं है। ब्राह्मण माने जाने वाले लोगों में भी तगे (त्यागी), भार्गव तथा भूमिहार सदृश ऐसी जातियाँ हैं, जिनके कार्यों का सम्बन्ध खेती व व्यापार से है, पौरोहित्य उनका कार्य नहीं है। वस्तुतः, भारत में जातियों का विकास वर्ण विभाग से सर्वथा स्वतन्त्र रूप में हुआ है। प्राचीन आर्यों में जो बहुत-से 'जन' (कबीले या ट्राइब) थे, वे जब किसी एक प्रदेश पर स्थायी रूप से बस गये, तो उन्होंने अपने पृथक् जनपद (राष्ट्र या राज्य) बनाये, और कालान्तर में ये ही जन पृथक् जातियों के रूप में परिवर्तित हो गये। खत्री, अरोड़ा, अग्रवाल, रोहतगी, कोरी, सैनी आदि जातियों का विकास इसी ढंग से हुआ। प्राचीन भारत के सर्वसाधारण लोगों में जो जुलाहे, बढ़ई, लुहार, सुनार, धोबी, नाई आदि के धन्धे करते थे, उन्होंने अपने को श्रेणियों (गिल्ड) में संगठित किया हुआ था। अपने धन्धों तथा सामाजिक आचार-विचार के सम्बन्ध में वे स्वयं नियमों का निर्माण करते थे। उनके संगठन बहुत सुदृढ़ होते थे, और किसी व्यावसायिक श्रेणि के किसी सदस्य के लिये अपनी श्रेणि के नियमों का अतिक्रमण कर सकना सम्भव नहीं होता था। कालान्तर में इन व्यावसायिक श्रेणियों ने पृथक् जातियों का रूप प्राप्त कर लिया, जिससे बढ़ई, जुलाहा, लुहार सदृश जातियों का निर्माण हुआ। इन जातियों को चातुर्वर्ण्य के किस वर्ण में सम्मिलित किया जाए, इसका कभी प्रतिपादन करने का प्रयत्न नहीं किया गया। समय-समय पर भारत पर अनेक विदेशी जातियाँ आक्रमण करती रहीं, भारत के धर्म तथा संस्कृति को अपनाकर जो भारतीय समाज का अंग बन गईं। पर इन्हें भी किस वर्ण में सम्मिलित किया जाए, यह सुस्पष्ट रूप से निर्धारित कहीं किया जा सका, यद्यपि कतिपय स्मृतिकारों ने इन्हें संकर जातियों के रूप में प्रतिपादित करने का अवश्य प्रयत्न किया।

वर्ण और जाति के इस भेद को अपने सम्मुख रखना बहुत आवश्यक है। इसके बिना प्राचीन भारतीय समाज के स्वरूप को समझ सकना सम्भव नहीं है। भारतीय इतिहास के अत्यन्त प्राचीन काल में जब आर्य लोग इस देश में अपने विविध जनपद स्थापित करने में तत्पर थे, तब यह क्रियात्मक तथा सम्भव था कि कर्म के आधार पर या बाद में कर्म के वंशक्रमानुगत हो जाने पर जन्म के आधार पर जनपद के विविध निवासियों को चार वर्णों में विभक्त किया जा सके। पर जब जनपद महाजनपदों के रूप में विकसित होने लगे और कतिपय प्रतापी राजाओं ने जनपदों व महाजनपदों को जीतकर अपने विशाल साम्राज्य बना लिये, और उनके निवासियों ने काम-धन्धों के आधार पर अपने को श्रेणियों में संगठित करना प्रारम्भ कर दिया, तो समाज को चार वर्णों में विभक्त कर सकना सम्भव नहीं रह गया। उस समय मे वह जातिभेद प्रकाश में आने लगा, जो आज तक भी भारतीय समाज की विशेषता है।

(२) वैदिक तथा उत्तर-वैदिक काल में वर्ण भेद

ऋग्वेद के समय में भारतीय आर्य चार वर्णों में विभक्त नहीं हुए थे। यही कारण है कि पुरुष सूक्त के अतिरिक्त ऋग्वेद में अन्यत्र कहीं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—

चारों वर्णों का उल्लेख नहीं मिलता। पुरुष सूक्त को प्रायः सभी आधुनिक विद्वान् बाद के समय का मानते हैं। ऋग्वेद में अन्यत्र ब्राह्मणों और क्षत्रियों का उल्लेख अवश्य हुआ है, पर वैश्य और शूद्र शब्द केवल पुरुष सूक्त में ही आये हैं। इससे यह परिणाम निकाला जाता है कि इस प्राचीन वैदिक काल में ब्राह्मण और क्षत्रिय सर्वसाधारण जनता या विशः (ऋग्वेद में विशः शब्द अनेक स्थलों पर आया है) से पृथक् होने लग गये थे—यद्यपि अभी चातुर्वर्ण्य का पूर्णतया विकास नहीं हुआ था। ऋग्वेद के अनुशीलन से तत्कालीन समाज का जो स्वरूप उपस्थित होता है, उसे संक्षेप के साथ इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है—

पंच जन—वैदिक युग के भारतीय आर्य अनेक जनों (कबीला या ट्राइब) में विभक्त थे। ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर 'पंचजनाः' और 'पंचकृष्टयः' का उल्लेख आता है, जो निःसन्देह उस युग के आर्यों की पाँच प्रमुख जातियों (कबीलों) को सूचित करते हैं। ये पंचजन अनु, द्रुह्यु, यदु, तुर्वशु और पुरु थे। पर इनके अतिरिक्त भरत, त्रित्सु, शृंजय आदि अन्य भी अनेक जनों का उल्लेख वेदों में आया है, जिससे इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता, कि ज्यों-ज्यों आर्य लोग भारत में फैलते गये, उनमें विविध जनों का विकास होता गया। आर्य जाति के प्रत्येक जन में सब व्यक्तियों की सामाजिक स्थिति एक समान थी, सबको एक ही 'विशः' (जनता) का अंग माना जाता था।

आर्य और दास—आर्यों के भारत में प्रवेश से पूर्व यहाँ जिन लोगों का निवास था, वेदों में उन्हें 'दास' या 'दस्यु' कहा गया है। इनकी अनेक समृद्ध बस्तियाँ भारत में विद्यमान थीं। आर्यों ने इन्हें जीतकर अपने अधीन किया, और ये आर्यभिन्न लोग आर्य-जनपदों में आर्य-राजाओं की अधीनता में रहने लगे। यह स्वाभाविक था कि इन दासों व दस्युओं की सामाजिक स्थिति आर्यों की अपेक्षा हीन रहे। आर्य लोग इनसे घृणा करते थे, इन्हें अपने से हीन समझते थे, और इन्हें अपने समान स्थिति देने को उद्यत नहीं थे। इसी दशा का यह परिणाम हुआ, कि आर्य-जनपदों में निवास करने वाली जनता दो भागों में विभक्त हो गयी—(१) आर्य, और (२) दास। दास-जाति की हीन स्थिति के कारण इस शब्द का अभिप्राय ही संस्कृत भाषा में गुलाम हो गया। दास जाति के ये लोग शिल्प में अत्यन्त चतुर थे। ये अच्छे विशाल घरों का निर्माण करते थे, शहरों में रहते थे, व अनेक प्रकार के व्यवसायों में दक्ष थे। आर्यों द्वारा विजित हो जाने के बाद भी शिल्प और व्यवसाय में इनकी निपुणता नष्ट नहीं हो गयी। ये अपने इन कार्यों में तत्पर रहे। विजेता आर्य सैनिक थे। वे याज्ञिक अनुष्ठानों को गौरव की बात समझते थे, और भूमि के स्वामी बनकर खेती, पशुपालन आदि द्वारा जीवन का निर्वाह करते थे। विविध प्रकार के शिल्प दास-जाति के लोगों के हाथों में ही रहे। इसका परिणाम यह हुआ, कि भारत में प्राचीन काल से ही शिल्पियों को कुछ हीन समझने की प्रवृत्ति रही। आर्यों और दासों में परस्पर सामाजिक सम्बन्ध का सर्वथा अभाव हो, यह बात नहीं थी। प्राच्य भारत में जहाँ आर्यों की अपेक्षा आर्यभिन्न जातियों के लोग अधिक संख्या में थे, उनमें परस्पर विवाह-सम्बन्ध होता रहता था। उन प्रदेशों में ऐसे लोगों की संख्या निरन्तर बढ़ती गयी, जो शुद्ध आर्य या दास न होकर वर्णसंकर थे। ऐसे वर्णसंकर लोगों को ही सम्भवतः

'व्रात्य' कहा जाता था। अथर्ववेद में व्रात्य जातियों का अनेक स्थानों पर उल्लेख हुआ है। बाद में व्रात्य-स्तोम-यज्ञ का विधान कर इन व्रात्यों को आर्य जाति में सम्मिलित करने की भी व्यवस्था की गयी। पर इसमें सन्देह नहीं, कि वैदिक युग में आर्यों और दासों का भेद बहुत स्पष्ट था, और उस काल के आर्य-जनपदों में ये दो वर्ण ही स्पष्ट रूप से विद्यमान थे।

वर्ण-व्यवस्था—आर्य विशः के सब व्यक्तियों की सामाजिक स्थिति एक समान थी। पर धीरे-धीरे उसमें भी भेद प्रादुर्भूत होने लगा। दास-जातियों के साथ निरन्तर युद्ध में व्यापृत रहने के कारण सर्वसाधारण आर्य जनता में कतिपय ऐसे वीर सैनिकों (रथी, महारथी आदि) की सत्ता आवश्यक हो गयी, जो युद्ध-कला में विशेष निपुणता रखते हों। इनका कार्य ही यह समझा जाता था कि ये शत्रुओं से जनता की रक्षा करें। क्षत (हानि) से त्राण करने वाले होने के कारण इन्हें 'क्षत्रिय' कहा जाता था। यद्यपि ये क्षत्रिय आर्य-विशः के ही अंग थे, तथापि इन्हें विशः के सर्वसाधारण लोगों (वैश्यों) से अधिक सम्मानित व ऊंचा समझा जाता था। क्षत्रिय सैनिकों के विशिष्ट कुल 'राजन्य' कहाते थे। सम्भवतः, ये राजन्य ही वे 'राजकृतः राजानः' थे, जो अपने में से एक को राजा के पद के लिए वरण करते थे। जिस प्रकार क्षत्रियों की सर्वसाधारण आर्य विशः में एक विशिष्ट स्थिति थी, वैसे ही उन चतुर व्यक्तियों की भी थी, जो याज्ञिक कर्मकाण्ड में विशेष रूप से दक्ष थे। जब आर्य लोग भारत में स्थिर रूप से बस गये, तो उनके विधि-विधानों व अनुष्ठानों में भी बहुत वृद्धि हुई। प्राचीन समय का सरल धर्म निरन्तर अधिक-अधिक जटिल होता गया। इस दशा में यह स्वाभाविक था कि कुछ लोग जटिल याज्ञिक कर्मकाण्ड में विशेष निपुणता प्राप्त करें, और याज्ञिकों की इस श्रेणी को सर्वसाधारण आर्य-विशः द्वारा क्षत्रियों के समान ही विशेष आदर की दृष्टि से देखा जाए। इस प्रकार वैदिक युग में उस चातुर्वर्ण्य का विकास प्रारम्भ हो गया था, जो आगे चलकर भारत में बहुत अधिक विकसित हुआ, और जो बाद के हिन्दू व भारतीय समाज की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता बन गया। पर वैदिक युग में यह भावना होने पर भी कि ब्राह्मण और क्षत्रिय सर्वसाधारण विशः (वैश्य जनता) से उत्कृष्ट व भिन्न हैं, जातिभेद या वर्ग-भेद का अभाव था। कोई व्यक्ति ब्राह्मण या क्षत्रिय है, इसका आधार उसकी योग्यता या अपने कार्य में निपुणता ही थी। कोई भी व्यक्ति अपनी निपुणता, तप व विद्वत्ता के कारण ब्राह्मण पद को प्राप्त कर सकता था। इसी प्रकार आर्य जन का कोई भी मनुष्य अपनी वीरता के कारण क्षत्रिय व राजन्य बन सकता था। वैदिक ऋषियों ने समाज की कल्पना एक मानव-शरीर के समान की थी, जिसके शीर्ष-स्थानीय ब्राह्मण थे, बाहुरूप क्षत्रिय थे, पेट व जंघाओं के सदृश स्थिति वैश्यों की थी, और शूद्र पैरों के समान थे। सम्भवतः, आर्य-भिन्न दास लोग ही शूद्र वर्ण के अन्तर्गत माने जाते थे।

यद्यपि आर्य लोग दास जातियों के व्यक्तियों को अपनी तुलना में हीन समझते थे, पर उन्हें अस्पृश्य नहीं माना जाता था। कतिपय दास परिवार अच्छे समृद्ध भी थे, और आर्य ब्राह्मण उनसे दान दक्षिणा ग्रहण करने में संकोच नहीं करते थे। ऋग्वेद के एक मन्त्र में बल्बूथ नामक दास द्वारा एक ब्राह्मण को १०० गौवें दान में दिये जाने का

उल्लेख है। कतिपय मन्त्रों में दासों के हित-सुख के लिये भी प्रार्थना की गई है।

साथ ही, यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्ग के लोगों की स्थिति का आधार जन्म को नहीं माना जाता था। याज्ञिक कर्मकाण्ड तथा सैनिक कार्य में विशिष्टता के कारण ही कतिपय लोगों को ब्राह्मण तथा क्षत्रिय समझा जाता था और उनकी स्थिति अन्य आर्य-विशः की तुलना में ऊंची मानी जाती थी। सम्पूर्ण आर्य-विशः एक है, यह भावना ऋग्वेद के काल में भली-भाँति विद्यमान थी, और चातुर्वर्ण्य का उस रूप में अभी विकास नहीं हुआ था, जैसा कि बाद के काल में देखा जाता है।

उत्तर-वैदिक युग में चातुर्वर्ण्य का विकास—यजुर्वेद तथा अथर्ववेद के अनेक मन्त्रों में चारों वर्णों का उल्लेख है। इससे सूचित होता है कि इन वेदों के समय में वर्ण-भेद भलीभाँति विकसित हो गया था। याज्ञिक कर्मकाण्ड का जो जटिल रूप इस काल में विकसित हो गया था, उसमें यह स्वाभाविक था कि ऋत्विक्, अध्वर्यु, ब्रह्मा आदि के रूप में यज्ञ की विविध प्रक्रियाओं के ऐसे विशेषज्ञ होने लगें, जिनकी स्थिति सामान्य आर्य जनता से अधिक ऊँची हो। अरण्यों व आश्रमों में निवास करने वाले ब्रह्मवादियों और तत्त्वचिन्तकों को भी ब्राह्मणों के इसी वर्ग में गिना जाने लगा और इस प्रकार याज्ञिकों तथा मुनियों के एक नये वर्ग का प्रादुर्भाव हो गया। विविध आर्य जनों (कबीलों) ने जब सप्तसैन्धव देश से आगे बढ़ कर पूर्वी और दक्षिणी भारत में फैलना शुरू किया, तो वहाँ के मूल निवासियों से उन्हें युद्ध करने पड़े। इस दशा में जो रथेष्ठ (रथी) और राजन्य युद्ध में विशेष योग्यता प्रदर्शित करते थे और जिनके पराक्रम के कारण ही आर्यों के लिए नये-नये प्रदेशों को अधिगत कर सकना सम्भव था, उन द्वारा भी एक नये वर्ग का विकास हुआ, जिसे क्षत्रिय कहा जाता था। इस वर्ग के व्यक्तियों की स्थिति भी सर्वसाधारण आर्य 'विशः' की तुलना में अधिक ऊँची थी। ब्राह्मणों और क्षत्रियों के अतिरिक्त जो सर्व-साधारण आर्य जनता थी, उसमें सब प्रकार के शिल्पी, वणिक्, कृषक, पशुपालक आदि सम्मिलित थे, और उसे 'विशः' या 'वैश्य' कहा जाता था। समाज में जो सबसे निम्न वर्ग था, और जो आर्य गृहस्थों की सेवा में दास, कर्मकर आदि के रूप में कार्य करता था, उसे शूद्र कहते थे। तीनों उच्च वर्णों के बालक अपने-अपने कुल के लिये उपयुक्त विद्या ग्रहण किया करते थे, और यज्ञोपवीत धारण कर 'द्विज' बनने का अवसर प्राप्त करते थे। विद्या द्वारा मनुष्य दूसरा जन्म प्राप्त करता है, यह विचार उस समय में भलीभाँति विकसित हो चुका था। यज्ञोपवीत को द्विजत्व का चिह्न माना जाता था। तैत्तिरीय ब्राह्मण में ब्राह्मण के लिए सूत के, क्षत्रिय के लिये सन के और वैश्य के लिये ऊन के यज्ञोपवीत का विधान किया गया है, और साथ ही यह भी लिखा गया है कि ब्राह्मण का वसंत ऋतु में, क्षत्रिय का ग्रीष्म ऋतु में और वैश्य का शीत ऋतु में उपनयन होना चाहिए। इससे विदित होता है कि ब्राह्मण-ग्रन्थों की रचना के समय में वर्णभेद ने अच्छा विकसित रूप प्राप्त कर लिया था।

पर अभी वर्ण भेद ने न अधिक जटिल रूप प्राप्त कर लिया था, और न उसका आधार पूर्णतया जन्म को ही माना जाता था। अनुश्रुति के अनुसार विश्वामित्र का जन्म एक क्षत्रिय कुल में हुआ था। पर ब्राह्मण वशिष्ठ के स्थान पर राजा सुदास ने उन्हें अपना

पुरोहित बनाया था। अनेक ऐसे क्षत्रिय राजा थे, जो अध्यात्म तथा दार्शनिक चिन्तन के लिये बहुत प्रसिद्ध थे। ब्राह्मण लोग भी उनके पास जाकर इन विषयों की शिक्षा ग्रहण किया करते थे। विदेह के राजा जनक, प्रवाहण जाबालि, केकय देश के राजा अश्वपति और काशी के राजा अजातशत्रु की कथाएँ उपनिषदों में विद्यमान हैं, जिनमें इनके ज्ञान और विद्वत्ता का वर्णन किया गया है। श्वेतकेतु के पिता ब्राह्मण उद्दालक पांचाल के क्षत्रिय राजा प्रवाहण जाबालि के पास ज्ञान प्राप्त करने के उद्देश्य से गये थे। इसी प्रकार जो अनेक ब्राह्मण कुमार राजा अश्वपति आदि के पास विद्या ग्रहण के लिए गये थे, उनकी कथाएँ भी प्राचीन साहित्य में दी गई हैं। ब्राह्मण गुरु ऐसे बालकों को भी शिक्षा देने में संकोच नहीं करते थे, जिनके कुल, गोत्र आदि का कुछ भी पता न हो। छान्दोग्य उपनिषद् में कथा आती है कि सत्यकाम जाबाल जब आचार्य गौतम के पास विद्याध्ययन के लिये गया, तो आचार्य ने उसके पिता के सम्बन्ध में प्रश्न किया। इस पर सत्यकाम ने उत्तर दिया कि उसे न अपने पिता का नाम ज्ञात था और न अपने गोत्र का ही पता था, क्योंकि उसकी माता परिचारिका के रूप में अनेक घरों में कार्य करती थी और तभी उसका जन्म हो गया था। सत्यकाम जाबाल के कुल गोत्र का पता न होने पर भी गौतम ने उसे विद्याभ्यास कराना स्वीकार कर लिया और विधिवत् यज्ञोपवीत संस्कार कराके उसे अपना शिष्य बना लिया। ऐतरेय ब्राह्मण का कर्ता महिदास किसी अज्ञात आचार्य की पत्नी इतरा (शूद्रा दासी) का पुत्र था। इसी कारण वह 'ऐतरेय' (इतरा का पुत्र) नाम से प्रसिद्ध हुआ। पर अपनी योग्यता तथा विद्वता के कारण वह समाज में अत्यन्त उच्च स्थान प्राप्त कर सकने में समर्थ हुआ और ऐतरेय ब्राह्मण की उसने रचना की। ऐतरेय ब्राह्मण में कथा आती है कि एक बार ऋषि सरस्वती नदी के तट पर यज्ञ कर रहे थे, उस समय एलूष कवष नाम का एक व्यक्ति उनके बीच में आ बैठा। उसे देख कर ऋषियों ने कहा—यह दासी का पुत्र अब्राह्मण है, हमारे बीच में कैसे बैठ सकता है। पर परिचय होने पर ऋषियों ने बाद में कहा—यह तो परम विद्वान् है, देवता भी इसे जानते हैं। एक अन्य प्राचीन कथा के अनुसार राजा शन्तनु के भाई देवापि ने याज्ञिक अनुष्ठान में दक्षता प्राप्त करके ब्राह्मण-पद प्राप्त कर लिया था और राजन्य शन्तनु के यज्ञ करवाये थे। इस युग में विविध वर्णों में विवाह भी सम्भव था। महर्षि च्यवन ने र जन्य शर्याति की कन्या के साथ विवाह किया था। च्यवन ब्राह्मण थे। इसी प्रकार के कितने ही उदाहरण प्राचीन अनुश्रुति में विद्यमान हैं। इससे स्पष्ट है कि वर्णभेद ने अभी ऐसा रूप प्राप्त नहीं किया था कि ब्राह्मण तथा क्षत्रिय कुलों में उत्पन्न हुए बिना आर्य 'विशः' का कोई व्यक्ति इन वर्णों में सम्मिलत न हो सके।

सूत्र ग्रन्थों के काल में वर्णभेद—ब्राह्मण ग्रंथों के पश्चात् सूत्रग्रन्थों की रचना हुई, जो तीन प्रकार के हैं—श्रौत सूत्र, गृह्य सूत्र और धर्म सूत्र। इनके अध्ययन से सूचित होता है कि इनके रचना काल में वर्णभेद का और अधिक विकास हुआ। ब्राह्मणों को अन्य सब की तुलना में अधिक श्रेष्ठ माना जाने लगा। गौतम धर्मसूत्र के अनुसार राजा अन्य सब से तो श्रेष्ठ होता है, पर ब्राह्मणों से नहीं। ब्राह्मणों का सत्कार करना राजा का कर्तव्य है। यदि कोई ब्राह्मण आ रहा हो, तो राजा को उसके लिए मार्ग छोड़ देना

चाहिए। धर्मसूत्रों में ब्राह्मण को अवध्य, अदण्ड्य, अवहिष्कार्य और अबन्ध्य कहा गया है, और ब्रह्म-हत्या को घोर पाप प्रतिपादित किया गया है। यह भी व्यवस्था की गई है कि ब्राह्मण से कोई कर न लिया जाए। अन्य सबसे तो षड्भाग राजकीय कर के रूप में लिया जाने का विधान है पर ब्राह्मण से नहीं, क्योंकि वह वेदपाठ करता है और विपत्तियों का निवारण करता है। इस युग में ब्राह्मण वर्ण का आधार जन्म से माना जाने लगा था। इसीलिए विशेष अवस्थाओं में ब्राह्मणों को यह अनुमति थी कि वे अन्य वर्णों के कार्य भी कर सकें। बौधायन धर्मसूत्र के अनुसार संकट की दशा में ब्राह्मण के लिए शस्त्र धारण करना समुचित माना गया है। केवल क्षत्रियों के कर्म ही नहीं, अपितु वैश्यों के कर्म भी वे सम्पादित कर सकते थे। ब्राह्मणों के लिये क्षत्रियों तथा वैश्यों के कर्म कर सकने की अनुमति उसी अवस्था में सार्थक समझी जा सकती है, जब कि ब्राह्मण वर्ण का आधार जन्म हो।

समाज में क्षत्रियों का स्थान ब्राह्मणों से नीचे था। बाह्य और आभ्यन्तर शत्रुओं से जनता की रक्षा करना, शान्ति और व्यवस्था बनाये रखना और देश का शासन करना क्षत्रियों के कार्य थे। पर इनके लिए ब्राह्मण वर्ग के सहयोग की आवश्यकता स्वीकार की जाती थी। ब्रह्म शक्ति और क्षत्र शक्ति एक-दूसरे की पूरक हैं, यह विचार वैदिक युग में भी विद्यमान था। सूत्र ग्रन्थों में भी अनेक स्थानों पर राजा और क्षत्रिय वर्ग के लिये ब्राह्मणों के सहयोग की बात कही गई है। वैश्य वर्ग के लोगों का कार्य कृषि, पशुपालन, वाणिज्य और महाजनी माना जाता था, पर संकट के समय शस्त्र-धारण की भी उन्हें अनुमति थी । समाज में शूद्रों की स्थिति अत्यन्त हीन थी। उनका एकमात्र कार्य तीनों उच्च वर्णों के लोगों की सेवा करना ही समझा जाता था। उनकी स्थिति दासों के सदृश थी। इसीलिये गौतम धर्मसूत्र में कहा गया है कि उच्च वर्णों के लोगों के जो जूते, वस्त्र आदि जीर्ण शीर्ण हो जाएं, उन्हें शूद्रों के प्रयोग के लिये दे दिया जाए और उनके भोजन-पात्रों में जो भूठन शेष बच जाए शूद्र उस द्वारा अपनी क्षुधा को शान्त करें। शूद्रों को इतना हीन माना जाने लगा था, कि उनकी हत्या कर देने पर उसी दण्ड की व्यवस्था की गई थी, जो कि कौवे, मेंढक, कुत्ते आदि की हत्या के लिये विहित था। शूद्र को न वेद पढ़ने का अधिकार था और न यज्ञ करने का। गौतम धर्मसूत्र के अनुसार यदि कोई शूद्र वेद-मन्त्र सुन ले, तो उसके कानों में सीसे या लाख को पिघला कर डाल देना चाहिए, और यदि कोई शूद्र वेदमन्त्रों का उच्चारण कर ले, तो उसकी जीभ काट देनी चाहिये। उसके लिए उपनयन संस्कार वर्जित था, अतः उसे विद्याध्ययन का अवसर ही प्राप्त नहीं हो सकता था। किसी भी प्रकार की विद्या व शिल्प की शिक्षा प्राप्त न कर सकने के कारण शूद्र के लिये यही एकमात्र मार्ग रह जाता था कि वह ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य परिवारों में सेवा द्वारा अपना जीवन-निर्वाह किया करे।

समाज में सब वर्णों के लोगों की न केवल स्थिति एकसदृश नहीं थी, अपितु उनके लिए कानून भी पृथक्-पृथक् थे। एक ही अपराध करने पर विविध वर्णों के व्यक्तियों के लिये विभिन्न दण्डों की व्यवस्था थी। गौतम धर्मसूत्र के अनुसार ब्राह्मण का अपमान करने पर क्षत्रिय को १०० कार्षापण जुरमाना करने का विधान था। पर यदि

ब्राह्मण क्षत्रिय का अपमान करे, तो उस पर केवल ५० कार्षापण जुरमाना किया जाता था। ब्राह्मण द्वारा वैश्य को अपमानित करने पर केवल २५ कार्षापण दण्ड की व्यवस्था थी। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—ये चार वर्ण हैं और उनमें पहले के वर्ण क्रमशः जन्म के आधार पर अधिक-अधिक श्रेष्ठ हैं।

इस प्रकार यह सर्वथा स्पष्ट है कि सूत्र ग्रन्थों के रचना काल में भारत में वर्ण-भेद भली-भाँति विकसित हो चुका था, और वर्णों का आधार जन्म को माना जाने लगा था। पर इस युग में भी यह असम्भव नहीं था कि निचले वर्ण का कोई व्यक्ति धर्माचरण द्वारा अपने से उच्च वर्ण को प्राप्त कर सके। इसीलिए आपस्तम्ब धर्मसूत्र में कहा गया है कि "धर्माचरण द्वारा निकृष्ट वर्ण का व्यक्ति अपने से उच्च वर्ण को प्राप्त कर सकता है, और अधर्म का आचरण करने से उत्कृष्ट वर्ण का व्यक्ति अपने से निचले वर्ण में हो जाता है।"

बौद्ध युग में वर्ण भेद—सूत्र-ग्रन्थों का काल महात्मा बुद्ध से पहले का माना जाता है। बुद्ध के प्रादुर्भाव के समय तक वर्ण-व्यवस्था अत्यन्त विकृत रूप प्राप्त कर चुकी थी। इसी कारण बौद्ध साहित्य में वर्णभेद की कटु आलोचना की गई है, जन्म के स्थान पर कर्म को महत्त्व दिया गया है और सामाजिक ऊँच-नीच के विरुद्ध आवाज उठायी गई है। बौद्ध ग्रन्थों से यह आभास भी मिलता है कि उस काल में ब्राह्मणों और क्षत्रियों में सामाजिक स्थिति के सम्बन्ध में प्रतिद्वन्द्विता का भी प्रारम्भ हो गया था। बौद्ध धर्म का प्रारम्भ पूर्वी भारत में हुआ था। वहाँ के निवासियों में आर्य-भिन्न लोगों की प्रधानता थी, और ब्राह्मणों द्वारा किये जाने वाले याज्ञिक कर्मकाण्ड का विशेष प्रचार व महत्त्व नहीं था। वहाँ का क्षत्रिय वर्ग भी विशुद्ध आर्य क्षत्रिय न होकर 'व्रात्य' था। इस दशा में यदि वहाँ के व्रात्य क्षत्रिय ब्राह्मणों की प्रमुखता को स्वीकार न करें, तो यह स्वाभाविक ही था। बुद्ध का कहना था, कि जन्म से न कोई ब्राह्मण होता है और न कोई चाण्डाल। कर्म के आधार पर ही किसी को ब्राह्मण या चाण्डाल कहा जाना उचित है। बुद्ध का यह भी मत था कि केवल ब्राह्मण ही स्वर्ग के अधिकारी नहीं होते, अपितु पुण्य कर्मों द्वारा क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र भी स्वर्ग को प्राप्त कर सकते हैं।

बुद्ध द्वारा ब्राह्मणों की सर्वोच्च स्थिति के विरुद्ध जो आवाज उठायी गयी, उसका एक कारण यह भी था कि जन्म के आधार पर वर्ण भेद हो जाने के परिणामस्वरूप ऐसे ब्राह्मण भी उस समय हो गये थे जो वेदाध्ययन में निरत रहने के स्थान पर विविध प्रकार के हीन कर्म करने लग गये थे। कृषक, वणिक्, बढ़ई, गडरिये आदि के पेशे करने वाले ब्राह्मणों का अनेक जातक कथाओं में उल्लेख किया गया है। ऐसे ब्राह्मण भी उस समय में थे, जो धर्मविरुद्ध कार्यों में भी व्यापृत रहते थे। इस दशा में बुद्ध द्वारा ब्राह्मण मात्र की उत्कृष्टता का विरोध करना उचित ही था।

बौद्ध साहित्य के अनुसार वैश्य वर्ण में अनेक वर्गों के गृहपति सम्मिलित थे। एक ओर जहाँ श्रेष्ठी और सार्थवाह सदृश धनी वैश्य होते थे, वहाँ साथ ही छोटे-छोटे व्यवसाय व व्यापार द्वारा निर्वाह करने वाले वैश्यों की भी सत्ता थी। शूद्र वर्ग का जो रूप

बौद्ध साहित्य में प्रस्तुत किया गया है, वह द्विजों की भूठन खाकर जीवन निर्वाह करने वाले शूद्रों से भिन्न है। मजदूरी द्वारा निर्वाह करने वाले, विविध प्रकार के शिल्पी, नट, नर्तक, घसियारे, ग्वाले, संपेरे आदि भी इस साहित्य में शूद्र वर्ग के अन्तर्गत माने गये हैं। इनके अतिरिक्त चाण्डाल, निषाद सदृश कतिपय ऐसी जातियों का उल्लेख भी बौद्ध साहित्य में मिलता है, जिन्हें शूद्रों की तुलना में भी हीन माना गया है।

जैन साहित्य द्वारा भी यही ज्ञात होता है कि वर्धमान महावीर के समय में वर्ण-व्यवस्था का रूप बहुत विकृत हो चुका था, और महावीर ने भी जन्म की तुलना में गुण-कर्म को ही मनुष्य की सामाजिक स्थिति के लिये अधिक महत्त्व का माना था।

(३) मौर्य-युग में समाज के विभिन्न वर्गों का स्वरूप

कौटलीय अर्थशास्त्र तथा मेगस्थनीज़ के यात्रा विवरण द्वारा मौर्य युग के सामाजिक वर्गों का अधिक स्पष्ट स्वरूप हमारे सम्मुख उपस्थित होता है। इनमें विविध वर्णों एवं सामाजिक वर्गों का जो स्वरूप वर्णित है, उसे अधिक प्रामाणिक भी माना जा सकता है।

• कौटलीय अर्थशास्त्र में समाज को चार वर्णों में विभक्त किया गया है, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। ब्राह्मण के 'स्वधर्म' (कार्य) अध्ययन, अध्यापन, यजन, (यज्ञ करना) याजन (यज्ञ कराना), दान देना और प्रतिग्रह (दान ग्रहण करना) कहे गये हैं। क्षत्रिय का 'स्वधर्म' अध्ययन, यजन, दान, शस्त्राजीव (शस्त्र द्वारा आजीविका प्राप्त करना या सैनिक सेवा) और भूतरक्षण (प्राणियों की रक्षा) है। वैश्य का स्वधर्म अध्ययन, यजन, दान, कृषि, पशु पालन और वाणिज्य (व्यापार) है। शूद्र का स्वधर्म द्विजातियों (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) की सेवा करना, वार्ता (कृषि, पशुपालन और वाणिज्य), कारुकर्म (शिल्पी या कारीगर का कार्य) और कुशीलव कर्म (नट आदि के कार्य) है। विविध वर्णों के ये कार्य प्रायः वही हैं, जो मनुस्मृति आदि स्मृतियों तथा धर्मशास्त्रों में प्रतिपादित हैं। पर कौटल्य ने शूद्र के स्वधर्म का निरूपण करते हुए कृषि, पशुपालन और वणिज्या को भी शूद्रों के कार्यों के अन्तर्गत किया है, जो स्मृतियों तथा धर्मशास्त्रों से भिन्न है। सम्भवतः, कौटल्य द्वारा प्रतिपादित शूद्रों के स्वधर्म वास्तविकता के अधिक अनुकूल हैं। वैश्यों के सहायक रूप में या स्वतन्त्र रूप से शूद्र भी कृषि, पशुपालन और व्यापार किया करते थे, और शिल्प को शूद्रों का ही कार्य माना जाता था।

कौटल्य ने चारों वर्णों के जो स्वधर्म प्रतिपादित किये हैं, वे भारत की प्राचीन परम्परा और सामाजिक मर्यादा के अनुसार हैं। पर क्रियात्मक दृष्टि से विभिन्न वर्णों के लोग केवल इन्हीं कार्यों का अनुसरण करते हों, और मौर्य युग के समाज में विविध वर्गों के कार्य पूर्ण रूप से निर्धारित हों, यह बात नहीं थी। सैनिक सेवा यद्यपि क्षत्रियों का कार्य माना जाता था, पर ब्राह्मणों, वैश्यों और शूद्रों की भी सेनाएं होती थीं। इन वर्णों के व्यक्तियों को भी सेना में भरती किया जाता था। कौटल्य ने लिखा है—"आचार्यों का मत था, कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों की सेनाओं में क्रमशः पूर्व उल्लिखित सेनाएँ अधिक श्रेष्ठ होती हैं, क्योंकि उनमें तेज की प्रधानता रहती है। पर कौटल्य का

मत इससे भिन्न है। ब्राह्मण सेना को शत्रु प्रणिपात (विनय व सम्मान का प्रदर्शन) द्वारा अपने पक्ष में कर सकता है। अतः ऐसी क्षत्रिय सेना को श्रेष्ठ समझना चाहिये, जो कि प्रहरण विद्या (शस्त्र संचालन) से सुशिक्षित हो, या ऐसी वैश्य सेना और शूद्र सेनाएं भी श्रेष्ठ हैं, जिनके सैनिक संख्या में बहुत अधिक हों।" इससे यह स्पष्ट हो जाता है, कि मौर्य युग में केवल क्षत्रिय ही सैनिक सेवा का कार्य नहीं करते थे, अपितु ब्राह्मणों, वैश्यों और शूद्रों की भी सेनाएं होती थीं, और आवश्यकतानुसार इन वर्णों के लोगों को भी बड़ी संख्या में सेना में भरती किया जाता था।

यद्यपि शूद्र के स्वधर्म में यजन और अध्ययन को अन्तर्गत नहीं किया गया है, पर ऐसा प्रतीत होता है कि कतिपय दशाओं में वे भी यज्ञ कर सकते थे और उन्हें भी वेदादि की शिक्षा दी जाती थी। इसीलिये कौटल्य ने लिखा है—कि यदि किसी पुरोहित को इस कार्य के लिये आदेश दिया जाए कि वह अयाज्य (शूद्र आदि ऐसे व्यक्ति जिन्हें यज्ञ का अधिकार न हो) को यज्ञ कराए या उसे पढ़ाए, और वह इस आदेश का पालन न करे, तो उसे पदच्युत कर दिया जाए।

ये निर्देश इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिये पर्याप्त हैं कि मौर्य युग में वर्ण-व्यवस्था का स्वरूप ऐसा नहीं था, कि विविध वर्णों के व्यक्ति केवल उन्हीं कार्यों को सम्पादित करें जिनका विधान शास्त्रों द्वारा उनके लिए किया गया है। फिर भी कौटल्य ने इस बात पर बहुत जोर दिया है, कि सब वर्णों को अपने-अपने स्वधर्म का पालन करना चाहिये और राज्यसंस्था का एक प्रमुख कार्य यही है कि वह सबको अपने-अपने स्वधर्म में स्थिर रखे। कौटल्य के अनुसार "स्वधर्म का पालन स्वर्ग और मोक्ष के लिए होता है। यदि स्वधर्म का अतिक्रमण किया जाए तो अव्यवस्था उत्पन्न हो जायगी और लोक (समाज) नष्ट हो जायगा। अतः राजा का कर्त्तव्य है कि वह मनुष्यों को स्वधर्म का अतिक्रमण न करने दे। जो राजा स्वधर्म को कायम रखता है, वह इहलोक और परलोक —दोनों में सुख प्राप्त करता है। आर्यमर्यादा के व्यवस्थित होने पर और वर्णों तथा आश्रमों को अपने-अपने धर्म में स्थित कर देने पर त्रयी (वेद) द्वारा रक्षित यह लोक सदा उन्नति ही करता है, अवनति नहीं।" इसमें सन्देह नहीं, कि चातुर्वर्ण्य में समाज का विभाग और प्रत्येक वर्ण के लिए अपने-अपने स्वधर्म में स्थिर रहना एक आदर्श के रूप में मौर्य काल में भी विद्यमान था, यद्यपि क्रिया में विविध वर्णों के व्यक्ति केवल अपने-अपने धर्म का ही पालन नहीं करते थे। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णों के लोग आर्य जनता के अंग माने जाते थे। आर्य-भिन्न लोगों को 'म्लेच्छ' कहते थे। शूद्रों की गणना भी आर्यों में ही की जाती थी। दासों के सम्बन्ध में व्यवस्था करते हुए कौटल्य ने लिखा है, कि यदि कोई शूद्र को दासरूप से विक्रय के लिए ले जाये, तो उस पर बारह पण जुरमाना किया जाए। इसी प्रकार की व्यवस्था अन्य वर्णों के व्यक्तियों के लिए करके कौटल्य ने यह कहा है, कि आर्य को कभी दास नहीं बनाया जा सकता, यद्यपि म्लेच्छों में सन्तान को दासरूप से बेचना व खरीदना दोष नहीं है।

ब्राह्मण आदि चार वर्णों के लोगों के अतिरिक्त कौटल्य ने अनेक वर्णसंकर लोगों का भी उल्लेख किया है। इस प्रकार के लोगों में अम्बष्ठ, निषाद, पारशव, उग्र, मागध,

वैदेहक, सूत, कुटक, पुक्कस, वैण्य, चण्डाल, श्वपाक आदि उल्लेखनीय हैं। ब्राह्मण पिता और वैश्य माता से उत्पन्न सन्तान को अम्बष्ठ कहते थे। ब्राह्मण पिता और शूद्र माता की सन्तान की संज्ञा निषाद और पारशव थी। क्षत्रिय पिता और शूद्र माता की सन्तान को उग्र कहा जाता था। वैश्य पिता की क्षत्रिय माता से उत्पन्न सन्तान को मागध और ब्राह्मण माता से उत्पन्न सन्तान को वैदेहक कहते थे। शूद्र पिता की वैश्य स्त्री से उत्पन्न सन्तान को आयोगव कहा जाता था। यदि शूद्र पिता की ब्राह्मण स्त्री से कोई सन्तान हो, तो वह चण्डाल कहाती थी, और क्षत्रिय स्त्री से उत्पन्न सन्तान क्षत्त कही जाती थी। इसी प्रकार से कौटल्य ने अनेक अन्य वर्णसंकर जातियों का भी विवरण दिया है। निषाद, चण्डाल, क्षत्त आदि जातियों की उत्पत्ति का यह विवरण कहाँ तक संगत है, यह कह सकना कठिन है, पर इसमें सन्देह नहीं कि मौर्य युग के भारतीय समाज में अनेक ऐसे वर्गों की भी सत्ता थी, जिन्हें परम्परागत चार वर्णों के अन्तर्गत कर सकना सम्भव नहीं था। कौटल्य ने इन विविध वर्णसंकर जातियों को 'शूद्रसधर्मा' कहा है, जिससे सूचित होता है कि इनकी स्थिति शूद्रों के समकक्ष मानी जाती थी। पर चण्डालों की स्थिति इनसे भी हीन रखी गई है। निस्सन्देह, चण्डाल एक ऐसे वर्ग के व्यक्ति थे, जिसे समाज में अत्यन्त हीन दृष्टि से देखा जाता था। इसीलिए उनके सम्बन्ध में यह व्यवस्था की गई थी कि वे नगरों में श्मशान के समीप निवास किया करें।

अम्बष्ठ, निषाद, वैण्य आदि की उत्पत्ति चाहे किसी भी प्रकार से क्यों न हुई हो, पर मौर्य युग में उन्होंने पृथक् जातियों का रूप प्राप्त कर लिया था, और क्योंकि ब्राह्मण क्षत्रिय, और वैश्य वर्णों में उनका समावेश कर सकना सम्भव नहीं था, अतः उन्हें शूद्रों के अन्तर्गत माना जाने लगा था। उनका स्वरूप पृथक् जातियों के सदृश था, यह कौटल्य की इस व्यवस्था से स्पष्ट है कि उनके वैवाहिक सम्बन्ध उन्हीं में हो सकें, और अपने वृत्तों (कार्यों या पेशों) तथा परम्पराओं में वे अपने पूर्ववर्ती पूर्वजों का अनुसरण किया करें। इन विविध वर्गों के लोगों के लिये कौटलीय अर्थशास्त्र में 'जाति' संज्ञा का ही प्रयोग किया गया है, और राज्यसंस्था के लिए यह भी आदेश दिया गया है, कि वह देश-संघों, ग्रामसंघों और श्रेणियों के समान जातियों के परम्परागत धर्मों को भी कायम रखे।

मौर्य युग में अनेक ऐसी जातियों का भी विकास हो चुका था, जिनका ... र कोई विशेष शिल्प या पेशा था। तन्तुवाय (जुलाहे), रजक (धोबी), तुन्नवाय (दर्जी), सुवर्णकार (सुनार), चर्मकार (चमार), कर्मार (लुहार), लोहकारु, कुट्टाक (बढ़ई) आदि इसी प्रकार की जातियाँ थीं। इन सबका समावेश शूद्र वर्ण में किया जाता था, और इन्हें आर्य जनता का अंग माना जाता था।

मौर्य युग में भारत की जनता किन विविध वर्गों में विभक्त थी, इस सम्बन्ध में मैगस्थनीज़ के यात्रा विवरण से भी महत्त्वपूर्ण निर्देश प्राप्त होते हैं। इस विषय में मैगस्थनीज के यात्रावृत्तान्त के निम्नलिखित सन्दर्भ उल्लेखनीय हैं।

"भारत की सम्पूर्ण आबादी सात जातियों में विभक्त है। पहली जाति दार्शनिकों (Philosophers) के समुदाय से बनी है, जो यद्यपि संख्या की दृष्टि से अन्य जातियों की

तुलना में कम है, तथापि प्रतिष्ठा में उन सबसे श्रेष्ठ है। दार्शनिक लोग सब सार्वजनिक कर्त्तव्यों से मुक्त हैं, अतः न वे अन्यों के दास हैं और न अन्यों के स्वामी हैं। गृहस्थों द्वारा ये बलिप्रदान करने और मृतकों का श्राद्ध करने के लिये नियुक्त किये जाते हैं, क्योंकि लोगों का विश्वास है कि ये देवताओं को अत्यन्त प्रिय हैं और परलोक सम्बन्धी बातों में विशेष निपुण हैं। इन अनुष्ठानों के बदले में ये बहुमूल्य दान प्राप्त करते हैं। भारत की जनता को इनसे बहुत लाभ पहुँचता है। वर्ष के प्रारम्भ में जब ये लोग एकत्र होते हैं, तो अनावृष्टि, शीत, आँधी, रोग आदि के विषय में पहले से ही सूचना दे देते हैं। इसी प्रकार की अन्य भी बहुत-सी बातों को ये पहले ही बता देते हैं, जिससे सर्वसाधारण को बहुत लाभ पहुँचता है। इस प्रकार राजा और प्रजा—दोनों भविष्य को पहले से ही जान कर उसके विषय में व्यवस्था कर सकते हैं। जो वस्तुएँ आवश्यकता के समय काम आयेंगी, उनका पहले से ही प्रबन्ध करने में वे कभी नहीं चूकते। जो दार्शनिक अपनी भविष्यवाणी में भूल करता है, उसे निन्दा के अतिरिक्त अन्य कोई दण्ड नहीं दिया जाता। भविष्य-वाणी के अशुद्ध होने पर दार्शनिक फिर जीवन भर के लिए मौन ग्रहण कर लेता है।

"दूसरी जाति में किसान लोग हैं, जो दूसरों की तुलना में संख्या में बहुत अधिक जान पड़ते हैं। वे राजा को भूमि-कर प्रदान करते हैं। किसान लोग अपनी स्त्रियों और बच्चों के साथ देहात में निवास करते हैं, और नगरों में जाने से बचते हैं।

"तीसरी जाति के अन्तर्गत अहीर, गडरिये तथा सब प्रकार के चरवाहे हैं जो न नगरों में रहते हैं और न ग्रामों में, अपितु डेरों में रहते हैं। शिकार द्वारा तथा पशुओं को जाल आदि में फँसा कर वे देश को हानिकर पक्षियों तथा जंगली पशुओं से शून्य करते हैं। वे अपने इस कार्य में बड़े उत्साह के साथ लगे रहते हैं। इसीलिये वे भारत को उन विविध विपत्तियों से मुक्त करते हैं, जोकि इस देश में बड़ी मात्रा में विद्यमान हैं, यथा सब प्रकार के जंगली जन्तु और किसानों द्वारा बोये हुए बीजों को खा जाने वाले पक्षी।

"चौथी जाति कारीगर लोगों की है। इनमें से कुछ कवच बनाने वाले हैं, और कुछ उन विविध उपकरणों को बनाते हैं जिनका किसान तथा अन्य व्यवसायी प्रयोग करते हैं।

"पाँचवीं जाति सैनिकों की है। यह भलीभाँति सुसंगठित है, और युद्ध के लिये सदा सुसज्जित तथा समुद्यत रहती है। संख्या में इसका दूसरा स्थान है। शान्ति के समय यह आलस्य तथा आमोद-प्रमोद में मग्न रहती है। सम्पूर्ण सेना, योद्धा सैनिक, युद्ध के घोड़े और हाथी—इन सबका राजकीय खर्च से पालन होता है।

"छठी जाति में निरीक्षक लोग हैं। इनका कार्य यह है कि जो कुछ भारतवर्ष में हो रहा हो, उसकी खोज तथा देखभाल करते रहें, और राजा को—जहाँ राजा न हो वहाँ किसी अन्य राजकीय शासक को—उसकी सूचना देते रहें।

"सातवीं जाति सभासदों और अन्य शासकवर्ग की है। ये लोग राज्यकार्य की देखभाल तथा शासन का संचालन करते हैं। संख्या की दृष्टि से यह जाति सबसे छोटी है, पर अपने ऊंचे चरित्र तथा बुद्धि के कारण सबसे प्रतिष्ठित है। इसी जाति से राजा के मन्त्रीगण, राज्य के कोषाध्यक्ष और न्यायकर्त्ता लिये जाते हैं। सेना के नायक तथा प्रधान

शासक भी प्रायः इसी श्रेणी के होते हैं।"

मैगस्थनीज़ तथा अन्य ग्रीक लेखकों के विवरणों द्वारा यह भी सूचित होता है, कि भारतीय समाज के इन वर्गों ने जातियों का रूप प्राप्त कर लिया था। डायोडोरस के अनुसार "किसी को यह अनुमति नहीं है कि वह अपनी जाति से बाहर विवाह कर सके, या किसी ऐसे पेशे व शिल्प का अनुसरण कर सके जोकि उसका अपना न हो। उदाहरण के लिये कोई सिपाही किसान का धन्धा नहीं कर सकता, और कोई शिल्पी दार्शनिक नहीं बन सकता।"

मैगस्थनीज़ ने कहीं भी चातुर्वर्ण्य का उल्लेख नहीं किया है। स्वाभाविक रूप से वह अपने देश ग्रीस और अपने पड़ोसी देश ईजिप्ट की सामाजिक रचना से परिचित था। जिस ढंग से इन देशों के समाज अनेक वर्गों या जातियों में विभक्त थे, उन्हें ही दृष्टि में रखकर मैगस्थनीज़ ने भारत की जनता को भी सात वर्गों में विभक्त करने का प्रयत्न किया था। इन सातों प्रकार के लोग भारत की जनता में विद्यमान थे, यह सर्वथा असंदिग्ध है। जिन्हें मैगस्थनीज़ ने दार्शनिक कहा है, भारत में उन्हें ही ब्राह्मण-श्रमण संज्ञा से सूचित किया जाता था। यद्यपि ये संख्या में बहुत कम थे, पर समाज में इनकी स्थिति अत्यन्त उच्च थी। कृषक समुदाय में वे वैश्य और शूद्र अन्तर्गत थे, जो खेती द्वारा अपना निर्वाह किया करते थे। मैगस्थनीज़ द्वारा प्रतिपादित तीसरी जाति में जिन गडरियों आदि को अन्तर्गत किया गया है, कौटलीय अर्थशास्त्र में उनसे वे वैश्य और शूद्र सूचित होते हैं, पशुपालन जिनका व्यवसाय था। कारीगर वर्ग को भारत में शूद्र वर्ण के अन्तर्गत किया जाता था। सैनिक का पेशा प्रधानतया क्षत्रिय वर्ण का माना जाता था। कौटलीय अर्थशास्त्र में सत्रियों, गुप्तचरों और गूढ़पुरुषों का विशद रूप से वर्णन है, जिनका शासन की दृष्टि से बहुत अधिक महत्त्व था। मैगस्थनीज़ ने इन्हें ही छठी जाति के रूप में उल्लिखित किया है। शासक वर्ग को ग्रीक लेखकों ने एक पृथक् वर्ग के रूप में लिखा है। इनके व्यक्ति प्रायः ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्णों के ही हुआ करते थे। मैगस्थनीज़ द्वारा वर्णित भारतीय समाज का कौटलीय अर्थशास्त्र में प्रतिपादित चातुर्वर्ण्य से कोई विरोध नहीं है। दोनों के दृष्टिकोण में ही अन्तर है।

वर्तमान काल में भी हिन्दू समाज को चार वर्णों में विभक्त समझा जाता है। पर बहुत-सी ऐसी जातियाँ हैं, जिन्हें सुनिश्चित रूप से किसी वर्ण के अन्तर्गत नहीं किया जा सकता। नाई, सुनार, बढ़ई आदि जातियों के लोग अपने को शूद्र नहीं मानते, और उच्च वर्ण के लोग उन्हें ब्राह्मण या वैश्य वर्ग में सम्मिलित नहीं करते। पर ये सब पृथक् जातियों के रूप में अपनी सत्ता रखते हैं, और ऐसे परम्परागत नियमों का पालन करते हैं, जो इनमें चिरकाल से चले आ रहे हैं। विवाह, तलाक, उत्तराधिकार आदि के सम्बन्ध में इनके अपने नियम हैं, जो परम्परा पर आश्रित हैं। सम्भवतः, ठीक यही दशा मौर्य युग के भारत में भी थी। उस समय में भी तन्तुवाय, रजक आदि पृथक् जातियों का रूप प्राप्त कर चुके थे, और उनमें ऐसे परम्परागत नियमों का भी विकास हो गया था, जिन्हें राज्यसंस्था द्वारा भी स्वीकार किया जाता था। कौटल्य ने इन जातियों को शूद्र वर्ण के अन्तर्गत किया है। पर यह ध्यान में रखना चाहिये, कि मौर्य युग में शूद्रों की सामाजिक स्थिति हीन नहीं

मानी जाती थी। उन्हें भी 'आर्य' समझा जाता था, और वे उन म्लेच्छों, चण्डालों, श्वपचों आदि से भिन्न स्थिति रखते थे, जो कि आर्य जनता के अंग नहीं थे। मनुस्मृति आदि स्मृति-ग्रन्थों में शूद्रों का केवल यह कार्य माना गया है कि वे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णों की सेवा में निरत रहें और यह सेवा वे 'असूया' के बिना किया करें। पर कौटल्य ने कृषि, पशुपालन, वाणिज्य और शिल्प को भी शूद्र वर्ण के 'स्वधर्म' के अन्तर्गत किया है, जिससे इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि मौर्य युग में विविध प्रकार के शिल्पियों और कारीगरों के साथ-साथ कृषकों, कुशीलवों और पशुपालकों को भी शूद्र माना जाता था। तन्तुवाय, रजक, लोहकारु, कर्मार आदि शिल्पियों ने इस काल में पृथक् जातियों का रूप प्राप्त कर लिया था, और इन सबको शूद्रवर्ण के अन्तर्गत माना जाने लगा था, यद्यपि समाज में इनकी स्थिति सम्मानित थी, और ये केवल ब्राह्मण आदि उच्च वर्णों की सेवा में ही निरत न रहकर स्वतन्त्र रूप से अपने-अपने कारोबार भी किया करते थे।

आर्य जनता के चार वर्णों के अतिरिक्त एक अन्य वर्ग भी मौर्य युग में विद्यमान था जिसकी स्थिति शूद्रों की तुलना में भी हीन थी। इस वर्ग को 'अन्तावसायी' कहते थे, और चण्डाल और श्वपाक सदृश लोग इस वर्ग के अन्तर्गत थे। वर्तमान समय के भारतीय समाज में जिन लोगों को अछूत या अस्पृश्य समझा जाता है, सम्भवतः वे इन्हीं अन्तावसायियों के उत्तराधिकारी हैं।

यद्यपि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—चारों वर्णों के लोग आर्य जनता के अंग थे, पर समाज में उनकी स्थिति एक समान नहीं थी। न्यायालयों द्वारा अपराधियों को दण्ड देते हुए या वाद के सम्बन्ध में साक्षी लेते हुए वर्ण को दृष्टि में रखा जाता था। यदि निचले वर्ण का कोई व्यक्ति उच्च वर्ण के व्यक्ति के प्रति 'वाक्पारुष्य' का प्रयोग करे, तो उसे अधिक दण्ड मिलता था, उस दण्ड की तुलना में जो कि उच्च वर्ण के व्यक्ति द्वारा नीचे वर्ण के व्यक्ति के प्रति वाक्पारुष्य को प्रयुक्त करने पर देय था। यदि क्षत्रिय ब्राह्मण को कुवचन कहे, तो उसके लिये तीन पण जुरमाने की व्यवस्था थी। पर यदि यही अपराध वैश्य द्वारा किया जाए, तो उसे छः पण दण्ड दिया जाता था। शूद्र द्वारा यही अपराध किये जाने पर नौ पण जुरमाना किया जाता था। इसके विपरीत यदि ब्राह्मण किसी शूद्र को कुवचन कहे, तो उसे केवल दो पण जुरमाना देना होता था। वैश्य को ब्राह्मण द्वारा कुवचन कहने पर चार पण और क्षत्रिय को कुवचन कहने पर छः पण जुरमाने की व्यवस्था थी।

कतिपय अपराध ऐसे भी थे, जिनके लिये उच्च वर्ण के व्यक्तियों को अधिक कठोर दण्ड प्रदान किये जाते थे। यदि कोई शूद्र अपने किसी 'अप्राप्तव्यवहार' (अवयस्क या नाबालिग) स्वजन को दास के रूप में विक्रय करे या रहन रखे, तो उसके लिये बारह पण दण्ड का विधान था। पर यही अपराध यदि वैश्य द्वारा किया जाए, तो उस पर चौबीस पण जुरमाना किया जाता था। क्षत्रिय और ब्राह्मण द्वारा यही अपराध किये जाने पर उनके लिये दण्ड की मात्रा क्रमशः अड़तालीस और छियानवे पण निर्धारित थी। कौटलीय अर्थशास्त्र में अन्य भी अनेक ऐसे अपराध उल्लिखित हैं, जिनमें विविध वर्णों के व्यक्तियों के लिये विभिन्न दण्ड की व्यवस्था की गई है।

न्यायालय के समक्ष जब कोई ब्राह्मण साक्षी देने के लिए उपस्थित होता था, तो उसे सत्य बोलने की शपथ दिलाते हुए 'सत्य-सत्य कहो' इतना कहना ही पर्याप्त समझा जाता था। पर अन्य वर्णों के व्यक्तियों के लिये अधिक कठोर शपथ की व्यवस्था थी।

इसमें सन्देह नहीं, कि मौर्य युग में भारत के समाज का मुख्य आधार 'चातुर्वर्ण्य' था। समाज के चारों वर्णों के 'स्वधर्म' नियत थे, और प्रत्येक व्यक्ति के लिये यह आवश्यक और उपयोगी माना जाता था कि वह अपने स्वधर्म में स्थिर रहे। समाज में ब्राह्मणों की स्थिति सबसे ऊँची और सम्मानित थी, और राज्य के शासन पर भी उनका बहुत प्रभाव था। पुरोहित, मन्त्री आदि प्रमुख राजकीय पदाधिकारी प्रायः ब्राह्मण वर्ण के व्यक्ति ही हुआ करते थे, और वे राजा को मर्यादा में रखने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया करते थे।

(४) मौर्योत्तर युग में वर्ण भेद

मौर्य साम्राज्य के पतन के समय बौद्ध धर्म के विरुद्ध प्रतिक्रिया का काल प्रारम्भ हुआ था, और नये परिवर्तित रूप में प्राचीन वैदिक धर्म का पुनरुत्थान हुआ था। बौद्ध और जैन धर्म ब्राह्मणों की उत्कृष्टता को स्वीकार नहीं करते थे, और मनुष्यों की सामाजिक स्थिति के लिये जन्म की अपेक्षा गुणों और कर्मों को अधिक महत्त्व देते थे। जब इन धर्मों के विरुद्ध प्रतिक्रिया होकर पुराने वैदिक धर्म का पुनरुत्थान हुआ, तो यह भी स्वाभाविक था कि ब्राह्मणों की उत्कृष्टता की बात को भी प्रबल रूप से प्रतिपादित किया जाए, क्योंकि वैदिक धर्म द्वारा प्रतिपादित याज्ञिक कर्मकाण्ड आदि का विधिपूर्वक सम्पादन इसी वर्ग के लोग करा सकते थे। इस युग के साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वर्ण भेद को फिर से भारत के सामाजिक जीवन में महत्त्व प्राप्त हुआ, और ब्राह्मणों की उत्कृष्टता फिर स्वीकार की जाने लगी। स्मृति ग्रन्थों को इसी युग की रचना माना जाता है। मौर्यों के पश्चात् भारत की राजशक्ति शुङ्ग वंश के हाथों में चली गई थी, और उन के बाद कण्व तथा सातवाहन राजाओं ने भारत के बड़े भाग पर शासन किया था। ये राजा प्रायः जन्म से ब्राह्मण थे। शुङ्ग व कण्व वंशों के शासन काल में ही मनु, याज्ञवल्क्य, नारद और बृहस्पति-स्मृतियों ने अपने वर्तमान रूप को प्राप्त किया था। वालमीकि रामायण तथा महाभारत में जो ऐतिहासिक अनुश्रुति संकलित है, उसे बहुत प्राचीन है। पर इन ऐतिहासिक महाकाव्यों का जो स्वरूप अब उपलब्ध है, उसे भी इसी काल की रचना माना जाता है। पाणिनि मुनि की अष्टाध्यायी पर 'महाभाष्य' लिखने वाले पतञ्जलि भी शुङ्ग काल में हुए थे। भास के संस्कृत नाटकों की रचना भी इसी काल में हुई थी। इस सब साहित्य से शुङ्ग तथा कण्व वंशों के शासन काल में भारतीय समाज का जो चित्र प्रस्तुत होता है, उसमें वर्ण भेद तथा ब्राह्मणों का महत्त्व पुनः प्रगट होने लगता है।

मनुस्मृति और याज्ञवल्क्यस्मृति में ब्राह्मणों को सब वर्णों की तुलना में श्रेष्ठ प्रतिपादित किया गया है। ब्राह्मणों के प्रधान कार्य वेदों का अध्ययन अध्यापन, यज्ञ करना और कराना तथा दान देना और दान ग्रहण करना कहे गये हैं। अन्य वर्णों के लोग न वेदों का अध्यापन कर सकते थे, न यज्ञ करा सकते थे और न दान ग्रहण कर सकते थे।

मनु के अनुसार यदि कोई ब्राह्मणेतर व्यक्ति ये कार्य करे, तो उसकी सारी सम्पत्ति छीन ली जा सकती थी और उसे कारावास का दण्ड भोगना पड़ सकता था। पर यदि ये कार्य केवल ब्राह्मणों को ही करने हों, तो उन्हें अत्यन्त विद्वान्, तपस्वी और त्यागी भी होना चाहिये। समाज में उनकी उच्च स्थिति तभी स्वीकार की जा सकती है, जबकि उनका जीवन आदर्श हो। इसीलिये मनु ने ब्राह्मण के लिये इस आदर्श का निरूपण किया है कि वह उञ्छवृत्ति (खेतों में बचे रह गये अन्न के दानों को बीन कर) से अपना जीवन निर्वाह करे। वह केवल उतना ही अन्न सञ्चित करे, जो एक कुम्भी को भरने के लिये पर्याप्त हो या जिससे उसके परिवार का तीन दिन के भोजन का काम चल सके। ब्राह्मण को दान में भी अधिक धन ग्रहण नहीं करना चाहिये, क्योंकि अधिक धन से उसकी वह अलौकिक ज्योति समाप्त हो जाती है जिसके कारण उसे समाज में प्रतिष्ठित स्थिति प्राप्त होती है। बौद्ध और जैन धर्मों द्वारा ब्राह्मणों की उत्कृष्टता का विरोध इसी आधार पर किया गया था, क्योंकि वे भी अन्य लोगों के समान ही जीवन व्यतीत किया करते थे और लोभ आदि से विरहित नहीं थे। अतः ब्राह्मणों की उत्कृष्टता को फिर से स्थापित करने के लिये प्रयत्नशील स्मृतिकारों ने इस बात पर बहुत बल दिया कि ब्राह्मणों का जीवन लोभ से रहित हो, अकिञ्चनवृत्ति को वे अपनाएँ और त्यागी या तपस्वी बनें। जिन ब्राह्मणों का जीवन सचमुच ऐसा हो, समाज में उन्हें विशिष्ट स्थिति प्राप्त होनी ही चाहिये। इसीलिये मनु ने यह प्रतिपादित किया है कि वेदाध्ययन के बाद स्नातक होकर जब ब्राह्मण गुरु के पास से वापस आ रहा हो, तो राजा को भी उसके लिये मार्ग छोड़ देना चाहिये। क्योंकि ब्राह्मणों के लिये अकिञ्चन होना आदर्श की बात थी, अतः उनके पास सम्पत्ति के सञ्चित होने का प्रश्न ही नहीं उठता था। इसीलिये स्मृतिकारों ने यह व्यवस्था की है कि ब्राह्मणों से न केवल कोई कर न लिया जाए, अपितु राजा उनके भरण-पोषण का भी ध्यान रखे। समाज में उनकी उच्च स्थिति को ध्यान में रखते हुए कतिपय प्रकार के दण्डों से भी उन्हें मुक्त रखा गया था। उन्हें अवध्य, अदण्ड्य, अबन्ध्य और अबहिष्कार्य माना जाता था। पर यदि ब्राह्मण व्यभिचार, सुरापान तथा चोरी जैसा अपराध करे, तो उसे भी दण्ड दिया जाता था। बौधायन धर्मसूत्र के अनुसार ऐसे अपराध करने वाले ब्राह्मण के माथे पर जलते हुए लोहे से दाग लगाकर उसे देश से बहिष्कृत कर देना चाहिये।

यद्यपि स्मृतिकारों ने ब्राह्मणों के लिये एक अत्यन्त उच्च आदर्श प्रस्तुत किया है और उन्हें कतिपय विशेष अधिकार भी प्रदान किये हैं, पर मौर्योत्तर युग में ऐसे ब्राह्मणों की कमी नहीं थी जिनका जीवन आदर्श से बहुत दूर था। मनुस्मृति में ऐसे कर्म करने वाले ब्राह्मणों की सूची दी गई है, जिन्हें श्राद्ध कर्म में निमन्त्रित नहीं किया जा सकता था। इन्हें 'अपांक्तेय' भी कहा जाता था, क्योंकि इन्हें विद्वान् व सदाचारी ब्राह्मणों की पंक्ति में बैठने का अधिकार नहीं था। उस समय ऐसे ब्राह्मण भी विद्यमान थे, जो चोरी किया करते थे, जुआरी होते थे, मांस बेचा करते थे, वाणिज्य से जीवन निर्वाह करते थे, सूदखोरी करते थे, नट गायक व नर्तक के पेशे करते थे, शराबी होते थे, कुत्ते व बाज पालने का धन्धा करते थे, खेती करते थे, भीख मांगते थे, पशुओं के क्रय-विक्रय का रोजगार

करते थे, ज्योतिषी होते थे, इमारतें बनाने का पेशा करते थे और जो ब्राह्मणों के उच्च आदर्श को ध्यान में न रखकर आजीविका के लिये चिकित्सक का काम करते थे या मन्दिरों में पुजारी का धन्धा करने लगते थे या वृत्ति ग्रहण कर शिक्षक के रूप में कार्य किया करते थे। मनु ने गर्हित पेशे करने वाले ब्राह्मणों को शूद्रों के समकक्ष कहा है, और यह माना है कि वे सीधे नरक में जाते हैं। पर स्मृति-ग्रन्थों के इस विवरण से इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि उनकी रचना के समय में ब्राह्मण वर्ण गुण कर्म पर आधारित न होकर जन्म पर आश्रित हो चुका था। इसीलिये ऐसे भी ब्राह्मण उस समय विद्यमान थे, जो शूद्रों के योग्य कार्य करके जीवन निर्वाह में संलग्न थे। ब्राह्मण वर्ग के जिन विशेषाधिकारों—यथा उनका अदण्ड्य, अवध्य व अबन्ध्य होना—का स्मृतियों में उल्लेख है, वे केवल उन ब्राह्मणों के लिये है जो वस्तुतः विद्वान् एवं तपस्वी हों और जिनसे अनजाने में ही कोई अपराध हो गया हो। सामान्य काम धन्धों को करने वाले ब्राह्मण न करों से मुक्त होते थे और न अदण्डय माने जाते थे। इसीलिये महाभारत में लिखा है कि जो ब्राह्मण 'अश्रोत्रिय' (जो वेदों के विद्वान् न हों) हों और जो 'अनाहिताग्नि' (यज्ञ न करने वाले) हों, उनसे कर और बेगार ली जाया करे। ब्राह्मणों से कर न लेने का कारण यही था कि राजा उनकी तपस्या व ज्ञान का अंश करके रूप में प्राप्त कर लेता था, अर्थात् उनके ज्ञान से लाभ उठाता था। पर जो ब्राह्मण इस रूप में कर देने में समर्थ न हों, उनसे अन्य प्रजाजन के समान ही कर वसूल किया जाने का विधान स्मृतिग्रन्थों में किया गया है।

पतञ्जलि मुनि के 'महाभाष्य' द्वारा भी शुङ्ग युग के ब्राह्मणों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। ब्राह्मण वर्ण जन्म पर आधारित था, यह बात महाभाष्य द्वारा भी सूचित होती है। वहाँ लिखा है कि ब्राह्मणों की जातिगत पहचान उनका गौर वर्ण का होना है, तथा कपिल रंग के बालों वाला होना और पिंगल रंग की आँखों वाला होना है। मगध के प्रदेश में जहाँ कृष्ण वर्ण के आर्यभिन्न लोगों की प्रधानता थी, शरीर के बाह्य रूप से ब्राह्मणों को पहचान सकना सर्वथा सुगम था। जन्म के ये ब्राह्मण सदाचारी, विद्वान् और तपस्वी भी हो सकते थे, और साथ ही ऐसे भी जो विद्या तथा सत्कर्मों से विरहित हों। ब्राह्मण कुल में उत्पन्न व्यक्ति के लिये पतञ्जलि ने 'जाति-ब्राह्मण' शब्द का प्रयोग किया है। विद्वान् और मूर्ख, सदाचारी और कुकर्मी सब प्रकार के ब्राह्मण कुलोत्पन्न व्यक्ति 'जाति ब्राह्मण' माने जाते थे। पर ब्राह्मण वर्ग या वर्ण में सम्मिलित होने के लिये यह भी आवश्यक था, कि ब्राह्मणोचित विद्या भी अधिगत की गई हो और साथ ही कर्म भी ब्राह्मणों के अनुरूप हों। जन्म के साथ-साथ जो गुणों और कर्मों से भी ब्राह्मण हों, वे ही ब्राह्मण वर्ण के माने जाते थे।

मौर्योत्तर काल में भी क्षत्रियों और वैश्यों की प्रायः वही स्थिति थी, जो प्राचीन समय में थी। क्षत्रियों का कार्य पढ़ना, यज्ञ करना, शस्त्र धारण करना, दान देना और बाह्य तथा आभ्यन्तर शत्रुओं से रक्षा करना माना जाता था, और समाज में उनकी स्थिति सर्वसाधारण जनता की तुलना में ऊँची समझी जाती थी। ब्राह्मणों के समान क्षत्रिय वर्ण भी अब प्रधानतया जन्म पर आधारित हो गया था। इसीलिये ऐसे क्षत्रिय

भी होते थे, जो वैश्यों के कार्य कर जीविका चलाते थे। मनु और याज्ञवल्क्य स्मृतियों में विपत्ति काल में क्षत्रियों को यह अनुमति दी गई है कि वे वैश्यों के कर्म कर सकें। वैश्यों के कार्य पढ़ना, यज्ञ करना, दान देना, खेती, पशुपालन, व्यापार, व्यवसाय और महाजनी थे। पर विपत्ति काल में वैश्यों को यह अधिकार भी था कि वे शस्त्र धारण कर आत्मरक्षा कर सकें। बौद्ध युग के समान मौर्योत्तर काल में भी बहुत-से वैश्य अत्यन्त समृद्ध होते थे, और श्रेष्ठी तथा सार्थवाहों के रूप में अपार धन अर्जित किया करते थे। साधारण कृषकों, पशुपालकों व वणिजों की तुलना में इनकी सामाजिक स्थिति भी ऊँची होती थी। इसलिये इस युग के अनेक अभिलेखों में भी ऐसे धनी श्रेष्ठियों का उल्लेख हुआ है, जिन्होंने कि अपने धन द्वारा मन्दिर आदि धर्मस्थानों का निर्माण कराया था।

समाज में शूद्रों की स्थिति सबसे हीन थी। न वे वेदाध्ययन कर सकते थे, और न याज्ञिक कर्मकाण्ड के अनुष्ठान की ही उन्हें अनुमति थी। उनके लिये यही पर्याप्त था कि इतिहास-पुराण का श्रवण कर अपनी ज्ञानपिपासा को शान्त कर लें। उनके लिये यज्ञों का निषेध था। देवताओं को प्रसन्न करने के लिये वे यज्ञ कुण्ड में आहुतियाँ नहीं दे सकते थे। उनके लिये यही पर्याप्त था कि वे देवताओं का स्मरण कर उनके प्रति नमस्कार निवेदित कर दें। तीनों उच्च वर्णों की सेवा करना ही शूद्रों का एकमात्र कर्म था। सामान्यतया, उनकी कोई अपनी सम्पत्ति नहीं होती थी। उनके लिये दण्ड विधान भी अधिक कठोर था। यदि कोई शूद्र किसी ब्राह्मण स्त्री के साथ सम्भोग करे, तो उसके लिये प्राणदण्ड की व्यवस्था थी। पर यदि किसी ब्राह्मण द्वारा क्षत्रिय या वैश्य स्त्री से सम्भोग किया जाए, तो केवल अर्थ दण्ड का विधान था। यदि कोई शूद्र किसी ब्राह्मण को गाली दे, तो उसकी जीभ काट ली जाती थी। पर यदि कोई ब्राह्मण किसी शूद्र को गाली दे, तो उसे केवल १२ पण जुरमाने की सजा दी जाती थी। यद्यपि मौर्योत्तर युग में शूद्रों की सामाजिक स्थिति अत्यन्त हीन थी, पर उन्हें अस्पृश्य नहीं माना जाता था। मनुस्मृति के अनुसार ब्राह्मण ऐसे शूद्र के घर में भोजन कर सकता था, जो उसकी सेवा में पशुपालक का कार्य करता हो। बौद्ध युग से पूर्व तो शूद्र लोग उच्च वर्ण के घरों में भोजन बनाने का कार्य भी किया करते थे। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में लिखा है कि शूद्र आर्यों के निरीक्षण व अधिष्टातृत्त्व में भोजन बनाया करें। पर कालान्तर में रसोइये का कार्य शूद्रों से ले लिया गया, यद्यपि यह प्रक्रिया धीरे-धीरे ही हुई। पराशर स्मृति के समय तक यह दशा आ गई थी, कि ब्राह्मण शूद्र के द्वारा पकाया हुआ केवल ऐसा भोजन ग्रहण कर सकते थे, जिसे घी, तेल या दूध में बनाया गया हो। वर्तमान परिभाषा में इसे ऐसे कह सकते हैं कि शूद्रों द्वारा निर्मित्त पक्का भोजन तो उच्च वर्णों के लोगों के लिये ग्राह्य था, कच्चा भोजन नहीं। शूद्रों को यह अधिकार भी नहीं था कि वे वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों में प्रवेश कर सकें। उनका उपनयन संस्कार भी नहीं होता था, अतः वे ब्रह्मचारी होकर विद्याध्ययन भी नहीं कर सकते थे।

शूद्र वर्ग में किन लोगों को अन्तर्गत किया जाता था, इस सम्बन्ध में कुछ महत्त्वपूर्ण बातें पतञ्जलि के महाभाष्य द्वारा ज्ञात होती हैं। रथकारों, धीवरों (कहारों), तन्तुवायों (जुलाहों), कुम्भकारों (कुम्हारों), अयस्कारों (लुहारों), नापितों (नाइयों),

चर्मकारों (चमारों), आभीरों और धोबियों को पतञ्जलि ने शूद्र माना है। ये सब विविध प्रकार के शिल्पी थे, जो सम्भवतः प्राचीन काल में सर्वसाधारण 'विशः' के अन्तर्गत होते थे। पर मौर्योत्तर युग में इनकी गिनती शूद्रों में की जाने लगी थी। पर शूद्रों का एक अन्य वर्ग भी था, जिसकी सामाजिक स्थिति और भी अधिक हीन मानी जाती थी। इस वर्ग में चाण्डालों को अन्तर्गत किया जाता था। ये लोग नगरों व ग्रामों से बाहर निवास किया करते थे। पतञ्जलि के अनुसार शूद्रों के दो वर्ग थे—निरवसित और अनिरवसित। तन्तुवाय, नाई आदि शिल्पी अनिरवसित वर्ग में थे, और ये उच्च वर्ण के लोगों के भोजन पात्रों को छू सकते थे। पर निरवसित शूद्र (चाण्डाल) यदि किसी पात्र को छू दें, तो वह अपवित्र हो जाता था, और अग्नि द्वारा शुद्ध कर लेने पर भी उच्च वर्ण के व्यक्ति उसे प्रयोग में नहीं ला सकते थे।

वर्णसंकर जातियाँ—आर्य 'जनों' (कबीलों) का जब पूर्वी तथा दक्षिणी भारत की आर्य भिन्न जातियों से सम्पर्क हुआ और उनमें विवाह सम्बन्ध भी होने लगे, तो एक नई परिस्थिति उत्पन्न हुई। इन आर्य-भिन्न जातियों तथा उनके साथ हुए विवाहों से उत्पन्न सन्तान को चातुर्वर्ण्य में क्या स्थान दिया जाए, इस प्रश्न को हल करने के लिये या तो इन जातियों को 'व्रात्य' (व्रत द्वारा समाज में सम्मिलित) मान लिया गया और या वर्णसंकर। आर्य-भिन्न लोगों में जो सैनिक थे, वे भी शुद्ध क्षत्रिय न होकर 'व्रात्य' ही थे। व्रात्यों को भी प्राचीन ग्रंथों में वर्णसंकर गिना गया है। वज्जि, मल्ल, लिच्छवि आदि सब व्रात्य ही थे। पूर्व और दक्षिण के इन जनपदों में न केवल क्षत्रिय अपितु ब्राह्मण भी वर्णसंकर थे। सातवाहन-राजा जाति से ब्राह्मण समझे जाते थे, पर उनमें अनार्य रक्त विद्यमान था। जब मागध-साम्राज्य का विकास हुआ, और मगध की अनार्य-प्रधान सेनाओं ने सारे भारत को जीत लिया, तो प्राचीन आर्य जनों के शुद्ध ब्राह्मणों व क्षत्रियों की उत्कृष्टता कैसे कायम रह सकती थी। बौद्ध और जैन ब्राह्मणों व क्षत्रियों की उत्कृष्टता को नहीं मानते थे। उनकी दृष्टि में कोई व्यक्ति अपने गुणों व चरित्र से ही ऊँचा होता था, जन्म या जाति से नहीं। मागध-साम्राज्य के विकास की नयी परिस्थितियों में यह सिद्धान्त कितना समयानुकूल था।

मौर्योत्तर युग में शक, यवन और युइशि लोगों के आक्रमणों से एक और नयी परिस्थिति उत्पन्न हुई। इन विजेताओं ने भारत के बहुत बड़े भाग को जीतकर अपने अधीन कर लिया था। ये उत्कृष्ट योद्धा थे। बहुत बड़ी संख्या में ये लोग भारत के विविध जनपदों में विजेता के रूप में बस गये थे। इनकी राजनीतिक और सामाजिक स्थिति बहुत ऊंची थी। बौद्ध और जैन विचारधारा के अनुसार इनके कारण सामाजिक जीवन में कोई कठिनाई उत्पन्न नहीं होती थी। भारत में आकर इन्होंने बौद्ध या जैन धर्म को अपनाना शुरू कर दिया था। जाति-पाँति व वर्णभेद के विचारों से शून्य इन धर्मों के लिये इन म्लेच्छ विजेताओं को अपने समाज का अंग बना लेना विशेष कठिन नहीं था।

पर सनातन आर्यधर्म के पुनरुत्थान के इस काल में इस नयी परिस्थिति का सामना चातुर्वर्ण्य में विश्वास रखने वाले पौराणिक धर्मावलम्बियों ने किस प्रकार किया? चातुर्वर्ण्य का सिद्धान्त प्राचीन आर्य-धर्म की एक विशेषता थी। पर इन शक्तिशाली आर्य-

भिन्न योद्धाओं (यवनों, शकों व अन्य बहुत-सी जातियों) को चातुर्वर्ण्य में किस प्रकार स्थान दिया जाता ? किस प्रकार ऐसी व्यवस्था की जाती, कि इस युग की नयी भावना से चातुर्वर्ण्य का सिद्धान्त पुनः अनुप्राणित हो जाता ? वैदिक धर्म के पुनरुत्थान के नेताओं ने इस सम्बन्ध में जिस नीति का अनुसरण किया, वह बड़े महत्त्व की है। उन्होंने कहा—यवन, शक, पारद, पल्हव, कांबोज, द्रविड़, पौण्ड्रक आदि सब जातियाँ मूलतः क्षत्रिय थीं, पर ब्राह्मणों का सम्पर्क न रहने से ये वृषलत्व (म्लेच्छत्व) को प्राप्त हो गयीं। पर अब जब इन्हें फिर ब्राह्मणों का सम्पर्क मिला और इन्होंने वैदिक सम्प्रदायों को अपना लिया, तो इन्हें क्षत्रिय क्यों न समझ लिया जाय ? भारत में जो शक, पल्हव, यवन आदि आये, वे सब इस समय क्षत्रियों में शामिल कर लिये गये। हमारे पुरखाओं की यह युक्ति कितनी सुन्दर थी ! जो ये मलेच्छ आक्रान्ता भारत पर आक्रमण कर यहाँ अपनी राजनीतिक शक्ति को स्थापित करने में सफल हुए थे, वे सब मनु के सिद्धान्त के अनुसार क्षत्रियवर्ग में शामिल हो गये। ब्राह्मणों के पुनः सम्पर्क से अब उन्होंने वासुदेव कृष्ण और शिव की उपासना प्रारम्भ कर दी थी। उनमें वृषलत्व कुछ शेष नहीं रह गया था। इसी तरह इन विदेशी म्लेच्छों के पुरोहित ब्राह्मणवर्ग में सम्मिलित कर लिये गये, क्योंकि उन्होंने भी प्राचीन आर्य-विचारधारा को अपना लिया था। मुलतान के सूर्य-मंदिर में शकद्वीप (शकस्थान) के 'ब्राह्मणों' को पुजारी के रूप में नियत करना इसका स्पष्ट उदाहरण है।

मगध, अंग, बंग आदि जनपदों में आर्य-भिन्न लोग अधिक संख्या में थे, जिसके कारण वहाँ के आर्य अपनी रक्तबुद्धि को कायम रखने में असमर्थ थे। उन्होंने आर्य-भिन्न जातियों के साथ विवाह-सम्बन्ध स्थापित किये, और उनसे जो सन्तान उत्पन्न हुई उन्हें 'व्रात्य' और 'वर्णसंकर' कहा गया। मनुस्मृति के अनुसार भूर्जकंटक और आवन्त्य व्रात्य ब्राह्मणों की सन्तान थे, और मल्ल, झल्ल तथा लिच्छवियों की उत्पत्ति व्रात्य क्षत्रियों से हुई थी। कारूष और सात्वत व्रात्य वैश्यों की सन्तति थे। वैश्य और क्षत्रिय के सम्मिश्रण से 'मागध' और वैश्य तथा ब्राह्मण के सम्मिश्रण से 'वैदेह' लोगों की उत्पत्ति हुई थी। मनु के इस कथन में कोई सचाई हो या न हो, पर वैदिक पुनरुत्थान के इस युग के विचारक इस तथ्य को दृष्टि में ला रहे थे कि मागध, वैदेह, आवन्त्य, लिच्छवि आदि शुद्ध आर्य नहीं हैं यद्यपि भारत के जनसमाज में उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसीलिये वे उन्हें व्रात्य ब्राह्मण, व्रात्य क्षत्रिय, व्रात्य वैश्य और वर्णसंकर के रूप में निरूपित कर चातुर्वर्ण्य के दायरे में लाने का प्रयत्न कर रहे थे।

(५) गुप्त युग तथा मध्य काल में वर्ण भेद

मौर्योत्तर काल में चातुर्वर्ण्य का जो स्वरूप विकसित हो गया था, गुप्त युग तथा मध्यकाल में भी वह प्रायः उसी प्रकार से जारी रहा। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के रूप में जो चार वर्ण समाज में विद्यमान थे, उनका आधार गुण और कर्म न होकर जन्म ही था। मनुष्य का कर्म चाहे कोई भी क्यों न हो, पर उसे उसी वर्ण का माना जाता था, जिसमें कि वह उत्पन्न हुआ था। यही कारण है कि इस युग में भी अनेक ऐसे राजा हुए,

जो जन्म से क्षत्रिय नहीं थे। शुङ्गों और कण्वों के समान बाद में भी ब्राह्मण कुल में उत्पन्न अनेक व्यक्तियों ने राजसिंहासन प्राप्त किए, और क्षत्रिय कर्म करते हुए भी उन्हें ब्राह्मण-वर्ण के अन्तर्गत ही माना गया। मानव्य गोत्र में उत्पन्न मयूर शर्मा नामक एक ब्राह्मण अपने गुरु वीर शर्मा के साथ इस प्रयोजन से काञ्ची नगरी गया था, ताकि वहाँ जाकर चारों वेदों का भली-भाँति अध्ययन करे और गुरुकुलावास में रहकर अपनी शिक्षा को पूर्ण करे। पर काञ्ची में एक अश्वसंस्थ (अश्वारोही सैनिक) से उसका झगड़ा हो गया और वह गुरुकुलावास नहीं पहुँच सका। इस पर मयूर शर्मा ने शक्ति का प्रयोग कर कांची के पल्लव राजा के अन्तपालों से संघर्ष शुरू किया और पल्लव राज्य के एक प्रदेश पर अपना अधिकार कर लिया। धीरे-धीरे उसने अपनी शक्ति बहुत बढ़ा ली, और वनवासी नगरी को राजधानी बनाकर अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया। अभिलेखों से सूचित होता है कि मयूर शर्मा ने अपनी विजयों के उपलक्ष में अठारह बार अश्वमेध यज्ञों का अनुष्ठान किया था। इस ब्राह्मण राजा का समय चौथी सदी के मध्य भाग में माना जाता है। उस द्वारा एक नये वंश का प्रारम्भ किया गया था जो इतिहास में कदम्ब वंश के नाम से प्रसिद्ध है। ब्राह्मण इन्द्र-विष्णु का पुत्र मातृ-विष्णु भी 'महाराज' पद को प्राप्त करने में समर्थ हुआ था। ह्यु एन्त्सांग (सातवीं सदी) के समय में उज्जैन, जिहोती और महेश्वरपुर के राजा ब्राह्मण वर्ण के थे। केवल ब्राह्मण ही नहीं, अपितु वैश्य और शूद्र वर्ण के व्यक्ति भी क्षत्रिय वर्ण के गुण-कर्मों को अपना कर राजा बनने में समर्थ हुए थे। गुप्त वंश के प्रतापी राजा सम्भवतः जन्म से वैश्य वर्ण के ही थे। स्थानेश्वर (थानेसर) के हर्षवर्धन सदृश वर्धन वंशी राजाओं को वैश्य वर्ण का ही माना जाता है। सातवीं सदी में सिन्ध के शूद्र राजाओं का भी ह्यु एन्त्सांग ने उल्लेख किया है। ये सब तथ्य यह प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त हैं कि गुप्त युग तथा उसके पश्चात् के काल में वर्ण भेद का आधार जन्म को ही माना जाता था, गुण-कर्म को नहीं।

इस युग में भी चातुर्वर्ण्य के वे ही कर्म माने जाते थे, जिनका निरूपण प्राचीन स्मृतिकारों द्वारा किया गया था। ह्यु एन्त्सांग ने चारों वर्णों का उल्लेख कर उनके वे ही कर्म बताये हैं, जो परम्परागत रूप से प्रतिपादित थे। उसने समाज में ब्राह्मणों के सर्वोच्च स्थान की बात भी लिखी है। सब वर्णों को अपने-अपने धर्म व कार्यों में स्थिर रखना इस काल में भी राजा का कर्त्तव्य माना जाता था। हर्षवर्धन के एक ताम्रपत्र में उसे 'वर्णाश्रमव्यवस्थापनप्रवृत्तचक्र' (वर्ण और आश्रम धर्मों को व्यवस्थापित करने वाला) कहा गया है। महाकवि बाण ने भी 'हर्षचरितम्' में राजा हर्षवर्धन को वर्णाश्रम धर्म का पालन करने वाला कहा है। दसवीं सदी के अन्त में जब अरब विद्वान् अलबरूनी भारत आया था, तो यहाँ के चातुर्वर्ण्य की ओर उसका भी ध्यान गया था। उसने लिखा है कि इस देश में समाज के विविध वर्गों के अपने-अपने कर्म नियत थे, और राजा का यह कर्त्तव्य माना जाता था कि वह किसी वर्ग को अपने कार्यों का अतिक्रमण न करने दे। जो कोई अपने वर्ग के कर्म का अतिक्रमण करने का प्रयत्न करता था, उसे दण्ड दिया जाता था।

जन्म के आधार पर चातुर्वर्ण्य को स्वीकार कर लेने का यह परिणाम था, कि

ब्राह्मण की स्थिति सर्वोच्च समझी जाती थी, चाहे वह अयोग्य भी क्यों न हो। इसीलिए महाकवि बाण ने लिखा है कि 'असंस्कृत' ब्राह्मण भी अपनी जाति के कारण 'माननीय' ही होता है। अलबरूनी व अन्य अरब लेखकों ने भी समाज में ब्राह्मणों की उच्च स्थिति की बात लिखी है। क्षत्रिय वर्ण के लोगों का कार्य सैनिक जीवन बिताना व देश की रक्षा करना माना जाता था, यद्यपि आजीविका के लिए वे वैश्यों के कर्मों को अपनाने में भी संकोच नहीं करते थे। यही बात ब्राह्मणों के सम्बन्ध में भी थी। वैश्य वर्ण के लोगों में दो भेद स्पष्ट रूप से प्रगट होने लग गए थे, यह पहले लिखा जा चुका है। उनमें एक वर्ग समृद्ध श्रेष्ठियों और सार्थवाहों का था और दूसरा शिल्पियों तथा कृषकों का। सभी वैश्य समृद्ध श्रेष्ठी व सार्थवाह नहीं हो सकते थे। बहुसंख्यक वैश्य शिल्पों, खेती और पशुपालन द्वारा अपना निर्वाह किया करते थे, और उनकी सामाजिक स्थिति बहुत साधारण हो गई थी। पतञ्जलि के अनुसार रथकार, तन्तुवाय सदृश कितने ही प्रकार के शिल्पी शूद्र वर्ग में गिने जाते थे, और चाणक्य के अर्थशास्त्र में शूद्रों द्वारा किये जाने वाले कार्यों में कृषि को भी सम्मिलित किया गया है। जब वैश्य और शूद्र दोनों शिल्प तथा कृषि में व्यापृत हों, तो उनकी सामाजिक स्थिति में विशेष अन्तर नहीं रह जाता। समृद्ध श्रेष्ठियों और सार्थवाहों के अतिरिक्त जो अन्य साधारण वैश्य थे, और कृषि तथा शिल्प द्वारा जो अपना निर्वाह करते थे, वे यदि शूद्रों के समान हो गये हों, तो यह सर्वथा स्वाभाविक था। प्राचीन समय में पढ़ना और यज्ञ करना भी वैश्यों के कार्य थे। पर कालान्तर में वेदादि के अध्ययन की वे उपेक्षा करने लगे, और उनकी शिक्षा उस पढ़ाई तक ही सीमित रह गई जो व्यापार व शिल्प आदि के लिए आवश्यक थी। अलबरूनी ने लिखा है कि पिछले दो वर्णों (वैश्यों और शूद्रों) में कोई अन्तर नहीं है। यद्यपि ये वर्ण एक-दूसरे से भिन्न हैं, पर वे नगरों और ग्रामों में साथ-साथ ही निवास करते हैं। अलबरूनी का यह कथन उन साधारण वैश्यों के लिए सर्वथा सही था, जिनकी आजीविका के साधन पशुपालन, खेती और शिल्प थे। क्योंकि मौर्योत्तर काल और उसके बाद के समय में शूद्रों द्वारा भी ये कार्य किए जाने लगे थे, अतः इन दोनों वर्णों में विशेष अन्तर नहीं रह गया था। वैदिक तथा उत्तर-वैदिक युगों में आर्य जाति ने भारत के जिन मूल निवासियों को जीत कर अपने अधीन किया था, उन्हीं 'दासों' से शूद्र वर्ग का निर्माण प्रारम्भ हुआ था, यह पहले लिखा जा चुका है। इन दासों व शूद्रों का प्रधान कार्य तीनों वर्णों की सेवा करना ही माना जाता था। पर ये उच्च वर्ग के लोगों के घरों में केवल घरेलू कार्य ही नहीं करते थे, अपितु कृषि, पशुपालन, शिल्प आदि में भी उनका हाथ बटाया करते थे। शिल्प आदि में इन्हें विशेष निपुणता प्राप्त थी। ये अपनी पृथक् आमदनी भी कर सकते थे और स्वयं उपार्जित सम्पत्ति पर इनका स्वत्त्व भी माना जाने लगा था। इस दशा में शूद्रों का भी एक ऐसा वर्ग हो गया, जो स्वतन्त्र रूप से कृषि, पशुपालन और शिल्प द्वारा अपना निर्वाह किया करता था, और जिसकी स्थिति उन वैश्यों के सदृश ही थी जो बड़े श्रेष्ठी व सार्थवाह न होकर साधारण कृषक, पशुपालक और शिल्पी थे।

गुप्त युग और उसके बाद के काल—जिसे भारतीय इतिहास का मध्य युग कहा जाता है—में वर्ण भेद का आधार जन्म ही रह गया था। जन्म के कारण ही किसी को

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र माना जाता था। अब यह सम्भव नहीं रहा था कि कोई व्यक्ति विद्वत्ता के आधार पर ब्राह्मण वर्ण में या वीरता के आधार पर क्षत्रिय धर्म में सम्मिलित हो सके। यदि उसका जन्म वैश्य कुल में हुआ हो, तो परम विद्वान् हो जाने पर भी वह वैश्य ही कहाता था, और अपने बाहुबल से एक शक्तिशाली राज्य स्थापित कर लेने पर भी उसे वैश्य ही समझा जाता था। वर्णभेद की यही दशा आज भी भारत में है। गुप्त युग तक चातुर्वर्ण्य इसी रूप को प्राप्त कर चुका था।

(६) जातिभेद का विकास

वर्ण और जाति भिन्न-भिन्न हैं, यह इस अध्याय के प्रारम्भ में लिखा जा चुका है। किसी भी आर्य 'जनपद' में चारों वर्णों के लोग हो सकते थे। गुण और कर्म के अनुसार किसी भी मानव समूह को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। पर भारत में जो सैंकड़ों, हजारों ऐसी जातियाँ हैं, जिनमें परस्पर पृथक् होने की अनुभूति विद्यमान है, जिनमें परस्पर विवाह-सम्बन्ध नहीं हो सकता और खान-पान के विषय में भी जिनकी अपनी-अपनी मर्यादाएँ हैं, उनका विकास वर्णभेद से पृथक् व स्वतन्त्र रूप से हुआ। भारत के सामाजिक जीवन में अधिक महत्त्व जातिभेद का है, वर्णभेद का नहीं। जिन्हें एक वर्ण का कहा जाता है, उनमें भी कितनी ही पृथक् जातियों का सत्ता इस देश में है। इस जातिभेद के विकास के अनेक कारण थे, और अनेक प्रकार से इन विविध जातियों का विकास हुआ था।

भारत की अनेक जातियों का विकास उन गणराज्यों द्वारा हुआ, जो इस देश में सैंकड़ों की संख्या में विद्यमान थे। ये गणराज्य दो प्रकार के थे—वार्ताशस्त्रोपजीवि और राजशब्दोपजीवि। वार्ता से कृषि, पशुपालन और वणिज्या अभिप्रेत हैं। कुछ गण-राज्यों के लोग जहाँ कृषि, पशुपालन और वणिज्या द्वारा अपना जीवन निर्वाह करते थे, वहाँ आत्मरक्षा के लिये वे शस्त्र धारण भी करते थे। उनमें क्षत्रियों का कोई पृथक् वर्ग नहीं था। कम्बोज, क्षत्रिय, आरट्ट, आग्रेय और श्रेणि आदि इसी प्रकार के गणराज्य थे। लिच्छवि, वज्जि, कुकुर, पाञ्चाल आदि गणराज्य राजशब्दोपजीवि थे। इनमें आर्य-भिन्न लोगों का अच्छी बड़ी संख्या में निवास था, पर राजशक्ति कतिपय विशिष्ट कुलों में निहित थी, और प्रत्येक कुलमुख्य 'राजा' कहाता था। लिच्छविगण में ऐसे ७७०७ कुल थे, और उनके कुलमुख्य (राजा) ही वहाँ शासन का अधिकार रखते थे। इन्हें अपने राजपद का अभिमान था। इसीलिए ये गण 'राजशब्दोपजीवि' कहाते थे। इन गणराज्यों में आर्थिक उत्पादन ऐसे लोगों द्वारा किया जाता था, शासन कार्य में जिनका कोई भी स्थान नहीं था।

प्रत्येक गणराज्य में एक-एक 'जन' (कबीले) का निवास था, और इन जनों को अपने वंश की उच्चता तथा रक्त शुद्धता पर बड़ा गर्व था। कोशलराज प्रसेनजित् के प्रयत्न करने पर भी शाक्य गण के राजा अपनी कुमारी का उसके साथ विवाह करने के लिये तैयार नहीं हुए थे। मगध के साम्राज्य-विस्तार के साथ इन गणों की राजनीतिक स्वतन्त्रता का अन्त हो गया। मागध सम्राटों ने गणों को नष्ट करने तथा उनकी स्वतन्त्रता

को मिट्टी में मिला देने में कुछ भी उठा नहीं रखा था। परिणाम यह हुआ, कि गणराज्यों की स्वतन्त्रता का अन्त हो गया। पर मागध-सम्राटों की नीति यह थी, कि गणों के अपने धर्मों को नष्ट न किया जाए। इन गणराज्यों में जो अपने रीति-रिवाज व स्थानीय कानून प्रचलित थे, उन्हें मागध-सम्राटों ने न केवल स्वीकार ही किया था, अपितु उन्हें साम्राज्य के कानून का एक अंग भी मान लिया था। यही कारण है, कि इन विविध स्थानीय कानूनों को राजकीय रजिस्टरों में रजिस्टर्ड (निबन्धपुस्तकस्थ) करने की व्यवस्था की गई थी। भारत के प्राचीन आचार्यों ने 'स्वधर्म' के सिद्धान्त पर बहुत जोर दिया है। जैसे प्रत्येक मनुष्य को 'स्वधर्म' का पालन करना चाहिए, वैसे ही साम्राज्य के प्रत्येक अंग—ग्राम, कुल, गण और जनपद को भी 'स्वधर्म' में दृढ़ रहना चाहिए। जिसके जो अपने व्यवहार, रीति-रिवाज व कानून हों, उनका उसे उल्लंघन नहीं करना चाहिए। यदि कोई उनका उल्लंघन करे, तो राजा का कर्त्तव्य है कि उसे दण्ड दे और उसे 'स्वधर्म' पर दृढ़ रहने के लिये बाधित करे।

प्राचीन सम्राटों की इस नीति का परिणाम यह हुआ, कि राजनीतिक स्वाधीनता के नष्ट हो जाने पर भी गणों की सामाजिक व आर्थिक स्वाधीनता कायम रही। उनके लोग अपने स्थानीय धर्म, व्यवहार व कानून का पहले के समान ही पालन करते रहे। इसी से वे धीरे-धीरे जाति व बिरादरी के रूप में परिणत हो गये। प्राचीन यूरोप में भी भारत के ही समान गणराज्य थे। पर वहाँ जब रोम के साम्राज्यवाद का विकास हुआ, तो वहाँ के सम्राटों ने गणराज्यों की न केवल राजनीतिक सत्ता को ही नष्ट किया, पर साथ ही उनके धर्म, व्यवहार, कानून और रीति-रिवाज़ का भी अन्त किया। रोमन सम्राट् अपने सारे साम्राज्य में एक रोमन कानून जारी रखने के लिए उत्सुक रहते थे। भारतीय सम्राटों के समान वे सहिष्णुता की नीति के पक्षपाती नहीं थे। यही कारण है कि यूरोप के गणराज्य भारत के सदृश जाति-बिरादरियों में परिवर्तित नहीं हो सके। भारत में गणराज्यों के जाति-बिरादरियों के रूप में परिवर्तित होने का परिणाम यह हुआ, कि इतिहास के उस युग में जब कि संसार में कहीं भी लोकसत्तात्मक शासनों की सत्ता नहीं रही, और सर्वत्र एकच्छत्र सम्राटों का राज्य हो गया, भारत में सर्वसाधारण जनता अपना शासन स्वयं करती रही, और उसके साथ सम्बन्ध रखने वाले मामलों का निर्णय अपनी बिरादरी की पंचायत द्वारा किया जाता रहा। राजनीतिक दृष्टि से परतन्त्र हो जाने के बाद भी सामाजिक व आर्थिक क्षेत्र में प्राचीन गण राज्य जीवित रहे।

वर्तमान समय की बहुत-सी जातियों की उत्पत्ति प्राचीन गणराज्यों में ढूंढी जा सकती है। पंजाब के आरट्ट और क्षत्रिय गण इस समय के अरोड़ा और खत्री जातियों में बदल गये। कौटलीय अर्थशास्त्र का श्रेणी-गण इस समय के सैनियों के रूप में अब भी जीवित है। बौद्ध-काल के पिप्पलिवन के मोरिय इस समय भी मोरई जाति के रूप में विद्यमान हैं। प्राचीन रोहितक गण इस समय के रस्तोगियों, रुस्तगियों व रोहतगियों के रूप में, आग्रेयगण अग्रवालों के रूप में, कम्बोज गण कम्बोह जाति के रूप में, कोलिय गण कोरी जाति के रूप में, और आर्जुनायन गण अरायन जाति के रूप में इस समय भी स्वतन्त्र रूप से विद्यमान हैं। भारत की बहुत-सी वर्तमान जातियों में यह किम्वदन्ती चली आती है कि

उनका उद्भव किसी प्राचीन राजा से हुआ है, वे किसी राजा की सन्तान हैं और किसी समय उनका भी अपना पृथक् व स्वतन्त्र राज्य था। अग्रवाल लोग अपने को राजा अग्रसेन का वंशज मानते हैं, और रस्तोगी लोग हरिश्चन्द्र का। ये किम्वदन्तियाँ इसी तथ्य पर आधारित हैं कि किसी प्राचीन समय में ये जातियाँ स्वतन्त्र गणराज्यों के रूप में विद्यमान थीं, और ये इन गणराज्यों की ही उत्तराधिकारी हैं। जो गण वार्ता-शस्त्रोपजीवि थे, उनकी शस्त्रोपजीविता की उस समय कोई आवश्यकता नहीं रही थी, जबकि वे शक्तिशाली सम्राटों की अधीनता व संरक्षण में आ गये थे। अब वे केवल वार्तोपजीवि रह गये, और गुण कर्मानुसार उनकी गणना वैश्य वर्ग में की जाने लगी। अग्रवाल, रस्तोगी आदि ऐसी ही वैश्य जातियाँ हैं। आरट्ट और क्षत्रिय गणराज्य भी वार्ताशस्त्रोपजीवि थे, जो बाद में अरोड़ा और खत्री जातियों के रूप में परिवर्तित हो गये। वस्तुतः, ये जातियाँ भी वैश्य वर्ग की ही हैं, और प्राचीन क्षत्रिय जातियों के साथ न इनका विवाह-सम्बन्ध होता है और न इनकी संस्कृति का ही उनसे सादृश्य है। गणों के जातियों के रूप में परिवर्तित होने की प्रक्रिया भारतीय इतिहास की महत्त्वपूर्ण घटना है।

जातिभेद के विकास का एक अन्य कारण प्राचीन भारत में शिल्पियों की ऐसी 'श्रेणियों' की सत्ता है, जो अपने साथ सम्बन्ध रखने वाले मामलों के बारे में स्वयं नियम बनाती थीं और जिनके नियमों व कानूनों को राज्यसंस्था द्वारा मान्यता प्राप्त थी। भारत के विविध जनपदों के बहुसंख्यक निवासी कृषि, पशुपालन तथा अनेकविध शिल्पों द्वारा जीवन निर्वाह किया करते थे। विविध प्रकार के शिल्पियों ने उस समय अपने को श्रेणियों में संगठित किया हुआ था। सुवर्णकार, वर्धकि (बढ़ई), लौहकार या अयस्कार (लुहार), तन्तुवाय (जुलाहा), तुन्यन्नाय (दरजी), रजक (धोबी), कम्मार (राजमिस्त्री) आदि शिल्पी श्रेणियों में संगठित थे। प्रत्येक श्रेणी (गिल्ड) का एक-एक आचार्य (उस्ताद) होता था, और उसकी अधीनता में अनेक अन्तेवासी (शागिर्द) काम किया करते थे। श्रेणि में आर्थिक उत्पादन किस ढंग से किया जाए, तैयार माल को किस कीमत पर बेचा जाए, प्राप्त कीमत का वितरण आचार्य तथा अन्तेवासियों में किस हिसाब से किया जाए—इन सब विषयों के सम्बन्ध में ये श्रेणियाँ स्वयं नियम बनाती थीं। विविध शिल्प प्रायः कतिपय कुलों में ही स्थिर रहते थे, और पुत्र पिता से या अन्तेवासी (जिन्हें कतिपय निश्चित कुलों से ही लिया जाता था) आचार्य से इनकी शिक्षा ग्रहण करता था। प्रत्येक श्रेणी के अपने पृथक् धर्म, चरित्र और व्यवहार हुआ करते थे, जिनके अनुसार ही उनके विवादों का निर्णय किया जाता था। श्रेणियों के धर्म, चरित्र और व्यवहार को भी राज्यसंस्था द्वारा 'निबन्धपुस्तकस्थ' (रजिस्टर्ड) किया जाने का विधान कौटलीय अर्थशास्त्र में किया गया है। वस्तुतः, ये श्रेणियाँ 'स्वशासित' होती थीं, और राज्यसंस्था द्वारा इनके कानूनों में हस्तक्षेप नहीं किया जाता था। इसी का यह परिणाम हुआ कि कालान्तर में इन श्रेणियों ने जातियों का रूप प्राप्त कर लिया। लुहार, बढ़ई, जुलाहा, धोबी, कुम्हार, सुनार आदि के रूप में जो बहुत-सी जातियाँ इस समय भारत में विद्यमान हैं, उनका उद्भव इन शिल्पी-श्रेणियों से ही हुआ है। चातुर्वर्ण्य

में इन्हें किस वर्ण के अन्तर्गत किया जाए, यह निर्धारित कर सकना कठिन है। ये अपने को शूद्र नहीं मानतीं। बढ़ई सदृश कतिपय जातियों के लोग तो ब्राह्मण होने तक का दावा करने लगे हैं। वास्तविकता यह है, कि इन जातियों के पूर्वपुरुष आर्य 'विशः' के ही अंग थे और कुल, क्रमानुगत रूप से विशिष्ट शिल्पों का अनुसरण करने के कारण इन्होंने पृथक् जातियों का रूप प्राप्त कर लिया। वर्तमान समय की बहुत-सी जातियों का विकास आर्थिक कारणों से ही हुआ है।

भंगी, चमार और डोम सदृश कतिपय ऐसी जातियाँ भी भारत में हैं, जिन्हें अस्पृश्य माना जाता है। सम्भवतः, इनका उद्भव उन 'दास' जातियों से हुआ है, जिन्हें कि आर्यों ने जीत कर अपने अधीन किया था, और जिन्हें उन्होंने निम्नतम प्रकार के कार्यों का सम्पादन करने के लिये विवश किया था। भंगी लोग सूर्यग्रहण के समय दान ग्रहण करते हैं, और गृहस्थों को आशीर्वाद तक देते हैं। अन्त्येष्टि संसार के समय डोम लोगों को भी दान दिया जाता है। सम्भवतः, ये आर्य-भिन्न लोगों के पुरोहित वर्ग के वंशज हैं, जिनका पौराहित्य अत्यन्त सीमित रूप में आज तक भी कायम है। भंगी लोग हिन्दुओं के मन्दिरों में जाकर देवदर्शन नहीं कर सकते। पर विविध देवी-देवताओं की पूजा वे भी करते हैं, और इस पूजा के लिये प्रायः स्वयं मिट्टी की मूर्तियाँ बना लेते हैं। इन मूर्तियों को वे स्थायी रूप से संभाल कर नहीं रखते या किसी देवस्थान में प्रतिष्ठापित नहीं करते, अपितु पूजा के पश्चात् फेंक दिया करते हैं। सम्भवतः, यही प्रथा सिन्धुघाटी की सभ्यता में भी थी। उसके अवशेषों में जो बहुत-सी मृण्मूर्तियाँ मिली हैं, और जिन पर पूजित होने के चिन्ह भी विद्यमान है, वे इसी तथ्य की ओर संकेत करती हैं।

भारत में ऐसी भी अनेक जातियाँ हैं, जिनका उद्भव उन विदेशी जातियों से हुआ है, जो इस देश के कतिपय प्रदेशों की विजय कर वहीं स्थायी रूप से बस गई थीं और जिन्होंने इस देश की भाषा, संस्कृति और धर्म को अपना लिया था। यवन, शक, पल्हव (पार्थियन) और हूण सदृश विदेशी आक्रान्ता जातियों ने शस्त्रों द्वारा भारत के कुछ प्रदेशों को जीत सकने में सफलता अवश्य प्राप्त की थी, पर धर्म और संस्कृति के क्षत्र में वे भारतीयों द्वारा परास्त कर दी गई थीं, और उन्हें भारतीय समाज में सम्मिलित कर लिया गया था। विदेशी आक्रमणों के युग की इस प्रवृत्ति का पुराणों में बड़े सुन्दर रूप से वर्णन किया गया है। शक, यवन आदि जातियों को गिना कर पुराणकार ने भक्ति के आवेश में आकर कहा है, कि ये और अन्य जो भी पाप या पापयोनि जानियाँ हैं, वे सब जिस प्रभविष्णु के सम्पर्क में आकर शुद्ध हो जाती हैं, उस विष्णु को नमस्कार हो। भारतीय धर्मों की यह पावनी शक्ति गुप्त युग में हूणों के आक्रमण तक कायम रही, पर मुस्लिम धर्म के अनुयायी तुर्क-अफगानों के भारत में प्रवेश के समय यह शक्ति क्षीण हो गई। इसी कारण अरब, तुर्क और अफगान आक्रान्ताओं को उस समय के भारतीय आत्मसात् कर सकने में असमर्थ रहे।

जिन हूण लोगों ने बहुत बड़ी संख्या में भारत पर आक्रमण कर गुप्त साम्राज्य को तहस-नहस कर दिया था, सम्भवतः उन्हीं द्वारा अग्निकुलीय राजपूत जातियों का उद्भव हुआ। पृथ्वीराज रासो में उल्लिखित एक अनुश्रुति के अनुसार पंवार, प्रतिहार,

चौहान आदि राजपूत जातियाँ अग्निकुण्ड से उत्पन्न हुई थीं, और इसीलिये उन्हें अग्नि-कुल के राजदूत कहा जाता था। भारत के प्राचीन धर्म के अनुसार यज्ञों का अनुष्ठान अग्निकुण्ड में किया जाता है। अग्निकुण्ड में यज्ञ द्वारा इन 'पापयोनि' जातियों को शुद्ध कर भारतीय समाज का अंग बना लिया गया था, पृथ्वीराज रासो की कथा इसी तथ्य की ओर संकेत करती है। भारत के प्राचीन क्षत्रिय प्रधानतया सूर्य, चन्द्र, यदु आदि वंशों के थे। अग्निकुलीय राजपूत इन प्राचीन क्षत्रियों से भिन्न हैं, और उनके साथ इनके विवाह सम्बन्ध भी नहीं होते। यह कल्पना असंगत नहीं है कि इन राजपूत जातियों का निर्माण उन विदेशी आक्रान्ताओं द्वारा ही हुआ था जिन्होंने कि इस देश के धर्म, सभ्यता और संस्कृति को अपना लिया था। गुर्जर (गूजर) और जाट सदृश कतिपय अन्य जातियों का उद्भव भी सम्भवतः विदेशी आक्रान्ता जातियों से ही है।

भारत के मध्य भाग तथा दक्षिण में जब आर्यों का विस्तार हुआ, तो इन प्रदेशों में कतिपय ऐसे लोगों का निवास था जिनके अपने स्वतन्त्र राज्य थे और जो अच्छे वीर योद्धा थे। आर्यों के सम्पर्क में आकर इन्होंने भी आर्य धर्मों तथा संस्कृति को अपना लिया था। इनके शासक वर्ग को भी चातुर्वर्ण्य के क्षत्रिय वर्ण में सम्मिलित कर लिया गया। दक्खन की कतिपय राजपूत जातियों का उद्भव वहाँ के इन्हीं पुराने निवासियों से माना जाता है।

ऊपर जो विवेचन किया गया है, उससे यह स्पष्ट है कि भारत में जातिभेद का विकास विशेष ऐतिहासिक परिस्थितियों का परिणाम है। इसमें सन्देह नहीं, कि किसी समय में इससे बहुत लाभ भी हुआ। एकतन्त्र सम्राटों के शासनकाल में भी जनपद और श्रेणी आदि के संगठनों के कारण जनता में आन्तरिक स्वतन्त्रता और 'स्वशासन' की परम्परा कायम रही। देश के राजसिंहासन पर किस वंश या किस धर्म का राजा विराजमान है, वह धर्मात्मा या दुरात्मा है, प्रजापालक या अत्याचारी है, इन बातों का प्रभाव प्राचीनकाल में सर्वसाधारण जनता पर नहीं पड़ता था, क्योंकि जनता का प्रत्यक्ष सम्बन्ध उन कानूनों व व्यवहारों से होता था, जिन्हें वे स्वयं अपने गण-जनपदों तथा श्रेणियों में बनाते थे या जो उनमें परम्परागत रूप से चले आते थे। प्राचीन भारत में शिल्पियों व व्यापारियों के संगठनों के समान ब्राह्मणों तक के संगठन (निगम) विद्यमान थे। इन संगठनों द्वारा उनकी स्वतन्त्रता पूर्णतया सुरक्षित थी। भारत में अब तक जातियों व बिरादरियों की अपनी पंचायतें हैं, उनका अपना चरित्र व व्यवहार है। सामाजिक कानून भी उनके अपने हैं। क्रियात्मक दृष्टि से वे ऐसे संगठन थे, जो राजनीतिक क्षेत्र को छोड़कर अन्य सब दृष्टियों से अपनी स्वतन्त्रता व पृथक् सत्ता रखते थे।

जाति-भेद के कारण भारत में यह भी प्रवृत्ति थी, कि शिल्प कुछ विशेष कुलों में ही सुरक्षित रहें। पुत्र अपने पिता से शिल्प का ज्ञान प्राप्त करता था। कुमारावस्था के लोग अपनी ही जाति के किसी आचार्य से अन्तेवासी रूप में शिल्प की विशेष शिक्षा प्राप्त करते थे। इसका परिणाम यह था, कि उन कुलों में शिल्प का विशेष ज्ञान विकसित होता रहता था। प्राचीन भारत में विद्या, विज्ञान, व्यापार, शिल्प आदि सभी क्षेत्रों में जो इतनी अधिक उन्नति हुई, उसका कुछ श्रेय इस जाति-भेद को भी दिया जा

सकता है, क्योंकि इसके कारण विविध जातियाँ किसी विशिष्ट क्षेत्र में ही विकास व उन्नति के लिये प्रयत्नशील रहती थीं। किसी एक क्षेत्र में ही विशिष्टता प्राप्त कर सकना इस पद्धति द्वारा सम्भव हो जाता था।

पर जाति-भेद के अनेक कुपरिणाम भी हुए। इससे भारतवासियों में संकीर्णता की भावना विकसित हो गयी। ब्राह्मण लोग अन्य जातियों के लोगों के सम्पर्क में आना अपनी प्रतिष्ठा के विरुद्ध समझने लगे। विद्या और ज्ञान ब्राह्मणों तक ही सीमित रह गये। इसका सबसे बुरा परिणाम यह हुआ, कि सर्वसाधारण शिल्पी व व्यवसायी लोग अशिक्षित रह गये। प्राचीन व मध्य कालों का भारतीय शिल्पी पाश्चात्य जगत् के शिल्पी से किसी भी तरह कम नहीं था। पर आधुनिक युग में जब यूरोप का शिल्पी नये ज्ञान और विज्ञान की सहायता से अपने शिल्प की उन्नति करने लगा, तो भारत का शिल्पी अशिक्षित होने के कारण अपनी पुरानी दशा से आगे नहीं बढ़ सका। ब्राह्मण के पास ज्ञान था, और शिल्पी के पास कला (हुनर) थी। पर इन दोनों में किसी प्रकार का सम्पर्क नहीं था। ब्राह्मण का ज्ञान अधिक-अधिक अक्रियात्मक होता गया, वह केवल सिद्धान्त की बातों में ही लगा रहा। क्रियात्मक जीवन से सम्बन्ध न होने के कारण भारत का ब्राह्मण अपने ज्ञान से कोई सांसारिक लाभ नहीं प्राप्त करा सका। विद्या के प्रकाश के अभाव में यहाँ का शिल्पी भी उन्नति की दौड़ में पीछे रह गया।

जाति-भेद का एक अन्य कुपरिणाम इस देश में यह हुआ, कि यहाँ की जनता में एकता की भावना उत्पन्न नहीं हो सकी। सब देशवासी एक हैं, एक राष्ट्र व एक समाज के अंग हैं, यह विचार यहाँ पनपने नहीं पाया। अब तक भी भारत में राष्ट्रीय एकता की जो कमी है उसका प्रधान उत्तरदायित्व इस जाति-भेद पर ही है।

इसी जाति-भेद के कारण भारतीय जनता का बहुत बड़ा भाग पददलित दशा में रहा है। ब्राह्मण और क्षत्रिय जैसे उच्च वर्णों के लोग संख्या में कम थे। बहुसंख्यक जनता उन जातियों द्वारा निर्मित थी, जिन्हें ब्राह्मण लोग नीची दृष्टि से देखते थे। इन लोगों में अपनी हीनता की भावना विकसित हो गई, और यह बात राष्ट्रीय दृष्टि से बहुत हानिकारक सिद्ध हुई।

सातवाँ अध्याय

आश्रम व्यवस्था

(१) चार आश्रम

प्राचीन भारत के सामाजिक जीवन में चार वर्णों के समान चार आश्रमों का भी बहुत महत्त्व था। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास—ये चार आश्रम माने जाते थे। इन आश्रमों की कल्पना का आधार यह विचार था, कि प्रत्येक मनुष्य चार ऋण लेकर उत्पन्न होता है। प्रत्येक मनुष्य देवताओं, ऋषियों, पितरों और अन्य मनुष्यों के प्रति ऋणी होता है। सूर्य, वरुण, अग्नि आदि देवताओं का मनुष्य ऋणी होता है, क्योंकि इन्हीं की कृपा से वह प्रकाश, जल, उष्णता आदि प्राप्त करता है। इनके बिना वह अपना जीवन-निर्वाह नहीं कर सकता। अतः मनुष्य का कर्त्तव्य है, कि वह देवताओं की पूजा करे, यज्ञ आदि द्वारा उनके ऋण को अदा करे। अपने साथ के अन्य मनुष्यों के ऋण को अदा करने के लिये अतिथि-यज्ञ का विधान था। ऋषियों के प्रति मनुष्य का जो ऋण है, उसे चुकाने का यही उपाय था, कि मनुष्य उस ज्ञान को कायम रखे व उसमें वृद्धि करे, जो उसे पूर्वकाल के ऋषियों की कृपा से प्राप्त हुआ था। इसके लिये मनुष्य को ब्रह्मचर्य-आश्रम में रहकर ज्ञान उपार्जन करना चाहिये, और बाद में वानप्रस्थ-आश्रम में प्रवेश करके अपने ज्ञान को ब्रह्मचारियों व अन्तेवासियों को प्रदान करना चाहिए। माता-पिता (पितर) के के प्रति मनुष्य का जो ऋण है, उसे गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके ही अदा किया जा सकता है। गृहस्थ-धर्म से सन्तानोत्पत्ति करके अपने पितरों के वंश को जारी रखना व वंशतन्तु का उच्छेद न होने देना प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य माना जाता था। संन्यास-आश्रम में प्रवेश करके मनुष्य अपने साथी मनुष्यों का उपकार करने में ही अपने सारे समय को व्यतीत करता था, और इस प्रकार वह मनुष्य-ऋण को अदा करता था। पर हर कोई मनुष्य संन्यासी नहीं हो सकता था। जो व्यक्ति विशेषरूप से ज्ञानवान् हो, सब प्राणियों में आत्म-भावना रखने की सामर्थ्य जिसमें हो, वही संन्यासी बनकर भैक्षचर्या (भिक्षा-वृत्ति) द्वारा निर्वाह करने का अधिकारी था। संन्यासी किसी एक स्थान पर स्थिर होकर निवास नहीं करता था। उसका कर्त्तव्य था, कि वह सर्वत्र भ्रमण करता हुआ लोगों का उपकार करे। इसीलिये उसे 'परिव्राजक' भी कहते थे। वानप्रस्थ लोग शहर या ग्राम से बाहर बनाकर रहते थे और वहाँ ब्रह्मचारियों को विद्यादान करते थे। ब्रह्मचारी अपने घर से अलग होकर वानप्रस्थी गुरुओं के आश्रमों में निवास करते थे, और गुरुसेवा करते हुए ज्ञान का उपार्जन करते थे। गृहस्थाश्रम को बहुत ऊंची दृष्टि से देखा जाता था। वाशिष्ठ सूत्र में लिखा है, कि जिस प्रकार सब बड़ी और छोटी नदियाँ समुद्र में जाकर विश्राम पाती हैं, उसी प्रकार सब आश्रमों के मनुष्य गृहस्थ पर आश्रित रहते हैं। जैसे बच्चे अपनी माता की रक्षा में ही रक्षित रहते हैं, वैसे ही सब भिक्षुक व संन्यासी गृहस्थों की ही रक्षा में रहते हैं।

प्रत्येक आर्य से यह आशा की जाती थी, कि वह अपना सारा जीवन सांसारिक झंझटों में ही न बिता दे, अपितु, ब्रह्मचारी, गृहस्थी, वानप्रस्थी और संन्यासी होकर अपना जीवन बिताए। मानव-जीवन का अन्तिम ध्येय मोक्ष की प्राप्ति को माना जाता था, पर सांसारिक सुख भी हेय नहीं समझे जाते थे। योगशास्त्र में धर्म का लक्षण इस प्रकार किया गया है—"यतोभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः"। जिस द्वारा सांसारिक अभ्युदय और निःश्रेयस (मोक्ष) की सिद्धि हो, वही धर्म है। गृहस्थ आश्रम में रहकर मनुष्य सांसारिक अभ्युदय करे पर उसी को जीवन का परम लक्ष्य न मान ले। संसार का भोग कर स्वेच्छापूर्वक उनका त्याग कर दिया जाए, और जीवन का अन्तिम भाग अध्यात्म-चिन्तन और परोपकार में व्यतीत किया जाए। इसी प्रयोजन से मानव-जीवन के सौ वर्षों को चार भागों या आश्रमों में विभक्त किया गया था। पहले पच्चीस साल ब्रह्मचर्य आश्रम के थे, जिसमें मनुष्य को बुद्धि के विकास, शिक्षा के ग्रहण और शक्ति के संचय के लिये उद्योग करना था। पच्चीस वर्ष गृहस्थ जीवन के लिये नियत थे, जिसमें मनुष्य को धर्मपूर्वक धन का उपार्जन तथा सांसारिक सुखों का भोग करना होता था। पर इस जीवन की एक सीमा थी। पचास वर्ष का हो जाने पर गृहस्थ से यह अपेक्षा की जाती थी कि वह वन में जा कर आरण्यक आश्रमों में निवास करे और वहाँ ब्रह्मचारियों को विद्यादान करने के साथ-साथ अध्यात्म-चिन्तन में अपना समय लगाये। पचत्तर साल का हो जाने पर विशेष रूप से ज्ञानी तथा समर्थ व्यक्तियों में यह आशा की जाती थी, कि वे अपना शेष जीवन परोपकार में व्यतीत करें और सब कोई को अपने-अपने कर्त्तव्य का बोध कराएँ। संन्यास आश्रम में मनुष्य को तप, त्याग और संयम का चरम आदर्श अपने सम्मुख रखना होता था। वह पूर्णतया अकिञ्चन होकर भैक्षचर्या द्वारा जीवन निर्वाह करता था और सब इच्छाओं वासनाओं और आकांक्षाओं से ऊपर उठकर मोक्ष प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील रहता था। सब प्रवृत्तियों का त्यागकर संन्यासी निवृत्ति मार्ग को अपनाता था, और इस प्रकार वह उस लक्ष्य की प्राप्ति करने में समर्थ होता था, जिसे भारत के प्राचीन चिन्तक मानव-जीवन का परम व अन्तिम उद्देश्य मानते थे और जिसे वे 'मोक्ष' कहते थे।

(२) आश्रम व्यवस्था का विकास

वैदिक साहित्य में चारों आश्रमों का स्पष्ट रूप से उल्लेख नहीं मिलता, यद्यपि वहाँ 'ब्रह्मचारी' तथा 'ब्रह्मचर्य' शब्द अनेक स्थलों पर आये हैं और 'यति' शब्द का प्रयोग भी हुआ है। यति का अभिप्राय संन्यासी से ही है। पर वैदिक संहिताओं के अतिरिक्त ब्राह्मण-ग्रन्थों, आरण्यकों और उपनिषदों के रूप में जो प्राचीन वैदिक साहित्य है, उसमें चारों आश्रामों की सत्ता के अनेक संकेत विद्यमान हैं। ऐतरेय ब्राह्मण के एक संदर्भ में यह कहा गया है कि ब्रह्मचर्य आश्रम को पूर्ण कर 'गृही' (गृहस्थ) बने, गृही जीवन बिताकर 'वनी' '(वानप्रस्थ)' बने, और फिर 'वनी' होने के बाद परिव्राजक (संन्यासी) बन जाए। ऋग्वेद में गृहस्थ के लिए गृहपति शब्द प्रयुक्त हुआ है, और संन्यासी के लिये 'यति'। बृहदारण्यकोपनिषद् में महर्षि याज्ञवल्क्य ने अपनी पत्नी मैत्रेयी से कहा है कि मैं अब परिव्राजक बन रहा हूँ। पर जिन संज्ञाओं द्वारा बाद में चार आश्रमों का प्रतिपादन

किया जाने लगा, उनका सर्वप्रथम उल्लेख जाबालोपनिषद में मिलता है। सम्भवतः, प्राचीन भारत में चार आश्रमों की कल्पना धीरे-धीरे विकसित हुई थी, और उपनिषदों के निर्माण काल तक आश्रम व्यवस्था का पूर्ण रूप में विकास हो गया था। यही कारण है कि सूत्र-ग्रन्थों, पुराणों, महाभारत और स्मृतियों में चारों आश्रमों का स्पष्ट तथा विशद रूप से प्रतिपादन किया गया है और यह भी बताया गया है कि चारों आश्रमों के क्या-क्या धर्म व कर्त्तव्य हैं।

बौधायन धर्म सूत्र के अनुसार आश्रम व्यवस्था का प्रारम्भ प्रह्लाद के पुत्र कपिल द्वारा किया गया था। वहाँ लिखा है कि देवताओं की स्पर्धा में मनुष्यों ने इसका सूत्रपात किया था। देवता यह मानते थे कि आश्रम व्यवस्था उन्नत और विकसित समाज के लिये आवश्यक है, अतः दूसरों को भी उसे अपनाना चाहिए। चातुर्वर्ण्य के समान चार आश्रमों का उद्गम भी प्राचीन चिन्तकों ने ब्रह्मा से माना है। महाभारत, ब्रह्माण्ड पुराण और वायु-पुराण में आये एक श्लोक के अनुसार ब्रह्मा द्वारा चार वर्णों के समान चार आश्रमों की भी स्थापना की गई थी। इन आश्रमों के नाम वहाँ गृहस्थ, ब्रह्मचर्य-वानप्रस्थ और भिक्षुक दिये गये हैं। संन्यासी के लिये ही वहाँ भिक्षुक शब्द का प्रयोग किया है। मनुष्य अपने जीवन की किस आयु में किन-किन कर्मों का सम्पादन किया करे, इसका स्पष्ट रूप से निरूपण करने के लिये ही मानव-जीवन को चार भागों में विभक्त किया गया, उन्हें ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास नाम दिये गये, और उनके कर्म निर्धारित कर दिये गये। राजा का यह भी कर्त्तव्य माना जाता था, कि मनुष्यों को अपने-अपने वर्ण-धर्मों का पालन करने के साथ-साथ आश्रम-धर्मों के पालन के लिये भी प्रेरित करे, ताकि सब कोई अपने-अपने आश्रम-धर्मों में भी स्थिर रहें। इसीलिये ब्रह्माण्ड पुराण में कहा गया है कि राजा सगर के राज्य में आश्रम-धर्मों का अविकल रूप से पालन किया जाता था, और छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार आश्रम धर्म के पालन से पुण्य लोक की प्राप्ति होती है। यह माना जाता था कि यदि कोई मनुष्य आश्रम-धर्म से भ्रष्ट हो जाए, उसका पालन न करे, तो उसे यातनाएँ उठानी पड़ती हैं। वायुपुराण में तो यहाँ तक कहा गया है कि जो मनुष्य आश्रम-धर्म से 'मुक्त-चित्त' हो जाए या जिसका मन आश्रम-धर्म के पालन में न लगे, उसे कुम्भीपाक नरक में जाना पड़ता है। इसमें सन्देह नहीं कि उत्तर-वैदिक काल तक भारत में आश्रम व्यवस्था भली-भाँति स्थापित हो चुकी थी, और इस देश के चिन्तकों की सम्मति में समाज के लिये वर्ण-धर्म के समान आश्रम-धर्म का पालन भी बहुत आवश्यक हो गया था।

पर प्रश्न यह है कि क्या आर्य जनपदों के सब निवासी वस्तुतः आश्रम-धर्मों का पालन किया करते थे? प्राचीन भारत का ऐसा साहित्य उपलब्ध नहीं है, जिसके आधार पर इस प्रश्न का समुचित उत्तर दिया जा सके। धर्म-सूत्रों और स्मृतियों आदि में एक आदर्श समाज का चित्र उपस्थित किया गया है, जो वर्णाश्रम धर्म पर आधारित है। पर वस्तुतः प्राचीन भारतीय समाज का क्या स्वरूप था, इस सम्बन्ध में कुछ जानकारी बौद्ध साहित्य से प्राप्त की जा सकती है। विशेषतया, जातक कथाएं और गौतम बुद्ध के संवाद तत्कालीन समाज पर अच्छा प्रकाश डालते हैं। बौद्ध साहित्य में गृहस्थ के लिये 'गहपति'

(गृहपति) शब्द का प्रयोग किया गया है। गहपति सब स्थिति के होते थे, अनाथपिण्डक के समान कोटि-कोटि धन के स्वामी भी और साधारण गृहस्थ भी, जो विविध प्रकार के व्यवसायों, कृषि व व्यापार आदि से अपने जीवन का निर्वाह किया करते थे। बुद्ध की शिक्षाओं को स्वीकार कर लेने वाले गृहपति 'उपासक' कहाते थे, और जब तक वे गृहस्थ की जिम्मेवारियों को पूर्णरूप से त्यागकर भिक्षु व्रत ग्रहण न कर लें, उन्हें गृहपति ही माना जाता था। बौद्ध काल के समाज में दो अन्य वर्गों की सत्ता थी, जिन्हें भिक्षुक (भिक्षु) और परिब्बाजक (परिव्राजक या संन्यासी) कहते थे। बुद्ध द्वारा भिक्षु संघ का संगठन किया गया था, और कोई भी व्यक्ति भिक्षु व्रत ग्रहण कर संघ का सदस्य हो सकता था। यह आवश्यक नहीं था, कि ब्रह्मचर्य और गृहस्थ आश्रमों के धर्मों का पालन करने के पश्चात् ही भिक्षु बना जाए। किशोरवय के एवं युवा व्यक्ति भी भिक्षु बन सकते थे। स्त्रियों को भी भिक्षु बनने का अधिकार था, और वे भिक्षुणी-संघ में सम्मिलित हो सकती थीं। इसका यह परिणाम हुआ, कि सभी आयु के स्त्री पुरुष आर्थिक उत्पादन व धन उपार्जन की चिन्ता को त्याग कर बहुत बड़ी संख्या में भिक्षु का जीवन बिताने के लिये तत्पर होने लगे और प्राचीन आश्रम मर्यादा कायम नहीं रह सकी। परिव्राजक भिक्षुओं से भिन्न थे। ये अनेक सम्प्रदायों के होते थे, और प्राचीन परम्परा के अनुसार ऐसे परिव्राजकों या संन्यासियों की भी सत्ता थी जिन्होंने कि गृहस्थ और वानप्रस्थ आश्रमों के पश्चात् प्रव्रज्या ग्रहण की थी।

मौर्य युग में आश्रम व्यवस्था के स्वरूप की जानकारी के अधिक प्रामाणिक साधन विद्यमान हैं। कौटलीय अर्थशास्त्र और ग्रीक यात्रियों के विवरणों द्वारा आश्रमों का जो चित्र हमारे सम्मुख उपस्थित होता है, वह अधिक स्पष्ट है। कौटल्य ने चारों आश्रमों के 'स्वधर्म' इस प्रकार निरूपित किये हैं—ब्रह्मचारी का स्वधर्म स्वाध्याय, अग्निकर्म (यज्ञ), अभिषेक, भैक्षव्रत (भिक्षा द्वारा निर्वाह), आचार्य (गुरु) के प्रति प्राणान्तिकी (चाहे उसमें प्राण तक क्यों न चले जाएँ) वृत्ति (सेवा या भक्ति) हैं। आचार्य के अभाव में ब्रह्मचारी के लिये यह आवश्यक समझा जाता था कि वह गुरुपुत्र व अपने सब्रह्मचारी के प्रति यही वृत्ति रखे। गृहस्थ के स्वधर्म अपने कर्म (पेशे या धन्धे), द्वारा आजीविका कमाना, तुल्य स्थिति के ऐसे परिवार में विवाह करना जिसका ऋषि (गोत्र) अपने परिवार के ऋषि से भिन्न हो, ऋतुगामित्व (पत्नी के साथ मासिक धर्म के पश्चात् सहवास) और देवता, पितर, अतिथि तथा भृत्यों के प्रति कर्त्तव्यों का पालन करने में अपनी आमदनी का व्यय करना, और इसके पश्चात् जो शेष बचे उससे अपना निर्वाह करना है। वानप्रस्थ के स्वधर्म ब्रह्मचर्यपूर्वक रहना, भूमि पर शयन करन, जटा धारण करना, अजिन (मृगचर्म) ओढ़ना, अग्निहोत्र तथा अभिषेक करना, देवता, पितर तथा अतिथियों की पूजा करना और वन्य आहार (जंगल से प्राप्त वाले भोज्य पदार्थों) द्वारा निर्वाह करना है। परिव्राजक के स्वधर्म इन्द्रियों पर पूर्ण संयम रखना, अनारम्भ (कोई भी पेशा या धन्धा न करना), निष्किञ्चनत्व (कोई भी सम्पत्ति न रखना), सङ्गत्याग (किसी की भी संगति न करना या अन्य लोगों के साथ मिलकर न रहना), अनेक स्थानों से भिक्षा ग्रहण कर निर्वाह करना, जंगल में निवास करना तथा बाह्य और

आभ्यन्तर पवित्रता रखना है। कौटल्यने जिस ढंग से चारों आश्रमों के कार्यों या स्वधर्मका निरूपण किया है, वह स्मृतिग्रन्थों से अनेक अंशों में भिन्न है। कौटल्य की दृष्टि में गृहस्थ आश्रम का महत्त्व बहुत अधिक था। इसीलिये उन्होंने सबसे पूर्व गृहस्थ के स्वधर्म का ही प्रतिपादन किया है। उनकी सम्मति में जैसे प्रत्येक मनुष्य को अपने वर्ण के स्वधर्म में स्थिर रहना चाहिए, वैसे ही यह भी आवश्यक है कि सब कोई अपने-अपने आश्रम-धर्म का भी अविकल रूप से पालन करें। स्वधर्म का पालन करना कौटल्य की सम्मति में बहुत उपयोगी है, और राज्यसंस्था का एक महत्त्वपूर्ण कार्य यह है, कि वह सबको वर्ण-धर्म और आश्रम धर्म में स्थित रखे। प्रत्येक मनुष्य के लिये यह आवश्यक समझा जाता था, कि वह सोलह वर्ष तक ब्रह्मचारी रहकर विद्याध्ययन में व्यापृत रहे, और इस प्रकार अपने शरीर, मन तथा बुद्धि को भली-भाँति विकसित कर गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करे। गृहस्थ की अनेकविध उत्तरदायिताएँ होती थी। न केवल अपनी पत्नी और सन्तान का पालन करना ही उसका कर्त्तव्य था, पर उसके लिये यह भी आवश्यक था कि वह अपनी माता, पिता, नाबालिग भाई-बहन और अपने परिवार की विधवा स्त्रियों का भी भरण-पोषण करे। जो ऐसा न करे, उसके लिये बारह पण दण्ड का विधान था।

कौटल्य ने इस बात पर बहुत जोर दिया है, कि कोई भी मनुष्य अपने इन कर्त्तव्यों की उपेक्षा न कर सके। इसी कारण उन्होंने यह व्यवस्था की है, कि यदि कोई मनुष्य अपनी पत्नी और सन्तान के भरण-पोषण की समुचित व्यवस्था किये बिना ही प्रव्रज्या ग्रहण करे (परिव्राजक बने), तो उसे पूर्वसाहस दण्ड दिया जाए। यही दण्ड उस व्यक्ति के लिये भी है, जो किसी स्त्री को प्रव्रज्या दे। केवल ऐसे मनुष्य ही परिव्राजक बन सकें, जिनकी सन्तान उत्पन्न करने की शक्ति नष्ट हो गई हो, और जिन्होंने धर्मस्थों (धर्मस्थ न्यायालयों के न्यायाधीशों) से परिव्राजक होने की अनुमति प्राप्त कर ली हो। जो ऐसा न करे, उसे दण्ड दिया जाए। साथ ही, कौटल्य ने यह भी व्यवस्था की है, कि किसी ऐसे परिव्राजक को जनपद में न आने दिया जाए, जिसने कि वानप्रस्थ हुए बिना प्रव्रज्या ग्रहण कर ली हो। मौर्ययुग से कुछ समय पूर्व छठी सदी ई० पू० में भारत में अनेक नये धार्मिक सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ था, जिनमें बौद्ध, जैन और आजीवक प्रधान थे। इन धर्मों के अनुयायी प्राचीन आश्रम-मर्यादा का पालन नहीं करते थे। आर्य शास्त्रों के अनुसार चार आश्रम मानव जीवन की चार सीढ़ियों के समान हैं। ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने के अनन्तर ही युवक और युवतियाँ गृहस्थ होने का अधिकार प्राप्त करते हैं। पर मनुष्य को अपना सारा जीवन गृहस्थ आश्रम में ही नहीं बिता देना चाहिए। परिवार के प्रति कर्त्तव्यों का पालन कर चुकने के पश्चात् मनुष्य को वानप्रस्थी भी बनना चाहिए और अन्त में संन्यास लेकर अकिंचन वृत्ति भी स्वीकार करनी चाहिए। पर बौद्ध सदृश सम्प्रदायों के अनुयायी इस आश्रम मर्यादा का पालन नहीं करते थे। बौद्ध लोग किसी भी आयु में प्रव्रज्या ग्रहण कर भिक्षु बन सकते थे। इसका परिणाम यह हुआ, कि हजारों लाखों किशोर वय के व्यक्ति भिक्षु बनकर जीवन व्यतीत करने लगे, और उन्होंने गृहस्थ धर्म की उपेक्षा करना प्रारम्भ कर दिया। प्राचीन सनातन पौराणिक धर्म के अनुयायियों पर

भी इसका प्रभाव पड़ा, और धर्मसूत्रों के आचार्यों ने भी यह व्यवस्था कर दी, कि जब भी वैराग्य उत्पन्न हो जाए, मनुष्य परिव्राजक बन जाए, चाहे वह ब्रह्मचर्य आश्रम में हो और चाहे गृहस्थ या वानप्रस्थ आश्रम में। पर यह बात कौटल्य को पसन्द नहीं थी। इसी कारण उन्होंने यह व्यवस्था की थी, कि केवल ऐसे मनुष्य ही परिव्राजक बन सकें, जिन्होंने कि अपनी सन्तान, पत्नी और सब कुटुम्बी-जनों के भरण-पोषण की समुचित व्यवस्था कर दी हो, जिनकी सन्तान उत्पन्न करने की शक्ति नष्ट हो चुकी हो, और जिन्होंने प्रव्रज्या लेने के लिये धर्मस्थ से अनुमति प्राप्त कर ली हो।

कौटल्य को स्त्रियों का परिव्राजिका बनना भी पसन्द नहीं था। मौर्ययुग से पूर्व बहुत-सी स्त्रियों ने भी प्रव्रज्या ग्रहण कर भिक्षुणी बनना प्रारम्भ कर दिया था, और भिक्षुणियों के पृथक् संघ भी स्थापित हो गये थे। इस दशा में कौटल्य को यह व्यवस्था करने की आवश्यकता हुई थी, कि यदि कोई स्त्रियों को परिव्राजिका बनाए, तो उसे पूर्वसाहस दण्ड दिया जाए। पर इस व्यवस्था के होते हुए भी मौर्ययुग में परिव्राजिकाओं का सर्वथा अभाव नहीं था। कौटलीय अर्थशास्त्र में ऐसी परिव्राजिकाओं का उल्लेख आया है, जिनका उपयोग गूढ़पुरुषों या गुप्तचरों के रूप में किया जाता था।

ग्रीक लेखकों के विवरणों से भारत के संन्यासियों (परिव्राजकों) के जीवन के सम्बन्ध में जो परिचय मिलता है, वह महत्त्व का है। जब सिकन्दर भारत को आक्रान्त करता हुआ तक्षशिला पहुँचा, तो उसे ज्ञात हुआ कि वहाँ पन्द्रह ऐसे संन्यासी निवास करते हैं जो कि सांसारिक जीवन का परित्याग कर तपस्या, ध्यान और समाधि में अपना सब समय व्यतीत करते हैं। सिकन्दर की इच्छा थी कि इनसे भारतीय योगियों की साधना-विधि के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करे। जब ओनेसिक्रितस सिकन्दर की ओर से इन संन्यासियों से मिला, तो उनमें से एक ने उससे कहा—अश्वारोहियों के लम्बे चोगे और ऊँचे बूट पहनकर कोई व्यक्ति साधनाविधि को नहीं जान सकता। यदि सचमुच इसे जानने की इच्छा हो, तो सब वस्त्र उतारकर गरम चट्टानों पर हमारे साथ बैठना होगा। ग्रीक लेखकों ने एक अन्य वृद्ध संन्यासी का उल्लेख किया है, जिसका नाम दण्डी (दण्ड-मिस) था। वह जंगल में एक पर्ण कुटी में निवास करता था, और बहुत-से लोग उसके शिष्य थे। सिकन्दर ने ओनेसिक्रितस को उसे बुलाने के लिये भेजा। दण्डी के पास जाकर ओनेसिक्रितस ने कहा—"परमशक्तिसम्पन्न द्यौः (Zeus) देवता के पुत्र सिकन्दर ने तुम्हें बुलाया है। वह सब मनुष्यों का स्वामी व अधीश्वर है। यदि तुम उसके आदेश को स्वीकार कर उसके पास चले चलोगे, तो वह अमूल्य उपहारों से तुम्हें संतुष्ट कर देगा। पर यदि तुम उसका कहना नहीं मानोगे, तो वह तुम्हारा सिर धड़ से अलग करा देगा।" दण्डी ओनेसिक्रितस की बात को शान्तिपूर्वक सुनता रहा, और फिर उपेक्षापूर्वक हँसते हुए कहा—"जो ईश्वर सबका अधिपति है वह कभी किसी का बुरा नहीं करता। ज्योति, जीवन, शान्ति, जल, शरीर और आत्मा का वही स्रष्टा है। मैं उस ईश्वर का उपासक हूँ, जो युद्ध नहीं करता और जिसे हत्या से घृणा है। सिकन्दर ईश्वर नहीं है, क्योंकि उसे भी एक दिन मरना है। वह अपने को संसार का स्वामी कैसे समझ सकता है, क्योंकि अभी तो वह टाइबराबोग्रस नदी के परले पार तक भी नहीं पहुँचा है।......और यह भली-भाँति

समझ लो कि सिकन्दर मुझे जिन उपहारों का लालच दिखा रहा है, मेरी दृष्टि में उन का कोई महत्त्व नहीं है, मेरे लिये वे सर्वथा निरुपयोगी हैं। जिन चीजों का मेरे लिये महत्त्व है, वे ये पत्ते हैं जिनसे मेरी पर्णकुटी का निर्माण हुआ है, ये पौदे हैं जिनसे मुझे भोजन प्राप्त होता है, और यह जल है जिससे मैं अपनी प्यास बुझाता हूं। संसार के लोग जिन वस्तुओं का बड़े यत्न से संग्रह करते हैं, मेरे लिये उ.का कोई भी उपयोग नहीं है। उनसे मनुष्य को केवल चिन्ता और दुःख की ही प्राप्त होती है। मैं पर्णशय्या पर निश्चिन्त होकर विश्राम करता हूँ। मेरे पास कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है, जिसकी रक्षा की मुझे चिन्ता करनी पड़े। इसलिये जब मैं पर्णशय्या पर लेटकर निश्चिन्तता के साथ आँखें मूंद लेता हूँ, तो मुझे बड़ी शान्ति की नींद आ जाती है। पर यदि मेरे पास भी सोना होता और उसकी रक्षा की मुझे चिन्ता होती, तो ऐसी सुख की नींद मुझे कैसे आ सकती।...
...मैं जहाँ चाहूँ निश्चिन्त होकर जाता-आता हूँ। सिकन्दर मेरा सिर तो काट सकता है, पर मेरी आत्मा को नष्ट कर सकना उसकी शक्ति में नहीं है।......सिकन्दर अपना डर उन लोगों को दिखाए, जिन्हें सोने और सम्पत्ति की चाह हो और जो मौत से डरते हों। हम ब्राह्मण न मौत से डरते हैं, और न हमें सम्पत्ति से कोई प्रेम है। इसलिये तुम सिकन्दर को जाकर यह कहो कि जो कुछ तुम्हारे पास है जो तुम दूसरों को दे सकते हो, दण्डी को उसकी कोई भी आवश्यकता नहीं है। इसलिये वह सिकन्दर के पास नहीं जाएगा। पर यदि सिकन्दर दण्डी से कुछ प्राप्त करना चाहे, तो वह मेरे पास आ सकता है।" ओनेसिक्रितस से दण्डी की जो बातचीत हुई थी, उसे सुनकर सिकन्दर दण्डी से भेंट करने के लिये उत्सुक हो गया। जो सिकन्दर कितने ही देशों को जीतकर अपने अधीन कर चुका था, वह इस वृद्ध और नग्न ब्राह्मण संन्यासी से परास्त हो गया था और उसने अनुभव कर लिया था कि भारत में सन्यासी महात्माओं का एक ऐसा वर्ग विद्यमान है, जो न मौत से डरता है और जो न धन सम्पत्ति की लालच में आ सकता है। संन्यासी की दृष्टि में मिट्टी और सोने में कोई भी अन्तर नहीं होता, अकिञ्चनता को ही वह अपनी सम्पत्ति मानता है, सांसारिक सुखों का परित्याग कर वह तप, योगाभ्यास और अध्यात्मचिन्तन में ही अपने समय को व्यतीत करता है, और मोक्ष प्राप्ति को अपना लक्ष्य बनाता है। चौथी सदी ईस्वी पूर्व में जब सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया था, तो दण्डी सदृश बहुत-से संन्यासी इस देश में विद्यमान थे, यह भरोसे के साथ कहा जा सकता है।

बौद्ध और जैन धर्मों के कारण भारत में ऐसे लोगों की संख्या बढ़ गई थी, जो गृहस्थ आश्रम में प्रवेश न कर भिक्षुव्रत ग्रहण कर लेते थे और अपनी आजीविका के लिये दूसरों पर निर्भर रहा करते थे। यही कारण था, जो आचार्य चाणक्य को यह व्यवस्था करने के लिये विवश होना पड़ा था कि कोई व्यक्ति तभी परिव्राजक या भिक्षु बन सके जबकि सन्तान उत्पन्न करने की उसकी शक्ति नष्ट हो चुकी हो और उसने परिवार के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन कर लिया हो। मौर्यवंश के पतन के पश्चात् जब बौद्ध धर्म के विरुद्ध प्रतिक्रिया होकर प्राचीन वैदिक धर्म का पुनसत्थान हुआ, तो उस काल के चिन्तकों ने गृहस्थ आश्रम को बहुत महत्त्व दिया। महाभारत जिस रूप में आजकल उपलब्ध है, उसका निर्माण शुङ्गकाल में ही हुआ था। अतः उसके अनेक संदर्भ आश्रम

व्यवस्था के प्रति उस युग के रुख पर अच्छा प्रकाश डालते हैं। शान्ति पर्व (महाभारत) के अनुसार जैसे सब प्राणी अपने जीवन के लिए माता पर आश्रित होते हैं, वैसे ही अन्य सब आश्रमों की स्थिति का आधार गृहस्थ आश्रम ही है। शान्तिपर्व के ही एक प्रकरण में वह वार्तालाप संकलित है, जो विदेह के राजा जनक का अपनी पत्नी के साथ उस अवसर पर हुआ था, जबकि जनक विरक्त होकर संन्यास ले लेने का विचार कर रहे थे। जनक की भार्या ने अपने पति को यह समझाने का प्रत्यन किया कि वे संन्यास व्रत ग्रहण करते हुए अपने कर्त्तव्य से विमुख हो रहे हैं। कर्त्तव्य पालन से विमुख होकर संन्यासी होने वाले व्यक्तियों की उपमा इस प्रसंग में उन कुत्तों में दी गई है, जो भोजन की आशा में सबके मुखों की ओर देखते रहते हैं। शान्ति पर्व में ही एक कथा दी गई है, जिसमें कि अजातक्ष्मश्रु (जिनकी दाढ़ी मूंछ अभी न आयी हो और जो किशोरवय के हों), भिक्षुओं ने इन्द्र के समझाने पर गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करना स्वीकार कर लिया था। महाभारत युद्ध की समाप्ति पर अपने बन्धुबान्धवों के विनाश पर युधिष्ठिर को बहुत संताप हुआ। उनको वैराग्य होने लगा, और उन्होंने भिक्षुवृत्ति ग्रहण करने का विचार किया। इस पर अन्य पाण्डवों ने उन्हें समझाया, और वैरागी होकर भिक्षु या संन्यासी बन जाने की बहुत हँसी उड़ाई। अर्जुन ने तो इस विचार को 'पापिष्ठा-वृत्ति' तक कह डाला। भीमसेन ने यह कहा कि जो मनुष्य अकेला रह कर पुत्रों, पौत्रों देव-ताओं, ऋषियों और अतिथियों का भरण-पोषण नहीं करता, उसमें और जंगली पशुओं में क्या अन्तर है ? क्या जंगली मृग व शूकर और पक्षी कभी स्वर्ग व मोक्ष को प्राप्त कर सकते हैं ? पहाड़ और वृक्ष अकेले खड़े रहते हैं, उनके लिये कोई सांसारिक झंझट नहीं होते। पर क्या वे मोक्ष सिद्धि कर सकते हैं? मनुष्य को अपने सामाजिक कर्त्तव्यों के पालन में सदा जागरूक रहना चाहिए। तभी वह पितृऋण, देवऋण और ऋषिऋण से मुक्त हो सकता है। यह गृहस्थ आश्रम द्वारा ही सम्भव है। जो लोग मोक्ष को अपना लक्ष्य मान कर गृहस्थ धर्म की उपेक्षा करते हैं, महाभारत के अनुसार वे निन्दनीय हैं। ये विचार उस प्रतिक्रिया के परिचायक हैं, जो मौर्योत्तर युग में बौद्ध और जैन धर्मों के विरुद्ध हुई थी। इन धर्मों द्वारा गृहस्थ आश्रम की उपेक्षा कर सब कोई को भिक्षुव्रत ग्रहण कर लेने के लिये जिस ढंग से प्रेरित किया गया था, वह मौर्ययुग के कौटल्य सदृश चिन्तकों को भी स्वीकार्य नहीं था, और शुङ्ग काल में तो उसका बहुत ही तीव्र रूप से विरोध किया गया था।

पर बौद्धों द्वारा भिक्षु जीवन को जो बल मिला था, उसका प्रभाव वैदिक धर्म के अनुयायियों पर पड़ना भी सर्वथा स्वाभाविक था। यही कारण है कि आपस्तम्ब धर्मसूत्र में यह प्रतिपादित किया गया है, कि जिस दिन भी वैराग्य हो जाए उसी दिन परिव्राजक बन जाए, चाहे तब मनुष्य वानप्रस्थ आश्रम में हो या गृहस्थ आश्रम में और या ब्रह्म-चर्य आश्रम में। आपस्तम्ब का यह वचन प्राचीन आश्रम मर्यादा के अनुरूप नहीं था, क्योंकि प्राचीन शास्त्रों के अनुसार पहले तीन आश्रमों के धर्मों का पालन कर चुकने पर ही कोई व्यक्ति संन्यास का अधिकारी हो सकता था, और संन्यास आश्रम सब वर्णों के लिये न होकर केवल ब्राह्मणों के लिये ही था। परिव्राजक को जिस त्याग, तपस्या, साधना

तथा परोपकार का जीवन बिताना होता, था वह सब कोई के लिये कदापि सम्भव नहीं। वैदिक धर्म के पुनरुत्थान के इस काल में समाज का नेतृत्व जिन ब्राह्मणों के हाथों आ गया था, वे भिक्षु और संन्यासी बने बिना गृहस्थ आश्रम में रहते हुए ही अपने धार्मिक कर्त्तव्यों का पालन किया करते थे। भिक्षु जीवन सबसे श्रेष्ठ है, और गृहस्थ सांसारिक जीवन बिताते हुए मोक्ष या निर्वाण को प्राप्त नहीं कर सकते, यह विचार बौद्धों में बहुत जोर पकड़े हुए था। इस समय इसके विरुद्ध प्रबल प्रतिक्रिया हुई। गृहस्थाश्रम सबसे श्रेष्ठ और महत्त्वपूर्ण है, गृहस्थ रहते हुए मनुष्य धर्म और समाज के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पूर्णरूप से पालन कर सकता है, इस भावना का इस युग में फिर से उदय हुआ।

केवल महाभारत में ही नहीं, अपितु पुराणों, स्मृतियों तथा अन्य प्राचीन साहित्य में भी गृहस्थाश्रम की श्रेष्ठता का प्रबल रूप से प्रतिपादन किया गया है। मनुस्मृति में लिखा है कि जैसे वायु को पाकर ही सब प्राणी जीवन धारण करने में समर्थ होते हैं, वैसे ही अन्य सब आश्रम गृहस्थ पर आधारित होकर अपनी सत्ता को कायम रख सकते हैं। ब्रह्माण्ड और विष्णु पुराणों के अनुसार अन्य सब आश्रम गृहस्थ आश्रम में ही प्रतिष्ठित हैं, अतः वही सबसे 'पर' (श्रेष्ठ) है। वायुपुराण में गृहस्थाश्रम को शेष तीनों आश्रमों की 'प्रतिष्ठायोनि' कहा गया है। मौर्योत्तर युग में जो ये विचार भारत के चिन्तकों द्वारा प्रगट किये गये, वे बौद्ध धर्म के भिक्षुजीवन के विरुद्ध प्रतिक्रिया के ही परिणाम थे।

(३) चारों आश्रमों के धर्म व कर्त्तव्य

प्राचीन धार्मिक साहित्य में चारों आश्रमों के धर्मों व कर्त्तव्यों का बड़े विशदरूप से प्रतिपादन किया गया है। कौटलीय अर्थशास्त्र के अनुसार विविध आश्रमों के जो धर्म हैं, उनका पिछले प्रकरण में उल्लेख किया जा चुका है। अब अन्य ग्रन्थों के आधार पर आश्रम-धर्मों का उल्लेख उपयोगी होगा।

ब्रह्मचर्य आश्रम—कोई व्यक्ति उपनयन (यज्ञोपवीत) संस्कार के पश्चात् ही ब्रह्मचर्य आश्रम में प्रवेश कर सकता था। उपनयन का अर्थ है, समीप ले जाना। इस संस्कार द्वारा ब्रह्मचारी गुरु से सान्निध्य प्राप्त करता था, और उसके पास रहते हुए ज्ञानोपार्जन किया करता था। उपनयन का अधिकार केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णों को ही प्राप्त था, शूद्रों को इसका अधिकार नहीं था। यह माना जाता था, कि उपनयन द्वारा मनुष्य का दूसरा जन्म होता है। जिस प्रकार माता बच्चे को नौ मास तक गर्भ में रख कर उसे जन्म देती है, उसी प्रकार गुरु ब्रह्मचारी को अपने गर्भ (सान्निध्य) में रखकर उसे दूसरा जन्म देता है। इसीलिए ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णों के लोगों को 'द्विज' या 'द्विजन्मा' भी कहा जाता था। जब वर्ण व्यवस्था का आधार जन्म माना जाने लगा, तो यह भी व्यवस्था की गई कि विभिन्न वर्णों के व्यक्तियों का उपनयन संस्कार भी भिन्न-भिन्न समयों में हो, और इस संस्कार के समय प्रयुक्त होने वाले मन्त्र भी सबके लिये भिन्न-भिन्न हों। आपस्तम्ब धर्म सूत्र के अनुसार ब्राह्मण बालक का उपनयन बसन्त ऋतु में, क्षत्रिय का ग्रीष्म ऋतु में और वैश्य का शरद् ऋतु में किया जाना चाहिए। इस संस्कार के अवसर पर ब्राह्मण के लिये गायत्री मन्त्र के, क्षत्रिय के लिए त्रिष्टुभ मन्त्र के और वैश्य

के लिये जगती मन्त्र के प्रयोग का विधान बौधायन धर्मसूत्र ने किया है। बालकों के समान बालिकाओं को भी उपनयन का अधिकार था। उपनयन संस्कार द्वारा यज्ञोपवीत धारण कर बालिकाएं और बालक आचार्य या गुरु के घरों (गुरुकुलों) में निवास करने लगते थे, और माता-पिता के घरों का परित्याग कर देते थे। विविध वर्णों के लिये उपनयन संस्कार की आयु में भी भिन्नता थी। ब्राह्मण के लिये आठवें वर्ष में, क्षत्रिय के ग्यारहवें वर्ष में और वैश्य के लिये बारहवें वर्ष में उपनयन का विधान किया गया था। ब्राह्मण बालक से यह आशा की जाती थी कि वह चिरकाल तक आचार्य कुल में निवास कर वेदों, शास्त्रों तथा सब विद्याओं का अध्ययन करेगा। सम्भवतः, इसीलिये उसे स्वल्पायु में ही ब्रह्मचर्य आश्रम में प्रवेश करना होता था। ब्रह्मचारी के लिये वेश भी नियत था। वह दो वस्त्र पहनता था, उत्तरीय और वास या अधोवस्त्र। अधोवस्त्र धोती को कहते थे और उत्तरीय दुपट्टे को। वह दण्ड और मेखला का भी धारण करता था। यज्ञोपवीत, उत्तरीय तथा अधोवस्त्र को धारण किये हुए और मेखला व दण्ड से युक्त बालक को देख कर यह सुगमता से पहचाना जा सकता था कि वह ब्रह्मचारी है।

आचार्य या गुरु के कुल में निवास करता हुआ ब्रह्मचारी भिक्षा द्वारा जीवन-निर्वाह करता था। उसका यह कर्त्तव्य माना जाता था कि प्रतिदिन भिक्षा के लिये जाए और जो कुछ भी भिक्षा में प्राप्त हो उसे गुरु के सम्मुख लाकर प्रस्तुत कर दे। भिक्षा का समय सूर्योदय के पश्चात् था। ब्राह्ममुहूर्त में उठकर ब्रह्मचारी पहले नित्य कर्मों से निवृत्त होता था, और फिर अग्निहोत्र कर भिक्षा के लिये निकल पड़ता था। गृहस्थ स्त्रियों का यह कर्त्तव्य माना जाता था कि वे अपनी सामर्थ्य के अनुसार ब्रह्मचारी को अवश्य भिक्षा दिया करें। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में लिखा है कि यदि कोई स्त्री ब्रह्मचारी को भिक्षा न दे, तो उसका सब दान-पुण्य नष्ट हो जाता है और वह सन्तान, पशु, अन्न तथा ब्रह्मवर्चस् (ज्ञान य विद्या) से विरहित हो जाती है। ब्रह्मचारी प्रायः समूह में भिक्षा के लिये समीपवर्ती बस्तियों में जाया करते थे, और गुरुकुल बस्तियों से बाहर जंगलों में हुआ करते थे। गुरु की सेवा ब्रह्मचारी का कर्त्तव्य माना जाता था। आरण्यक आश्रमों में निवास करने वाले गुरुओं के पास अपने पशु भी हुआ करते थे, जिनकी देखभाल ब्रह्मचारियों द्वारा ही की जाती थी। जंगल से समिधाएं (यज्ञ तथा भोजन के लिये आवश्यक लकड़ियाँ) एकत्र करना भी ब्रह्मचारियों का काम था। गुरुकुल में निवास करते हुए ब्रह्मचारी तप और साधना का जीवन बिताया करते थे। उनके लिए जूते पहनना, छत्र धारण करना, सुगन्धियों का प्रयोग करना, मालाएं पहनना, आँखों में अञ्जन लगाना, गाना, नृत्य करना और किसी भी प्रकार से स्त्रियों का संग करना सर्वथा निषिद्ध था। ब्रह्मचारी के लिये यह आवश्यक था कि वह इन्द्रियों को वश में रखे और यम-नियमों का भली-भाँति पालन करे। तप और संयम का जीवन बिताता हुआ ब्रह्मचारी विद्या के अध्ययन में तत्पर रहता था, और शिक्षा की समाप्ति पर ही गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करता था। ब्रह्मचर्य आश्रम की कोई अवधि निश्चित नहीं थी। मनुस्मृति के अनुसार ब्रह्मचारी ३६ वर्ष तक या उसके आधे समय (अठारह वर्ष) या चौथाई समय (नौ वर्ष) तक गुरु के पास रह कर विद्याध्ययन किया करते थे। ३६ वर्ष तक गुरुकुलों में

रह कर पढ़ने वाले विद्यार्थी आदित्य ब्रह्मचारी कहाते थे और ४८ वर्ष की आयु के लगभग गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते थे। पर साधारणतया ब्रह्मचर्याश्रम की अवधि अठारह साल के लगभग होती थी, और २५ साल की आयु में शिक्षा पूर्ण कर ली जाती थी। विद्याध्ययन की समाप्ति पर ब्रह्मचारी का समावर्तन संस्कार होता था, जिसके उपरान्त ही उसे गृहस्थ आश्रम में प्रवेश का अधिकारी माना जाता था।

गृहस्थ आश्रम—प्रायः पच्चीस साल की आयु तक ब्रह्मचारी रहकर मनुष्य विवाह करता था, और गृहस्थ होकर आर्थिक उत्पादन तथा धन के उपार्जन में अपना समय व्यतीत करता था। गृहस्थ लोगों को सुख-भोग की अनुमति थी। पर उनके लिये भी यह आवश्यक था कि वे धर्मानुकूल जीवन व्यतीत किया करें। सत्य, अहिंसा, अस्तेय, शौच (शुचिता) और इन्द्रिय निग्रह की आवश्यकता गृहस्थों के लिये भी मानी जाती थी। वे सम्पत्ति का अर्जन तथा संचय कर सकते थे, पर धर्म के अनुसार। वे धन अवश्य कमाते थे, पर उसका उपयोग केवल अपने लिये ही नहीं कर सकते थे। दान देना उनका प्रमुख कर्त्तव्य था। अन्य तीनों आश्रमों की आवश्यकताओं को गृहस्थों द्वारा ही पूरा किया जाता था, अतः गृहस्थ जो कुछ कमाते थे उसका उपयोग वे औरों के लिये भी किया करते थे। केवल अन्य आश्रमों के लोगों का ही नहीं, अपितु अन्य प्राणियों का भरण-पोषण भी गृहस्थ का कार्य समझा जाता था। अतिथि यज्ञ के साथ-साथ भूत यज्ञ या बलिवैश्वदेव यज्ञ का विधान इसी प्रयोजन से किया गया था। गृहस्थ से यह अपेक्षा की जाती थी कि वह अपनी आय द्वारा पहले देवताओं, पितरों (वृद्धजनों या समाज के सम्माननीय व्यक्तियों, जिनमें वानप्रस्थ और संन्यासी भी अन्तर्गत थे (अतिथियों और भृत्यों का भली-भाँति भरण-पोषण कर ले और उसके पश्चात् जो शेष बचे, उससे अपना निर्वाह करे। गृहस्थी अपने समय तथा शक्ति का उपयोग धन के उपार्जन के लिये अवश्य करता था, पर यह आमदनी केवल उसके अपने सुख भोग के लिये ही नहीं होती थी। अपने परिवार के अतिरिक्त उसे समाज के अन्य अंगों की आवश्यकताओं कोभी पूरा करना होता था। उसके अपने बच्चे आठ, ग्यारह या बारह साल की आयु में गुरुकुलों में चले जाते थे। उनके पालन-पोषण की कोई उत्तरदायिता अब उसके ऊपर नहीं रह जाती थी। पर जो भी ब्रह्मचारी भिक्षा के लिये उसके घर पर आ जाएं, उनको यथाशक्ति भिक्षा देना उसका कर्त्तव्य हो जाता था। वह ब्रह्मचारियों को प्रसन्नतापूर्वक भिक्षा देता था, क्योंकि वह जानता था कि उसकी अपनी सन्तान भी इसी प्रकार किसी अन्य गृहस्थ के पास भिक्षा के लिए गई होगी।

पाँच महायज्ञ—गृहस्थ के लिए पाँच महायज्ञों का विधान था। जैसा कि इसी अध्याय में ऊपर लिखा जा चुका है, प्राचीन भारतीयों का यह मन्तव्य था कि प्रत्येक मनुष्य देवताओं, पितरों, ऋषियों और अपने साथ के अन्य मनुष्यों का ऋणी होता है। इन ऋणों से उऋण होना सब मनुष्यों का अनिवार्य कर्त्तव्य है। पाँच महायज्ञों का विधान इसी प्रयोजन के किया गया था, कि इन द्वारा मनुष्य ऋणों से उऋण हो सके। देवयज्ञ, पितृयज्ञ, मनुष्ययज्ञ, भूतयज्ञ और ब्रह्म यज्ञ—ये पाँच महायज्ञ थे, जिनका अनुष्ठान गृहस्थ के लिए आवश्यक था।

सूर्य, वायु, अग्नि, पृथिवी आदि प्राकृतिक शक्तियों व प्रकृति के विविध तत्त्वों को प्राचीन भारतीय देवता के रूप में मानते थे। मनुष्य इन देवताओं का ऋणी होता है, क्योंकि सूर्य से उसे प्रकाश प्राप्त होता है, अग्नि उसे ऊष्मा प्रदान करती है, वायु उसके प्राण का आधार है, और पृथिवी से वह जीवन के लिए आवश्यक अन्न-जल प्राप्त करता है। मनुष्य इनके ऋण को देवयज्ञ द्वारा उतार सकता है। प्रतिदिन प्रातः और सायं अग्निहोत्र का अनुष्ठान कर गृहस्थ अग्निकुण्ड में अग्नि का आधान करता है, और घृत के साथ विविध सामग्री की आहुतियाँ देता है। इससे वायु शुद्ध होती है, और यज्ञकुण्ड के धूम्र से मेघ बनते हैं जिन द्वारा पृथिवी जल से सिञ्चत हो जाती है। प्राकृतिक शक्तियों से मनुष्य जो ग्रहण करता है, देवयज्ञ द्वारा वह आँशिक रूप-से उसका प्रतिदान करने का प्रयत्न करता है।

पितृयज्ञ में पितरों के प्रति सम्मान प्रगट किया जाता है और उनकी सेवा की जाती है। मनुष्य अपने पूर्व पुरुषों का ऋणी होता है, क्योंकि वह उन्हीं द्वारा जीवन प्राप्त करता है। इस ऋण से उऋण होने का एक उपाय यह है कि वह स्वयं भी सन्तान उत्पन्न कर वंशतन्तु को टूटने न दे और अपनी वंशपरम्परा को कायम रखे। प्रत्येक मनुष्य के लिए गहस्थ आश्रम में प्रवेश इसी कारण आवश्यक था। पर साथ ही उसे पूर्वपुरुषों के गुणों का स्मरण भी करना चाहिए और उनके प्रति सम्मान तथा श्रद्धा भी प्रगट करनी चाहिए। इसीलिये श्राद्ध का विधान किया गया था, जिसने कालान्तर में पितृतर्पण का रूप प्राप्त कर लिया। पर केवल अपने पूर्व पुरुष या पुरखा ही 'पितर' नहीं कहाते थे। वानप्रस्थ और संन्यासी लोग भी गृहस्थ के लिये 'पितर' थे, जिनका सम्मान करना और जिनकी भौतिक आवश्यकताओं को पूरा करना उसका कर्त्तव्य था। यह भी पितृयज्ञ द्वारा किया जाता था।

मनुष्य-यज्ञ को नृयज्ञ और अतिथियज्ञ भी कहते थे। अतिथियों का समुचित रूप से सत्कार करना गृहस्थ का आवश्यक कर्त्तव्य था। जो कोई भी अतिथि गृहस्थ के घर में आ जाए, वह किसी भी जाति का हो, चाहे परिचित हो या अपरिचित हो, सबको अपने घर ठहराना और भोजन कराना गृहस्थ का परम धर्म था। बौधायन धर्मसूत्र में लिखा है कि अतिथि चाहे प्रिय हो या अप्रिय, गृहस्थ को उसकी सेवा करनी चाहिए। जो गृहस्थ अतिथि को एक रात अपने घर पर ठहराये, वह सब पार्थिव सुखों को प्राप्त कर लेता है। अतिथि को दो रात ठहराने पर अन्तरिक्ष के सुखों की प्राप्ति होती है, तीन रात ठहराने पर दिव्य सुख प्राप्त होते हैं, चार रात ठहराने पर परावत (असीम) सुख मिलते हैं, और इससे अधिक ठहराने पर जो सुख प्राप्त होते हैं, उनका तो बखान ही नहीं किया जा सकता। यह उक्ति नृयज्ञ के महत्त्व को प्रदर्शित करने के लिये पर्याप्त हैं। नृयज्ञ का मूल तत्त्व यही है कि गृहस्थ अन्य मनुष्यों की सेवा के लिये सदा तत्पर रहे। प्राचीन समय में संन्यासी या परिव्राजक किसी एक स्थान पर न रहकर सतत भ्रमण करते रहते थे। उनके पास अपनी कोई भी सम्पत्ति नहीं होती थी। उनका एकमात्र कार्य परोपकार तथा सब कोई को सन्मार्ग का प्रदर्शन करना होता था। पर उनकी भौतिक आवश्यकताएं भी होती थीं, जो गृहस्थों द्वारा ही पूरी की जा सकती थीं। ऐसे संन्यासी जिस किसी भी

गृहस्थ के घर आ जाएं, उनकी सेवा करना, आदरपूर्वक उन्हें घर पर ठहराना और उनके भोजन आदि की व्यवस्था करना गृहस्थ का कर्त्तव्य था।

भूतयज्ञ या बलिवैश्वदेव यज्ञ द्वारा सब प्राणियों के पालन-पोषण का मनुष्य का जो कर्त्तव्य है, उसका प्रतीक रूप में पालन किया जाता था। भारत के प्राचीन विचारक प्राणिमात्र में आत्म-भावना रखा करते थे। जो विविध प्रकार के जीवजन्तु और पशुपक्षी संसार में विद्यमान हैं, वे मनुष्य के लिए केवल भोग्य ही नहीं है, अपितु उनमें भी उसी विश्वात्मा का निवास है जो मनुष्यों में है, यह विचार भारत के प्रायः सभी धार्मिक व दार्शनिक सम्प्रदायों को स्वीकार्य था। यदि मनुष्य पशुओं व अन्य प्राणियों का अपने सुख के लिए उपयोग करता है, तो उनके प्रति उसके कुछ कर्त्तव्य भी हो जाते हैं। इन्हीं कर्त्तव्यों का स्मरण कराने के लिए भूतयज्ञ का विधान किया गया था। गृहस्थ के घर में जो भी भोजन बने, उसका एक अंश विविध प्राणियों के लिए पृथक् रख दिया जाता था, और उन्हें अर्पित करके ही गृहस्थ स्वयं भोजन किया करता था।

ब्रह्म ज्ञान को कहते हैं। ब्रह्मचर्य आश्रम में रहकर मनुष्य जो ज्ञान प्राप्त करता था, गृहस्थ होकर वह उसे भुला नहीं देता था। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—तीनों वर्णों के 'स्वधर्म' में अध्ययन को भी सम्मिलित किया गया है। गृहस्थ के लिये यह आवश्यक था कि वह वेदशास्त्रों के अध्ययन में निरन्तर तत्पर रहे और स्वाध्याय से कभी प्रमाद न करे। इसी को ब्रह्मयज्ञ कहते थे। इसके दैनिक अनुष्ठान से जहाँ गृहस्थ वेदशास्त्रों की शिक्षाओं को स्मरण रखता था, वहाँ साथ ही वह धर्माचरण तथा धर्मानुकूल ढंग से धन उपार्जन के लिये भी प्रवृत्त होता था।

गृहस्थों के विविध प्रकार—प्राचीन स्मृतियों में गृहस्थों का अनेक प्रकार से वर्गीकरण किया गया है। याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार गृहस्थों के चार वर्ग हैं—(१) कुसूल धान्य—जो अपने कुटुम्ब के भरण-पोषण के लिए बारह दिनों का भोजन संचित करके रखें। (२) कुम्भ धान्य—जो अपने परिवार के लिए छः दिनों का भोजन रखें। (३) त्र्यहिक—जो केवल तीन दिनों का भोजन अपने पास रखें। (४) अश्वस्तनिक—जिसके पास केवल आज के योग्य भोजन ही हो, और कल का भोजन संचित करने का जो कोई प्रयत्न न करे। मनुस्मृति में भी इसी प्रकार से कुसूलधान्य, कुम्भधान्य, अश्वस्तनिक और कापोतीमाश्रित गृहस्थों का उल्लेख विद्यमान है। गृहस्थों के ये प्रकार सम्भवतः ब्राह्मण गृहस्थों के हैं, क्योंकि त्याग और अपरिग्रह का आदर्श ब्राह्मणों के लिए बड़े महत्त्व का था। पर प्राचीन भारतीय विचारक धन के अपरिग्रह (धन को संचित करके न रखने) को बहुत आवश्यक समझते थे। अहिंसा, सत्य, अस्तेय और ब्रह्मचर्य के समान अपरिग्रह भी एक 'यम' था, जिसका पालन करना सब कोई के लिए आवश्यक माना जाता था। मनुष्यों में धन का संचय करने की जो प्रवृत्ति है, प्राचीन विचारक उसे अनुचित मानते थे। गृहस्थ जो भोजन सामग्री उत्पन्न करे और जिस धन का उपार्जन करे, वह केवल उसके अपने या अपने कुटुम्ब के लिए ही नहीं है अपितु सम्पूर्ण समाज के लिये है, यह भावना प्राचीन समय में बहुत प्रबल थी। सम्भवतः, इसीलिए गृहस्थों के इन चार प्रकारों को आदर्श रूप में निरूपित किया गया था। यह कल्पना सहज में की

जा सकती है कि वैश्यों के लिए यह आदर्श क्रियात्मक नहीं था, यद्यपि उनसे भी यह अपेक्षा की जाती थी कि वे अपने धन या अन्न आदि को समाज की धरोहर समझकर ही अपने पास सञ्चित रखें।

वानप्रस्थ आश्रम—प्रत्येक गृहस्थ से यह अपेक्षा की जाती थी कि वृद्धावस्था के प्रारम्भ हो जाने पर वह पारिवारिक जीवन का परित्याग कर वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश कर ले। मनु ने लिखा है कि जब मनुष्य के बाल सफेद होने लगें और उसके पौत्र हो जाएँ, तो वह गृह का त्याग कर जंगल को चला जाए। जंगल जाते समय न वह कोई भोजन सामग्री अपने साथ ले जाए, और न उन कपड़ों को जिन्हें कि वह गृहस्थी के समय प्रयुक्त किया करता था। पत्नी उसके साथ वन में जाए या नहीं, यह पत्नी की इच्छा पर निर्भर था। वह पति के साथ वन में जा सकती थी, और या अपने पुत्र-पौत्रों के साथ घर पर रह सकती थी। मनुष्य को सदा घर-गृहस्थी के झंझटों में ही नहीं फंसे रहना चाहिये, अपितु वृद्ध हो जाने पर जंगल के आरण्यक आश्रमों में रहकर त्याग, तप, स्वाध्याय और विद्यादान में अपने समय को लगाना चाहिये, वानप्रस्थ आश्रम के विधान में यही विचार कार्य कर रहा होता था। मानव जीवन का उद्देश्य संसार के भौतिक सुखों का उपभोग ही नहीं है, ये सुख मनुष्य के लिये आवश्यक हैं पर एक अवधि तक ही, और मनुष्य का परम लक्ष्य मोक्ष की साधना करना है, इसी विचार को सम्मुख रखकर यह व्यवस्था की गई थी कि तीनों उच्च वर्णों के लोग वानप्रस्थ आश्रमों में प्रवेश किया करें। ब्राह्मण गृहस्थ तो पारिवारिक जीवन का त्याग कर आरण्यक आश्रमों में निवास किया ही करते थे, पर अनेक ऐसे राजाओं के उदाहरण भी प्राचीन साहित्य और शिलालेखों आदि में विद्यमान हैं जिन्होंने कि वृद्ध होने पर स्वेच्छापूर्वक राजसिंहासन का परित्याग कर मुनिवृत्ति को स्वीकार किया था। पालवंश का विग्रहपाल और सेनवंश का सामन्तसेन इसी प्रकार के राजा थे। महाकवि कालिदास ने रघुवंश के राजाओं के सम्बन्ध में लिखा है, कि वे वार्धक्य में मुनिवृत्ति ग्रहण कर लिया करते थे।

वानप्रस्थ के लिये यह आवश्यक माना जाता था कि वह इन्द्रियों को वश में रखे, ब्रह्मचर्यपूर्वक जीवन बिताए, स्वाध्याय में सदा तत्पर रहे, सबके प्रति मैत्री भाव रखे, सुख-दुःख, मान-अपमान सदृश द्वन्द्वों से ऊपर रहे, सब प्राणियों पर दया करे, दान ग्रहण न करे पर दूसरों को दान दिया करे। वानप्रस्थी को धन उपार्जन नहीं करना होता था, अतः सांसारिक सुखों की प्राप्ति का उसके लिये कोई प्रश्न ही नहीं था। वह जंगल में पर्णकुटी बनाकर रहता था। वन में जो भी मूल, फल व अन्न प्राकृतिक रूप से उत्पन्न होते हों, उनसे वह अपने शरीर का पोषण करता था और अपने परिधान के लिये भी वल्कल व मृगचर्म सदृश वन्य पदार्थों का ही प्रयोग करता था। वह सिर के बालों तथा दाढ़ी मूंछ को बढ़ाकर रखता था और क्षौर कर्म उसके लिये निषिद्ध था। पाँचों महायज्ञ उसे भी करने होते थे। अतिथि सेवा के लिये भी वह सदा तत्पर रहता था, यद्यपि अतिथि के लिये वह वही वन्य आहार जुटा सकता था जिसे वह स्वयं खाता था। तप, स्वाध्याय तथा साधना में तत्पर वानप्रस्थी लोग अध्यात्म चिन्तन में लगे रहते थे, और अपने जीवन को अत्यन्त उच्च एवं सात्विक बनाने का प्रयत्न किया करते थे। वन में उनके जो आश्रम

होते थे, उनमें बालक भी ब्रह्मचारी के रूप में अध्ययन के लिये आया करते थे और वे उन्हें विद्यादान भी किया करते थे।

संन्यास आश्रम—मानव जीवन का अन्तिम भाग संन्यास आश्रम था। यद्यपि तीनों वर्णों के लोगों को वानप्रस्थ आश्रम का अधिकार प्राप्त था, पर संन्यासी केवल ब्राह्मण ही बन सकते थे। बौद्धों और जैनों ने सब कोई को भिक्षु या मुनिव्रत ग्रहण करने की अनुमति प्रदान कर दी थी, पर प्राचीन वैदिक मर्यादा के अनुसार संन्यास का अधिकार केवल ब्राह्मणों को ही था। जिस प्रकार का अकिञ्चन जीवन संन्यासी को बिताना होता था, वह केवल उन्हीं व्यक्तियों के लिये सम्भव था जो कि पूर्णतया त्यागी हों और जिनका जीवन अत्यन्त उच्च तथा आदर्श हो। इसीलिये यह व्यवस्था की गई थी कि केवल ब्राह्मण ही परिव्राजक बन सकें। प्रायः पचहत्तर साल की आयु में संन्यास आश्रम में प्रवेश का विधान था, यद्यपि बौधायन धर्मशास्त्र में इसकी आयु सत्तर साल निर्धारित की गई है। समाज में संन्यासी की स्थिति बहुत ऊँची मानी जाती थी, अतः बहुत कम व्यक्ति ही संन्यास आश्रम के अधिकारी समझे जाते थे। मनु ने लिखा है कि जो मनुष्य तीनों ऋणों (देव ऋण, पितृ ऋण और ऋषि ऋण) से उऋण हो चुका हो, वही मोक्ष प्राप्ति के उद्देश्य से संन्यास ग्रहण करे। तीनों ऋणों से उऋण हुए बिना यदि कोई मोक्ष में मन लगाता है, तो वह नरक का भागी होता है।

क्योंकि संन्यासी को मोक्ष की साधना करनी होती थी, अतः उसे ऐसा जीवन बिताना होता था जिसमें वह राग-द्वेष तथा माया-मोह से सर्वथा पृथक् रहे। वह अञ्किचन होकर रहता था, कोई भी सम्पत्ति उसके पास नहीं होती थी। वह सबके प्रति समभाव रखता था। काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि का उसके जीवन में कोई स्थान नहीं था। वह एकाकी रहता था, सबसे पृथक् और सबमें अनासक्त। जैन साधुओं और मुनियों के लिये 'केवलित्व' के जिस आदर्श का प्रतिपादन किया गया है, उसे ही मनु ने 'एकाकी' शब्द से सूचित किया है। संन्यासी का न अपने पुत्र पौत्रों से कोई सम्बन्ध होता था और न पत्नी या भगिनी आदि से। न वह किसी के प्रति स्नेह रखता था, और न द्वेष। यमों (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह) और नियमों (शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान) का उसे अविकल रूप से पालन करना होता था। उसके लिये पंच महायज्ञों के अनुष्ठान की भी आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि वह कर्मों से ऊपर उठ जाता था। पर वेद शास्त्रों का स्वाध्याय उसके लिये भी आवश्यक था, क्योंकि इनसे उसे अपने 'धर्म' का बोध होता रहता था। वह किसी एक स्थान पर स्थायी रूप से निवास नहीं करता था, अपितु निरन्तर परिव्रजनशील होकर भ्रमण करता रहता था। कहीं भी भिक्षा माँग कर वह अपना निर्वाह कर लेता था, और गृहस्थ उसकी सेवा करने में पुण्य मानते थे। सबके उपकार के लिये प्रयत्नशील रहना और सबको मार्ग-प्रदर्शन करना संन्यासी के कार्य थे, पर इन्हें करते हुए भी वह अध्यात्म चिन्तन तथा मोक्ष साधन में प्रवृत्त रहता था।

अलबरूनी ने भारत के संन्यासियों के सम्बन्ध में कुछ बातें लिखी हैं, जो उल्लेखनीय हैं। उसके अनुसार चौथा आश्रम जीवन के अन्त तक चलता है। इस काल में मनुष्य

गेरुए वस्त्र पहनते हैं और हाथ में दण्ड रखते हैं। वे ईर्ष्या, द्वेष और शत्रु मित्र भाव से दूर और काम, क्रोध, लोभ, मोह से परे रहते हैं।...भ्रमण करते हुए वे किसी गाँव में एक दिन से अधिक नहीं ठहरते और नगर में पाँच दिन से अधिक। उन्हें जो भिक्षा मिलती है, उसमें से वे अगले दिन के लिये कुछ भी बचा कर नहीं रखते। वे मोक्ष और जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त होने के लिये प्रयत्नशील रहा करते हैं।

संन्यास आश्रम और स्त्रियाँ - पुरुषों के समान स्त्रियाँ संन्यास आश्रम में प्रवेश नहीं करती थीं। स्त्रियों को भिक्षुणी बनाने की प्रथा का प्रारम्भ सबसे पूर्व बुद्ध के द्वारा किया गया था, और उनके लिये पृथक् भिक्षुणी संघ की स्थापना की गई थी। पर प्राचीन आर्य मर्यादा के अनुसार स्त्रियाँ परिव्राजिका नहीं होती थीं। कौटल्य ने स्त्रियों को परिव्राजिका बनाने का स्पष्ट रूप से निषेध किया है। पर प्राचीन साहित्य में अनेक ऐसी स्त्रियों का उल्लेख मिलता है, जिन्हें ब्रह्मवादिनी, तपस्विनी तथा यति कहा गया है। गार्गी, मैत्रेयी, घोषा आदि कितनी ही स्त्रियों का उल्लेख उपनिषदों में आया है, जो परम विदुषी तथा ब्रह्मवादिनी थीं। ये आरण्यक आश्रमों में निवास करती थीं और अध्यात्मचिन्तन, तपश्चर्या तथा स्वाध्याय में तत्पर रहती थीं। वस्तुतः, ये स्त्रियाँ वानप्रस्थ थीं। वानप्रस्थ आश्रम का विधान स्त्रियों के लिये भी था, क्योंकि स्त्री भी अपने पति के साथ गृहस्थ जीवन का परित्याग कर वानप्रस्थ हो सकती थीं। पर कतिपय ऐसी स्त्रियों का उल्लेख भी प्राचीन साहित्य में मिलता है, जो आजीवन ब्रह्मचारिणी रहीं और तप, इन्द्रिय निग्रह और साधना द्वारा मोक्ष की प्राप्ति के लिये प्रयतन करती रहीं। रामायण में ऋषि कुशध्वज की कन्या वेदवती के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि उसने आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया था।

आठवाँ अध्याय

प्राचीन भारतीय समाज में स्त्रियों की स्थिति

(१) प्राचीन भारत में स्त्री शिक्षा

भारतीय इतिहास के अत्यन्त प्राचीन काल में स्त्रियों की स्थिति प्रायः पुरुषों के समान ही थी। स्त्री को पुरुष की सहधर्मिणी माना जाता था, और यह समझा जाता था कि स्त्री के बिना पुरुष का कोई यज्ञ व धार्मिक कृत्य पूरा नहीं हो सकता। स्त्रियाँ भी पुरुषों के समान शिक्षा प्राप्त करती थीं, और सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक जीवन में उनका हाथ बटाती थीं। कालान्तर में स्त्रियों की स्थिति हीन हो गई, वे परदे में रहने लगीं और सार्वजनिक जीवन से उनका सम्बन्ध प्रायः नष्ट हो गया। स्त्रियों की स्थिति में यह परिवर्तन किस प्रकार आया, यह ऐतिहासिक विवेचन का महत्त्वपूर्ण विषय है।

वैदिक तथा उत्तर-वैदिक काल में स्त्री शिक्षा।—वैदिक युग में स्त्रियाँ उच्च शिक्षा प्राप्त करती थीं और याज्ञिक अनुष्ठान में पुरुषों को सहयोग प्रदान करती थीं। कितनी ही स्त्रियाँ वेद मन्त्रों की ऋषि (रचयिता या द्रष्टा) भी हैं, जिनमें विश्ववारा, लोपामुद्रा, सिकता, रोमशा और घोषा के नाम उल्लेखनीय हैं। वैदिक ऋषियों में स्त्रियों का भी होना अत्यन्त महत्त्व की बात है। उनकी कृतियों को वैदिक संहिताओं में स्थान दिया गया या उन्हें भी उन ऋषियों में परिगणित किया गया जिन्होंने कि वैदिक मन्त्रों के अभिप्राय को स्पष्ट किया था। ऐतरेय ब्राह्मण में कुमारी गन्धर्वगृहीता का उल्लेख आता है, जिसे परम विदुषी तथा वक्तृता में अत्यन्त प्रवीण कहा गया है। उपनिषदों में मैत्रेयी और गार्गी नामक स्त्रियों का विवरण मिलता है, जो दर्शन, तत्त्वज्ञान, तथा तर्क में पारंगत थीं। बृहदारण्यक उपनिषद के अनुसार मैत्रेयी याज्ञवल्क्य ऋषि की पत्नी थी, जिसकी रुचि साँसारिक सुखभोग में न होकर अध्यात्मचिन्तन में थी। उसके मुख से यह कहाया गया है कि उन अलंकारों तथा भौतिक सुखों को लेकर मैं क्या करूँ, जिससे मुझे अमरत्व (मोक्ष) प्राप्त नहीं हो सकता। महाकवि भवभूति के अनुसार मैत्रेयी ने शास्त्रों की शिक्षा महर्षि बाल्मीकि से प्राप्त की थी। विदेहराज जनक की राजसभा में कुरु-पंचाल जनपदों के विद्वान् एकत्र हुआ करते थे। गार्गी भी वहाँ गई थी, और अपनी अगाध विद्वत्ता तथा तर्कशक्ति द्वारा उसने याज्ञवल्क्य जैसे प्रकाण्ड विद्वान् को शास्त्रार्थ में निरुत्तर कर दिया था। काशकृत्स्नी नामक एक विदुषी महिला ने मीमाँसा दर्शन पर एक ग्रन्थ की रचना की थी, और इस दर्शन पद्धति के विकास में विशेष रूप से योगदान दिया था। महाभारत में ब्राह्मणी काशकृत्स्नी द्वारा प्रोक्त मीमांसा का उल्लेख आया है। रामायण के अनुसार सीता प्रतिदिन वैदिक सूक्तों द्वारा प्रार्थना किया करती थी, और राम की माता कौशल्या रेशमी कपड़े पहनकर अग्निहोत्र के अनुष्ठान में तत्पर रहती थी, जिसमें कि वह स्वयं मन्त्रों का पाठ किया करती थी। महाभारत के अनुसार पाण्डवों

की माता कुन्ती अथर्ववेद में निष्णात थी। इसी प्रकार के अन्य भी अनेक उदाहरण प्राचीन साहित्य से दिये जा सकते हैं। प्राचीन भारत में स्त्रियों का विदुषी होना कोई आश्चर्य की बात नहीं थी, क्योंकि पुरुषों के समान वे भी उपनयन संस्कार कर ब्रह्मचर्य आश्रम में प्रवेश किया करती थीं और गुरुकुलों में निवास कर वेद शास्त्रों तथा विविध विद्याओं का अध्ययन करती थीं। मनुस्मृति में कन्याओं के लिये भी यज्ञोपवीत का विधान किया गया है। प्राचीन भारत में माता पिता की यह इच्छा रहती थी कि उनकी पुत्री 'पण्डिता' बने। इसीलिये बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि जो कोई यह चाहे कि मेरी दुहिता पण्डिता बने और सौ वर्ष की पूरी आयु प्राप्त करे, तो वह घी के साथ तिल और चावल पकाकर सेवन किया करे। सूत्रग्रन्थों में भी स्त्रियों द्वारा यज्ञ के अनुष्ठान का उल्लेख मिलता है, जो तभी सम्भव था जबकि वे शिक्षित हों और वेद-मन्त्रों का पाठ करने में समर्थ हों। ब्रह्मचर्यपूर्वक गुरुकुल में निवास कर और वहाँ शिक्षा पूर्ण करने के अनन्तर ही कन्याएँ युवा पति से विवाह करने की कामना किया करती थीं। इस तथ्य की पुष्टि में प्राचीन शास्त्रों का "ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्" वाक्य उल्लेखनीय है।

बौद्ध काल तथा उसके पश्चात् स्त्री शिक्षा—बौद्ध युग में भी स्त्री शिक्षा का प्रचार था, और अनेक स्त्रियों ने उच्च शिक्षा प्राप्त कर समाज में उच्च स्थिति प्राप्त की थी। थेरी गाथा में बहुत-सी ऐसी थेरियों (स्थविर-स्त्रियों) का उल्लेख है, जो कवियत्रियाँ थीं। इनमें से ३२ ऐसी थीं जो आजीवन ब्रह्मचारिणी रही थीं, और १८ ने वैवाहिक जीवन के पश्चात् भिक्षुव्रत ग्रहण किया था। इन थेरियों में शुभा, सुमेधा और अनुपमा के नाम उल्लेखनीय हैं। ये सम्भ्रान्त कुलों में उत्पन्न हुई थीं, और अनेक राजकुमार तथा श्रेष्ठि पुत्र इनसे विवाह करने के लिये उत्सुक थे। पर इन्होंने सांसारिक जीवन का परित्याग कर भिक्षुणी के रूप में जीवन व्यतीत करना स्वीकार किया था, और अपने उच्च ज्ञान के कारण ये 'थेरी' का पद प्राप्त करने में समर्थ हुई थीं। महात्मा बुद्ध की शिक्षाओं से आकृष्ट होकर बहुत-सी स्त्रियों ने भिक्षुणी बनने की इच्छा प्रगट की थी। यद्यपि पहले बुद्ध स्त्रियों को प्रव्रज्या देने के पक्ष में नहीं थे, पर बाद में उनकी उत्कट इच्छा को दृष्टि में रखकर उन्होंने स्त्रियों को भिक्षुणी बनाना स्वीकार कर लिया था, और भिक्षुणियों के लिए पृथक् संघ बनाने की व्यवस्था कर दी थी। एक जातक कथा में चार महिलाओं का वृत्तान्त दिया गया है, जो परम विदुषी थीं और देश में पर्यटन करते हुए जहाँ कहीं पहुँच जाती थीं, वहाँ विद्वानों को शास्त्रार्थ के लिये आमन्त्रित किया करती थीं। भद्रा कुण्डलकेशा राजगृह के एक श्रेष्ठी की पुत्री थी, और पहले जैन धर्म की अनुयायी थी। उसने सब शास्त्रों का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन किया था और किशोरवय में ही वह परम विदुषी हो गई थी। शास्त्रार्थ में उसे बहुत रुचि थी। वह विविध आश्रमों में जाती, और वहां के विद्वान् ब्राह्मणों से शास्त्रार्थ किया करती। बड़े-बड़े विद्वानों तथा धर्माचार्यों को उसने शास्त्रार्थ में परास्त किया था। एक बार बुद्ध के अन्यतम शिष्य सारिपुत्र से उसकी भेंट हो गई। दोनों एक-दूसरे की विद्वत्ता से परिचित थे। उनमें देर तक शास्त्रार्थ हुआ, पर अन्त में भद्रा कुण्डलकेशा सारिपुत्र से पराजित हो गई, और उसने

जैन धर्म का परित्याग कर बौद्ध धर्म की दीक्षा ले ली। इसी प्रकार की अन्य भी अनेक कथाएँ बौद्ध साहित्य में विद्यमान हैं।

संयुक्त निकाय में सुक्का नाम की एक महिला का उल्लेख है, जो वाग्मिता में अत्यन्त प्रवीण थी। वह एक भिक्षुणी थी और उसकी वक्तृत्त्व शक्ति अपने समय में अद्वितीय मानी जाती थी। जिस समय वह राजगृह में व्याख्यान देने के लिए गई, तो एक यक्ष ने सम्पूर्ण नगर निवासियों को इन शब्दों में उसके व्याख्यान की सूचना दी—'सुक्का अमृतवर्षा कर रही है, जो लोग बुद्धिमान् हैं, वे जाएँ और अमृतरस का पान करें।'

भिक्षुणी खेमा 'विनय' में पारंगत थी। वह अत्यन्त विदुषी, बुद्धिमती, वाग्मी, सुशिक्षिता और प्रतिभाशाली थी। उसकी कीर्ति इतनी विस्तृत थी कि कोशल देश का राजा पसेनदी (प्रसेनजित्) उसकी सेवा में गया और अनेक दार्शनिक विषयों पर उससे विचार-विमर्श किया। उसने खेमा से पूछा—क्या मृत्यु के पश्चात् मनुष्य का पुनर्जन्म होता है? खेमा ने उत्तर दिया—भगवान् बुद्ध ने इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा है। इस पर पसेनदी ने प्रश्न किया—बुद्ध ने इस सम्बन्ध में ज्ञान क्यों नहीं दिया? भिक्षुणी खेमा ने इस पर कहा—क्या कोई ऐसा मनुष्य संसार में है, जो गंगा की रेती के कणों की या समुद्र के जल बिन्दुओं की गिनती कर सके?' राजा ने उत्तर दिया—'नहीं'। इस पर खेमा ने कहा—'जो व्यक्ति पाँचों स्कन्धों से ऊपर उठ जाता है, वह समुद्र के समान अथाह तथा अनन्त बन जाता है। इस प्रकार के व्यक्ति की मृत्यु के पश्चात् पुनर्जन्म कल्पनानीत बात है।' राजा खेमा के इस उत्तर से बहुत प्रसन्न हुआ। उसे अपनी शंका का दार्शनिक तथा सन्तोषदायक उत्तर प्राप्त हो गया था। खेमा एक अत्यन्त उच्च कुल की महिला थी। उसका जन्म सागल के राजकुल में हुआ था, और विवाह मगध के प्रसिद्ध सम्राट् बिम्बिसार के साथ हुआ था। परन्तु महात्मा बुद्ध के संसर्ग में आकर उसने भिक्खु जीवन स्वीकृत कर लिया था और राजप्रासाद के सम्पूर्ण सुखों को ठुकरा कर वह भिक्खुनी बन गई थी।

धम्मदिन्ना राजगृह की रहने वाली थी और उसका विवाह बिशाख नामक एक समृद्ध श्रेष्ठी के साथ हुआ था। महात्मा बुद्ध के उपदेश सुनकर उसके जीवन में भारी परिवर्तन आ गया और उसने 'धम्म' का अनुशीलन करना प्रारम्भ किया। शीघ्र ही वह 'धम्म' में पारंगत हो गई और महात्मा बुद्ध उससे बहुत प्रसन्न हुए। उसे उन भिक्खुनियों में सर्वप्रधान माना जाता था, जो महात्मा बुद्ध की शिक्षाओं का प्रचार करने के लिये उपयुक्त क्षमता रखती थीं। उसने अपने जीवन के बड़े भाग को इसी महत्त्वपूर्ण कार्य में व्यतीत किया था।

संघमित्ता तीनों विद्याओं में पारंगत थी। वह तन्त्रविद्या में प्रवीण मानी जाती थी। 'विनय पिटक' का अध्ययन उसने इतनी गम्भीरता के साथ किया था कि वह उसका अध्यापन भी बड़ी योग्यता के साथ कर सकती थी। उसने अनुराधपुर में विनयपिटक का अध्यापन किया भी था। इसी प्रकार अंजली भी विविध विद्याओं में निष्णात विदूषी थी। वह भी सङ्घमित्ता के समान विनय-पिटक में इतना पाण्डित्य प्राप्त कर चुकी थी कि दूसरों को इसकी शिक्षा दे सकती थी। अन्य भी अनेक महिलाएँ बौद्ध धर्म-ग्रन्थों की

पारंगत पण्डिताएँ थीं। उत्तरा, काली, सुपत्ता, चन्ना, उपाली और रेवती आदि अनेक महिलाओं के सम्बन्ध में बौद्ध ग्रन्थों में यह बात उल्लिखित है कि वे विनय पिटक में पारंगत थीं और उसका अध्यापन सफलता के साथ कर सकती थीं।

नन्दुत्तरा विद्या और शिल्प में प्रवीण थी। पाटच्चरा उन सब स्त्रियों में शिरोमणि मानी जाती थी, जिन्होंने विनय पिटक का अवगाहन किया था। इसी प्रकार अन्य भी अनेक महिलाओं के नाम यहाँ उल्लिखित किये जा सकते हैं, पर उसकी कोई आवश्यकता नहीं है।

जब हम बौद्ध साहित्य का अनुशीलन करते हैं, तो हमें इन सब तथा अन्य अनेक विदुषी महिलाओं के सम्बन्ध में बहुत-सी बातें ज्ञात होती हैं। उस काल में स्त्रियों को भी पुरुषों के समान शिक्षा प्राप्त करने की सुविधाएँ प्राप्त थी, उनकी शिक्षा को एक असम्भव तथा व्यर्थ की बात नहीं माना जाता था। अन्यथा, इतनी सुशिक्षित महिलाओं का बौद्ध धर्म में पारंगत होना तथा उसके प्रचार के लिए प्रयत्न करना अद्भुत प्रतीत होता है। उस समय की स्त्रियाँ अपने को समाज का एक महत्त्वपूर्ण अंग समझती थीं, औरसमाज में उनकी स्थिति सम्मानास्पद थी। यही कारण है कि राजगृह जैसे प्रसिद्ध नगर में उनके खुले रूप में व्याख्यान हो सकते थे, और पसेनदी जैसे राजा अपनी शंकाओं का निवारण करने के लिए उनकी सेवा में उपस्थित हुआ करते थे। उस समय की स्त्रियों ने ही महात्मा बुद्ध को इस बात के लिये विवश किया था कि वे स्त्रियों के लिए पृथक् संघ की व्यवस्था करें।

बौद्ध काल में स्त्रियाँ बाकायदा शिक्षा ग्रहण करती थीं, इसका परिचय इस बात से मिलता है कि दिव्यावदान में स्त्री-छात्राओं का भी उल्लेख किया गया है।

पुरुषों के समान स्त्रियाँ भी शिक्षिका का कार्य किया करती थी। पतंजलि ने ऐसी स्त्रियों को 'उपाध्याया' की संज्ञा दी है। महाभाष्य के अनुसार जिसके पास जाकर अध्ययन किया जाए, उसे 'उपाध्याया' कहते हैं। पाणिनि की अष्टाध्यायी के एक सूत्र से यह संकेत मिलता है, कि छात्राओं की भी शालाएँ (विद्यालय) प्राचीन काल में विद्यमान थीं। पर बालकों और बालिकाओं की सहशिक्षा की प्रथा भी प्राचीन भारत में प्रचलित थी। महर्षि वाल्मीकि के आश्रम में लव और कुश के साथ आत्रेयी ने भी शिक्षा प्राप्त की थी। वाल्मीकि के आश्रम से शिक्षा को पूर्ण कर आत्रेयी दण्डकारण्य चली गई थी, और वहाँ अगस्त्य मुनि के आश्रम में रहकर उसने वेदान्त दर्शन का अध्ययन किया था। भवभूति के मालती माधव नाटक से सूचित होता है कि भूरिवसु तथा देवराट् के साथ कामान्दकी भी विद्या का अध्ययन करती थी। पुराणों में ऐसी बहुत-सी स्त्रियों का उल्लेख मिलता है, जो 'ब्रह्मवादिनी' थीं। इनमें अपर्णा, एकपर्णा, एकपटला, मेना, धारिणी, संनति, शतरूपा आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। 'ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्' मन्तव्य के अनेक उदाहरण पुराणों में विद्यमान हैं। उमा, पीवरी और धर्मव्रता जैसी कन्याओं ने 'सुदारुण तपश्चर्या' के परिणामस्वरूप सुयोग्य पति प्राप्त किये थे। पौराणिक साहित्य में दुर्गा से यह कहलवाया गया है कि जो कोई संग्राम में मुझे परास्त कर देगा, जो मेरे घमण्ड को चूर कर देगा और जो मेरे मुकाबले का होगा, वही मेरा

पति हो सकेगा। केवल बल और शक्ति में ही नहीं, अपितु विद्या तथा ज्ञान में भी जो पुरुष स्त्री से उत्कृष्ट हो, वही प्राचीन काल की कन्याओं को पति रूप में स्वीकार्य हुआ करता था। पर स्त्रियों की शिक्षा केवल ब्रह्मज्ञान तक ही सीमित नहीं होती थी। ऐसी भी स्त्रियाँ थीं, जो नृत्य, संगीत, चित्रकला आदि की शिक्षा ग्रहण करती थीं और इन कलाओं में उत्कृष्टता प्राप्त करती थीं। ऐसी भी अनेक स्त्रियों का उल्लेख पुराणों में मिलता है। विष्णु पुराण के अनुसार वाणासुर के मन्त्री कूष्माण्ड की कन्या की सखी चित्रलेखा थी, जिसने अनेक देवों, गन्धर्वों और मनुष्यों की आकृतियाँ चित्रपटों पर अंकित की हुई थीं। नृत्य और संगीत में प्रवीण त्रिपुर की स्त्रियों द्वारा दानवों को प्रमुदित करने का उल्लेख मत्स्य पुराण में आया है। इसमें सन्देह नहीं कि बौद्ध युग के पश्चात् भी स्त्री शिक्षा की परम्परा भारत में कायम रही थी।

मध्यकाल में स्त्री शिक्षा—गुप्तवंश के शासन काल तथा उसके बाद के मध्य-युग में भी ऐसी स्त्रियों की सत्ता थी, जो सुशिक्षित तथा विविध कलाओं में निष्णात थीं। इस काल के साहित्य से इस सम्बन्ध में अनेक संकेत मिलते हैं। काव्यमीमांसा में लिखा है कि पुरुषों के समान स्त्रियाँ भी कवि होती हैं। 'सुना जाता है और देखा भी जाता है कि राजपुत्रियाँ, महामात्यों की कन्याएं और कौटुम्बिक स्त्रियाँ भी शास्त्रों में पारंगत एवं कवि होती है।' गाथासप्तशती में अनेक विदुषी स्त्रियों का उल्लेख है। इनमें रेखा, माधवी, अनुलक्ष्मी, शशिप्रभा आदि कवियत्रियाँ थीं, और अपनी प्रतिभा के लिए प्रसिद्ध थीं। राजशेखर कवि की पत्नी अवन्तिसुन्दरी भी अपने पति के समान ही सुकवि थी। मंडन मिश्र और शंकराचार्य के बीच जो शास्त्रार्थ हुआ था, उसमें निर्णायक का आसन मंडन मिश्र की पत्नी ने ग्रहण किया था। यह महिला तर्कशास्त्र, मीमांसा, वेदान्त और साहित्य की पण्डिता थी, और शंकर दिग्विजय में इसके लिए 'विदुषी' विशेषण का प्रयोग किया गया है। महाकवि कालिदास ने अभिज्ञान शाकुन्तल नाटक में अनुसूया को इतिहास की ज्ञाता कहा है। भवभूति के मालती माधव नाटक के अनुसार मालती ने अपने प्रेमी की आकृति को चित्र में अंकित कर उसके पास भेजा था और उसके उत्तर में जो संस्कृत-श्लोक उसे प्राप्त हुआ था उसे मालती ने भलीभाँति पढ़ तथा समझ लिया था। इसी नाटक में कामन्दकी का उल्लेख है, जिसने कि 'नानादिगन्तों' से विध्याध्ययन के लिये आये हुए कुमारों तथा कुमारियों के साहचर्य में रहकर शिक्षा प्राप्त की थी। संस्कृत के प्रसिद्ध कोष 'अमरकोश' में उपाध्याया, उपाध्यायी और आचार्या शब्द भी आये हैं, जो स्पष्ट रूप से शिक्षिकाओं के लिए प्रयुक्त हुए हैं। संगीत, नृत्य तथा चित्रकला में प्रवीण अनेक नारियों का उल्लेख भी इस युग के साहित्य में विद्यमान है। बाणभट्ट के हर्षचरित में राजश्री द्वारा नृत्य, संगीत तथा अन्य कलाओं में प्रवीणता प्राप्त करने का वर्णन है। इसी महाकवि के प्रसिद्ध गद्यकाव्य कादम्बरी में राजकुमारी कादम्बरी तथा महाश्वेता के एक साथ नृत्य, संगीत तथा अन्य विविध कलाओं की शिक्षा प्राप्त करने का उल्लेख किया गया है। हर्षविरचित प्रियदर्शिका में आरण्यका द्वारा वंशीवादन का वर्णन मिलता है। रत्नावली नाटिका के अनुसार सागरिका ने अपने प्रेमी के चित्र को स्वयं चित्रित किया था।

गुप्त युग तथा मध्यकाल में अनेक ऐसी स्त्रियाँ भी हुईं, जो शासन कार्य में दक्ष थीं और आवश्यकता से विवश होकर जिन्होंने राज्यशासन का स्वयं संचालन किया था। वाकाटक राजा से विवाहित रानी प्रभावती गुप्ता ने अपने पुत्र के नाबालिग होने की दशा में शासन सूत्र को अपने हाथों में ले लिया था। इसी प्रकार सातवाहन वंश की नायनिका ने भी अपने पति की मृत्यु के पश्चात् शासन को उस समय तक के लिए सम्भाल लिया था, जब तक कि उसका पुत्र वयस्क नहीं हो गया था। रानी दिद्दा का काश्मीर के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान है। चालुक्य वंश में अक्का देवी और भैला देवी ऐसी रानियाँ थीं, जिन्होंने अपने राज्य का शासन सुचारु रूप से सम्भाला हुआ था।

स्त्री-शिक्षा का ह्रास—यद्यपि भारतीय इतिहास के प्राचीन काल में स्त्रियाँ भी पुरुषों के समान ही शिक्षा प्राप्त किया करती थीं, पर कालान्तर में इस स्थिति में परिवर्तन हुआ, और शूद्रों के समान स्त्रियों के लिये भी यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया जाने लगा कि उनका उपनयन नहीं होना चाहिए और उनका कार्य-क्षेत्र केवल अपने परिवारों तक ही सीमित है। 'स्त्रीशूद्रौनाधीयाताम्' स्त्रियों और शूद्रों को विद्याभ्यास नहीं कराना चाहिये, यह विचार धीरे-धीरे बद्धमूल होता गया। स्त्री-शिक्षा के सम्बन्ध में इस परिवर्तन के कारण क्या थे, यह प्रतिपादित करना कठिन है। पुरुषों की तुलना में स्त्रियों के लिये विवाह की आयु कम रखी गयी थी। उनका विवाह सोलह साल की आयु में हो जाना चाहिए, जबकि पुरुषों के विवाह की आयु पच्चीस साल की निर्धारित की गयी थी। जिस कन्या का विवाह सोलह साल की आयु में हो जाता हो, उससे यह आशा नहीं की जा सकती थी कि वह इस स्वल्पायु में समुचित रूप से विद्याभ्यास कर सके। वैदिक काल में याज्ञिक कर्म काण्ड का स्वरूप अत्यन्त सरल था, पर ब्राह्मण-ग्रन्थों के समय में यह कर्म-काण्ड अत्यन्त जटिल हो गया था। उसके लिये जिस दक्षता की आवश्यकता थी, उसे प्राप्त करने के लिए चिरकाल तक अध्ययन की अपेक्षा थी। मनु ने लिखा है कि यज्ञ का अनुष्ठान करने वाले व्यक्ति को वेदों में पारंगत तथा याज्ञिक कर्मकाण्ड में निष्णात होना चाहिए। सोलह साल की आयु में विवाह कर लेने वाली स्त्री से यह आशा नहीं की जा सकती थी कि वह यज्ञ क्रियाओं में समुचित दक्षता प्राप्त कर सकेगी। इसीलिए मनु ने यह विधान किया था कि पत्नी को मन्त्रों का उच्चारण किये बिना ही यज्ञकुण्ड में आहुति दे देनी चाहिए। यदि कन्याओं के विवाह की आयु सोलह साल ही मानी जाती रहती, तो भी आठ वर्ष के लगभग समय तक वे गुरुकुलों में रहकर शिक्षा प्राप्त कर सकती थीं। पर धीरे-धीरे विवाह के लिए उनकी उपयुक्त आयु कम मानी जाने लगी। कौटिल्य के अनुसार कन्या बारह वर्ष की आयु में 'प्राप्त व्यवहार' हो जाती है। पराशर स्मृति में भी बारह वर्ष की आयु तक कन्या का विवाह अवश्य ही कर देना चाहिए, यह विधान किया गया है। कतिपय अन्य स्मृतिकारों ने तो कन्या के विवाह की आयु आठ और दस वर्ष मानी है। आठ साल की कन्या को 'गौरी' कहा जाता था, और यह समझा जाने लगा था कि गौरी कन्या को अवश्य विवाह-बन्धन में बाँध देना चाहिए। भारत में बाल विवाह की जो यह प्रवृत्ति प्रादुर्भूत हुई, उसका एक कारण यह कल्पित किया जा सकता है कि चौथी सदी ईस्वी पूर्व में विदेशी जातियों के आक्रमण इस देश पर प्रारम्भ हो गये थे।

पहले यवनों ने भारत पर आक्रमण किये और फिर शकों, पल्हवों, युइशियों, कुशाणों और हूणों ने। कई सदियों तक भारत इन विदेशियों द्वारा आक्रान्त होता रहा। विदेशी आक्रान्ता सैनिक भारतीय स्त्रियों के साथ विवाह-सम्बन्ध स्थापित करने के लिए इच्छुक रहे होंगे, यह कल्पना असंगत नहीं है। पर आर्य अपनी रक्तशुद्धता को कायम रखना चाहते थे और स्वाभाविक रूप से वे अपनी कन्याओं को विदेशियों से बचाने के लिए प्रयत्नशील रहे होंगे। इस दशा में यदि कन्याओं के माता-पिता ने स्वल्पायु में ही उनका विवाह कर अपनी उत्तरदायिता से मुक्त होने का प्रयत्न किया हो तो इसे अनुचित नहीं कहा जा सकता।

आठ, दस या बारह साल की आयु में कन्याओं का विवाह शुरु हो जाने पर उनके लिये यह सम्भव नहीं रहा कि वे ब्रह्मचर्याश्रम में प्रवेश कर शिक्षा प्राप्त कर सकें। उनके लिये यही पर्याप्त समझा जाने लगा कि गृहकार्यों में दक्ष हो जाएं, और दूसरों द्वारा रक्षित होकर जीवन व्यतीत किया करें। इसमें सन्देह नहीं कि मौर्य युग के पश्चात् स्त्री-शिक्षा की परम्परा क्षीण होने लग गई थी। यह सही है कि सम्भ्रान्त व उच्च कुलों की कन्याएं इसके बाद के काल में भी वेद-शास्त्रों तथा अन्य विद्याओं की शिक्षा प्राप्त करती रहीं, पर वे अपवाद रूप में ही थीं।

(२) स्त्रियों की स्थिति

वैदिक तथा उत्तर-वैदिक काल में स्त्रियों की सामाजिक स्थिति पुरुषों के सदृश होती थी। उनका भी उपनयन संस्कार होता था और यज्ञोपवीत धारण कर वे भी गुरुकुलों में विद्याभ्यास किया करती थीं। पूर्ण युवती होकर वे स्वयंबर द्वारा अपने पति का वरण करती थीं, और परिवार में 'साम्राज्ञी' बनकर रहती थीं। उन्हें पुरुष की सहधर्मिणी व अर्धाङ्गिनी माना जाता था। वेद के एक मन्त्र के अनुसार वे अपने श्वसुर, सास, ननद और देवर आदि पर साम्राज्ञी के रूप में शासन करती थीं: और कोई यज्ञ पत्नी के बिना पूरा कर सकना सम्भव नहीं था। स्त्रियों की समाज में स्थिति पुरुषों से किसी भी प्रकार हीन नहीं थी। विवाह के अवसर पर पति और पत्नी दोनों कतिपय प्रतिज्ञाएं करते थे, जिनका प्रयोजन एक दूसरे के प्रति कर्त्तव्यों का पालन करते हुए जीवन बिताना होता था। समाज में माता के पद को बहुत पवित्र तथा प्रतिष्ठित माना जाता था। वासिष्ठ सूत्र के अनुसार उपाध्याय की तुलना में आचार्य दस गुना प्रतिष्ठित है, आचार्य से सौ गुना प्रतिष्ठित पिता है, और पिता से सहस्र गुना प्रतिष्ठित पद माता का है। माता के पद की यह प्रतिष्ठा प्राचीन भारत में स्त्रियों की उच्च स्थिति का स्पष्ट प्रमाण है।

पर धीरे-धीरे इस दशा में परिवर्तन आने लगा। बाल विवाह के कारण स्त्रियों के लिए शिक्षा प्राप्त कर सकना सम्भव नहीं रहा, और वे अपनी सुरक्षा तथा निर्वाह के लिये पुरुषों पर निर्भर रहने लगीं। मनु ने कहा है—कुमारी अवस्था में पिता स्त्री की रक्षा करता है, यौवन में पति और वृद्धावस्था में पुत्र, स्त्री कभी स्वतन्त्र होकर नहीं रह सकती। यही विचार कतिपय अन्य स्मृति-ग्रन्थों में भी विद्यमान है। यवन, शक, हूण आदि विदेशी जातियों के आक्रमण काल में स्त्रियों की रक्षा भारत के लिए एक गम्भीर समस्या बन गई थी। इसी कारण यह आवश्यक समझा जाने लगा था कि पिता, पति तथा पुत्रों द्वारा रक्षित होकर वे जीवनयापन किया करें। यही समय था, जबकि माता

पिता कन्या के जन्म को अवाञ्छनीय समझने लगे, और लोग पुत्रोत्पत्ति की कामना करने लगे। कन्या का जन्म माता-पिता के लिए कैसे चिन्ता का विषय बन गया था, यह हर्षचरित की इस उक्ति से स्पष्ट हो जाता है कि कन्या की आयु को बढ़ते देखकर पिता संताप की अग्नि में जलने लगता है और कन्या इस अग्नि को प्रदीप्त करने के लिए ईंधन का काम करती है। एक अन्य स्थान पर हर्षचरित में लिखा है कि घनघोर वर्षा के कारण नदियों में जैसे बाढ़ आ जाती है और उससे नदी के तट कटने लगते हैं, वैसे ही कन्या को बढ़ता देखकर पिता का मन उद्विग्न हो जाता है। कन्या के जन्म से उत्पन्न चिन्ता के कारण ही अनेक प्राचीन लेखकों ने स्त्रियों को 'अनृत', 'अमन्त्र' और 'निरिन्द्रिय' तक कहने में संकोच नहीं किया। मनुस्मृति के एक श्लोक में स्त्रियों के लिए इन्हीं शब्दों का प्रयोग किया गया है। विदेशी आक्रमणों के कारण भारत में जो स्थिति उत्पन्न हो गई थी, उसमें स्त्रियों के लिए स्वतन्त्र रूप से जीवन बिता सकना सम्भव ही नहीं रहा था। यवन, शक, कुशाण, हूण आदि जातियों ने भारत में आकर इस देश के धर्म, सभ्यता तथा संस्कृति को अपना लिया था, जिसके कारण स्त्रियों की स्थिति उतनी हीन नहीं होने पायी थी, जैसी कि बाद के उस काल में हो गई जबकि तुर्क-अफगानों ने भारत के बड़े भाग को जीतकर अपने अधीन कर लिया था। तुर्कों के युग में स्त्रियों की स्थिति का स्पष्ट परिचय याज्ञवल्क्यस्मृति पर विज्ञानेश्वर की टीका से मिलता है, जिसमें यह कहा गया है कि स्त्री बिना कहे घर से बाहर न जाए और चादर ओढ़े बिना कहीं न जा सके; वणिक्, संन्यासी तथा वृद्ध वैद्य के अतिरिक्त किसी परपुरुष से बात न करे, एड़ी तक कपड़ा पहने, मुँह को ढके बिना हँसे नहीं और दुःशील स्त्रियों से कभी सम्पर्क न करे। तुर्क युग के टीकाकार का यह विधान स्वाभाविक व समुचित ही था, क्योंकि उस समय में स्त्रियों का स्वतन्त्र रूप से रहना निरापद नहीं रह गया था।

यद्यपि ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण स्त्रियों की सामाजिक स्थिति बहुत हीन हो गई थी, पर प्राचीन परम्परा के अनुसार बाद में भी उनके प्रति सम्मान तथा प्रतिष्ठा का भाव बना रहा। इसीलिए याज्ञवल्क्य स्मृति में यह कहा गया है कि स्त्री अपने पति, भाई, पिता, श्वसुर, देवर तथा बन्धु-बान्धवों द्वारा सदा पूज्य होती है और भूषणों, आच्छादनों (वस्त्रों) तथा भोजन आदि द्वारा सदा उसकी सब आवश्यकताओं को पूरा किया जाना चाहिये। मनु ने तो यहाँ तक लिखा है कि जो पिता, भ्राता, पति तथा देवर कल्याण की इच्छा रखें, उन्हें स्त्रियों को सदा पूज्य समझना चाहिये। जहाँ स्त्रियों की पूजा होती है, वहाँ देवताओं का निवास होता है, और जहाँ उनकी पूजा न हो वहाँ सब क्रिया कर्म विफल हो जाते हैं। महाभारत के अनुसार स्त्रियाँ न केवल पूजा के योग्य होती हैं, अपितु परिवार का सौभाग्य भी उन्हीं पर निर्भर करता है। स्त्रियाँ लक्ष्मी होती हैं, उनके निरादर से लक्ष्मी रूठ जाती है। शान्ति पर्व में भीष्म ने कहा है कि स्त्री से ही धर्म तथा रति के कार्य सम्पन्न होते हैं। सन्तान का जन्म, उत्पन्न सन्तान का पालन तथा जीवन में प्रीति पत्नी के कारण ही सम्भव है, अतः यह आवश्यक है कि उसका सम्मान किया जाए। अतः कल्याण की आकांक्षा रखने वाले लोगों को स्त्रियों की पूजा तथा विभूषा करनी चाहिए। इसी प्रकार के कथन प्राचीन साहित्य के अन्य ग्रन्थों में भी विद्यमान हैं, जिनसे इस

बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि यवन, शक आदि विदेशी जातियों के आक्रमण के बाद भी भारत में स्त्रियों की पारिवारिक प्रतिष्ठा में कोई अन्तर नहीं आया था। केवल परिवार में ही नहीं, अपितु समाज में भी उनकी स्थिति सम्मानास्पद थी। इसीलिए मनु ने लिखा है कि मार्ग में यदि भीड़ हो, तो राजा को भी स्त्री के लिए रास्ता छोड़ देना चाहिए। महाभारत में स्त्रियों को अवध्य कहा गया है। जो कोई अपना शुभ चाहे, उसे स्त्री को न कोई क्लेश देना चाहिए और न उसके प्रति दुर्वचन का प्रयोग करना चाहिए। मनु ने पत्नी की हत्या को ब्रह्महत्या के समान घोर पाप माना है।

पर यह स्वीकार करना होगा कि मौर्य युग तथा उसके पश्चात् के काल में स्त्रियों की सामाजिक स्थिति हीन होने लग गई थी। उनका मुख्य कार्य विवाह करके पति की सेवा तथा सन्तानोत्पत्ति करना माना जाने लगा था। कौटल्य ने लिखा है कि स्त्रियाँ सन्तान उत्पन्न करने के लिए ही होती हैं। मनु के अनुसार स्त्रियों के लिए वैवाहिक विधि ही दैनिक संस्कार है, पति की सेवा ही गुरु के आश्रम में निवास है, और घर की अग्नि ही दैनिक अग्निहोत्र का अनुष्ठान है। मनु का यह कथन सूचित करता है कि ईस्वी सन् के प्रारम्भ होने से पूर्व ही वह समय आ गया था जब कि स्त्रियों के लिए उपनयन संस्कार के अनन्तर आचार्य कुल में जाकर रहने तथा वहाँ वेदशास्त्रों का अध्ययन करने की कोई आवश्यकता नहीं समझी जाती थी। उपनयन के अभाव में स्त्रियों की वही स्थिति होती गई, जो कि शूद्रों की थी। न वे स्वयं वेदमन्त्रों का उच्चारण कर सकती थीं, और न याज्ञिक कर्मकाण्ड का अनुष्ठान। अब उनका कार्यक्षेत्र घर ही रह गया था। शिक्षा के लिए वे अब किसी आचार्य-कुल में नहीं जाती थीं। घर में रहते हुए पिता, चाचा और भाइयों से वे जो कुछ भी पढ़ लिख सकें, वही उनके लिए पर्याप्त समझा जाता था। इस प्रसंग में एक प्राचीन ग्रन्थ के निम्नलिखित वाक्य महत्त्व के हैं—पुराने समयों में कुमारियों का भी उपनयन हुआ करता था, वे भी वेद का अध्ययन किया करती थीं और उन्हें भी सावित्री का वाचन सिखाया जाता था। पर अब केवल पिता, पितृव्य तथा भाइयों द्वारा ही उन्हें पढ़ाया जाना चाहिए, किसी अन्य द्वारा नहीं। कन्या को अपने घर में ही भैक्षचर्या करनी चाहिए, कहीं अन्यत्र नहीं। ब्रह्मचारियों के समान अजिन व चीर का धारण करना तथा जटाएँ रखना भी कन्याओं के लिए निषिद्ध था।

स्मृति ग्रन्थों तथा अन्य प्राचीन साहित्य में पत्नी के कर्त्तव्यों का विशद रूप से निरूपण किया गया है। मनु के अनुसार पत्नी को गृहकार्य में दक्ष होना चाहिए, सदा हँसमुख रहना चाहिए, अपव्ययी नहीं होना चाहिए और घर की सब वस्तुओं को उसे स्वच्छ रखना चाहिए। पातिव्रत्य स्त्री का प्रधान धर्म माना जाता था। मनु ने लिखा है कि पति चाहे स्वच्छन्द, गुणशून्य तथा दुःशील भी क्यों न हो, साध्वी पत्नी का कर्त्तव्य है कि देवता के समान उसकी पूजा किया करे। स्त्री के लिए पति की सेवा के अतिरिक्त कोई यज्ञ व व्रत नहीं होता। महाभारत में पाण्डु के मुख से कहलवाया गया है कि पति पत्नी को जो भी बात कहे, उसका पालन करना उसका धर्म है चाहे वह बात धर्म के अनुकूल हो और चाहे प्रतिकूल। मौर्योत्तर युग के शास्त्रकारों की दृष्टि में स्त्री के लिए पातिव्रत्य ही परम धर्म है, जिसका पालन करने से वह उस स्वर्गलोक को प्राप्त करने में

समर्थ होती है, जिसे महर्षि तथा पवित्र आत्माएँ ही प्राप्त कर सकती हैं। रामायण, महाभारत और पुराणों में पतिव्रता स्त्रियों के उच्च आदर्श प्रस्तुत किये गए हैं। रामायण में सीता के पातिव्रत्य को अत्यन्त उज्ज्वल रूप में प्रदर्शित किया गया है। सीता ने राम के साथ रहते हुए जंगल के किसी कष्ट को कष्ट नहीं माना, और रावण जब उसका अपहरण कर लंका में ले गया, तो न वह किसी प्रलोभन के वश में आई और न राक्षसों की शक्ति उसे भयभीत कर सकी। वह पातिव्रत्य धर्म पर अडिग रही। महाभारत के अनुसार जब गान्धारी को यह ज्ञात हुआ कि उसका पति धृतराष्ट्र अन्धा है, तो उसने अपनी आँखों पर भी पट्टी बाँध ली। महाभारत में सावित्री और सत्यवान् की वह कथा विद्यमान है, जिसमें सावित्री द्वारा यमराज के चंगुल से अपने पति को छुड़ाने का वृत्तान्त किया गया है। इस प्रसंग में महाभारत की एक अन्य कथा बड़े महत्त्व की है। कौशिक ऋषि बड़े तपी तथा तेजस्वी थे। जब एक सारस ने उन पर बीठ कर दी, तो अपनी आँखों के तेज से उन्होंने उसे भस्म कर दिया था। एक बार वे भैक्षचर्या करते हुए एक गृहस्थ स्त्री के घर पर गए। उस समय वह स्त्री अपने पति की सेवा में संलग्न थी। इस कारण उसे कौशिक को भिक्षा देने में देर हो गई। कौशिक इससे बहुत क्रुद्ध हुए, पर पतिव्रता स्त्री का वे कुछ न बिगाड़ सके, और उस पतिव्रता ने उन्हें स्पष्ट रूप से कह दिया कि वह सारस नहीं है जो उनकी कोप दृष्टि से भस्म हो जाए।

(३) स्त्री का सम्पत्ति में अधिकार

वैदिक युग में स्त्रियों को सम्पत्ति का अधिकार प्राप्त था या नहीं, यह वैदिक संहिताओं से स्पष्ट नहीं होता। पर ऋग्वेद के एक मन्त्र में यह संकेत अवश्य विद्यमान है कि सन्तान न होने पर पति के पश्चात् पत्नी ही सम्पत्ति की स्वामिनी मानी जाती थी। इस मन्त्र में 'अन्योदर्य' (अन्य स्त्री के गर्भ से उत्पन्न) सन्तान को दत्तक पुत्र बनाकर उसे सम्पत्ति प्रदान करने को बहुत वाञ्छनीय नहीं माना गया है। इससे स्पष्ट है कि दत्तक पुत्र की तुलना में स्त्री का सम्पत्ति पर अधिकार रहना वैदिक काल में अभीष्ट था। पर धीरे-धीरे इस स्थिति में परिवर्तन आने लगा। ऐसा प्रतीत होता है कि ब्राह्मण-ग्रन्थों के रचना-काल तक स्त्रियों को सम्पत्ति के अधिकार से वञ्चित रखने की प्रवृत्ति प्रारम्भ हो चुकी थी। इसीलिए तैत्तिरीय संहिता में कहा गया है कि स्त्रियाँ 'अदायादी' (जिन्हें दायाद का अधिकार न हो) होती हैं, और उन्हें दाय की इच्छा नहीं करनी चाहिए। पर ऐसे विचारों की सत्ता होते हुए भी बौद्ध काल में स्त्रियों का सम्पत्ति पर अधिकार स्वीकृत किया जाता था, इसके अनेक निर्देश बौद्ध साहित्य में विद्यमान हैं। थेरी गाथा की एक कथा के अनुसार विशाखा भद्दिया के श्रेष्ठी मेण्डक की पौत्री तथा धनंजय की पुत्री थी। युवती होने पर उसका विवाह श्रावस्ती के श्रेष्ठी मिगार के पुत्र पुण्यवर्धन के साथ हुआ, जो जैनधर्म का अनुयायी था। विशाखा के विवाह में श्रेष्ठी धनंजय ने अपार धन खर्च किया था। नौ करोड़ मूल्य के आभूषण उसे प्रदान किये थे और स्नान-चूर्ण मूल्य के रूप में बहुत-सा धन उसे पृथक् रूप से दिया था। विशाखा बौद्धधर्म को मानने वाली थी, और उसने श्रावस्ती के बौद्ध संघ के लिए 'पूर्वाराम' नाम के एक विहार का निर्माण कराया था जिसके लिए उसने अपनी

सम्पत्ति से उनतीस करोड़ मुद्राएँ खर्च की थीं। स्नानचूर्ण मूल्य के रूप में कन्या के पिता द्वारा विवाह के समय पृथक् रूप से सम्पत्ति प्रदान करने का उल्लेख बौद्ध साहित्य में अनेक स्थानों पर आया है, और इस धन पर स्त्री का ही स्वामित्व माना जाता था।

स्मृतियों और धर्म-सूत्रों में सम्पत्ति पर स्त्रियों के अधिकार के सम्बन्ध में अनेक व्यवस्थाएँ की गई हैं, जिनमें कहीं-कहीं विरोध भी विद्यमान है। इसका कारण सम्भवतः यह था कि भारत के सब प्रदेशों में उत्तराधिकार-विषयक नियम एक समान नहीं थे, और विभिन्न समयों में उनमें परिवर्तन भी होता रहा था। यही कारण है कि मनु, कौटल्य, याज्ञवल्क्य, गौतम और बृहस्पति आदि के विचार इस प्रश्न पर एकसदृश नहीं हैं कि स्त्रियों का सम्पत्ति पर अधिकार किस अंश तक हो। मनु के अनुसार यदि कोई पुरुष सन्तान के बिना मर जाए, तो उसकी सम्पत्ति पर उसके पिता और भाइयों का अधिकार हो। मनु ने मृत पति की सम्पत्ति पर पत्नी के अधिकार को स्वीकृत नहीं किया है। एक अन्य स्थान पर मनु ने लिखा है कि पुत्र के निःसन्तान मर जाने पर माता उसकी सम्पत्ति को प्राप्त करे और यदि माता की मृत्यु हो चुकी हो, तो पिता की माता (दादी) का उसकी सम्पत्ति पर अधिकार हो। पर विधवा का अपने पति की सम्पत्ति पर अधिकार मनु को स्वीकार्य नहीं था। यही आपस्तम्ब धर्मसूत्र में भी विहित है। वहाँ पुत्र के अभाव में पुत्री को तो पिता की सम्पत्ति उत्तराधिकार में प्राप्त करने का अधिकार दिया गया है, पर विधवा के इस अधिकार को स्वीकृत नहीं किया गया। आपस्तम्ब के अनुसार पुत्र के अभाव में सपिण्ड या प्रत्यासन्न सपिण्ड को सम्पत्ति प्राप्त करने का अधिकार है, और यदि ऐसा भी कोई व्यक्ति न हो, तो आचार्य और आचार्य के अभाव में अन्तेवासी (शिष्य) सम्पत्ति को प्राप्त करेंगे। पर उनके लिए यह आवश्यक होगा कि इस प्रकार से प्राप्त सम्पत्ति को वे धर्मकृत्यों में ही लगायेंगे, अपने लिए उसका उपयोग नहीं करेंगे। सम्भवतः यह व्यवस्था उस दशा के लिए की गई है, जबकि मृत व्यक्ति की कोई पुत्री भी न हो। पर यह स्पष्ट है, कि मनु के समान आपस्तम्ब भी मृत पति की सम्पत्ति में विधवा का अधिकार स्वीकार नहीं करता। कौटल्य ने भी आपस्तम्ब के समान पिता की सम्पत्ति में पुत्री के अधिकार को स्वीकृत किया हैं। कौटलीय अर्थशास्त्र में लिखा है कि जिस पुरुष के कोई पुत्र न हों, उसका द्रव्य (सचल सम्पत्ति) सगे भाई, सहजीवी (जो उसके साथ संयुक्त रूप से काम धन्धा करते हों या उसके हिस्सेदार हों) प्राप्त करें, और उसके रिक्त (अचल सम्पत्ति) को उसकी पुत्री उत्तराधिकार में प्राप्त करे। धर्मिष्ठ विवाह से पुरुष के सन्तान होने पर पुत्र और दुहिताएँ दोनों ही सम्पत्ति की उत्तराधिकारी मानी जाएँ। इसमें सन्देह नहीं कि कौटल्य द्वारा की गई व्यवस्था के अनुसार पुत्रियों को भी अपने पिता की सम्पत्ति में अधिकार प्राप्त था। महाभारत में पुत्रियों को पुत्रों के समान कहा गया है, और सम्पत्ति के विषय में यह विधान किया गया है कि यदि किसी पुरुष के केवल कन्याएँ ही हों, तो वे पिता की समग्र सम्पत्ति को उत्तराधिकार में प्राप्त करें और यदि उनके भाई भी हों, तो पिता की सम्पत्ति का आधा भाग पुत्रों को मिले और आधा पुत्रियों को।

स्त्रियों के सम्पत्ति के अधिकार के सम्बन्ध में जो मन्तव्य याज्ञवल्क्यस्मृति में

निरूपित किये गये हैं, वे बड़े महत्त्व के हैं। उनके अनुसार पत्नी को भी पति की सम्पत्ति में अधिकार दिया गया है। वहाँ लिखा है कि पुत्र के अभाव में सम्पत्ति का उत्तराधिकार इस क्रम से होगा—पत्नी, कन्या या कन्याएं, माता-पिता, भाई, भतीजे, सगोत्र व्यक्ति, बन्धु-बान्धव, शिष्य और सहपाठी। पुत्र के अभाव में पुरुष की सम्पत्ति पर सर्वप्रथम अधिकार उसकी पत्नी का होगा और उसके बाद कन्याओं का, यह एक ऐसा मन्तव्य है जो मनु, आपस्तम्ब आदि के विधानों से सर्वथा भिन्न है। अन्य अनेक शास्त्रकारों ने भी इसी मत का समर्थन किया है। बृहस्पति और नारद के अनुसार दुहिता भी पुत्र के समान ही सन्तान होती है, अतः पुत्र के अभाव में सम्पत्ति पर उसीका अधिकार होना चाहिए। कात्यायन को भी यही मत अभीष्ट था। उसने पत्नी को पति की 'धनहरी' (सम्पत्ति प्राप्त करने वाली) बताकर उसके जीवित न होने पर कन्या को सम्पत्ति का अधिकारी प्रतिपादित किया है। महाभारत में इस मत का अत्यन्त बलपूर्वक निरूपण किया गया है। वहाँ लिखा है कि जैसा पुत्र होता है वैसी ही पुत्री भी होती है, दोनों की स्थिति एक समान है। पुत्री के होते हुए अन्य कोई पिता की सम्पत्ति का अधिकारी कैसे हो सकता है। नारद-स्मृति में कन्या को पिता की सम्पत्ति का अधिकारी तो माना गया है, पर उसी समय तक जब तक कि उसका विवाह न हो जाए।

जैसाकि ऊपर लिखा जा चुका है, याज्ञवल्क्य ने विधवा को पुत्र न होने की दशा में पति की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी माना है। यही मत विष्णु और गौतम का भी था। उन्होंने भी पुत्र के अभाव में स्त्री को ही पति की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी स्वीकार किया है। बृहस्पति के अनुसार स्त्री पति की अर्धाङ्गिनी होती है, अतः पति की मृत्यु हो जाने पर भी उसकी पूर्णरूप से मृत्यु नहीं मानी जा सकती, यदि उसकी स्त्री अभी जीवित हो। जब पुरुष की अर्धाङ्गिनी विद्यमान हो, तो अन्य कोई उसकी सम्पत्ति का अधिकारी कैसे हो सकता है। पर प्राचीन भारत में यह विषय विवादग्रस्त रहा है। इसी कारण कतिपय ऐसे भी शास्त्रकार हुए, जो पति की सम्पत्ति पर विधवा के अधिकार को स्वीकृत करने के लिए उद्यत नहीं थे। नारद के अनुसार सन्तानहीन व्यक्ति की सम्पत्ति राज्य को प्राप्त हो जानी चाहिए, यद्यपि राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह विधवा का पालन-पोषण उसके जीवनकाल में करता रहे। नारद ने इसे 'सनातन धर्म' कहा है। ऐसा प्रतीत होता है, कि मनु और कौटल्य के समय में विधवा को दिवंगत पति की सम्मत्ति में अधिकार नहीं था। पर बाद में इसका प्रचलन हुआ। इसी कारण नारद ने अपने मत को 'सनातन' परम्परा के अनुकूल कहा है। प्राचीन शास्त्रकारों ने स्त्रियों व विधवाओं के सम्पत्ति के अधिकार के सम्बन्ध में जो नया मत प्रतिपादित किया, उसके कारणों का श्री काशी-प्रसाद जायसवाल ने विवेचन किया है। उनके अनुसार महात्मा बुद्ध ने स्त्रियों को भी भिक्षु व्रत ग्रहण करने का जो अधिकार प्रदान किया था, उसके कारण स्त्रियों की स्थिति पहले की तुलना में बहुत उच्च हो गई थी। जब स्त्रियाँ भिक्षु व्रत ग्रहण कर भिक्षुणी-संघ में प्रवेश पा सकती थीं और भिक्षुओं के समान ही जब समाज के हितकल्याण के लिए अपनी शक्ति को लगा सकती थीं, तो उन्हें सम्पत्ति के अधिकार से वञ्चित रखना किसी भी प्रकार युक्तिसंगत नहीं था।

स्त्रीधन—सम्पत्ति पर स्त्रियों के अधिकार का विवेचन करते हुए स्त्रीधन के सम्बन्ध में लिखना भी आवश्यक है। कौटलीय अर्थशास्त्र में स्त्रीधन के दो रूप उल्लिखित हैं, वृत्ति और आवध्य। दो सहस्र पण या इतने मूल्य की सम्पत्ति स्त्री की वृत्ति (निर्वाह) चलाने के लिये उसके नाम कर दी जाती थी, जिसे 'वृत्ति' कहते थे। आभूषण आदि की संज्ञा 'आवध्य' थी। विवाह के समय प्रदान किये गये आभूषण व अन्य कीमती वस्तुएँ आवध्य के अन्तर्गत होती थीं। आभूषण आदि की मात्रा कितनी हो, इसकी कोई सीमा निर्धारित नहीं थी। इस स्त्रीधन को स्त्री अपनी सन्तान और पुत्रवध के भरण पोषण के लिये व्यय कर सकती थी। यदि पति प्रवास पर गया हुआ हो और पत्नी के भरण पोषण का प्रबन्ध न कर गया हो, तो इस दशा में भी स्त्री इस धन को खर्च कर सकती थी। कौटल्य के अनुसार कतिपय परिस्थितियों में पति को भी अपनी पत्नी के स्त्री धन को खर्च करने का अधिकार था, जैसे आकस्मिक विपत्ति आ जाने पर, बीमारी में, दुर्भिक्ष पड़ जाने पर और धर्म कार्य में। ब्राह्म, प्राजापत्य, आर्य और दैव-ये चार प्रकार के विवाह 'धर्म्य' (धर्मानुकूल) माने जाते थे। इनके अनुसार जिन पति-पत्नी का विवाह हुआ हो और विवाह को हुए यदि तीन साल बीत चुके हों, तो पति पत्नी परस्पर सहमति से स्त्री-धन को खर्च कर सकते थे। पर गान्धर्व और आसुर विधियों से विवाह होने की दशा में पति-पत्नी को यह अधिकार नहीं था कि वे परस्पर सहमति से भी स्त्री-धन को खर्च कर सकें। इन विधियों से विवाहित पति पत्नी यदि स्त्री-धन को खर्च कर दें, तो उनके लिये यह आवश्यक था कि स्त्रीधन को सूद सहित वापस लौटाएँ। राक्षस और पैशाच विधियों से विवाहित पति पत्नी यदि स्त्री धन को खर्च करें, तो उन के इस कार्य को चोरी माना जाता था। कौटल्य द्वारा उल्लिखित इन नियमों से स्पष्ट है कि स्त्रीधन पर स्त्री का पूर्ण अधिकार होता था, और विवाह के बाद तीन साल तक तो स्त्री और उसका पति परस्पर सहमति से भी उसे खर्च नहीं कर सकते थे। कतिपय प्रकार के विवाहों में तो इस धन को पति खर्च कर ही नहीं सकता था। पति की मृत्यु हो जाने पर यदि स्त्री दूसरा विवाह न करे, तो सम्पूर्ण स्त्री-धन उसी के अधिकार में दे दिया जाता था, और केवल वही उसे खर्च कर सकती थी।

मनुस्मृति के अनुसार स्त्री धन उसे कहते थे, जो विवाह के समय वैवाहिक अग्नि के सम्मुख वधू को प्रदान किया जाए, वरयात्रा के समय जो उसे दिया जाए, और जो माता पिता और भाई तथा अन्य सम्बन्धी आदि उसे स्नेह वश प्रदान करें। याज्ञवल्क्य द्वारा स्त्रीधन का जो लक्षण किया गया है, वह इस प्रकार है—पिता, माता, भाई और पति जो धन स्त्री को प्रदान करें, विवाह के समय अग्नि के सम्मुख कन्यादान के अवसर पर जो धन उसे दिया जाए और विवाह के पश्चात् अभिनंदन के रूप में जो धन स्त्री को प्राप्त हो, वह स्त्रीधन होता है। पितृगृह में विवाह के समय विविध पारिवारिक व्यक्ति तथा सम्बन्धी लोग स्त्री को जो द्रव्य प्रदान करें तथा वधू के पतिगृह आने पर पति के घर वाले उसे जो धन दें, उसे 'अधिदवंन' संज्ञा दी गई थी। मनु ने इसी को 'आवाहनिक' कहा है। इस प्रकार जो धन स्त्री प्राप्त करती थी, वह आभूषण, स्थावर सम्पत्ति तथा नकद आदि अनेक रूपों में हो सकता था और उस पर स्त्री का ही पूर्ण

अधिकार व स्वत्त्व माना जाता था। इस धन को स्त्री स्वेच्छा से खर्च कर सकती थी, इसे बन्धक रख सकती थी और इसे बेच भी सकती थी। गान्धर्व, आसुर, राक्षस तथा पैशाच विधियों से हुए विवाहों में पति का इस धन पर कोई भी अधिकार स्वीकृत नहीं किया जाता था। पर ब्राह्म, प्राजापत्य, आर्ष तथा दैव विधियों से विवाहित पति-पत्नी परस्पर सहमति से इसे खर्च कर सकते थे, यद्यपि उन्हें यह अधिकार विवाह को हुए तीन वर्ष बीत जाने पर ही प्राप्त होता था। स्त्री अपने स्त्रीधन को किस प्रकार और किन दशाओं में खर्च कर सके और उसके उत्तराधिकार के सम्बन्ध में क्या नियम हों, इस प्रश्न पर स्मृति ग्रन्थों तथा धर्मशास्त्रों में ऐकमत्य नहीं है। कात्यायन के अनुसार सौदायिक (आत्मीयों या स्नेहियों से प्राप्त) धन पर स्त्रियों का पूर्ण स्वत्त्व अभीष्ट है और उसे वे स्वातन्त्र्य के साथ व्यय कर सकती हैं। वह धन चाहे स्थावर सम्पत्ति के रूप में हो या चल सम्पत्ति के रूप में, उसके विक्रय, दान व अन्य प्रकार से हस्तान्तरित करने के सम्बन्ध में स्त्री पूर्ण रूप से स्वतन्त्र है। पति, पुत्र, पिता, भाई आदि किसी का भी इस धन पर अधिकार नहीं है। व्यवहारमयूख के अनुसार पति ने पत्नी को जो धन दिया हो, पति के जीवन काल में और उसकी मृत्यु के पश्चात् स्त्री को ही स्वेच्छापूर्वक उसका उपभोग करने का अधिकार है, पर पति द्वारा पत्नी को यदि कोई स्थावर (अचल) सम्पत्ति प्रदान की गई हो, तो वह विक्रय आदि द्वारा उसे हस्तान्तरित नहीं कर सकती। मध्यकाल के एक अन्य ग्रन्थ स्मृतिचन्द्रिका के अनुसार भी स्त्रीधन के स्थावर भाग के हस्तान्तरित करने में स्त्री स्वतन्त्र नहीं होती, यद्यपि अन्य सब प्रकार के स्त्री धन को वह स्वेच्छापूर्वक प्रयुक्त करने में पूर्ण स्वतन्त्र्यता रखती है।

स्त्रीधन के उत्तराधिकार के सम्बन्ध में भी कुछ नियम उल्लेखनीय हैं। विज्ञानेश्वर के अनुसार माता का स्त्रीधन पुत्री को ही उत्तराधिकार में प्राप्त होना चाहिये। पराशर का मत इससे कुछ भिन्न है। यदि कन्या अविवाहित हो, तभी वह माता के स्त्रीधन की पूर्णरूप से उत्तराधिकारिणी होती हैं। विवाहित होने की दशा में उसे अन्य भाई-बहनों का समभाग ही प्राप्त होना चाहिये। गौतम और वशिष्ठ धर्मसूत्रों ने भी यह मत प्रतिपादित किया है, कि माता के स्त्रीधन पर पुत्रियों का ही अधिकार होना चाहिये। मनु-स्मृति में कन्या के स्त्रीधन पर अधिकार को स्वीकृत करने के साथ-साथ उस पर दौहित्र का भी अधिकार माना गया है। इसमें सन्देह नहीं कि स्त्रीधन के रूप में ऐसी सम्पत्ति स्त्री को प्राप्त हो जाती थी, जिसका वह स्वेच्छापूर्वक उपयोग कर सकती थी और जिसके कारण उसे पूर्णतया अपने पति, पिता या भाई पर ही निर्भर नहीं रहना पड़ता था।

(४) परदे की प्रथा

वैदिक युग में परदे की प्रथा का सर्वथा अभाव था। स्त्री न अपने पति से परदा करती थी, और न श्वसुर व जेठ आदि से। जब वधू विवाह के अनन्तर पति के घर पर आती थी, तो वहाँ सब पारिवारिक जनों तथा अभ्यागतों से उसका परिचय कराया जाता था, और सबको सम्बोधन करके यह कहा जाता था—यह सुमंगली

वधू आयी है, इसे आकर देखो और इसे यह आशीर्वाद दो कि यह सदा सौभाग्यवती रहे। पति के घर में पत्नी साम्राज्ञी बन के रहती थी, और अपने जनपद की सभा-समितियों में भी वह सम्मिलित हुआ करती थी। पर धीरे-धीरे इस स्थिति में परिवर्तन आने लगा। पाणिनि की अष्टाध्यायी में (छठी सदी ईस्वी पूर्व) स्त्रियों को 'असूर्यम्पश्या' (जिन्हें सूर्य भी न देख सके) कहा गया है। पर ऐसी स्त्रियाँ वे राजदाराएँ ही होती थीं, जो अन्तःपुरों में निवास किया करती थीं। इसीलिये पाणिनि की 'असूर्यम्पश्या' की व्याख्या करते हुए इस शब्द के साथ 'राजदाराः' का प्रयोग किया गया है। रामायण में सीता के लिये यह कहा गया है कि "जिस सीता को आकाश में विचरण करने वाले पक्षी भी नहीं देख सकते थे, उसे अब राजमार्गों पर जाने-आने वाले लोग भी देख रहे हैं।" इससे सूचित होता है कि रामायण की रचना के समय में राजकुलों तथा सम्भ्रान्त परिवारों की स्त्रियाँ परदा करने लग गई थीं और साधारण दशा में कोई व्यक्ति उन्हें नहीं देख सकता था। महाभारत में भी ऐसे निर्देश विद्यमान हैं, जिनसे परदे की प्रथा की सत्ता सूचित होती है। वहाँ एक स्थान पर यह कहा गया है, कि जिन स्त्रियों को पहले न कभी सूर्य ने देखा था और न चन्द्रमा ने, वे अब शोकार्त होकर राजमार्ग पर चलने लग गई हैं। महाकवि भास के नाटकों से भी परदे के विषय में कतिपय संकेत मिलते हैं। भास का समय दूसरी सदी ईस्वी पूर्व में माना जाता है, और रामायण तथा महाभारत ने भी प्रायः इसी काल के लगभग अपने वर्तमान रूप को प्राप्त किया था। अतः यह अनुमान कर सकना असंगत नहीं है कि दूसरी सदी ईस्वी पूर्व तक भारत में परदे की प्रथा का सूत्रपात हो गया था। इस समय में भारत पर यवन, शक, युइशि, कुशाण आदि विदेशी जातियों के आक्रमण प्रारम्भ हो गये थे। यही वह समय था, जिसके विषय में मनु ने यह कहा है कि 'जिस राजा और उसके राजपुरुषों के देखते हुए चीखती-पुकारती प्रजा को दस्यु लोग पकड़ कर ले जाते हैं, उसे मरा हुआ समझो, जीवित नहीं।' निस्सन्देह, यवन, शक, युइशि आदि आक्रान्ताओं द्वारा भारतीय जनता पर जो घोर अत्याचार किये जा रहे थे, उनके कारण स्त्रियों का सतीत्व भी सुरक्षित नहीं रह गया था। इस दशा में यदि उन्होंने परदा करना शुरू कर दिया हो, तो यह अस्वाभाविक नहीं था। दूसरी सदी ईस्वी पूर्व के लगभग परदे की जिस प्रथा का प्रारम्भ हुआ, वह बाद के समय में भी जारी रही। कालिदास (गुप्त वंशी सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय के समकालीन) के प्रसिद्ध नाटक 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' के अनुसार जब शकुन्तला राजा दुष्यन्त की राजसभा में गई, तो उसने अपने मुख को अवगुण्ठन (परदे) से ढक लिया था, यद्यपि यह अवगुण्ठन उसके शरीर के लावण्य को छिपा सकने में असमर्थ था। बाणभट्ट के 'हर्षचरितम्' (सातवीं सदी) में राज्यश्री को 'अरुणांशुकावगुण्ठितमुखी' (जिसने लाल रेशम का परदा मुख पर डाला हुआ हो) कहा गया है, जो स्पष्ट रूप से सातवीं सदी में परदे की प्रथा को सूचित करता है। मृच्छकटिक नाटक के अनुसार जब वसन्तसेना वधू बनने लगी, तो उसने अपने मुख को परदे से ढक लिया था। महाकवि भवभूति के नाटक 'महावीरचरितम्' के अनुसार जब राम और सीता परशुराम से

मिलने के लिये गये, तो राम ने सीता से कहा—प्रिये ! ये परशुराम गुरु हैं, अतः 'कृतावगुण्ठन' हो जाओ, अर्थात् परदा कर लो। महाकवि माघ के शिशुपाल वध से भी परदे की प्रथा की सत्ता सूचित होती है। वहाँ लिखा है, कि जब नारी के मुख पर से परदा खिसक जाता है, तो क्षण भर के लिये उसके मुख की श्री (छवि) दीख जाती है। जिन काव्यों व नाटकों से ये संकेत यहाँ दिये गये हैं, वे सब पूर्व-मध्य काल या उससे भी कुछ समय पहले के हैं। इससे यह परिणाम निकाला जा सकता है, कि दूसरी सदी ईस्वी पूर्व के लगभग स्त्रियों में परदे की जिस प्रथा का प्रारम्भ हुआ था, वह सातवीं-आठवीं सदियों तक अवश्य विद्यमान रही थी। पर यह कल्पना भी असंगत नहीं होगी कि यह प्रथा सर्वसाधारण जनता में प्रचलित नहीं थी, और यह राजकुलों तथा उच्च सम्भ्रान्त परिवारों तक ही सीमित थी। वर्तमान भारत में भी सर्वसाधारण कृषक-श्रमिक वर्ग के परिवारों में यह प्रथा नहीं पायी जाती।

साथ ही, यह भी उल्लेखनीय है कि परदे की प्रथा का प्रचार विशेषतया उन्हीं प्रदेशों में था जो यवन, शक, कुशाण, हूण आदि विदेशी जातियों द्वारा आक्रान्त हुए थे। मध्य भारत तथा दक्षिणी प्रदेशों में इसका प्रचलन नहीं हुआ था। यही कारण है कि अजन्ता, एल्लोरा, साञ्ची, भरहुत आदि नें स्त्रियों के जो चित्र अंकित हैं या जो स्त्री-मूर्तियाँ विद्यमान हैं; उनमें कहीं भी स्त्रियों को परदे में नहीं दिखाया गया है। इन चित्र-फलकों तथा मूर्तियों का निर्माण भी पूर्व-मध्यकाल तथा उससे पूर्ववर्ती समय में ही हुआ था। वहाँ स्त्रियों को परदे में न दिखाया जाना यह सूचित करता है, कि भारत के मध्य तथा दक्षिणवर्ती प्रदेशों में इस प्रथा का अभाव था।

(५) सती प्रथा

पति के शव के साथ पत्नी के भी चिता पर आरूढ़ हो जाने की प्रथा को सती-प्रथा कहा जाता है, जो ब्रिटिश शासन के स्थापित होने के समय भारत के कतिपय प्रदेशों तथा कुछ कुलों में प्रचलित थी। इस प्रथा का प्रारम्भ कब हुआ, यह विषय बहुत विवाद-ग्रस्त है। कतिपय विद्वानों का मत है कि वैदिक तथा उत्तर-वैदिक कालों में भी इस प्रथा की सत्ता थी, और इस मत की पुष्टि में उन द्वारा इस समय के साहित्य से कुछ प्रमाण भी प्रस्तुत किये जाते हैं। पर जो मन्त्र इस मत की पुष्टि में पेश किये जाते हैं, उनके अर्थ व अभिप्राय के सम्बन्ध में बहुत मतभेद हैं। अतः यह स्वीकार कर सकना सम्भव नहीं है, कि भारतीय इतिहास के अत्यन्त प्राचीन काल में सती प्रथा की असन्दिग्ध रूप से सत्ता थी। इन मन्त्रों व संदर्भों से केवल यह संकेत मिलता है कि पत्नी भी मृत पति की शव-यात्रा में सम्मिलित होती थी, पर श्मशान से उसे वापस लौटा लाया जाता था और सब कोई उसके भावी जीवन को सुखमय बनाने के लिये कामना किया करते थे। पर रामायण और महाभारत में ऐसे श्लोक अवश्य विद्यमान हैं, जिनसे सती प्रथा की सत्ता सूचित होती है। रामायण में वेदवती के ज्वलित जातवेदस (अग्नि) में अपने को गिरा देने का उल्लेख है। महाभारत के अनुसार पाण्डु की पत्नी माद्री पाण्डु के शव को चिता पर रखने के समय स्वयं भी चिता पर आरूढ़ हो गई थी। महाभारत के मौसल पर्व में कथा दी गई है

कि कृष्ण के पिता वासुदेव के मर जाने पर उनकी चारों पत्नियों ने अपने पति के साथ चिता में प्रवेश किया था। शान्ति पर्व में एक कपोत और कपोती की कथा आती है, जिसके अनुसार कपोत के मर जाने पर कपोती ने यह अनुभव किया था कि अब मेरे जीवित रहने से लाभ ही क्या है, और वह अपने पति के शव के साथ स्वयं भी चिताग्नि में भस्म हो गई थी। इन संदर्भों से यह स्पष्ट है कि जिस काल में रामायण और महाभारत ने अपना वर्तमान रूप प्राप्त किया, तब तक भारत में सतीप्रथा का प्रारम्भ हो चुका था। सिकन्दर ने जब भारत पर आक्रमण किया, तो इस देश के अनेक जनपदों में सती प्रथा प्रचलित थी। गान्धार और कठ जनपदों में इस प्रथा की सत्ता का उल्लेख ग्रीक विवरणों में विद्यमान है। उस समय स्त्रियों द्वारा जौहर व्रत ग्रहण कर प्राणत्याग कर देने की प्रथा के भी अनेक संकेत ग्रीक लेखकों के ग्रन्थों में पाये जाते है। कठ और आग्रेय जनपदों के वीर-पुरुष जब यवन आक्रान्ताओं द्वारा परास्त हो गये, और रणक्षेत्र में लड़ते-लड़ते उन्होंने अपने प्राणों की आहुति दे दी, तो उनकी स्त्रियों ने भी जौहर व्रत द्वारा अपने जीवन का अन्त कर दिया था। मध्यकाल के राजपूतों में जौहर की जो प्रथा थी, वह प्राचीन काल में चौथी सदी ईस्वी पूर्व में भी विद्यमान थी, यह असंदिग्ध है।

पौराणिक साहित्य में भी सती प्रथा की सत्ता के प्रमाण विद्यमान हैं। विष्णुपुराण के अनुसार कृष्ण की मृत्यु के पश्चात् उनकी आठों पत्नियों ने अपने पति के शव के साथ चिता में प्रवेश किया था। कृष्ण की इन पत्नियों में रुक्मिणी प्रमुख थी। इसी पुराण में बलराम की मृत्यु हो जाने पर उनकी पत्नी रेवती ने अग्नि प्रवेश कर लिया था और पति की देह के सम्पर्क से अग्नि को भी शीतल अनुभव किया था। ब्रह्मपुराण में लिखा है कि पति के मर जाने पर सती साध्वी स्त्रियों के लिये यही एकमात्र गति है, कि वे भी पति के शव के साथ चिता पर आरूढ़ हो जाएँ। पति के वियोग से उत्पन्न होने वाली जलन के शमन का अन्य कोई उपाय नहीं है। यदि पति की मृत्यु किसी देशान्तर में हो जाए, तो पत्नी को चाहिए कि उसकी पादुकाओं को साथ लेकर संशुद्ध रूप से अग्नि में प्रवेश कर ले। कृत्यकल्पतरु के अनुसार चिता में पति का अनुगमन करने वाली स्त्री माता, पिता तथा पति—तीनों के कुलों को पवित्र करती है। पति की मृत्यु हो जाने पर जब तक उसकी पतिव्रता स्त्री अपने शरीर को भस्म नहीं कर देती, वह शरीर से मुक्ति नहीं पा सकती।

प्राचीन अभिलेखों तथा पूर्व-मध्य काल के अनेक ग्रन्थों में भी सती प्रथा के प्रचलन के अनेक संकेत पाये जाते हैं। छठी सदी में जब हूणों ने भारत पर आक्रमण किये, तो उनसे युद्ध करते हुए सेनापति गोपराज की मृत्यु हो गई थी। गुप्तयुग के एक अभिलेख में गोपराज की 'भक्ता, अनुरक्ता, प्रिया एवं कान्ता' भार्या द्वारा उनके शव के साथ अग्निराशि (चिता) में प्रवेश कर लेने का उल्लेख है। जोधपुर के एक अभिलेख के अनुसार गुहिल वंश की दो रानियों ने अपने पति के साथ अग्नि में प्रवेश कर सती धर्म का पालन किया था। जोधपुर क्षेत्र के ही एक अन्य अभिलेख में एक राजपूत सामन्त राजा का उल्लेख है, जिसका नाम राणुक था। उसकी पत्नी सम्पलदेवी थी, जो अपने पति के साथ सती हो गई थी। नेपाल के एक अभिलेख में राजा धर्मदेव

के मर जाने पर उसकी पत्नी राज्यवती के अग्नि में प्रवेश का उल्लेख है। बाणभट्ट के 'हर्षचरितम्' के अनुसार स्थानेश्वर के राजा प्रभाकर वर्धन की मृत्यु हो जाने पर उसकी पत्नी चितारोहण के लिये उद्यत हो गई थी। काश्मीर के प्राचीन इतिहास राजतरङ्गिणी में लिखा है कि राजा शंकर वर्मा के मर जाने पर उसकी पटरानी सुरेन्द्रवती तथा तीन अन्य रानियों ने अपने पति के साथ चिता में प्रवेश किया था। इसी ग्रन्थ के अनुसार राजा कन्दर्पसिंह की मृत्यु के पश्चात् उसकी पत्नी ने भी हुताशन (अग्नि) में प्रवेश कर अपने शरीर को भस्म कर दिया था। कथासरित्सागर में भी ऐसी कथाएँ विद्यमान हैं, जिनमें पत्नी का पति के शव के साथ चिता पर आरूढ़ हो जाने का वर्णन है। इन सब प्रमाणों को दृष्टि में रखने पर यह स्वीकार करना पड़ता है कि ईस्वी सन् के प्रारम्भ होने से पूर्व ही भारत में सती प्रथा का प्रचलन शुरू हो गया था। सम्भवतः, यह प्रथा भी उसी समय शुरू हुई थी, जब कि विदेशी जातियों के निरन्तर आक्रमणों के कारण भारतीय महिलाओं के लिए अपने सतीत्व की रक्षा कर सकना सुगम नहीं रहा था। इन आक्रमणों के कारण भारत में जो परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गई थीं, उनमें विधवा स्त्री को यही उचित प्रतीत होने लगा था कि वह भी पति के साथ अपने जीवन का अन्त कर ले, क्योंकि उसे अब कोई समर्थ रक्षक दृष्टिगोचर नहीं होता था। सती प्रथा के प्रचलन के संकेत न बौद्ध-साहित्य में मिलते हैं, न सूत्रग्रन्थों में और न कौटलीय अर्थशास्त्र में। इससे यह परिणाम निकालना असंगत नहीं होगा कि इस प्रथा का सूत्रपात विदेशी आक्रमणों के काल में ही हुआ था। पर इस से यह नहीं समझना चाहिए, कि प्राचीन भारतीय इतिहास के मौर्योत्तर युग तथा उसके पश्चात् के काल में सभी स्त्रियाँ पति की मृत्यु हो जाने पर सती होने गई थीं। यह प्रथा केवल कुछ विशिष्ट कुलों में ही प्रचलित थी। यही कारण है कि प्राचीन स्मृतियों तथा धर्मग्रन्थों में विधवा स्त्रियों के सम्बन्ध में अनेक ऐसी व्यवस्थाएँ की गई हैं जिनकी उस दशा में कोई भी आवश्यकता नहीं थी जबकि सभी विधवाएँ पति के साथ चिता पर आरोहण कर लिया करतीं। इन ग्रन्थों में जहाँ विधवाओं के लिये कतिपय दशाओं में पुनर्विवाह का विधान किया गया है, वहाँ साथ ही ऐसे नियम भी प्रतिपादित किये गये हैं जिनका पालन विधवाओं द्वारा किया जाना चाहिए। बृहस्पति-स्मृति के अनुसार पति की मृत्यु हो जाने पर जो पतिव्रता स्त्री निष्ठापूर्वक जीवन व्यतीत करती है, वह सब पापों से मुक्त होकर पतिलोक को प्राप्त होती है। मनुस्मृति में लिखा है कि विधवा पुष्प, मूल तथा फलों का भोजन किया करे और किसी अन्य पुरुष का नाम तक भी न ले। मत्स्यपुराण के अनुसार विधवा स्त्री को चाहिए कि वह आभूषणों का त्याग कर दे, मैले वस्त्र पहने और केशों का शृंगार न करे। स्मृतिग्रन्थों में विधवा के लिये ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने तथा तप नियम संयम से जीवन बिताने का विधान किया गया है। यह सब तभी सम्भव था, जबकि पति की मृत्यु हो जाने पर स्त्री पति के शव के साथ चितारोहण न करके वैधव्य जीवन व्यतीत करे। अतः यह स्वीकार करना होगा कि सती प्रथा सार्वजनिक न होकर कतिपय विशिष्ट कुलों तक ही सीमित थी, और कतिपय विशेष अवस्थाओं में ही विधवाएँ सती हुआ करती थीं।

इस प्रसंग में यह भी ध्यान में रखना चाहिए, कि अनेक प्राचीन ग्रन्थों में सती-

प्रथा का विरोध भी किया गया है। महानिर्वाणतन्त्र के अनुसार जो स्त्री मोह के वशीभूत होकर मृत पति के साथ चितारोहण करती है, वह नरकगामिनी होती है। स्मृतिचन्द्रिका के व्यवहार काण्ड में यह प्रतिपादित किया गया है कि सती होना एक जघन्य कार्य है। महाकवि बाणभट्ट ने तो सती होने को आत्महत्या तक की संज्ञा दी है, और यह लिखा है कि सती होकर स्त्री जो पाप करती है, उसका फल नरक गमन होता है। प्राचीन साहित्य में अन्यत्र भी इसी प्रकार के विचार पाये जाते हैं, जिनसे यह स्पष्ट है कि प्राचीन भारत के अनेक विचारक सती प्रथा के विरोधी भी थे। इस दशा में यदि इस प्रथा ने सार्वजनिक रूप न प्राप्त किया हो, तो यह सर्वथा स्वाभाविक था।

अगले अध्याय में विवाह के सम्बन्ध में विचार करते हुए विधवा विवाह के विषय में लिखा जाएगा। विधवा विवाह का शास्त्रानुमोदित होना ही इस बात का सबसे पुष्ट प्रमाण है कि प्राचीन समय में सती प्रथा का प्रचलन बहुत सीमित था और बहुसंख्यक स्त्रियाँ विधवा हो जाने पर या तो ब्रह्मचर्य तथा संयम के साथ जीवन व्यतीत किया करती थीं और या पुनर्विवाह कर लेती थीं।

(६) गणिकाएँ और रूपाजीवाएँ

प्राचीन भारत में सभी स्त्रियाँ विवाह करके गृहस्थ जीवन ही व्यतीत नहीं किया करती थीं। उस समय के समाज में गणिकाओं और रूपाजीवाओं का भी विशिष्ट स्थान था, और बहुत-सी स्त्रियाँ नृत्य, वादन तथा संगीत द्वारा जनसाधारण का मनोरंजन करने में भी व्यापृत रहा करती थीं। ऐसी स्त्रियों को समाज में सम्मानास्पद स्थान भी प्राप्त था। बौद्ध साहित्य से गणिकाओं की स्थिति पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। बौद्ध काल के अनेक गणराज्यों में यह प्रथा थी कि अत्यधिक सुन्दर स्त्रियाँ अविवाहित रहकर सबका मनोरंजन किया करें और अपने को विवाह के बन्धन में न बाँधें। सम्पूर्ण गण (गण राज्य के सब निवासियों) द्वारा समान रूप से उपभोग्य होने के कारण ही ऐसी स्त्रियों को 'गणिका' कहा जाता था। वज्जिसंघ की राजधानी वैशाली की अम्बपाली इसी प्रकार की गणिका थी। महावग्ग के अनुसार वैशाली की यात्रा से लौटकर आए हुए एक श्रेष्ठि ने मगधराज बिम्बिसार को यह बताया था कि समृद्ध तथा ऐश्वर्यसम्पन्न वैशाली नगरी में अम्बपाली नाम की एक गणिका निवास करती है, जो परमसुन्दरी, रमणीया, सुन्दरवर्णा, बहुदर्शनीया तथा गायन, वादन और नृत्य में परम प्रवीण है। महावग्ग में यह भी लिखा है, कि बिम्बिसार के समय में राजगृह में भी एक गणिका थी, जिसका नाम सालवती था। वह भी बड़े ठाट-बाठ के साथ रहती थी और समाज में उसका स्थान बड़े सम्मान का था। राजा द्वारा उसका गणिका के पद पर अभिषेक भी किया गया था। अम्बपाली और सालवती जैसी गणिकाएँ नृत्य, संगीत और वादन में अत्यन्त प्रवीण होती थीं, और राजकुल तथा सम्भ्रान्त वर्ग के लोगों का अपनी कला द्वारा मनोरंजन किया करती थीं। समाज में इन्हें जो उच्च स्थान प्राप्त था, उसका अनुमान इसी बात से किया जा सकता है कि महात्मा बुद्ध ने अम्बपाली के निमन्त्रण को स्वीकार कर उसका आतिथ्य ग्रहण किया

था। यद्यपि ये गणिकाएँ विवाह बन्धन से दूर रहती थीं, पर किसी पुरुष से प्रणय कर उसे अपने शरीर को समर्पित कर देना इनके लिए अस्वाभाविक नहीं होता था। इसीलिए इनसे सन्तान भी उत्पन्न हो जाती थी, जिसे समाज में हीन नहीं समझा जाता था। बौद्ध युग का प्रसिद्ध वैद्य जीवक गंणिका सालवती का पुत्र था, और बड़ा होने पर उसने राजगृह के राजवैद्य का पद प्राप्त किया था। बौद्ध साहित्य में अन्य भी अनेक गणिकाओं का वर्णन विद्यमान है। एक जातक कथा के अनुसार एक श्रेष्ठि पुत्र गणिका को प्रतिदिन एक सहस्र कार्षापण प्रदान किया करता था। गणिका का उसके प्रति कोई भी आकर्षण नहीं था। वह केवल धन के लोभ में उसे अपने पास आने देती थी। एक दिन जब वह श्रेष्ठिपुत्र गणिका के समीप गया, तो उसके पास एक भी कार्षापण नहीं था। इस पर गणिका ने उसे अपने घर में घुसने नहीं दिया, जिसके कारण उसे वैराग्य हो गया और उसने भिक्षुव्रत ग्रहण कर लिया।

प्राचीन भारत की गणिकाओं तथा रूपाजीवाओं के सम्बन्ध में कौटलीय अर्थशास्त्र से जो परिचय मिलता है, वह अत्यन्त महत्त्व का है। अन्य साहित्य में गणिकाओं का जो वर्णन है, उसे यहाँ न लिखकर अर्थशास्त्र के आधार पर उनका परिचय देना अधिक उपयोगी होगा। अर्थशास्त्र के अनुसार विवाह द्वारा पारिवारिक जीवन न बिताकर गणिका या रूपजीवा के रूप में स्वतन्त्र जीवन बिताने वाली स्त्रियों को तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है, राजकीय सेवा में कार्य करने वाली स्त्रियाँ जिन्हें 'गणिका' कहते थे, रूपाजीवाएँ जो स्वतन्त्र रूप से पेशा करती थीं, और ऐसी स्त्रियाँ जो गुप्तचर के रूप में कार्यकरती थीं। इन तीनों प्रकार की स्त्रियों के सम्बन्ध में कौटलीय अर्थशास्त्र द्वारा परिचय प्राप्त होता है।

मौर्य राजाओं के राजप्रासाद अत्यन्त विशाल होते थे। उनमें हजारों स्त्री-पुरुष निवास करते थे, जो राजा और उसके परिजनों की विविध प्रकार की आवश्यकताओं को पूर्ण करते थे। राजा के मनोरंजन के लिए बहुत-सी गणिकाएँ भी वहाँ निवास करती थीं। गणिकाध्यक्ष संज्ञक राजपदाधिकारी द्वारा एक प्रधान गणिका की नियुक्ति की जाती थी, जो रूपवती, युवती और शिल्प-सम्पन्ना (नृत्य, संगीत, वादन आदि शिल्पों में निपुण) होती थीं। यह आवश्यक नहीं था, कि यह गणिका-परिवार में ही उत्पन्न हुई हो। ऐसी स्त्री को भी प्रधान गणिका के पद पर नियुक्त किया जा सकता था, जो गणिका-परिवार में उत्पन्न न हुई हो। इसे एक हजार पण वार्षिक वेतन प्रदान किया जाता था। प्रधान गणिका के अतिरिक्त एक प्रतिगणिका की भी नियुक्ति की जाती थी, जिसका वेतन ५०० पण वार्षिक होता था। इन दो प्रमुख गणिकाओं के अतिरिक्त अन्य बहुत-सी गणिकाएं राजा की सेवा के लिए रहती थीं, जिन्हें उत्तम, मध्य और कनिष्ठ वर्गों में विभक्त किया जाता था। गणिकाओं का यह वर्गीकरण उनके रूप, यौवन और अलङ्करण आदि को दृष्टि में रखकर किया जाता था। इन सबको भरपूर वेतन मिलता था, और ये राजा के छत्र, भृङ्गार (सुवर्ण-कलश) और व्यजन (पंखा) को धारण करती थीं, और राजा की शिविका (पालकी), रथ तथा पीठिका (गद्दी) के साथ-साथ रहती थीं। आठ साल की आयु से ही इन्हें

राजकीय सेवा में नियुक्त कर दिया जाता था, और तभी से ये राजदरबार में नृत्य, गायन आदि के कार्य प्रारम्भ कर देती थीं।

जब कोई गणिका अपना रूप यौवन खो देती थी, तो उसे कोष्ठागार या महानस (रसोईघर) में कार्य करने के लिए भेज दिया जाता था, या उससे मातृका (परिचारिका) का कार्य लिया जाने लगता था। गणिकाओं की रक्षा पर राज्य की ओर से विशेष ध्यान दिया जाता था। यदि कोई व्यक्ति किसी गणिका की माता, दुहिता या रूपदासी को क्षति पहुँचाए, तो उसके लिए उत्तम-साहस दण्ड का विधान था। यह अपराध बार-बार करने पर दण्ड की मात्रा अधिक कर दी जाती थी।

राजा द्वारा गणिकाओं को अन्य पुरुषों के साथ भोग करने का भी आदेश दिया जा सकता था। यदि कोई गणिका राजाज्ञा से किसी पुरुष के पास जाने से इन्कार करे, तो उसके लिए अत्यन्त कठोर दण्ड की व्यवस्था थी। यह दण्ड या तो एक सहस्र शिफा (कोड़ों) का होता था, और या पाँच हजार पण जुरमाने का।

जो स्त्रियाँ राजकीय सेवा में न रहती हुई स्वतन्त्र रूप से पेशा करती थीं, उन्हें रूपाजीवा (रूप द्वारा आजीविका कमाने वाली) कहते थे। उन्हें अपनी दैनिक आमदनी का दुगना मासिक रूप से राज्य को प्रदान करना होता था। राज्य की ओर से एक पृथक् पुरुष (राजपुरुष) इस कार्य के लिए नियुक्त किया जाता था, कि वह इन रूपाजीवाओं की आमदनी, स्थिति आदि का परिज्ञान रखे। रूपाजीवाओं का यह कर्त्तव्य माना जाता था, कि वे अपनी आमदनी आदि के सम्बन्ध में इस राजपुरुष को सूचना देती रहें।

रूपाजीवाओं के लिए यह आवश्यक समझा जाता था, कि वे गीत (गायन), वाद्य (वादन), पाठ्य (पढ़ने), नृत्य, नाट्य, अक्षर (लिखने), चित्र (चित्रकारी करने), वीणा, वेणू और मृदङ्ग को बजाने, पर-चित्त-ज्ञान (दूसरों के मनोभावों को समझने), गन्ध और माल्य (विविध प्रकार की सुगन्धियों का प्रयोग करने और मालाएँ बनाने), केशविन्यास, दूसरों को आकृष्ट करने और उनके मन को अपने में केन्द्रित करने की कलाओं में प्रवीण हों। उनका प्रधान कार्य नृत्य, नाट्य, संगीत आदि द्वारा लोगों का मनोरंजन करना होता था, यद्यपि वे भोग के लिए अपने शरीर को भी उनके अर्पित किया करती थीं।

रूपाजीवाएँ अपना पेशा करती हुई किन व्यवस्थाओं के अधीन रहती थीं, इस विषय में भी कतिपय निर्देश कौटलीय अर्थशास्त्र में विद्यमान हैं। जब कोई रूपाजीवा किसी पुरुष से भोग-शुल्क प्राप्त कर ले, पर उसके प्रति विरोध भाव प्रदर्शित करे, तो उस पर उस धनराशि से दुगना जुरमाना किया जाता था, जोकि उसने भोगशुल्क के रूप में प्राप्त की हो। यदि रूपाजीवा पुरुष से भोगशुल्क प्राप्त कर लेने पर और उसके घर आ जाने पर उसे भोग न करने दे, तो उसे भोगशुल्क का आठ गुना जुरमाना देना होता था। पर यदि रूपाजीवा पुरुष के रुग्ण होने के कारण या उसमें पौरुष का अभाव होने के कारण उससे भोग करने से इन्कार करे, तो वह दण्डनीय नहीं होती थी। यदि कोई पुरुष रूपाजीवा को निर्धारित भोगशुल्क प्रदान न करे, या रूपाजीवा

के पास आकर उसके आभूषणों या धन की चोरी करे, तो उसे भी दण्ड दिया जाता था, और इस दण्ड की मात्रा भोगशुल्क या चोरी किये गए द्रव्य से आठ गुणा होती थी। रूपाजीवा की इच्छा के विरुद्ध उससे भोग करने का प्रयत्न करने पर और उसे किसी प्रकार से क्षति पहुँचाने पर भी पुरुष के लिए अनेकविध दण्डों का विधान था।

मौर्य युग के नगरों में रूपाजीवाओं के लिए पृथक् रूप से स्थान सुरक्षित रखा जाता था। कौटल्य ने लिखा है, कि रूपाजीवाएँ, नाचने गाने वाले और वेश्याएँ नगर के दक्षिणी भाग में निवास करें। नगर के इसी भाग में पक्वान्न, सुरा (शराब) और मांस की दूकानों के लिए भी स्थान रखा गया है। सेना के स्कन्धावारों (छावनियों) तक में रूपाजीवाओं को स्थान दिया जाता था। रूपाजीवाएँ अकेली रह कर ही अपना पेशा नहीं करती थीं, अपितु ऐसा प्रतीत होता है कि मौर्य युग में उस प्रकार के संगठन भी विद्यमान थे, जिन्हें वर्तमान समय में चकला कहते हैं। इनके सञ्चालकों को 'बन्धकिपोषक' कहा जाता था। कोश के क्षीण हो जाने पर राजा किन विविध उपायों द्वारा कोश की वृद्धि करे, इसका निरूपण करते हुए कौटल्य ने लिखा है कि बन्धकिपोषक राजप्रेष्या (जो राजा की सेवा के लिए भेजी जाने योग्य हों), परमरूप-यौवना (अत्यन्त रूपवती और यौवन सम्पन्न) रूपाजीवाओं द्वारा कोश एकत्र कराएँ। इसी प्रकार संघ-जनपदों के संघ-मुख्यों में किस प्रकार भेद उत्पन्न किये जाएँ, इस विषय का प्रतिपादन करते हुए कौटलीय अर्थशास्त्र में यह कहा गया है, कि बन्धकि-पोषक परमरूपयौवना स्त्रियों द्वारा संघ-मुख्यों को उन्मत्त करें। इससे यह सूचित होता है, कि बन्धकिपोषक संज्ञक व्यक्ति बहुत-सी रूपाजीवाओं को अपने पास रखा करते थे, और उनसे पेशा कराया करते थे।

राज्य की सेवा में जो गणिकाएँ होती थीं, उनकी स्थिति प्रायः दासियों के सदृश हुआ करती थी। उन्हें जीवनपर्यन्त राज्य की सेवा में ही रहना पड़ता था। पर धन देकर उनके लिए स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकना भी सम्भव था। गणिका चौबीस हजार पण देकर अपनी स्वतन्त्रता खरीद सकती थी। गणिकाओं की स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए जो इतनी अधिक कीमत निर्धारित की गई है, उससे यह अनुमान कर सकना कठिन नहीं है, कि उनकी आमदनी बहुत अधिक होती थी।

मौर्य युग में स्त्रियों का एक ऐसा वर्ग भी था, जिसे मदिरा के व्यापारी अपने पानागारों में आगन्तुकों की सेवा के लिए रखा करते थे। कौटल्य ने इन्हें 'पेशलरूपा दासी' की संज्ञा दी है। सम्भवतः, ये भी एक प्रकार की रूपाजीवाएं ही होती थीं, जो मद्यपान के लिए आये हुए पुरुषों की सेवा और मनोरंजन का कार्य करती थीं। इनसे गुप्तचर का कार्य भी लिया जाता था। जब मद्यपान करने वाले लोग सुरा के प्रभाव से बेसुध हो जाते थे, तो ये उनके मनोभावों का पता लगाया करती थीं।

मौर्य युग के पश्चात् भारत के सामाजिक जीवन में गणिकाओं का क्या स्थान था, इस सम्बन्ध में कतिपय बातें उल्लेखनीय हैं। मनुस्मृति तथा याज्ञवल्क्य स्मृति में गणिकाओं को उन व्यक्तियों में गिना गया है, जिनके यहाँ भोजन करना निषिद्ध था। इससे यह संकेत मिलता है, कि मौर्योत्तर काल में गणिकाओं की सामाजिक स्थिति

हीन मानी जाने लगी थी । पर इस युग में भी गणिकाओं के लिए विविध कलाओं में निष्णात होना उपयोगी समझा जाता था । वात्स्यायन के कामसूत्र के अनुसार ऐसी वेश्या को गणिका कहते थे, जो 'शीलरूपगुणान्विता' होने के साथ-साथ ६४ कलाओं में भी प्रवीण हो । ऐसी गणिका राजा तथा गुणवन्त लोगों से 'संतुता' 'प्रार्थनीया' और 'अभिगम्या' होती थी, और जनसंसद् में उसे प्रतिष्ठा व पूजा प्राप्त होती थी ।

मौर्योत्तर युग में जब भारत पर विदेशियों के आक्रमण प्रारम्भ हुए, तो कन्याओं का छोटी आयु में ही विवाह कर देने की प्रथा भी शुरू हो गई थी । इसके कारण उनके लिए उच्च शिक्षा प्राप्त कर सकना सम्भव नहीं रहा था । पर जो कन्याएँ विवाह न कर गणिका जीवन बिताती थीं, वे विविध कलाओं के साथ-साथ उच्च शिक्षा भी प्राप्त करती थीं । इसी का यह परिणाम था कि सामाजिक जीवन में उन्हें सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था । सम्भ्रान्त वर्ग के लोगों से उन्हें अपार धन सम्पत्ति प्राप्त होती थी, जिसके कारण वे सुख भोग का जीवन बिताने में समर्थ रहती थीं ।

नवां अध्याय

विवाह और पारिवारिक जीवन

(१) विवाह

प्राचीन धर्मशास्त्रों के अनुसार विवाह एक धार्मिक कृत्य है। मानव जीवन जिन चार आश्रमों—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास—में विभक्त है, उनमें गृहस्थ आश्रम को सबसे प्रधान व आधारभूत माना गया है। अतः प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है, कि वह विवाह करके गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करे। पत्नी के बिना कोई भी यज्ञ व धार्मिक कृत्य पूरा नहीं हो सकता, अतः विवाह करना प्रत्येक पुरुष का धार्मिक कृत्य हो जाता है। ऋग्वेद के अनुसार देव पूजन में पति और पत्नी एक दूसरे के सहायक होते हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा गया है कि जो पुरुष अपत्नीक (पत्नी से रहित) हो, वह 'अयज्ञिय' (जिसे यज्ञ करने का अधिकार न हो) होता है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार जाया (स्त्री) पुरुष की 'अर्ध' (आधी) होती है, और उसे प्राप्त करके ही मनुष्य 'सर्व' (पूर्ण) बनता है। अग्निहोत्र आदि यज्ञों के अनुष्ठान के लिये पत्नी का इतना अधिक महत्त्व था, कि पत्नी की मृत्यु हो जाने पर पुरुष के लिये पुनर्विवाह का इसी कारण विधान किया गया था, ताकि वह यज्ञों को सम्पन्न कर सके। याज्ञवल्क्य स्मृति में पुनर्विवाह के पक्ष में यही युक्ति दी गई है। वहाँ लिखा है कि पत्नी के दाह संस्कार के पश्चात् 'अविलम्ब' अन्य स्त्री से विवाह कर लिया जाए। धार्मिक अनुष्ठानों के लिये पत्नी का जो महत्त्व था, उसी के कारण उसे 'सहधर्मिणी' और 'अर्धाङ्गिनी' कहा जाता था। वैदिक संहिताओं और ब्राह्मण ग्रन्थों में विवाह को जिस प्रकार एक धार्मिक कृत्य के रूप में प्रतिपादित किया गया है, धर्मसूत्रों तथा स्मृतियों ने प्रायः उसी का अनुसरण किया। क्योंकि विवाह एक धार्मिक कृत्य था, अतः पति और पत्नी का सम्बन्ध भी शाश्वत माना गया था, और धर्म-ग्रन्थों को यह अभीष्ट नहीं था, कि तलाक आदि द्वारा इस सम्बन्ध का विच्छेद हो सके।

पर अर्थशास्त्रकारों की दृष्टि में विवाह का स्वरूप संविदा या इकरार का था। यह इकरार या तो पति और पत्नी स्वेच्छापूर्वक स्वयं करते थे और या उनके माता-पिता द्वारा किया जाता था। विवाह का आधार संविदा को मानने के कारण ही कौटलीय अर्थशास्त्र में कतिपय दशाओं में 'मोक्ष' (तलाक) की भी अनुमति दी गई है।

मनुस्मृति में विवाह के निम्नलिखित प्रयोजन निरूपित किये गए हैं—(१) अपत्य या सन्तान की प्राप्ति, (२) धर्म कार्य या याज्ञिक अनुष्ठान आदि, (३) रति-ऐन्द्रिय सुख, और (४) स्वर्ग, अपने लिये तथा पितरों के लिये स्वर्ग की प्राप्ति। मनु के अनुसार ये सब बातें 'दाराधीन' (पत्नी के अधीन) हैं, अतः सब किसी को विवाह बन्धन में बंध कर इनकी प्राप्ति करनी चाहिये। विवाह का एक प्रधान प्रयोजन सन्तान की प्राप्ति है। ऋग्वेद के एक मन्त्र में विवाह के अनन्तर वर और वधू को दस सन्तान उत्पन्न करने

का आर्शीवाद दिया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण में पुत्र को संसार सागर को पार करने वाली "तरिणी' (नौका) कहा गया है। एक अन्य शास्त्र के अनुसार पुत्र का अर्थ 'पुम्' नामक नरक से रक्षा करने वाला है। 'पुत्र' इसीलिये कहाता है, क्योंकि वह 'पुम्' नरक से रक्षा करता है। मनुस्मृति में लिखा है कि पुत्र द्वारा पिता लोकों की विजय करता है, और पौत्र द्वारा 'आनन्त्य' (मोक्ष) को प्राप्त करता है। पुत्र प्राप्ति भी शास्त्रकारों के अनुसार एक धार्मिक कर्त्तव्य ही है, जिसके लिए विवाह करना सब के लिये आवश्यक है। क्योंकि यज्ञ आदि कोई भी धार्मिक कृत्य पत्नी के बिना पूर्ण नहीं हो सकता, अतः धार्मिक कर्म-काण्ड के अनुष्ठान के लिये भी विवाह की आवश्यकता है। रति या लैंगिक सुख की प्राप्ति का साधन भी विवाह ही है। बृहदारण्यक उपनिषद के अनुसार प्रिया स्त्री के सम्पर्क में मनुष्य को किसी बाह्य बात का ज्ञान नहीं रहता। उस अवसर का मनुष्य उत्कृष्ट रति-सुख का भोग करता है। मानव जीवन का यह भी एक अंग है, जिसे मर्यादित रूप विवाह द्वारा ही प्राप्त होता है। प्राचीन शास्त्रकारों के धर्म और मोक्ष के साथ 'अर्थ' और 'काम' का भी निरुपण करते हुए साथ ही यह भी प्रतिपादित किया है कि काम का सेवन धर्म के प्रतिकूल रूप में न किया जाए। धर्मानुकूल रूप में काम का सेवन विवाह द्वारा ही सम्भव है। मनुस्मृति के अनुसार ऐसे अर्थ और काम का परित्याग कर देना चाहिए जो कि धर्म वर्जित या धर्मविरुद्ध हो। काम या रति का सेवन यदि विवाह के बिना किया जाए, तो धर्मविरुद्ध होने के कारण वह समुचित नहीं होगा। स्वर्ग की प्राप्ति भी विवाह का अन्यतम प्रयोजन है। प्राचीन विचारक यह मानते थे कि धर्म, अर्थ और काम स्वर्ग प्राप्ति के लिये सोपान रूप में हैं। उन्होंने धर्म का यह लक्षण किया था कि जिससे अभ्युदय (सांसारिक उन्नति) और निःश्रेयस (मोक्ष) की प्राप्ति हो, वही धर्म है। निःश्रेयस की प्राप्ति के लिये सांसारिक अभ्युदय भी आवश्यक हैं, और सांसारिक अभ्युदय के लिये ब्रह्मचर्य तथा गृहस्थ आश्रमों में प्रवेश भी अनिवार्य है। विवाह द्वारा गृहस्थ होकर जब मनुष्य धर्म का पालन, धर्मानुकूल अर्थ (सम्पत्ति) का उपार्जन तथा धर्मानुमत ढंग से काम का सेवन करता है, और इस प्रकार अपना सांसारिक अभ्युदय कर लेता है, तभी वह स्वर्ग अथवा मोक्ष की प्राप्ति के लिये समर्थ होता है। ब्रह्मचर्य और गृहस्थ आश्रमों का जीवन बिताये बिना मनुष्य का वह विकास नहीं हो सकता, जिससे वह स्वर्ग की प्राप्ति के योग्य बनता है। इसीलिये मनु ने विवाह का एक प्रयोजन स्वर्ग भी कहा है।

प्राचीन शास्त्रों के अनुसार विवाह को एक धार्मिक कृत्य माना जाता था, और इसीलिये यह समझा जाता था कि विधिपूर्वक विवाह करके गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करना सब युवकों और युवतियों के लिये आवश्यक है। विशेषतया, पितृऋण से उऋण होने के लिये विवाह तथा सन्तान उत्पन्न करना प्रत्येक मनुष्य का ऐसा कर्त्तव्य था, जिसकी उपेक्षा कर सकना सम्भव नहीं था। प्राचीन साहित्य में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं, जिनमें कि कतिपय व्यक्तियों ने आजीवन ब्रह्मचारी रहने का निश्चय किया, पर अन्त में उन्होंने अपनी भूल अनुभव की और विवाह करके उन्होंने पितृऋण को अदा किया। महाभारत के अनुसार जरत्कारु ने यह निश्चय किया था, कि वह जीवनपर्यन्त ब्रह्मचारी रहेगा, पर उसने अपने पितरों की जब दुर्दशा देखी, तो अपने प्रण को तोड़ दिया

और पितरों की सद्गति के लिये नागराज वासुकी की बहन से विवाह कर पितृऋण से मुक्ति प्राप्त की। महाभारत में लिखा है कि रुचि विवाह को दुःखों और पापों का कारण मानता था, और उसने देर तक विवाह नहीं किया था। पर वृद्धावस्था में उसे अपनी भूल अनुभव हुई, और मालिनी नामक कुमारी के साथ विवाह कर उसने भूल का सुधार किया। स्त्रियों के लिये तो विवाह को और भी अधिक आवश्यक माना जाता था। कौटल्य ने लिखा है कि स्त्रियों का प्रयोजन ही सन्तान उत्पन्न करना है। यही विचार ब्रह्माण्ड पुराण में भी पाया जाता है। उसके अनुसार सन्तान का उत्पादन, उत्पन्न हुई सन्तान का परिपालन और पारिवारिक जीवन स्त्रियों के प्रधान कार्य हैं। प्राचीन आश्रम व्यवस्था के अनुसार संन्यास का अधिकार केवल विद्वान् तपस्वियों को ही था, और वह भी गृहस्थ तथा वानप्रस्थ आश्रमों का जीवन बिताने के पश्चात्। बुद्ध ने प्राचीन परम्परा के विपरीत किशोर वय के बालक-बालिकाओं और युवक-युवतियों को भी भिक्षुव्रत ग्रहण करने की अनुमति प्रदान कर दी, जिसके अनेक दुष्परिणाम हुए। लोग सांसारिक कर्त्तव्यों से विमुख हो निष्क्रिय जीवन बिताने लगे, जिसके कारण आचार्य चाणक्य को यह व्यवस्था करने के लिए विवश होना पड़ा कि केवल ऐसे व्यक्ति ही प्रव्रज्या ग्रहण कर सकें, जिनकी सन्तान उत्पन्न करने की शक्ति नष्ट हो चुकी हो और जो पत्नी तथा सन्तान के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन कर चुके हैं। जो कोई ऐसा किये बिना परिव्राजक या भिक्षु हो जाए, उसे दण्ड दिया जाए और साथ ही उस व्यक्ति को भी जिसने कि उसे भिक्षुव्रत में दीक्षित किया हो। पर बौद्ध धर्म द्वारा युवावस्था में ही भिक्षु बन सकने की जिस परम्परा का सूत्रपात हुआ था, उसके प्रभाव को सुगमता से दूर कर सकना सम्भव नहीं था। इसीलिए आपस्तम्ब धर्म सूत्र में यह प्रतिपादित किया गया है कि जिस दिन भी वैराग्य हो जाए संन्यास ग्रहण कर लिया जाए, चाहे वैराग्य वानप्रस्थ में हुआ हो, चाहे गृहस्थ आश्रम में बौद्ध धर्म व संघ के प्रभाव के कारण मौर्योत्तर युग तथा पूर्व-मध्य काल में ऐसे आश्रमों की भी सत्ता थी, जिनमें किशोर या युवावस्था के लोग संन्यासी बन कर निवास करने लगे थे। पर भारत के प्राचीन शास्त्रकारों को यही अभिप्रेत था, कि जब कोई विधिवत् विवाह कर गृहस्थ आश्रम में प्रवेश किया करें। शास्त्रकार विवाह को एक धर्मकृत्य मानते थे, और उसका निष्पादन सब के लिये आवश्यक समझते थे।

विवाह सम्बन्ध निर्धारित करते समय यह ध्यान में रखा जाता था कि वर और वधू 'सदृश' हों, अर्थात् गुण, कर्म और स्वभाव उनके एक समान हों। जिन दृष्टियों से वर और वधू में 'सादृश्य' की अपेक्षा की जाती थी, वे निम्नलिखित थे—कुल की सदृशता, शील स्वभाव की सदृशता, शरीर व रूप की सदृशता, आयु की अनुकूलता, विद्या की सदृशता, धन (आर्थिक स्थिति) की समानता और दोनों का 'सनाथ' (जिनके माता-पिता जीवित हों) होना। प्राचीन विचारक विवाह-सम्बन्ध को निश्चित करते हुए कुल को बहुत महत्त्व देते थे। आश्वलायन गृह्य सूत्र में लिखा है कि सब से पूर्व पिता और माता दोनों के कुलों की परीक्षा ली जाए। यदि वर और वधू दोनों के पितृ कुल तथा मातृ कुल उत्कृष्ट हों, तभी उनका विवाह किया जाए। मनु का भी यही मत था। उसके अनुसार उत्तम कुल के वर का उत्तम कुल की वधू के साथ ही विवाह होना चाहिये, अधम कुल में

नहीं। उत्तम कुल का क्या अभिप्राय है, इसे याज्ञवल्क्य-स्मृति तथा उस पर लिखे गये विज्ञानेश्वर के भाष्य में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है, कि मातृ पक्ष की दस पीढ़ी से और पितृ पक्ष की पांच पीढ़ियों से श्रोत्रियों का जो कुल विख्यात हो, वही 'महाकुल' या उत्तम कुल कहाता है। कुल, परिवार या वंश के गुण-दोष सन्तान में भी आते हैं, इस तथ्य को दृष्टि में रखने के कारण ही विवाह सम्बन्ध के लिये कुल को भी महत्त्व दिया जाता था। पर कुल के साथ-साथ वर और वधू के व्यक्तिगत गुणों व स्वभाव आदि को दृष्टि में रखना भी आवश्यक था। वर के लिये अखण्ड ब्रह्मचर्य भी एक महत्त्वपूर्ण गुण था। बौधायन धर्मसूत्र के अनुसार ऐसे युवक को ही विवाह करना चाहिये, जो 'अविलुप्तब्रह्मचर्य' हो, और वह ऐसी वधू से ही विवाह कर जो युवावस्था को प्राप्त हो चुकी हो। आपस्तम्ब गृह्यसूत्र' में यह व्यवस्था की गई है कि विवाह-सम्बन्ध निर्धारित करते समय यह भलीभांति परीक्षा ले ली जाए कि वर पुंस्त्व गुण से सम्पन्न है या नहीं और वह युवा, धीमान् और जनप्रिय है या नहीं। मनु ने भी गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने वाले व्यक्तियों के लिये उनका 'अविलुप्तब्रह्मचर्य होना आवश्यक माना है। साथ ही, उनके लिये यह भी आवश्यक है कि उन्होंने कम से कम एक वेद का अध्ययन पूर्ण कर लिया हो। कैसे पुरुषों के साथ विवाह-सम्बन्ध नहीं करना चाहिये, इसका भी शास्त्रों में प्रतिपादन किया गया है। नारद स्मृति के अनुसार लोकविद्विष्ट (जो जनप्रिय न होकर जनता द्वारा धिक्कृत हो), सम्बन्धियों तथा मित्रों द्वारा परित्यक्त, क्षय रोग से ग्रस्त, उदरी (बढ़ी तोंद वाला), प्रमत्त, पतित, कुष्ठी (कुष्ठ रोग से पीड़ित), सगोत्र, अन्ध, बधिर, नपुंसक, विजातीय तथा प्रव्रजित व्यक्ति विवाह के योग्य नहीं होते।

वर के समान वधू के लिये भी कतिपय गुण आवश्यक माने जाते थे। वधू को वन्ध्या न होकर सन्तान उत्पन्न करने में समर्थ होना चाहिये, और विवाह-सम्बन्ध निर्धारित करने से पहले परीक्षा द्वारा यह जान लेना चाहिये कि वह वन्ध्या नहीं है। मनु ने लिखा है कि ऐसी स्त्री से विवाह न किया जाए, जो कपिल (भूरे) रंग की हो, जिसका कोई अंग (यथा उंगली अधिक हो, जो रोगी हो, जिसके शरीर पर बहुत अधिक बाल हों या बाल बिलकुल न हों, जो बहुत वाचाल हो, जिसकी आँखें भूरी हों, जिसका नाम वृक्ष, नदी या पर्वत पर रखा गया हो या जिसका नाम पक्षी या साँप पर हो और या जिसका नाम भयंकर हो। विष्णुपुराण में ऐसी स्त्री को विवाह सम्बन्ध के लिये अवाञ्छनीय माना गया है, जिसका रंग बहुत काला या भूरा हो, जिसका कोई अंग कम या अधिक हो, जो चिररोगिणी हो, जिसके शरीर पर बहुत बाल हों या बाल बिलकुल न हों, जो दुष्टा हो, जिसकी वाणी कटु हो, जिसके होंठों पर बाल हों, जिसका कद बहुत छोटा हो, जिसके दाँत विरल हों और जो बातचीत से सदा व्यंग करती रहती हो। विवाह-सम्बन्ध स्थिर करते समय स्त्री के वित्त, गुण, रूप, प्रज्ञा तथा बन्धु-बान्धवों को दृष्टि में रखा जाता था, और इन गुणों से विरहित स्त्री को विवाह के लिये वाञ्छनीय नहीं समझा जाता था।

विवाह सगोत्र व्यक्तियों में निषिद्ध था। 'गोत्र' कुल या परिवार को कहते हैं। ऐसे वर-वधू का ही विवाह विहित था, जो एक गोत्र के न हों, अर्थात् जिनका जन्म एक

ही कुल में न हुआ हो। इसीलिये न केवल सगे भाई-बहनों में ही, अपितु चचेरे, फुफेरे व ममेरे भाई-बहनों में भी विवाह का निषेध था। पाणिनि के अनुसार पौत्र से प्रारम्भ कर जो सन्तान-परम्परा होती है, उसे ही 'गोत्र' कहते हैं (अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम्)। इस प्रकार एक गोत्र में उत्पन्न सब व्यक्ति परस्पर भाई-बहन होते हैं। इसीलिये 'सगोत्र' विवाह को निषिद्ध किया गया था। गोत्र के साथ ही 'प्रवर' का भी विवाह-सम्बन्ध तय करते हुए ध्यान रखा जाता था। पूर्वपुरुषों में जिसने मन्त्रद्रष्टा होकर वैदिक मन्त्रों का निर्माण या दर्शन किया हो, उसे 'प्रवर' कहते थे। अतः जिन व्यक्तियों का प्रवर एक हो, वे भी एक ही वंश या कुल के माने जाते थे, और उनमें भी विवाह निषिद्ध था। शास्त्रकारों ने सगोत्र और सप्रवर विवाहों को वाञ्छनीय नहीं माना है। गौतम धर्म-सूत्र, आपस्तम्ब धर्म-सूत्र और बौधायन धर्म-सूत्र आदि सभी धर्मशास्त्रों में इसका निषेध किया गया है। बौधायन ने तो यहाँ तक कहा है कि सगोत्र कन्या से माता के समान व्यवहार किया जाए। मनु के अनुसार जो पुरुष बुआ (फूफी), मौसी व मामा की कन्या से विवाह करता है, उसकी शुद्धि चान्द्रायण व्रत द्वारा ही सम्भव है।

धर्मशास्त्रों की इस व्यवस्था का अतिक्रमण करने के उदाहरण भी प्राचीन साहित्य में विद्यमान हैं। सुभद्रा अर्जुन की ममेरी बहन थी, पर यह संबंध उनके विवाह में बाधक नहीं हुआ था। मगध के राजा अजातशत्रु का विवाह अपने मामा कोशल के राजा की पुत्री वजिरा के साथ हुआ था। धम्मपद टीका के अनुसार मघा नामक गृहपति ने अपनी ममेरी बहन सुजाता से विवाह किया था। महावंश में लिखा है कि राजकुमारी चित्रा का विवाह अपने ममेरे भाई दीर्घगामणी के साथ हुआ था। ऐसे ही अन्य भी अनेक उदाहरण प्राचीन साहित्य से दिये जा सकते हैं। वर्तमान समय में भी दक्षिणी भारत के हिन्दुओं में ममेरी बहन के साथ विवाह-सम्बन्ध अनुचित नहीं माना जाता। प्राचीन समय में भी दाक्षिणात्यों में यह प्रथा प्रचलित थी, और इसका संकेत बौधायन धर्म सूत्र में विद्यमान है। जहाँ लिखा है कि दक्षिण के लोगों में ममेरी और फुफेरी बहनों के साथ विवाह-सम्बन्ध प्रचलित था। सम्भवतः, उत्तरी भारत के राजकुलों तथा कतिपय अन्य सम्भ्रान्त वर्ग में भी ऐसे विवाहों चलन था। ऊपर जो उदाहरण दिये गए हैं, उनका सम्बन्ध प्रायः ऐसे कुलों के ही साथ है।

क्योंकि विवाह-सम्बन्ध के लिये कुल को बहुत महत्त्व दिया जाता था, अतः स्वाभाविक रूप से विवाह प्रायः अपने ही वर्ण में हुआ करता था। पर इस प्रथा का प्रचलन उस समय में हुआ, जब कि वर्णव्यवस्था और जातिभेद का भारत में भलीभाँति विकास हो चुका था। वैदिक और उत्तर-वैदिक युगों में असवर्ण विवाहों के अनेक उदाहरण मिलते हैं। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार ब्राह्मण ऋषि च्यवन ने क्षत्रिय कुमारी सुकन्या के साथ विवाह किया था। इसी प्रकार श्यावाश्व नामक ब्राह्मण कुमार का एक क्षत्रिय कन्या से विवाह हुआ था। अनुलोम विवाह बाद के काल के धर्मशास्त्रों में भी विहित है, जिनके अनुसार उच्च वर्ण का कुमार अपने से निम्न वर्ण की कन्या के साथ विवाह कर सकता था। मनु ने तो यहाँ तक लिखा है, कि कन्यारत्न को 'दुष्कुल' (हीन कुल) से भी प्राप्त किया जा सकता है। पर धर्मशास्त्रों को प्रायः यही मत अभिप्रेत था,

कि विवाह अपने ही कुल व वर्ण में हुआ करे। असवर्ण विवाह को वे अच्छी दृष्टि में नहीं देखते थे।

भारत बहुत बड़ा देश है, और प्राचीन समय में यहाँ बहुत-से जनपदों की सत्ता थी। विभिन्न समयों में विभिन्न जनपदों में विवाह के जो नियम थे, वे सब एकसदृश नहीं थे। समय के साथ-साथ उनमें परिवर्तन भी होते गये। अतः विवाह संस्था के स्वरूप का विवेचन करते हुए हम सारे भारत के लिये और सब समयों के लिये एक ही प्रकार के नियमों का प्रतिपादन नहीं कर सकते। इस दशा में उचित यह होगा, कि भारतीय इतिहास के विविध युगों में विवाह-संस्था के स्वरूप का पृथक् रूप से निरूपण किया जाए।

(२) बौद्ध काल में विवाह का स्वरूप

बौद्ध साहित्य में छह प्रकार के विवाहों का उल्लेख है—ब्राह्म, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस तथा पैशाच। सामान्यतया, विवाह प्राजापत्य पद्धति से होता था। परम्परागत प्रथा के अनुसार समान जाति के कुलों में माता-पिता की इच्छानुसार विवाह-सम्बन्ध स्थापित किया जाता था। परन्तु स्वयंवर तथा गान्धर्व-विवाहों के भी अनेक उदाहरण बौद्ध-साहित्य में मिलते हैं, और इन्हें भी धर्मानुकूल माना जाता था। कुणाल जातक में कुमारी कण्हा के स्वयंवर का उल्लेख है, जिसने कि अपनी इच्छा के अनुसार पाँच कुमारों के साथ विवाह किया था। नच्च जातक में एक कुमारी का वर्णन है, जिसने अपने पिता से यह वर माँगा था, कि उसे अपनी इच्छानुसार पति वरण करने का अवसर दिया जाए। पिता ने उसकी यह इच्छा पूर्ण कर दी, और उसके लिए एक स्वयंवर सभा बुलायी गयी, जिसमें दूर-दूर से कुमार एकत्रित हुए। धम्मपदटीका में भी एक असुर राजा वेपचित्ति की कन्या के स्वयंवर-विवाह का वर्णन है। गान्धर्व-विवाह के भी अनेक दृष्टान्त बौद्ध-ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। कट्ठहारि जातक में बनारस के राजा ब्रह्मदत्त की कथा आती है, जो एक बार जंगल में भ्रमण कर रहा था। उसने देखा कि कोई अनिन्द्य सुन्दरी बालिका बड़ी सुरीली तान में गा रही थी। राजा ब्रह्मदत्त देखते ही उस पर मुग्ध हो गया और उन दोनों ने वहीं वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर लिया। इसी प्रकार अवन्ति के राजा चण्ड प्रद्योत की कन्या वासवदत्ता (वासुलदत्ता) का उदयन के साथ विवाह भी गान्धर्व-विवाह का प्रसिद्ध उदाहरण है। धम्मपदटीका में कुमारी पाटच्चरा का वर्णन आया है, जिसने अपने माता-पिता द्वारा निश्चित सम्बन्ध को ठुकराकर अपनी इच्छा से विवाह किया था। इसी प्रकार के उदाहरण अन्यत्र भी मिलते हैं। इनसे स्पष्ट है, कि बौद्ध-काल में सामान्य प्राजापत्य विवाह के अतिरिक्त अन्य प्रकार के वैवाहिक सम्बन्ध भी प्रचलित थे, और उन्हें धर्मानुकूल भी माना जाता था।

सामान्यतया विवाह समान जाति और कुल में होते थे। पर बौद्ध-ग्रन्थों में इस प्रकार के उदाहरणों की कमी नहीं है, जबकि विवाह करते हुए अपनी जाति व कुल का कोई ध्यान नहीं रखा गया। कोशल राज्य के प्रसिद्ध राजा पसेनदी (अग्निदत्त प्रसेनजित्) ने श्रावस्ती के मालाकार की कन्या मल्लिका के साथ विवाह किया था। वंकहार देश के शिकारियों के सरदार की कन्या चम्पा का विवाह उपक नामक एक वैरागी के साथ कर

दिया गया था। दिव्यावदान में एक ब्राह्मण कुमारी का उल्लेख आया है, जिसने शार्दूलकर्ण नाम के शूद्र कुमार के साथ विवाह किया था। इसी प्रकार धम्मपदटीका में कुण्डलकेशी नामक एक कुलीन महिला की कथा आती है, जिसने एक डाकू के साथ विवाह करने में कोई संकोच नही किया था। इन उदाहरणों से यह बात भली-भाँति स्पष्ट हो जाती है, कि जाति का बन्धन बौद्ध-काल तक भी बहुत दृढ़ नहीं हुआ था। जाति के बाहर विवाह भी उस समय में प्रचलित थे।

कन्याओं का विवाह सामान्यतया सोलह वर्ष की आयु में किया जाता था। बाल-विवाह की प्रथा उस समय प्रचलित नहीं थी। धम्मपदटीका में राजगृह के श्रेष्ठी की कन्या कुण्डलकेशी का उल्लेख आया है, जो सोलह वर्ष की आयु तक अविवाहित रही थी। वहाँ यह भी लिखा है कि यही आयु है, जिसमें कि स्त्रियाँ विवाह के लिए इच्छुक होती हैं।

बौद्ध काल में विवाहों में दहेज की प्रथा भी प्रचलित थी। धम्मपदटीका में श्रावस्ती के श्रेष्ठी मिगार की कथा आती है, जिसने अपनी कन्या विशाखा के विवाह में निम्न-लिखित वस्तुएँ दहेज में दी थीं—धन से पूर्ण पाँच सौ गाड़ियाँ, सुवर्ण-पात्रों से पूर्ण पाँच सौ गाड़ियाँ, रजत के पात्रों से पूर्ण पाँच सौ गाड़ियां, तांबे के पात्रों से पूर्ण पाँच सौ गाड़ियाँ, विविध प्रकार के रेशमी वस्त्रों से पूर्ग पाँच सौ गाड़ियां और इसी प्रकार घी, चावल तथा खेती के उपकरणों से पूर्ण पाँच-पाँच सौ गाड़ियाँ, साठ हजार वृषभ तथा साठ हजार गौवें। नहान-चुन्न-मूल्य के रूप में कुछ सम्पत्ति प्रदान करने की बात तो स्थान-स्थान पर बौद्ध-साहित्य में मिलती है। कोशल के राजा महाकोशल ने मगधराज बिम्बिसार के साथ अपनी कन्या कोशलदेवी का विवाह करते हुए काशी का एक ग्राम, जिसकी आमदनी एक लाख वार्षिक थी, नहान-चुन्न-मूल्य के रूप में प्रदान किया था। यही ग्राम कुमारी वजिरा के विवाह के अवसर पर अजातशत्रु को प्रदान किया था गया। इसी प्रकार श्रावस्ती के धनकुबेर श्रेष्ठी निगार ने ५४ कोटि धनराशि अपनी कन्या के विवाह के अवसर पर नहान-चुन्न-सूल्य के रूप में दी थी।

बौद्ध-काल में पारिवारिक जीवन का क्या आदर्श था, इसका बड़ा सुन्दर परिचय उन शिक्षाओं से मिलता है, जो उस समय की वधुओं को दी जाती थीं। ये शिक्षाएँ निम्नलिखित हैं—

(१) अन्दर की अग्नि को बाहर न ले जाओ।
(२) बाहर की अग्नि को अन्दर न लाओ।
(३) जो दे, उसी को प्रदान करो।
(४) जो नहीं देता, उसको प्रदान न करो।
(५) जो देता है, और जो नहीं देता है, उन दोनों को प्रदान करो।
(६) सुख के साथ बैठो।
(७) सुख के साथ भोग करो।
(८) सुख के साथ शयन करो।
(९) अग्नि की परिचर्या करो।
(१०) कुल देवता का सम्मान करो।

सूत्र रूप से उपदिष्ट की गयीं इन शिक्षाओं का क्या अभिप्राय है, इसका विवेचन भी बौद्ध-साहित्य में किया गया है। हम उसे संक्षेप के साथ यहाँ प्रस्तुत करते हैं—

(१) अपने घर की अन्दरूनी बातचीत को बाहर न कहो। घर में जो बातें होती हैं, जो समस्याएँ उत्पन्न होती हैं, उनका जिक्र दूसरों से, यहाँ तक कि घर के नौकरों से भी न करो।

(२) बाहर के झगड़ों को घर में प्रविष्ट न होने दो।

(३) घर की वस्तु उसी को उधार दो, जो उसे वापस कर दे।

(४) घर की वस्तु उसे कभी उधार न दो, जो उसे वापस न लौटाए।

(५) जो भिखमंगे तथा कंगाल भिखारी हैं, उन्हें इस बात की अपेक्षा किये बिना कि वे वापस देते हैं या नहीं, दान करो।

(६) जिसके सम्मुख बैठना मुनासिब है, उसके सम्मुख बैठी रहो। जिसके आने पर खड़ा रहना आवश्यक है, उसके सम्मुख मत बैठो। सबके साथ यथा-योग्य व्यवहार करो।

(७) पति से पूर्व भोजन न करो। इसी प्रकार अपनी सास तथा श्वसुर को भली-भाँति भोजन कराने के अनन्तर ही स्वयं भोजन करो।

(८) अपने पति से पूर्व सोओ नहीं। परिवार के विविध सदस्यों के प्रति अपने सम्पूर्ण कर्त्तव्यों को कर चुकने के अनन्तर फिर शयन करो, पूर्व नहीं।

(९) अपने पति, श्वशुर तथा सास को अग्नि के समान समझकर उनकी पूजा करनी चाहिए।

(१०) जब कोई भिक्षु भिक्षा के लिए घर के द्वार पर आये, तो उसे भोजन कराने के बाद ही स्वयं भोजन करना चाहिए।

पर सब स्त्रियाँ इन शिक्षाओं के अनुसार आदर्श गृहस्थ जीवन व्यतीत करती हों, यह बात बौद्ध-काल में नहीं थी। उस काल में स्त्रियाँ अपनी-अपनी प्रवृत्ति के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार की होती थीं। बौद्ध साहित्य में सात प्रकार की पत्नियों का वर्णन किया गया है। उस समय के वास्तविक गृहस्थ जीवन पर प्रकाश डालने के लिए इनका उल्लेख विशेष रूप से सहायक हो सकेगा—

(१) एक प्रकार की पत्नियाँ क्रोधी तथा गरम मिजाज की होती हैं। वे सदा क्रोध करती रहती हैं। अपने पति से उनकी नहीं बनती। पति से द्वेष कर वे दूसरों के साथ प्रेम करती हैं। अपने पति की सम्पत्ति को नष्ट करने में उन्हें जरा भी संकोच नहीं होता।

(२) दूसरे प्रकार की पत्नियाँ वे होती हैं, जो अपने पति की कमाई को ईमान-दारी के साथ व्यय नहीं करतीं। वे उसमें से चोरी करने में संकोच नहीं करतीं।

(३) तीसरे प्रकार की पत्नियाँ वे होती हैं, जो अपने पति पर हुकूमत करने की कोशिश करती हैं। वे स्वयं आलसी, कामचोर और गरम तबियत की होती हैं। घर में अपने कर्त्तव्यों की उपेक्षा कर वे आराम के साथ जीवन व्यतीत करना चाहती हैं, और पति तथा घर के अन्य सदस्यों को अपने शासन में रखने का प्रयत्न करती हैं।

(४) चौथे प्रकार की पत्नियाँ वे होती हैं, जो घर में माता की तरह रहती हैं। घर की सम्पूर्ण सम्पत्ति की वे संभाल करती हैं और पति तथा घर के अन्य सदस्यों की उसी प्रकार से परवाह करती हैं, जैसे माता अपने बच्चों की करती हैं।

(५) पाँचवें प्रकार की पत्नियाँ वे होती हैं, जो अपने पति की आज्ञा में रहती हैं। जिस प्रकार छोटी बहन अपनी बड़ी बहन या अन्य बड़े सम्बन्धियों के साथ मृदुता का व्यवहार करती हैं, अपने से बड़ों का सम्मान करती है, उसी प्रकार यह पाँचवें प्रकार की पत्नी अपने पति के साथ व्यवहार करती है।

(६) छठे प्रकार की पत्नियाँ वे होती हैं, जो अपने पति के साथ मित्र के समान व्यवहार करती हैं। जिस तरह कोई व्यक्ति अपने मित्र से बहुत समय पश्चात् मिलकर खुश होता है, और उसे देखकर आह्लादित होता है, उसी प्रकार ये सदा अपने पति को देखकर प्रसन्न होती हैं। ये अपने पति को सम्मान की दृष्टि से देखती हैं, और उसकी उपेक्षा नहीं करतीं।

(७) सातवें प्रकार की पत्नियाँ वे होती हैं, जो दासी के समान अपने पति की आज्ञा में रहती हैं। उन्हें चाहे कितना ही धमकाया व पीटा जाय, पर उन्हें जरा भी बुरा नहीं मालूम होता। वे चुपचाप पति की उचित-अनुचित सब प्रकार की आज्ञाओं को मानती जाती हैं।

अंगुत्तर निकाय के अनुसार प्रत्येक सफल पत्नी में निम्नलिखित गुणों का होना आवश्यक है—

(१) उसे पति की आज्ञा में रहना चाहिए।
(२) उसे पति के प्रति सदा मधुरता के साथ बोलना चाहिए।
(३) उसे पति की इच्छानुसार कार्य करना चाहिए।
(४) उसे अपने पति के गुरुजनों का सम्मान करना चाहिए।
(५) उसे अतिथियों की सेवा में जरा भी प्रमाद नहीं करना चाहिए।
(६) उसे कातने और बुनने में प्रवीण होना चाहिए।
(७) गृहस्थी को सम्भालने के लिए और घर के सब कर्त्तव्यों को पूर्ण करने की योग्यता उसमें होनी चाहिए।
(८) घर के नौकरों के आराम का उसे खयाल रखना चाहिए। जब वे बीमार पड़ें, तब उनकी चिकित्सा का भी उसे प्रबन्ध करना चाहिए।
(९) पति की कमाई को भली-भाँति सम्भालना चाहिए।
(१०) शराब, नशा आदि व्यसनों में धन के विनाश को रोकना चाहिए।
(११) उसमें उदारता होनी चाहिए, कंजूसी नहीं।

अंगुत्तरनिकाय में ही एक अन्य स्थान पर प्रत्येक स्त्री के लिये चार गुणों का प्रतिपादन किया है। वे गुण निम्नलिखित हैं—

(१) गृहकार्य में प्रवीणता—स्त्री को गृहकार्य में जरा भी प्रमाद नहीं करना चाहिए।

(२) घर के विविध सदस्यों की परवाह करना—घर के जितने भी सदस्य हैं, उनकी क्या-क्या आवश्यकताएँ हैं, इस बात की चिन्ता सदा स्त्री को रहनी चाहिए। नौकर अपना कार्य ठीक प्रकार करते हैं या नहीं, इसका भी उसे ध्यान रखना चाहिए।

(३) पति की इच्छानुसार कार्य करना।

(४) मितव्ययिता।

अंगुत्तर निकाय का कहना है कि जो स्त्री इन गुणों से युक्त होकर साथ ही बुद्ध, धर्म और संघ—इन तीनों रत्नों पर श्रद्धा रखती है, वह इस लोक और परलोक—दोनों में सुख प्राप्त करती है।

बौद्ध काल में बहुविवाह की प्रथा प्रचलित थी। न केवल बड़े-बड़े राजघरानों में, अपितु सामान्य घरों में भी लोग एक से अधिक स्त्रियों के साथ विवाह करते थे। राजा लोग तो सैंकड़ों की संख्या में स्त्रियाँ रखते थे। मगधराज बिम्बिसार की पाँच सौ रानियाँ थीं। जातक कथाओं में अनेक राजाओं की सोलह हजार रानियों का उल्लेख है। बहु-विवाह के बहुत से दृष्टान्त बौद्धसाहित्य में उपलब्ध होते हैं। मगध के एक सामान्य गृहपति मघ की चार स्त्रियाँ थीं—नन्दा, चित्ता, सुधम्मा और सुजाता। राजा ओक्काक की पाँच स्त्रियाँ थीं। महाबंश के अनुसार शुद्धोदन का विवाह माया और महामाया नामक दो बहनों से हुआ था। तिब्बती अनुश्रुति के अनुसार भ इसी बात की पुष्टि होती है। सौतों की आपस की लड़ाईयों का उल्लेख भी अनेक स्थानों पर जातक कथाओं में आता है। सम्बुला जातक में राजा सोट्ठिसेन की पटरानी सम्बुला और अन्य रानियों के पारस्परिक झगड़ों का मनोरंजक वर्णन किया गया है। धम्मपदटीका में कथा आती है, कि सावट्ठी (श्रावस्ती) के एक गृहपति की स्त्री बाँझ थी, उन्होंने बहुत देर तक सन्तान के लिये प्रतीक्षा की, पर उनकी इच्छा पूर्ण नहीं हुई। आखिर, स्त्री ने निराश होकर स्वयं अपने पति से अनुरोध किया कि वह सन्तान के लिये दूसरा विवाह कर ले। परन्तु शीघ्र ही उसकी अपनी सौत से लड़ाई हो गई, और वे आपस में लड़ने-झगड़ने लगी। इनके झगड़ने का वृत्तान्त धम्मपदटीका में विस्तार से उपलब्ध होता है। सन्तान के अभाव में दूसरा विवाह करने के अन्य भी अनेक दृष्टान्त मिलते हैं। पहली स्त्री की मृत्यु के पश्चात् दूसरा विवाह करना तो उस समय में एक सामान्य बात थी। यदि कोई स्त्री देर तक अपने पिता के घर से वापस न लौटे, तो भी दूसरा विवाह कर लिया जाता था। बब्बू जातक के अनुसार सावट्ठी में एक स्त्री रहती थी, जिसका नाम काणा था। उसका विवाह किसी अन्य ग्राम में हुआ था। एक बार वह किसी कार्यवश अपनी माता के पास सावट्ठी में आई। उसे अपने पति के पास वापस आने में कुछ देर हो गई। पति ने एक के बाद एक करके तीन आदमी उसे बुलाने के लिए सावट्ठी भेजे, पर वह कार्यवश वापस नहीं आ सकी। आखिर, उसके पति ने दूसरा विवाह कर लिया, जिससे काणा की दुर्दशा हो गई।

बहुपत्नी विवाह के समान बहुपति-विवाह का भी एक दृष्टान्त बौद्ध साहित्य में मिलता है। यह कुमारी कन्हा के सम्बन्ध में है, जो कोशल देश के राजा की कन्या थी।

जब वह बड़ी हुई, तो उसके विवाह के लिये स्वयंवर की व्यवस्था की गई। स्वयम्बर सभा में बहुत-से राजा और राजकुमार एकत्रित हुये। इनमें पाण्डुदेश के राजा के पाँच पुत्र अर्जुन, नकुल, भीमसेन, युधिष्ठिर और सहदेव (इसी क्रम से इनके नाम कुणाल जातक में लिखे हैं) भी थे। ये तक्षशिला के एक संसार प्रसिद्ध आचार्य से शिक्षा ग्रहण करने के अनन्तर विविध स्थानों के रीति-रिवाज आदि का अध्ययन करते हुए बनारस आये हुए थे। जब इन्हें कन्हा की स्वयम्बर सभा का पता लगा, तो ये भी वहाँ पहुँच गये और मूर्ति के समान खड़े हो गये। कुमारी कन्हा ने इन पाँचों के गले में जयमाला डाल दी और इन पाँचों को अपने पति के रूप में स्वीकृत किया। जातक की यह कथा प्राचीन महाभारत की अनुश्रुति पर आधारित मालूम होती है। इसके अतिरिक्त बहुपतिविवाह का अन्य कोई उदाहरण प्राचीन बौद्ध साहित्य में उपलब्ध नहीं होता।

क्या बौद्ध काल में स्त्रियाँ भी एक से अधिक विवाह कर सकती थीं ? इस विषय पर बौद्ध साहित्य से अधिक प्रकाश नहीं पड़ता। पर इस बात को स्पष्ट करने के लिये जो एक दो निर्देश मिलते हैं, उनका उल्लेख करना यहाँ आवश्यक है। उच्छङ्ग जातक में कथा आती है, कि कोशल देश में तीन आदमी डाके के अपराध में गिरफ्तार कर राजा के सम्मुख लाये गये। जब वे अभी हवालात में ही थे, कि एक स्त्री विलाप करती हुई राजा के सामने उपस्थित हुई और जोर-जोर से रोने लगी। बातचीत के अनन्तर राजा को ज्ञात हुआ कि ये तीनों गिरफ्तार व्यक्ति इस स्त्री के सम्बन्धी हैं और इनमें से एक इसका पति, एक भाई और एक लड़का है। राजा ने उस स्त्री को कहा—तुम इनमें से किसी एक को, जिसे तुम चाहो, जेल से मुक्त करा सकती हो। इस पर उस स्त्री ने उत्तर दिया—'राजन्, यदि मेरी जिन्दगी रहे, तो मुझे अन्य पति और अन्य पुत्र भी प्राप्त हो सकते हैं, पर क्योंकि मेरे पिता का स्वर्गवास हो चुका है, अतः अन्य भाई का प्राप्त हो सकना असम्भव है, अतः मेरे भाई को ही जेल से मुक्त कर दो। इससे स्पष्ट है, कि स्त्री का पुर्नविवाह हो सकना उस समय में असम्भव बात नहीं समझी जाती थी। इसी प्रकार महा-वंश के अनुसार राजा खल्लाटनाग को उसके सेनापति कम्महारट्टक ने कैद कर लिया था। पर कुछ समय के बाद खल्लाटनाग के भाई वेट्टगामणी ने उस सेनापति को मारकर स्वयं राज्य प्राप्त कर लिया और खल्लाटनाग की विधवा पत्नी को (खल्लाटनाग की उस समय तक मृत्यु हो चुकी थी) अपनी रानी बना लिया। इस उदाहरण से भी विधवा स्त्री का पुर्नविवाह स्पष्ट हो जाता है।

विवाह के लिए मुहूर्त देखने की पद्धति बौद्ध काल में भी प्रचलित थी। नक्खत्त जातक में राजा ब्रह्मदत्त द्वारा विवाह के लिए उपयुक्त मुहूर्त के सम्बन्ध में कुल पुरोहित से पूछने का वर्णन आता है। इसी की पुष्टि दीघ निकाय से भी होती है।

(३) मौर्य युग में विवाह-संस्था का स्वरूप

मौर्य युग में विवाह-संस्था के स्वरूप पर कौटलीय अर्थशास्त्र से बहुत अच्छा परिचय मिलता है। अर्थशास्त्र में आठ प्रकार के विवाहों का उल्लेख किया गया है—(१) ब्राह्म विवाह—कन्या को अलंकृत (आभूषण आदि से सजा कर) कर जब कन्या-दान

द्वारा विवाह हो, तो ऐसे विवाह को 'ब्राह्म' कहते थे। (२) प्राजापत्य विवाह—जब पुरुष और स्त्री परस्पर मिलकर धर्मचर्या का पालन करके विवाह-सम्बन्ध को स्वीकार करें, तो ऐसा विवाह 'प्राजापत्य' कहाता था। (३) आर्ष विवाह—कन्या-पक्ष द्वारा गौओं का एक जोड़ा वर पक्ष को प्रदान कर जो विवाह किया जाता था, उसकी 'आर्ष' संज्ञा थी। (४) दैव विवाह—यज्ञवेदी के समक्ष ऋत्विज की स्वीकृति से जो कन्यादान किया जाता था, उसे 'दैव' कहते थे। (५) गान्धर्व विवाह—कन्या और वर परस्पर प्रेम के कारण स्वयं जो विवाह करते थे, वह गान्धर्व विवाह कहाता था। (६) आसुर विवाह—शुल्क (दहेज) देकर जो विवाह किया जाता था, उसे 'आसुर' कहते थे। (७) राक्षस विवाह—कन्या को बलपूर्वक ले जाकर विवाह करने पर उसे राक्षस माना जाता था। (८) पैशाच—सोयी हुई या बेसुध स्त्री को ले जाकर उससे जो विवाह किया जाता था, उसे पैशाच विवाह कहा जाता था।

मौर्य युग में ये आठों प्रकार के विवाह प्रचलित थे। दहेज (शुल्क) देकर विवाह की प्रथा उस काल में बहुत लोकप्रिय नहीं थी। कौटल्य द्वारा प्रतिपादित आठ प्रकार के विवाहों में केवल 'आसुर' ही ऐसा विवाह है, जिसमें शुल्क प्रदान किया जाता था। इस सम्बन्ध में नियार्कस का यह कथन उल्लेखनीय है—भारतीय लोग दहेज लिए या दिए बिना ही विवाह करते हैं। जब कोई स्त्री विवाह-योग्य आयु की हो जाती है, तो उसके पिता उसे समाज के सम्मुख ले आते हैं, ताकि ऐसे पुरुष उसे अपनी सहधर्मिणी के रूप में वर सकें, जो कि मल्लयुद्ध, मुष्टियुद्ध, दौड़ आदि में विजयी हुए हों, या जिन्होंने किसी अन्य पौरुषयुक्त साम्मुख्य में अपनी उत्कृष्टता प्रदर्शित की हो। नियार्कस का यह कथन एक प्रकार के स्वयंवर को ही सूचित करता है, जो प्राचीन भारत में बहुत लोकप्रिय था।

कौटल्य के अनुसार पहले चार प्रकार के विवाह (ब्राह्म, प्राजापत्य, आर्ष और दैव) 'धर्म्य' (धर्म के अनुकूल) होते हैं, और साथ ही 'पितृप्रमाण' भी। पितृप्रमाण का अभिप्राय यह है, कि उनके लिए पिता की स्वीकृति या अनुमति ही पर्याप्त होती है। पिछले चार प्रकार के विवाहों के लिए पिता और माता दोनों की अनुमति आवश्यक मानी गई है। विवाह के सम्बन्ध में कौटल्य का यह मत था, कि वे सब प्रकार के विवाह नियमानुकूल तथा स्वीकार्य हैं, जिनसे सब सम्बद्ध व्यक्ति सन्तोष अनुभव करें। विवाह का आधार पारस्परिक प्रीति ही थी, और इस आधार पर निर्धारित हुए विवाह कानून द्वारा रोके नहीं जाते थे।

यद्यपि 'आसुर' ही एकमात्र इस प्रकार का विवाह था, जिसमें शुल्क की मात्रा पहले से ही निर्धारित कर ली जाती थी, पर अन्य प्रकार के विवाहों में भी कुछ शुल्क प्रदान करने की प्रथा विद्यमान थी। इस धन पर स्त्री का अधिकार माना जाता था, और कौटलीय अर्थशास्त्र में इसी को 'स्त्रीधन' की संज्ञा दी गई है, और उसके सम्बन्ध में अनेक प्रकार की व्यवस्थाओं का उल्लेख किया गया है। स्त्रीधन प्रधानतया दो प्रकार का होता था, वृत्ति और आवध्य। कौटल्य के अनुसार स्त्री के लिए निर्धारित वृत्ति की मात्रा दो सहस्र (पण) से अधिक होनी चाहिए। आवध्य (आभूषण आदि) की मात्रा कितनी हो, इस विषय में कोई नियम नहीं था। सामान्य दशा में इस स्त्रीधन को खर्च नहीं किया जा

सकता था। पर यदि पति कहीं विदेश गया हुआ हो, और उसने अपने परिवार के भरण-पोषण का कोई प्रवन्ध न किया हो, तो पत्नी इस धन से अपने पुत्र, पुत्रवधू और अपना निर्वाह कर सकती थी। बीमारी, दुर्भिक्ष आदि प्राकृतिक विपत्तियों के समय पति भी इस स्त्रीधन को व्यय कर सकता था। पहले चार प्रकार के 'धर्म्य' विवाहों में पति और पत्नी पारस्परिक सहमति द्वारा साधारण दशा में भी स्त्रीधन को खर्च कर सकने का अधिकार रखते थे। पर गान्धर्व और आसुर विवाहों में यदि स्त्रीधन को खर्च कर लिया जाए, तो उसे प्रयुक्त करने वाले व्यक्ति के लिए यह आवश्यक था, कि वह उसे सूद के साथ वापस कर दे। राक्षस और पैशाच विवाहों में स्त्री-धन का व्यय किया जाना निषिद्ध था। इन पद्धतियों के अनुसार विवाहित पति-पत्नी या उनके कुटुम्बीजन यदि स्त्रीधन को खर्च करें तो उसे 'स्तेय' (चोरी) माना जाता था।

पति की मृत्यु हो जाने पर यदि स्त्री धार्मिक जीवन व्यतीत करना चाहे, तो यह आवश्यक था कि स्त्रीधन उसके सुपुर्द कर दिया जाए। इसी प्रकार यदि स्त्री पुनर्विवाह करना चाहे, तो भी स्त्रीधन उसे प्रदान कर दिया जाता था।

पुनर्विवाह की प्रथा भी मौर्य काल में प्रचलित थी। पुरुष और स्त्री—दोनों को ही पुनर्विवाह का अधिकार था। पुरुषों के पुनर्विवाह के विषय में कौटल्य ने निम्नलिखित नियम प्रतिपादित किए हैं—यदि किसी स्त्री के आठ साल तक सन्तान उत्पन्न न हो या यदि स्त्री वन्ध्या हो, तो उसका पति आठ साल तक प्रतीक्षा करे। यदि स्त्री के सन्तान उत्पन्न तो होतीं हो, पर वह मरी हुई पैदा हो, तो दस साल तक प्रतीक्षा की जाए। यदि स्त्री के केवल कन्याएँ ही उत्पन्न होती हों, तो बारह साल तक प्रतीक्षा की जाए। इस अवधि के अनन्तर पुत्र की इच्छा से पति दूसरा विवाह कर सकता है। यदि इस नियम का अतिक्रमण कर कोई पुरुष पुनर्विवाह करे, तो उसके लिए यह आवश्यक होगा कि विवाह के समय प्राप्त शुल्क और स्त्रीधन के साथ-साथ समुचित 'आधिवेदनिक' (क्षतिपूर्ति का धन) भी अपनी पत्नी को प्रदान करे और साथ ही कम-से-कम चौबीस पण दण्ड भी।

पुरुषों के समान स्त्रियाँ भी पुनर्विवाह कर सकती थीं। पति की मृत्यु हो जाने पर तो स्त्रियाँ पुनर्विवाह कर ही सकती थीं, पर अनेक दशाओं में वे पति के जीवित होते हुए भी दूसरा विवाह करने का अधिकार रखती थीं। यदि स्त्री के कोई सन्तान न हो, और उसका पति विदेश गया हुआ हो, तो उसके लिए कम-से-कम एक वर्ष प्रतीक्षा करना आवश्यक था। पर यदि स्त्री के सन्तान हो, तो उसे अधिक समय तक प्रतीक्षा करनी होती थी। यदि स्त्री के निर्वाह की व्यवस्था कर दी गई हो, तो उसके लिए दुगने समय तक प्रतीक्षा करना आवश्यक था। यदि परदेश गये हुए पति ने अपनी पत्नी के भरण-पोषण की कोई व्यवस्था न की हो, तो उसके निकट सम्बन्धियों से यह आशा की जाती थी, कि वे स्त्री का चार से आठ साल तक भरण-पोषण करेंगे। यह अवधि बीत जाने पर स्त्री को पुनर्विवाह की स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाती थी। पर इन नियमों के कतिपय अपवाद भी थे। यदि कोई ब्राह्मण विद्या के अध्ययन के लिए कहीं अन्यत्र गया हुआ हो, तो उसकी पत्नी के लिए यह नियम था कि सन्तानविहीन होने की दशा में वह दस साल तक प्रतीक्षा करे और सन्तान होने पर बारह साल। इस अवधि के बीत जाने पर भी यदि पति वापस न

लौट आए, तो स्त्री पुनर्विवाह कर सकती थी। यदि राजपुरुष कहीं बाहर गया हुआ हो, तो उसकी पत्नी के लिए यह आवश्यक माना जाता था कि वह उसकी मृत्यु तक पुनर्विवाह न कर सके। पर पति के चिरकाल तक प्रवसित रहने की दशा में पत्नी को इस बात की अनुमति थी कि वह अपने पति के सवर्ण किसी अन्य व्यक्ति से सन्तान प्राप्त कर सके। ऐसा करना मौर्य युग में बदनामी (अपवाद) की बात नहीं समझी जाती थी। इसी प्रकार के अन्य भी अनेक नियम कौटलीय अर्थशास्त्र में प्रतिपादित हैं। कम आयु की विवाहित स्त्रियों के लिए पुनर्विवाह कर सकना बहुत सुगम था, उस दशा में जब कि पति विदेश चला गया हुआ हो। पति यदि विदेश गया हुआ हो और उसका कोई भी समाचार प्राप्त न हो रहा हो, तो पत्नी के लिए केवल पाँच मास तक प्रतीक्षा करना पर्याप्त था। इस अवधि तक पति के वापस लौटने या उसका समाचार प्राप्त करने की प्रतीक्षा करके स्त्री धर्मस्थ की अनुमति से पुनर्विवाह कर सकती थी। यदि पति चिरकाल के लिए विदेश चला गया हो, या उसने प्रव्रज्या ग्रहण कर ली हो, और या उसकी मृत्यु हो गई हो, तो स्त्री को पुनर्विवाह का अधिकार प्राप्त हो जाता था। पुनर्विवाह के लिए यह अच्छा माना जाता था, कि स्त्री अपने पति के भाई या निकट सम्बन्धी या सगोत्र पुरुष अपने पति के रूप में वरण कर ले। अन्य प्रकार के पुरुष से विवाह कौटल्य को अभिमत नहीं था।

मौर्य युग में तलाक की प्रथा भी विद्यमान थी। स्त्री और पुरुष दोनों को ही तलाक का अधिकार प्राप्त था। इस विषय में कौटल्य की निम्नलिखित व्यवस्थाएं उल्लेखनीय हैं—

"यदि पति का चरित्र अच्छा न हो, यदि वह परदेश चला गया हो, यदि वह राजद्वेषी हो, यदि स्त्री को अपने प्राणों का भय हो, यदि वह पतित हो गया हो और या यदि वह नपुंसक हो, तो पत्नी उसका परित्याग कर सकती है।"

"यदि स्त्री पति के प्रति विद्वेष (घृणा) रखती हो, तो वह उस (पति) की इच्छा के विरुद्ध तलाक नहीं कर सकती। इसी प्रकार स्त्री से द्वेष (घृणा) करता हुआ पति उस (स्त्री) की इच्छा के विरुद्ध तलाक नहीं कर सकता। पर पारस्परिक द्वेष (घृणा) से मोक्ष (तलाक) हो सकता है।"

"यदि स्त्री से तंग आकर पुरुष उससे छुटकारा पाना चाहे, तो जो धन स्त्री-पक्ष से उसे प्राप्त हुआ हो, वह उसे वापस लौटा देना होगा। परन्तु यदि स्त्री पति से तंग आकर उससे छुटकारा पाना चाहे, तो उसका धन उसे नहीं लौटाया जायगा।"

पर इस प्रसंग में यह ध्यान में रखना चाहिए, कि तलाक की अनुमति पिछले चार प्रकार के विवाहों (गान्धर्व, आसुर, राक्षस और पैशाच) में ही दी जा सकती थी। पहले चार प्रकार के 'धर्म्य' विवाहों में तलाक की अनुमति नहीं थी, यद्यपि उनमें भी विशेष अवस्थाओं (यथा पति के चिरकाल तक प्रवासित रहने या उसके नपुंसक होने आदि) में स्त्री को पुनर्विवाह कर लेने या नियोग द्वारा सन्तान प्राप्त कर सकने का अवसर था।

यद्यपि कौटलीय अर्थशास्त्र में स्त्रियों को पुनर्विवाह की अनुमति प्रदान की गई है, और पति की मृत्यु हो जाने पर पत्नी का पुनर्विवाह कर लेना सर्वथा समुचित माना गया है, पर फिर भी मौर्य युग में ऐसी विधवाओं की सत्ता थी, जो पुनर्विवाह न करके स्वतन्त्र

रूप से जीवन बिताया करती थीं। कौटल्य ने ऐसी स्त्रियों को 'छन्दवासिनी (स्वतन्त्र रूप से रहनेवाली) विधवा' कहा है। सम्भवतः, ऐसी स्त्रियाँ पुनर्विवाह न कर स्वतन्त्र जीवन बिताना पसन्द करती थीं, जो कि सम्पन्न हों। कौटल्य ने इनके लिए 'आढ्यविधवा' संज्ञा का प्रयोग किया है। विशेष परिस्थितियों में राज्य को जब धन की असाधारण रूप से आवश्यकता होती थी, तो अनेकविध उपायों से इन आढ्य विधवाओं से भी धन की प्राप्ति की जाती थी। गुप्तचर इनसे धन प्राप्ति के ऐसे उपायों का भी प्रयोग करते थे, जिन्हें सामान्य दशा में समुचित नहीं समझा जा सकता।

स्त्रियों का प्रयोजन विवाह करके सन्तानोत्पत्ति करना ही था। पर कौटलीय अर्थशास्त्र में परिव्राजिकाओं का भी उल्लेख किया गया है, जिन्हें समाज में सम्मानित स्थान प्राप्त था। कौटल्य ने इनके साथ 'कृतसत्कारा' विशेषण का प्रयोग किया है। परिव्राजिकाओं का उपयोग गुप्तचर विभाग में भी किया जाता था, और कौटल्य ने इसी प्रसंग में उन्हें निर्दिष्ट किया है।

वैवाहिक जीवन के सम्बन्ध में जो चित्र कौटलीय अर्थशास्त्र के अनुशीलन से हमारे सम्मुख उपस्थित होता है, वह स्मृतिग्रन्थों और धर्मशास्त्रों में निरूपित जीवन से बहुत भिन्न है। तलाक, नियोग और पुनर्विवाह के सम्बन्ध में जो विस्तृत परिचय कौटलीय अर्थशास्त्र से मिलता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। इससे ज्ञात होता है कि मौर्य युग में पुनर्विवाह बहुत प्रचलित था, और विवाह-सम्बन्ध का उच्छेद कर सकना भी कठिन नहीं था। परिवार में स्त्री की स्थिति पर्याप्त रूप से सुरक्षित थी, क्योंकि स्त्रीधन पर उसका पूर्णरूप से स्वत्व माना जाता था, और उसका उपयोग स्त्री अपने और अपनी सन्तान के भरण-पोषण के लिए कर सकती थी। पतिकुल के अन्य व्यक्तियों का उस पर अधिकार नहीं माना जाता था।

मौर्य युग में स्त्रियों की स्थिति को उन्नत नहीं कहा जा सकता। विवाहित स्त्रियों को घर से बाहर जाने-आने की स्वतन्त्रता उस काल में प्राप्त नहीं थी। उन्हें प्रायः घर में ही रहना होता था, और पति की इच्छा के विरुद्ध वे कार्य नहीं कर सकती थीं। कौटल्य ने लिखा है—यदि कोई स्त्री अपने पति के कुल (घर) से बाहर जाए, तो उसे छः पण दण्ड दिया जाए। पर यदि पतिकुल से बाहर जाने का कारण विप्रकार (पति से विद्वेष या विरोध) हो, तो स्त्री इस दण्ड की भागी नहीं होगी। यदि पति ने स्त्री को कहीं बाहर जाने से रोका हुआ हो, और वह फिर भी (पति के आदेश के विरोध में) घर से बाहर जाए, तो उस पर बारह पण जुरमाना किया जाए। यदि स्त्री पड़ोसी घर से परे चली जाए, तो उसे छः पण का दण्ड दिया जाए। इस व्यवस्था से सूचित होता है, कि स्त्रियाँ घर में बन्द होकर ही रहा करती थीं, और पति या अन्य स्वजनों की अनुमति के बिना वे पड़ोसी घर से परे तक भी नहीं आ-जा सकती थीं। इतना ही नहीं, स्त्रियों को यह भी अनुमति नहीं थी, कि वे अपने पड़ोसी, भिक्षुक या सौदागर को भी अपने घर के भीतर आने दें। कौटल्य ने लिखा है, कि यदि कोई स्त्री पड़ोसी को भी अपने घर में आने दे, या किसी भिक्षुक को घर बुलाकर भिक्षा प्रदान करे, या किसी सौदागर से घर के भीतर सौदा ग्रहण करे, तो उस पर बारह पण जुरमाना किया जाए। यदि पति ने स्त्री को ऐसा

करने से रोका हुआ हो और वह फिर भी ऐसा करे, तो उसे पूर्वसाहस दण्ड दिया जाए। केवल स्त्री का अपने घर से बाहर जाना ही निषिद्ध नहीं था, अपितु वह किसी स्त्री तक को (विपत्ति की दशा के अतिरिक्त) अपने घर में आने नहीं दे सकती थी। दूसरे की पत्नी को अपने घर में आने देने पर उसके लिए १०० पण दण्ड का विधान था।

स्त्रियों को किस अंश तक स्वतन्त्रता प्राप्त रहे, इस प्रश्न पर कौटलीय अर्थशास्त्र में विवेचन किया गया है। इस सम्बन्ध में कौटल्य ने पुराने आचार्यों का यह मत उद्धृत किया है--यदि कोई स्त्री अपने पति के निकट सम्बन्धी, सुखावस्थ (सुख समृद्धि से युक्त व्यक्ति), ग्रामिक (ग्राम के मुखिया), अन्वाधि (संरक्षक), भिक्षुकी कुल (भिक्षुणी स्त्री के परिवार से सम्बन्ध रखने वाला पुरुष) या ज्ञाति (अपने साथ सम्बन्ध रखने वाले परिवार का पुरुष) के पास जाए, तो इसमें कोई दोष नहीं है। पर कौटल्य पुराने आचार्यों के इस मत से सहमत नहीं थे। उनका कथन था, कि यह जान सकना सुगम नहीं है, कि अपने ज्ञातियों तक के परिवार में कौन-से पुरुष सन्देह से ऊपर हैं या विश्वास के योग्य हैं। कौटल्य को केवल यह स्वीकार्य था, कि स्त्रियाँ अपने ज्ञातियों के कुल में भी केवल उस दशा में जा सकती हैं, जब कि वहाँ कोई मृत्यु हो गई हो, या कोई रोगी हो, या उस पर कोई विपत्ति आ गई हो, या वहाँ कोई बच्चा होने वाला हो। ऐसे अवसरों पर स्त्री को अपने ज्ञातिकुल में जाने से नहीं रोका जाता था। यदि कोई रोके, तो उसे बारह पण जुरमाने का दण्ड दिया जाता था। तीर्थ यात्रा आदि के प्रयोजन से स्त्रियों को घर से बाहर जाने की अनुमति प्राप्त थी।

कौटलीय अर्थशास्त्र में प्रतिपादित ये तथा इसी प्रकार के अन्य नियम यह प्रगट करने के लिए पर्याप्त है, कि मौर्य युग में विवाहित स्त्रियों को अनेकविध बन्धनों में रहना पड़ता था। परदे की प्रथा इस काल में थी या नहीं, यह निश्चित कर सकना कठिन है। कौटलीय अर्थशास्त्र में एक स्थान पर स्त्रियों के लिए 'अनिष्कासिनीनां' (न निकलने वाली) विशेषण का प्रयोग किया गया है। इससे यह सूचित होता है, कि मौर्य युग में स्त्रियाँ प्रायः घर के अन्दर ही रहा करती थीं। पर-पुरुषों से मिलना-जुलना भी उनके लिए निषिद्ध था। पर वे परदे में भी रहती थीं, इस विषय में कोई निर्देश कौटलीय अर्थशास्त्र में नहीं मिलता।

मौर्य युग में विवाह के लिए कौन-सी आयु उपयुक्त समझी जाती थी, इस सम्बन्ध में भी कुछ सूचनाएँ कौटलीय अर्थशास्त्र में विद्यमान हैं। कौटल्य ने लिखा है, कि स्त्री बारह साल की आयु में 'प्राप्तव्यवहार' (वयस्क या बालिग) हो जाती है, और पुरुष सोलह साल की आयु में। सम्भवतः, इस आयु से पूर्व स्त्री या पुरुष को विवाह करने की अनुमति नहीं दी जाती थी।

कौटल्य की सम्मति में स्त्रियों का प्रमुख प्रयोजन सन्तान की उत्पत्ति ही था, यह ऊपर लिखा जा चुका है। अतः यह कल्पना कर सकना असंगत नहीं है, कि मौर्य युग में स्त्रियाँ प्रायः विवाह करके परिवार में ही जीवन व्यतीत किया करती थीं। पर इस काल में ऐसी स्त्रियों की भी सत्ता थी; जो गणिका, रूपाजीवा, दासी आदि के रूप में जीवन निर्वाह

किया करती थीं, और जिनसे राज्य का गुप्तचर विभाग अनेकविध कार्य लिया करता था। राज्य के गुप्तचर विभाग में इन स्त्रियों का कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होता था।

(४) मौर्योत्तर युग में विवाह-संस्था

विवाह के विविध प्रकार—कौटलीय अर्थशास्त्र के समान स्मृतिग्रन्थों, पुराणों, महाभारत तथा धर्मसूत्रों में भी ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच—इन आठ प्रकार के विवाहों का उल्लेख है। क्योंकि इस साहित्य के वर्तमान रूप को मौर्योत्तर युग का माना जाता है, अतः इस काल में विवाह-संस्था के स्वरूप को प्रतिपादित करने के लिए इस साहित्य का उपयोग किया जा सकता है।

ब्राह्म विवाह वह कहाता था, जिसमें कि श्रुति (वेद के ज्ञान) और शील से सम्पन्न वर को कन्या का पिता स्वयं अपने घर बुलाए और वहाँ उसे वस्त्राभूषणों से अलंकृत कन्या को दान करे। आपस्तम्ब धर्मसूत्र के अनुसार ब्राह्म विवाह में वर के कुल, बन्धु-बान्धवों, शील, ज्ञान तथा स्वास्थ्य आदि के सम्बन्ध में समुचित जानकारी प्राप्त की जाती थी, और उसे योग्य पाने पर कन्या का पिता यथाशक्ति कन्या को अलंकृत कर वर को प्रदान कर देता था। **दैव** विवाह में वर के लिए यह अपेक्षा की जाती थी कि वह ऋत्विक् हो और याज्ञिक कर्मकाण्ड में निष्णात हो। मनु के अनुसार याज्ञिक कर्म में सम्यक् प्रकार से लगे हुए ऋत्विक् को जिस विवाह पद्धति से अलंकृत कन्या का दान किया जाता है, उसे दैव विवाह कहते हैं। **आर्ष** विवाह में कन्या का पिता वर से गाय या बैलों की जोड़ी उपहार के रूप में प्राप्त करता था, और उसके बदले में अपनी कन्या वर को प्रदान किया करता था। कौटलीय अर्थशास्त्र में आर्ष विवाह का लक्षण इस प्रकार किया गया है—'गोमिथुन दानादार्षः'। इसका अर्थ यह है कि गोमिथुन (गौओं के जोड़े) को दान देकर जो विवाह किया जाए, वह आर्ष है। यहाँ प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि गोमिथुन का दान कन्या के पिता द्वारा किया जाए या वर के पिता द्वारा। वर्तमान समय में भी हिन्दू-विवाह पद्धति में कन्या का पिता कन्यादान के समय गोदान भी किया करता है, और यह गोदान (या गौ के मूल्य के रूप में धन का दान) विवाह का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। अतः यह कल्पना करना असंगत नहीं होगा, कि कौटलीय अर्थशास्त्र में जिस 'गोमिथुन दान' का उल्लेख है, वह कन्या के पिता द्वारा ही किया जाता था। पर अनेक धर्मशास्त्रों के अनुसार आर्ष विवाह में कन्या का पिता अपने समधी से गौ या बैलों की जोड़ी को उपहार के रूप में प्राप्त करता था, और इसे कन्या का मूल्य माना जाता था। पार्वत्य प्रदेशों की कतिपय जातियों में अब तक भी यह प्रथा है, कि विवाह के समय वर या उसका पिता कन्या के अभिभावक को उपहार अर्पित किया करे। महाभारत के अनुसार शल्य ने अपनी बहन माद्री के विवाह के समय उपहार का ग्रहण किया था, जो शल्य और माद्री के 'कुलधर्म' (कुल की परम्परागत प्रथा) के अनुकूल था। **प्राजापत्य** विवाह पद्धति में कन्यापक्ष द्वारा वर का यथोचित आदर-सत्कार किया जाता था, और फिर यह कहकर कन्या अर्पित कर दी जाती थी, कि वर-वधू दोनों मिलकर धर्मानुसार गृहस्थ जीवन बिताएँ। यद्यपि धर्मानुसार गृहस्थ जीवन बिताना ब्राह्म, दैव और आर्ष विवाहों में भी आवश्यक था, पर

प्राजापत्य पद्धति से हुए विवाहों में वर से यह अपेक्षा की जाती थी, कि पत्नी के बिना 'आश्रमान्तर' (वानप्रस्थ आश्रम) में भी प्रवेश न करे। प्राजापत्य विवाह में पति-पत्नी को अन्त तक 'सहधर्मिता' निभानी होती है, और वर को यह अधिकार नहीं होता कि पत्नी को छोड़कर वह स्वयं वानप्रस्थ हो सके। गौतम धर्मसूत्र की हरदत्त टीका के अनुसार प्राजापत्य विवाह में वर और वधू जीवन पर्यन्त सहधर्मी रूप से साथ-साथ रहने का 'समय' (संविदा या इकरार) मन्त्रोच्चारण पूर्वक किया करते थे।

धर्मशास्त्रों में पहले प्रकार के चार विवाहों—ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्राजापत्य को 'धर्म्य' (धर्मानुकूल) और प्रशस्त माना गया है। इनकी पद्धति में भी विशेष भेद नहीं है। कन्यादान सब में समान रूप में पाया जाता है, और इन पद्धतियों द्वारा सम्पन्न विवाहों में कन्या के पिता या किसी अन्य निकट सम्बन्धी द्वारा वर को कन्या का दान (अर्पण) किया जाना आवश्यक समझा जाता था। पिछले चार प्रकार के—आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच विवाहों में कन्यादान को कोई स्थान नहीं था। आसुर विवाह उसे कहते थे, जिसमें कि वर पक्ष की ओर से कन्या को धन प्रदान किया जाए और एक अर्थ में धन द्वारा कन्या का क्रय किया जाए। मनुस्मृति में आसुर विवाह का लक्षण इस प्रकार किया गया है—जब कन्या की प्राप्ति के लिए ज्ञातियों (सम्बन्धियों या बन्धु-बान्धवों) को यथाशक्ति धन प्रदान किया जाए, तो ऐसे विवाह को 'आसुर' कहते हैं। धर्मसूत्रों के अनुसार वित्त द्वारा जब कन्या प्राप्त की जाए, तो ऐसा विवाह 'आसुर' होता है। आसुर विवाह के अनेक उदाहरण प्राचीन साहित्य में विद्यमान हैं। विष्णु पुराण में कथा आती है कि ऋचीक भार्गव गाधि की पुत्री सत्यवती के साथ विवाह करना चाहता था। पर यह ऋचीक ब्राह्मण अत्यन्त वृद्ध था, जिसके कारण सत्यवती का पिता अपनी पुत्री का उसके साथ विवाह नहीं करना चाहता था। अतः उसने ऋचीक से एक सहस्र श्यामकर्ण घोड़ों की कन्या के मूल्य के रूप में माँग की। ऋचीक ने इसे स्वीकार कर लिया और गाधि को एक सहस्र श्यामवर्ण अश्व प्रदान कर सत्यवती से विवाह करने में सफलता प्राप्त की। जातक-कथाओं में भी अनेक ऐसी कथाएँ विद्यमान हैं, जिसमें 'बहुता धनेन' (बहुत-सा धन प्रदान कर) वधू की प्राप्ति का वर्णन है। पर इस प्रकार के विवाह को प्राचीन काल में अच्छा नहीं समझा जाता था। मनु ने लिखा है कि शूद्र की कन्या का विवाह करने के लिए कभी शुल्क स्वीकार न करे, क्योंकि कन्या के लिये शुल्क को ग्रहण करना कन्या का विक्रय ही होता है। महाभारत में भी शुल्क लेकर कन्या के विवाह की निन्दा की गई है। जब वर और वधू स्वयं अपनी इच्छा से विवाह सूत्र में बंध जाते थे, तो ऐसे विवाह को '**गान्धर्व** विवाह' कहा जाता था। मनु ने इस विवाह को 'मैथुन्य' और 'कामसम्भव' कहा है, जिसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि कुमारी और कुमार जब कामवश एक-दूसरे के प्रति आकृष्ट हो जाएँ, और माता-पिता की सम्मति की परवाह न कर स्वयं विवाह कर लें, तो ऐसे विवाह को गान्धर्व विवाह कहते थे। दुष्यन्त और शकुन्तला का विवाह गान्धर्व विवाह का प्रसिद्ध उदाहरण है। प्राचीन साहित्य प्रेम-विवाहों की कथाओं से परिपूर्ण है। उदयन और वासवदत्ता, पुरुरवा और उर्वशी, चन्द्रापीड और कादम्बरी, पुण्डरीक और महाश्वेता तथा मनु और शतरूपा के विवाहों का आधार प्रणय ही था और इन्हें गान्धर्व विवाह ही कहा जा सकता है। प्राचीन

समय में ऐसे विवाहों को बुरा भी नहीं समझा जाता था। वात्स्यायन के कामसूत्र में तो गान्धर्व विवाह को 'प्रवर' (श्रेष्ठ) कहा गया है, क्योंकि उसका आधार परस्पर 'अनुराग' होता है। राक्षस विवाह उसे कहते थे, जिसमें कि कन्या का अपहरण कर उसके साथ विवाह कर लिया जाए। मनुस्मृति के अनुसार कन्यापक्ष के लोगों को मारकर, घायल कर व क्षति पहुँचा कर रोती चिल्लाती कन्या को जब जबर्दस्ती घर से उठा लिया जाए, तो इस ढंग से किया गया विवाह **राक्षस** विवाह कहाता है। प्राचीन भारत में इस प्रकार के विवाह भी प्रचलित थे। भीष्म ने काशी के राजा को परास्त कर विचित्रवीर्य से उसकी कन्या का विवाह कराया था। कतिपय क्षत्रिय जातियों में राक्षस विवाह को अच्छा भी माना जाता था। महाभारत में लिखा है कि क्षत्रियों के लिए बल का प्रयोग कर कन्या का हरण कर लेना प्रशस्त है, अतः यदि पाण्डव अर्जुन ने सुभद्रा के भाई बलराम की इच्छा के न होते हुए भी बल द्वारा सुभद्रा का हरण कर उसके साथ विवाह कर लिया, तो उसका यह कार्य प्रशस्त ही है। जब सोती हुई, मदहोश हुई या उन्मत्त हुई कन्या को चुपचाप उठाकर उसके साथ विवाह कर लिया जाए, तो ऐसे विवाह को '**पैशाच**' कहा जाता था। इस विवाह को सभी धर्मशास्त्रों और स्मृतिग्रन्थों में 'अधम' माना गया है। सम्भवतः, यह विवाह कतिपय हीन जातियों में ही प्रचलित था। इसीलिये साहित्य में इसके उदाहरण नहीं मिलते।

प्राचीन भारत में **स्वयंवर** विवाह की प्रथा भी प्रचलित थी। राजा जनक ने स्वयंवर द्वारा ही अपनी पुत्री सीता का विवाह किया था। नल और दमयन्ती का विवाह भी स्वयंवर द्वारा हुआ था। यह गान्धर्व विवाह का ही एक सुमर्यादित रूप था, जिसका आयोजन कन्या के माता-पिता द्वारा किया जाता था। गुप्त युग में विचरचित रघुवंश में इन्दुमती के स्वयंवर का बड़े विशद रूप से वर्णन किया गया है, जिससे सूचित होता है कि गुप्तकाल में भी यह प्रथा विद्यमान थी। 'विक्रमाङ्कदेवचरितम्' महाकाव्य में चन्द्रलेखा के स्वयंवर का वर्णन है। चन्द्रलेखा ने कल्याणी के चालुक्यवंशी विक्रमाङ्क को पति के रूप में वरण किया था। पृथ्वीराज रासौ में संयोगिता के स्वयंवर का वर्णन विद्यमान है, जिसने कि पृथ्वीराज को अपना पति माना था। पर स्वयंवर की यह प्रथा कतिपय राजकुलों में ही प्रचलित थी। सर्वसाधारण गृहस्थों के लिये स्वयंवर का आयोजन कर सकना सम्भव नहीं होता था।

कन्याओं का बाल-विवाह—मौर्योत्तर युग में बाल्यावस्था में ही कन्याओं का विवाह कर देने की प्रवृत्ति प्रारम्भ हो गई थी। मनुस्मृति के अनुसार तीस साल के पुरुष को बारह साल की कन्या से और चौबीस साल के पुरुष को आठ साल की कन्या के साथ विवाह करना चाहिये। इससे स्पष्ट है कि मनुस्मृति के निर्माण के समय आठ साल की कन्या को भी विवाह के योग्य माना जाने लगा था। याज्ञवल्क्य स्मृति में तो यहाँ तक कहा गया है कि रजोदर्शन के पश्चात् कन्या जिस समय तक अविवाहित रहती है, उतने समय तक उसके माता-पिता को भ्रूणहत्या का पाप लगता है। पराशरस्मृति में लिखा है कि बारह वर्ष की आयु में रजोदर्शन हो जाने पर भी जो पिता अपनी पुत्री को अविवाहित रखता है, वह नरक को प्राप्त करता है। महाभारत के अनुशासन पर्व में भीष्म से

कहलाया गया है कि ३० वर्ष का पुरुष १० वर्ष की कन्या से और २१ वर्ष का पुरुष ७ वर्ष की कन्या से विवाह किया करे। कतिपय गृह्य सूत्रों में तो रजस्वला होने से पूर्व ही कन्या का विवाह कर देने का विधान किया गया है। गौतम धर्म सूत्र का विधान है कि ऋतुमती होने से पूर्व ही कन्या का विवाह कर दिया जाए। यही बात बौधायन और वसिष्ठ धर्म-सूत्रों में भी विहित है। पर यह वात्स्यायन को अभिमत नहीं था। उनके कामसूत्र के अनुसार वर और वधू की आयु में तीन से कम और सात से अधिक वर्षों का अन्तर नहीं होना चाहिये। इससे यह परिणाम निकाला जा सकता है कि मौर्योत्तर युग में कन्याओं के बाल-विवाह के साथ-साथ वयस्क विवाह का भी प्रचलन था। वात्स्यायन के कामसूत्र में इस बात का भी विशद रूप से वर्णन है कि युवक कन्या को किस प्रकार अपने प्रति आकृष्ट किया करे। इससे सूचित होता है कि कामसूत्र के समय गान्धर्व विवाह का भलीभाँति चलन था, और उसे वाञ्छनीय भी माना जाता था। यवन, शक आदि विदेशी जातियों के आक्रमणों के कारण भारत में जो परिस्थिति उत्पन्न हो गई थी, उसीके परिणाम-स्वरूप कन्याओं का छोटी आयु में ही विवाह होने लग गया था। पर पुरुषों के लिये स्वल्प आयु में विवाह की कोई आवश्यकता नहीं थी। इसीलिये मनुस्मृति और महाभारत में कुमारों और कुमारियों के विवाह की आयु में इतना अधिक अन्तर प्रतिपादित किया गया है। पर आयु का यह अत्यधिक अन्तर कामशास्त्र के नियमों के प्रतिकूल था। अतः वात्स्यायन द्वारा शास्त्रीय दृष्टि से कुमारों और कुमारियों की विवाह योग्य आयु का निर्धारण करते हुए उनमें तीन से सात साल तक का अन्तर रखना सर्वथा समुचित ही था।

अनुलोम और प्रतिलोम विवाह—मौर्योत्तर युग में भी सगोत्र विवाह को निषिद्ध माना जाता था, और विवाह सम्बन्ध प्रायः अपने ही वर्ण व जाति में हुआ करते थे। पर अनुलोम विवाह इस काल में प्रचलित हो गये थे। अपने वर्ण से बाहर विवाह करने की प्रथा वैदिक तथा उत्तर-वैदिक काल में भी प्रचलित थी। जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, शतपथ ब्राह्मण के अनुसार ब्राह्मण ऋषि च्यवन ने क्षत्रिय कुमारी सुकन्या से विवाह किया था। पर धर्मसूत्रों, स्मृति ग्रन्थों और पुराणों द्वारा अब यह प्रतिपादित किया जाने लगा था, कि उच्च वर्ण के पुरुष अपने से निम्न वर्ण की कन्या से विवाह कर सकते हैं। ऐसे विवाह ही 'अनुलोम' कहाते थे। उच्च वर्ण के पुरुष सवर्ण स्त्री के अतिरिक्त अपने से निम्न वर्ण की स्त्री से भी अतिरिक्त विवाह करने लगे थे। याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार ब्राह्मण को तीन स्त्रियों से, क्षत्रिय को दो स्त्रियों से और वैश्य तथा शूद्र को केवल एक स्त्री से विवाह करने की अनुमति थी। इस प्रकार ब्राह्मण सवर्ण स्त्री के अतिरिक्त तीनों निम्न वर्णों की तीन स्त्रियों से विवाह कर सकता था, और क्षत्रिय सवर्ण स्त्री के अतिरिक्त दो निम्न वर्णों की स्त्रियों से। पर यह अनुमति वैश्यों और शूद्रों के लिये नहीं थी। स्मृतिकारों के मत में सवर्ण विवाह ही श्रेष्ठ था, यद्यपि अन्य वर्णों की स्त्रियों से भी अतिरिक्त विवाह का विधान था। पर सवर्ण स्त्री के होते हुए असवर्ण स्त्री धार्मिक कृत्यों का पति के साथ अनुष्ठान नहीं कर सकती थी, और असवर्ण स्त्रियों की स्थिति हीन मानी जाती थी। इसीका यह परिणाम था कि अनुलोम विवाह से उत्पन्न सन्तान को पिता

की सम्पत्ति में बहुत कम अंश उत्तराधिकार में प्राप्त होता था। मनु और याज्ञवल्क्य ने उत्तराधिकार का निरूपण करते हुए सवर्ण स्त्री से उत्पन्न सन्तान की तुलना में अनुलोम विवाह से उत्पन्न सन्तान को सम्पत्ति में कम हिस्सा प्रदान किये जाने की व्यवस्था की है। अनुलोम विवाह के अनेक उदाहरण प्राचीन साहित्य में विद्यमान हैं। शुङ्ग वंशी राजा अग्निमित्र ब्राह्मण वर्ण का था, पर उसका विवाह क्षत्रिय यज्ञसेन की कन्या मालविका के साथ हुआ था। वाकाटक वंश के राजा भी वर्ण से ब्राह्मण थे। इस वंश में उत्पन्न राजा रुद्रसेन ने प्रभावती गुप्ता से विवाह किया था, जो वर्ण में वैश्य थी। वाकाटक राजा देवसेन का मन्त्री ब्राह्मण सोमनाथ था, जिसकी दो पत्नियाँ थीं। एक पत्नी ब्राह्मण वर्ण की थी, और दूसरी क्षत्रिय वर्ण की। ब्राह्मण कवि राजशेखर की पत्नी अवन्तिसुन्दरी क्षत्रिय वर्ण की थी। राजतरङ्गिणी के अनुसार क्षत्रिय संग्रामराज ने अपनी पुत्री लोठिका का विवाह दिट्ठा मठ के अधिपति सोम के साथ किया था जो ब्राह्मण वर्ण का था। इसी प्रकार के अन्य भी अनेक उदाहरण प्राचीन साहित्य से दिये जा सकते हैं।

प्रतिलोम विवाह में निम्न वर्ण का पुरुष अपने से उच्च वर्ण की स्त्री के साथ विवाह करता था। ऐसे विवाह भी प्राचीन काल में प्रचलित थे, यद्यपि उनसे उत्पन्न सन्तान को निकृष्ट समझा जाता था। गौतम धर्म सूत्र में सूत, मागध, वैदेह और चाण्डाल को प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न सन्तान ही कहा गया है। मनु के अनुसार क्षत्रिय पिता और ब्राह्मण माता की सन्तान जाति से सूत होती है, और वैश्य पिता तथा क्षत्रिय माता की सन्तान मागध। इसी प्रकार वैश्य पिता और ब्राह्मण माता से उत्पन्न सन्तान वैदेह कहाती है। धर्मशास्त्रों और स्मृतियों में प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न सन्तान को वर्णसंकर माना गया है, और सूत, मागध, वैदेह, चाण्डाल आदि जातियाँ इसी प्रकार से निर्मित वर्ण-संकर जातियाँ कही गई हैं। प्राचीन साहित्य में प्रतिलोम विवाह के भी अनेक उदाहरण पाये जाते हैं। भागवत पुराण के अनुसार क्षत्रिय राजा नीप ने ब्राह्मण शुक की कन्या के साथ विवाह किया था, और क्षत्रिय ययाति ने ब्राह्मण शुक्र की कन्या देवयानी से। पर ये उदाहरण अपवाद रूप ही हैं। प्राचीन समय में प्रतिलोम विवाहों का अधिक चलन नहीं था और उन्हें बुरा समझा जाता था।

बहुविवाह – प्राचीन भारत में सामान्यतया पुरुष एक स्त्री से ही विवाह कर सकता था। पर विशेष दशाओं में बहुपत्नीविवाह की भी अनुमति थी। बहुविवाह की प्रथा अत्यन्त प्राचीन काल में भी विद्यमान थी। ऐतरेय ब्राह्मण में लिखा है, कि एक पुरुष की बहुत-सी जायाएँ (पत्नियाँ) हो सकती हैं, पर एक स्त्री के बहुत-से पति नहीं हो सकते। बृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार महर्षि याज्ञवल्क्य की दो पत्नियाँ थीं, मैत्रेयी और कात्यायनी। धर्मशास्त्रों में विशेष दशा में बहुविवाह विहित है। आपस्तम्ब धर्म-सूत्र के अनुसार यदि धर्म तथा प्रजा (सन्तान) में से किसी का भी अभाव हो, तो पुरुष दूसरा विवाह कर सकता है। धर्म के अभाव का अभिप्राय पत्नी का धार्मिक अनुष्ठान में असमर्थ होना है। गृहस्थ अपने धार्मिक कृत्यों को सुचारु रूप से सम्पादित कर सके और सन्तान प्राप्ति में समर्थ हो—इन प्रयोजनों से उसे पुनर्विवाह का अधिकार है। बौधायन धर्म सूत्र में यह विधान किया गया है, कि पुत्र न होने की दशा में पुरुष दस वर्ष तक

प्रतीक्षा करे और इस अवधि में यदि पुत्र प्राप्ति न हो, तो वह दूसरा विवाह कर सके। कौटल्य के अनुसार पुत्रविहीन पुरुष को आठ वर्ष तक प्रतीक्षा करने से बाद ही पुर्नविवाह करना चाहिये। स्मृतिग्रन्थों में अनुलोम विवाह की अनुमति दी गई है, जिसके कारण पुरुष सवर्ण पत्नी के रहते हुए भी निम्न वर्ण की स्त्री या स्त्रियों से विवाह कर सकता है। याज्ञवल्क्य के मत में यदि पत्नी सुरापी (शराब पीने वाली), व्यथिता (रोगिणी) धूर्त, वन्ध्या, धन नष्ट करने वाली, पति से द्वेष रखने वाली और कटुभाषणी हो, तो पति को पुर्नविवाह का अधिकार है। क्योंकि कतिपय विशिष्ट दशाओं में पुर्नविवाह शास्त्र सम्मत था, अतः प्राचीन काल में इसका चलन भी था। राजा दशरथ की तीन पत्नियाँ थीं। शुङ्ग वंश के राजा अग्निमित्र की भी तीन पत्नियाँ थीं, जिनके नाम धारणी, इरावती और मालविका थे। राजा तो अनेक स्त्रियों से विवाह किया ही करते थे और इसके अनेक उदाहरण प्राचीन साहित्य से दिये जा सकते हैं, पर सर्वसाधारण लोगों में भी बहुविवाह का चलन था। विशेषतया, धनिक वर्ग के लोग एक से अधिक स्त्रियों से विवाह कर लिया करते थे। इसीलिये कालिदास ने अभिज्ञानशाकुन्तलम् में लिखा है—क्योंकि आपके पास बहुत धन है, अतः आपकी बहुत-सी पत्नियाँ भी होनी चाहियें।

बहुपति विवाह—प्राचीन भारत की कुछ जातियों व कुलों में बहुपति-विवाह की प्रथा भी विद्यमान थी। द्रौपदी के पाँच पति थे। पाँचों पाण्डव भाइयों के साथ द्रौपदी का विवाह हुआ था। महाभारत में युधिष्ठिर के मुख से यह कहलाया गया है, कि इस प्रकार का विवाह पुरानी प्रथा के अनुरूप होने के कारण धर्मसम्मत है। विष्णु पुराण के अनुसार मारिषा के दस पति थे। इसी प्रकार के कुछ अन्य उदाहरण भी प्राचीन साहित्य से दिये जा सकते हैं। पर बहुपति-विवाह की प्रथा कतिपय कुलों तक ही सीमित थी। धर्म शास्त्रों में इसका समर्थन नहीं किया गया है।

स्त्रियों का पुर्नविवाह—कतिपय विशेष दशाओं में स्त्री को पुर्नविवाह करने की अनुमति भी धर्म शास्त्रों में प्रदान की गई है। पर इस विषय पर शास्त्रों में ऐकमत्य नहीं है। मनुस्मृति में पति के मर जाने पर भी पत्नी के लिये पुर्नविवाह करना निषिद्ध ठहराया गया है, यद्यपि पत्नी की मृत्यु हो जाने पर पति के लिये पुर्नविवाह कर लेना मनु को स्वीकार था। मनु के अनुसार विधवा का सर्वोत्तम धर्म यही है कि वह ब्रह्मचारिणी रहते हुए तप संयम का जीवन बिताए। स्त्री का पुर्नविवाह स्मृतिकारों को अभीष्ट नहीं था। उनके मत में कन्या केवल एक बार ही दी जाती है, या कन्यादान एक बार ही होता है। यद्यपि वैदिक तथा उत्तर-वैदिक युगों में विधवा-विवाह का प्रचलन था, पर स्मृतियों तथा धर्मसूत्रों के निर्माण काल में इसे निषिद्ध ठहरा दिया गया था। वैदिक मन्त्रों में अनेक ऐसे संकेत विद्यमान हैं, जिनसे विधवाओं का विवाह प्रमाणित होता है। बौद्ध साहित्य में स्त्रियों के पुर्नविवाह के जो अनेक उदाहरण मिलते हैं, उनमें से कुछ का उल्लेख इसी अध्याय में ऊपर किया जा चुका है। कौटलीय अर्थशास्त्र में तो कतिपय दशाओं में स्त्री के लिये पुर्नविवाह का स्पष्ट रूप से विधान किया गया है। धर्म सूत्रों और स्मृतियों में स्त्रियों के लिये पुर्नविवाह का निषेध है, पर कुछ विशेष दशाओं में उनमें भी इसकी अनुमति दी गई है। मनु ने अक्षत्-

योनि विधवा के पुनर्विवाह के अधिकार को स्वीकार किया है। कौटलीय अर्थशास्त्र की व्यवस्था को दृष्टि में रखते हुए मनु ने यह भी कहा है कि यदि पुरुष किसी धार्मिक कर्त्तव्य के लिये विदेश गया हो, तो उसकी पत्नी को आठ साल तक प्रतीक्षा करनी चाहिये। यदि ज्ञान व यश की प्राप्ति के प्रयोजन से पति विदेश गया हुआ हो तो छह वर्ष तक, और यदि प्रेम के वशीभूत होकर पति कहीं अन्यत्र चला गया हो तो तीन वर्ष तक पत्नी को प्रतीक्षा करनी चाहिये। यद्यपि मनु ने यह स्पष्ट रूप से नहीं लिखा है कि इतनी प्रतीक्षा के पश्चात् भी यदि पति वापस न आए, तो स्त्री को पुनर्विवाह कर लेना चाहिये, पर ऐसी दशा में स्त्रियों का पुनर्विवाह उन्हें स्वीकार था, यह कल्पना असंगत नहीं है क्योंकि प्राचीन काल की यही परम्परा व प्रथा थी। नारदस्मृति से यह बात भलीभांति स्पष्ट हो जाती है। उसके अनुसार पति के विदेश चले जाने पर ब्राह्मण पत्नी को आठ वर्ष तक और यदि उसके कोई सन्तान न हो तो चार वर्ष तक प्रतीक्षा करनी चाहिये। इतनी अवधि के बीत जाने पर यदि पति वापस न आये, तो स्त्री पुनर्विवाह कर सकती है। नारद स्मृति में यह भी कहा गया है कि यदि पति नष्ट (लापता) हो गया हो, मर गया हो, प्रव्रज्या ग्रहण कर ले, नपुंसक हो या पतित हो, तो इन पाँच दशाओं में स्त्री अन्य पुरुष से विवाह कर सकती है। यही श्लोक पराशरस्मृति और अग्निपुराण में भी दिया गया है, जिससे सूचित होता है कि इन पाँच दशाओं (जिन्हें आपत्ति शब्द से कहा गया है) में स्त्री को पुनर्विवाह का अधिकार प्राप्त था। पुनर्विवाह करने वाली स्त्री के लिये प्राचीन ग्रन्थों में 'पुनर्भू' संज्ञा का प्रयोग किया गया है। पुनर्भू ऐसी स्त्रियों को ही कहा था, जिन्होंने कि विधिवत् पुनर्विवाह किया हो। ऐसी स्त्रियाँ दो प्रकार की होती थीं— क्षता (क्षतयोनि) और अक्षता (अक्षतयोनि)। पर कतिपय स्त्रियाँ ऐसी भी होती थीं, जो किसी अन्य पुरुष से विधिवत् विवाह न करके स्वेच्छाचार से किसी के साथ रहने लगती थीं। इन्हें 'स्वैरिणी' कहा जाता था।

नियोग—प्राचीन भारत में नियोग की प्रथा भी प्रचलित थी। यदि पति सन्तान उत्पन्न करने में अशक्त हो, या उसकी मृत्यु हो गई हो, या वह चिरकाल के लिये विदेश चला गया हो, या उसका कोई पता न हो, तो ऐसी दशाओं में स्त्री को यह अनुमति थी कि वह अपने देवर से या पति के सगोत्र किसी अन्य निकट सम्बन्धी से सन्तान प्राप्ति के प्रयोजन से नियोग कर सके। विवाह के समान नियोग भी धर्मसम्मत था। वैदिक साहित्य में स्पष्ट रूप में इसका विधान है, और कौटलीय अर्थशास्त्र में भी इसकी अनुमति है। धर्म-सूत्रों और स्मृतिग्रन्थों को भी नियोग स्वीकार्य था। गौतम धर्मसूत्र में लिखा है, कि पति-विहीन स्त्री को यदि अपत्य की कामना हो, तो वह उसे देवर से प्राप्त कर सकती है। मनु के अनुसार सन्तान न होने की दशा में सन्तान की इच्छुक स्त्री देवर से या सपिण्ड पुरुष से नियोग कर सकती है। इस प्रकार उत्पन्न हुई सन्तान स्त्री के पति की ही मानी जायगी, देवर या उस सपिण्ड पुरुष की नहीं जिससे नियोग द्वारा सन्तान प्राप्त की गई थी। मनु के शब्दों में स्त्री 'क्षेत्र' (खेत) है, उसका पति 'क्षेत्रीय' (खेत का स्वामी) है, जिससे नियोग किया जाए वह व्यक्ति 'बीजी' (बीज डालने वाला) है। खेत में उत्पन्न फसल उसी की होती है, जो खेत का स्वामी हो। अतः नियोग से उत्पन्न सन्तान को क्षेत्रीय की

ही माना जायगा। इसीलिये नियोग से उत्पन्न सन्तान को 'क्षेत्रज' की संज्ञा दी गई थी। नारद और याज्ञवल्क्य को भी यही मत स्वीकार्य था। उन्होंने भी नियोग को स्वीकार किया है। क्षेत्रज सन्तान को अपने 'क्षेत्रीय' पिता की सम्पत्ति में अधिकार प्राप्त होता था। नियोग का प्रयोजन सन्तान की प्राप्ति ही था। संभोग के लिये किसी अन्य पुरुष से सम्बन्ध करना शास्त्रकारों की दृष्टि में अत्यन्त निन्दनीय था। काम के वशीभूत होकर यदि स्त्री किसी अन्य पुरुष से सम्भोग करती थी और उससे उसे कोई सन्तान उत्पन्न हो जाती थी, तो ऐसी सन्तान को 'जारज' माना जाता था और सम्पत्ति में उसका कोई अधिकार नहीं होता था।

प्राचीन साहित्य में नियोग के अनेक उदाहरण विद्यमान हैं। महाभारत में कथा आती है, कि सत्यवती के पुत्र विचित्रवीर्य की निःसन्तान मृत्यु हो गई थी। इस दशा में सत्यवती ने चाहा कि विचित्रवीर्य का सौतेला भाई भीष्म अपनी भाभी से नियोग कर सन्तान की उत्पत्ति कर दे, ताकि भरत वंश नष्ट न होने पाए। पर भीष्म आजन्म ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करने की प्रतिज्ञा कर चुके थे। अतः वे सत्यवती के आदेश को मानने के लिये तैयार नहीं हुए। इस पर यह निर्णय किया गया कि व्यास विचित्रवीर्य की विधवा से नियोग करे। धृतराष्ट्र और पाण्डु का जन्म इसी नियोग का परिणाम था। पाण्डु भी सन्तान उत्पन्न कर सकने में असमर्थ था। उसने स्वयं अपनी पत्नी कुन्ती को नियोग द्वारा सन्तान उत्पन्न करने का आदेश इन शब्दों में दिया था—'पति के जीवित रहते हुए उसकी सहमति के बिना नियोग करना महापाप है। पर उसकी आज्ञा होने पर नियोग न करना भी महापाप है। सौदास ने अपनी पत्नी मदयन्ती को ऋषि वशिष्ठ के साथ नियोग करने की आज्ञा दी थी और इस प्रकार उसने पुत्र लाभ किया था। स्वयं मेरा जन्म भी नियोग द्वारा ही हुआ है। अतः मेरी आज्ञा मानकर तू धर्मच्युत नहीं होगी। मेरी आज्ञा से तू किसी तपस्वी ब्राह्मण से गुणी पुत्र को उत्पन्न कर। इस प्रकार मैं भी पुत्रलाभ कर सकूँगा।' पाण्डु के आदेश से कुन्ती ने नियोग द्वारा पञ्च पाण्डवों में से तीन को उत्पन्न किया था। महाभारत में नियोग के अन्य भी अनेक उदाहरण विद्यमान हैं। एक कथा के अनुसार जब परशुराम ने क्षत्रियों का सर्वसंहार कर दिया था, तो उनकी विधवा स्त्रियों ने नियोग द्वारा ही सन्तान की प्राप्ति की थी। क्योंकि नियोग का प्रयोजन केवल सन्तान का उत्पादन था, अतः यह भी व्यवस्था की गई थी कि नियोग द्वारा अधिक से अधिक तीन सन्तानें उत्पन्न की जा सकें। इसीलिये महाभारत में कुन्ती के मुख से यह कहलवाया गया है कि 'धर्मशास्त्र आपत्काल में नियोग द्वारा अधिक से अधिक तीन पुत्र उत्पन्न करने की अनुमति देते हैं। नियोग द्वारा चौथी सन्तान उत्पन्न करने पर स्त्री व्यभिचारिणी और पाँचवीं सन्तान उत्पन्न करने पर वेश्या बन जाती है।'

पर नियोग की प्रथा भारत में चिरकाल तक प्रचलित नहीं रही। मनु सदृश शास्त्रकारों ने पुरानी परम्परा का अनुकरण करते हुए इसका विधान अवश्य किया, पर इसे वाञ्छनीय नहीं माना। एक श्लोक में तो मनु ने इसे 'विगर्हित' और 'पशुधर्म' तक कह दिया है। बृहस्पति के अनुसार नियोग 'युगक्रम' से (समय की परिस्थितियों में) 'अशक्य' हो गया था। जिस विशिष्ट प्रयोजन को दृष्टि में रखकर प्राचीन काल में नियोग

का विधान किया गया था, उसे भुलाकर उसका दुरुपयोग भी किया जा सकता था। सम्भवतः, इसी कारण बाद के काल में धर्मशास्त्रकारों ने इसका निषेध कर दिया था।

विवाह सम्बन्ध से 'मोक्ष' या 'तलाक'—कौटलीय अर्थशास्त्र के अनुसार जिस प्रकार पति और पत्नी दोनों विवाह सम्बन्ध से 'मोक्ष' प्राप्त कर सकते थे, यह इसी अध्याय में ऊपर प्रतिपादित किया जा चुका है। इसमें सन्देह नहीं, कि मौर्य युग तथा उससे पूर्ववर्ती काल में तलाक की प्रथा भारत में प्रचलित थी। जातक कथाओं में इसके अनेक उदाहरण भी मिलते हैं। पर बाद में शास्त्रकार यह प्रतिपादित करने लगे, कि पति-पत्नी का सम्बन्ध शाश्वत है, और उसका किसी भी दशा में उच्छेद नहीं करना चाहिये। मनु-स्मृति में लिखा है कि पति चाहे 'विशील' (जो सदाचारी न हो), कामवृत्त (कामी) व गुणों से विहीन भी क्यों न हो, साध्वी पत्नी को सदा देवता के समान उसकी उपचर्या (सेवा व पूजा) करनी चाहिये। पराशर स्मृति में तो यहाँ तक लिख दिया गया है कि यदि दरिद्र, चिररोगी तथा धूर्त पति का भी पत्नी किसी प्रकार से अपमान करे, तो वह अगले जन्मों में, कुतिया या सूअरी होकर उत्पन्न होती है। व्यासस्मृति में यह विधान किया गया है कि पत्नी दासी की तरह सदा पति की सेवा में तत्पर रहे। पर इन मन्तव्यों के होते हुए भी कतिपय शास्त्रकारों ने विशेष दशाओं में यह स्वीकार किया है कि पत्नी पहले विवाह-सम्बन्ध का उच्छेद कर पुनर्विवाह कर सकती है। कृत्यकल्पतरु के व्यवहार काण्ड में एक पुराने धर्मशास्त्र को इस प्रकार उद्धृत किया गया है—पति के प्रव्रजित, क्लीव, पतित, राजकिल्विषी (राजद्रोही), तथा लोकान्तरगत (चिरकाल के लिये विदेश में प्रवासी) हो जाने पर पत्नी पति का परित्याग कर दूसरा विवाह कर सकती है। नारद-स्मृति में भी यही व्यवस्था की गई है। पर स्त्री को यह अनुमति इस प्रयोजन से दी गई थी, जिससे कि वह अपनी सन्तान को नष्ट होने से बचा सके, उनका पालन-पोषण कर सके। स्वतन्त्रताचरण करने के लिए विवाह-सम्बन्ध का उच्छेद शास्त्रकारों को स्वीकार्य नहीं था। पर पुरुषों को इस विषय में अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त थी। एक प्राचीन शास्त्रकार के अनुसार यदि पत्नी सेवा करने वाली न हो, वन्ध्या हो, या अप्रियवादी हो, तो पति ऐसी स्त्री का परित्याग कर सकता है। याज्ञवल्क्य को यह अभीष्ट था कि पत्नी के परित्याग कर देने पर भी उसका भरण-पोषण पति को करना ही होगा, अन्यथा उसे महापाप का भागी होना पड़ेगा। याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार पति-पत्नी में आनुकूल्य रहने से त्रिवर्ग की प्राप्ति होती है, अतः विवाह-सम्बन्ध का निबाह करना ही वाञ्छनीय है।

(५) पारिवारिक जीवन

प्राचीन भारत में पारिवारिक जीवन का बड़ा महत्त्व था। युवक और युवती विवाह करके परिवार का निर्माण करते थे और सन्तान के साथ सुखमय जीवन बिताने का प्रयत्न करते थे। विवाह के अवसर पर पति और पत्नी को पुरोहित द्वारा जो आशीर्वचन कहे जाते थे, ऋग्वेद के अनुसार वे निम्नलिखित थे— 'तुम इसी घर में रहो, कभी तुममें वियोग न हो, पुत्रों और पौत्रों के साथ खेलते हुए और आनन्द मनाते हुए अपने घर में निवास करो और पूर्ण आयु का भोग करो।' निस्सन्देह, प्राचीन काल में भारतीय गृहस्थों

का यही आदर्श था। तब परिवार के सब सदस्य--पिता, माता, पुत्र, पुत्रवधुएं, कन्याएँ, पौत्र आदि—एक साथ निवास करते थे और परिवार के सबसे वृद्ध—पिता या पितामह—के शासन में रहा करते थे। परिवार का स्वरूप संयुक्त कुटुम्ब का होता था, जिसमें परिवार के विभिन्न सदस्यों की पृथक् सम्पत्ति न होकर सब सम्पत्ति संयुक्त रूप में कुटुम्ब की मानी जाती थी। पर इस दशा में कुछ कठिनाइयों का प्रादुर्भूत होना सर्वथा स्वाभाविक था। जब पुत्र वयस्क हो जाते थे, तो उनके लिए पिता के शासन में रहना सुगम नहीं रहता था और स्वतन्त्र आचरण की प्रवृत्ति उनमें उत्पन्न होने लगती थी। वे पिता के जीवन-काल में ही सम्पत्ति का बंटवारा कर लेने की भी माँग करने लगते थे, ताकि अपनी पत्नी तथा सन्तान के साथ पृथक् व स्वतन्त्र रूप से रह सकें। साथ ही, परिवार के विविध वयस्क पुरुषों की पत्नियाँ जब एक साथ एक ही घर में निवास करती थीं, तो उनमें कलह भी हुआ करती थी जिसके कारण भाइयों में फूट पड़ने लगती थी। रामायण में स्त्रियों को चपल, तीक्ष्ण, विमुक्तधर्मा तथा भेद (फूट) डालने वाली कहा गया है। सम्भवतः, इसी कारण बौधायन धर्मसूत्र में यह मन्तव्य प्रतिपादित है, कि विभाग (सम्पत्ति के विभाजन व संयुक्त कुटुम्ब के विभाग) द्वारा धर्म की वृद्धि होती है। शायद इसीलिये 'भ्रातृव्य' (भतीजा) शब्द का प्रयोग शत्रु के अर्थ में भी किया जाने लगा था। जब एक कुटुम्ब में अनेक भाई एक साथ रहते हों और उनके पुत्र भी वयस्क हो जाते हों, तो उनमें जो विरोध व विद्वेष उत्पन्न हो जाता था, उसके कारण भतीजे को यदि शत्रु समझा जाने लगे, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। पर यह सब होते हुए भी शास्त्रकारों को यही अभिप्रेत था कि पिता की सम्पत्ति का विभाजन उसकी मृत्यु से पहले न हो सके। गौतम धर्मसूत्र, मनुस्मृति व याज्ञवल्क्य स्मृति में यही मत प्रतिपादित है। वहाँ स्पष्ट रूप से लिखा है कि पिता के जीवित होते हुए पुत्र 'अनीश' (जो सम्पत्ति के स्वामी न हों) होते हैं। कौटलीय अर्थशास्त्र के अनुसार पिता के रहते हुए पुत्रों को 'अनीश्वर' (सम्पत्ति के जो स्वामी न हों) कहा गया है।

प्राचीन भारतीय परिवारों में पिता का स्थान सर्वोच्च माना जाता था। परिवार के अन्य सब सदस्यों पर उसका शासन होता था और उन्हें वह दण्ड दे सकता था। मनुस्मृति के अनुसार पत्नी, पुत्र, भाई, दास आदि यदि कोई अपराध करें, तो पिता रज्जु (रस्सी का कोड़ा) और बेंत से उनका ताड़न कर सकता है। पर इस प्रकार जो आघात किये जाएँ, वे पीठ पर ही किये जाने चाहिएँ, उत्तमाङ्ग (सिर आदि) पर नहीं। परिवार में माता का स्थान भी अत्यन्त सम्मान का था। धर्मग्रन्थों में यह प्रतिपादित किया गया है कि माता चाहे पतित भी क्यों न हो, पर सन्तान को कभी उसका त्याग नहीं करना चाहिये। पतित माता का भरण-पोषण भी सन्तान का कर्त्तव्य है। यद्यपि पत्नी को पति की सहधर्मिणी तथा अर्धाङ्गिनी माना जाता था, पर परिवार में पति की तुलना में उसकी स्थिति हीन समझी जाती थी। प्राचीन साहित्य में पत्नी को 'पोष्या' (जिसका पालन किया जाए) और 'भार्या' (जिसका भरण-पोषण किया जाए) कहा गया है। सहधर्मिणी होते हुए भी स्त्री पति के कहने में रहा करती थी, और पति उसे दण्ड देने का अधिकार रखता था। पर स्त्री को दण्ड देने का प्रयोजन उसे 'विनय' (अनुशासन) में

रखना ही था। उसे प्रताड़ित करना शास्त्रकारों को अभिमत नहीं था। प्राचीन परिवारों में पत्नी से यह अपेक्षा की जाती थी कि वह गृह कार्यों में दक्ष हो, सदा प्रसन्न रहे, खुले हाथ खर्च न करे और सुसंस्कृत जीवन बिताते हुए पति, पुत्र तथा गुरुजनों की सेवा में तत्पर रहा करे। पातिव्रत्य धर्म का पालन उसके लिये अत्यन्त आवश्यक माना जाता था। पुत्र अनेक प्रकार के होते थे। औरस (विधिपूर्वक विवाहित स्त्री से उत्पन्न) पुत्र के अतिरिक्त 'क्षेत्रज' (नियोग विधि से उत्पन्न) और दत्तक (गोद लिये हुए) पुत्र भी हुआ करते थे। सम्पत्ति में इनके अधिकारों का भी धर्मशास्त्रों में विशद रूप से प्रतिपादन किया गया है।

दसवाँ अध्याय

शिक्षा

(१) वैदिक तथा उत्तर-वैदिक युगों में शिक्षा का स्वरूप

प्राचीन भारत में शिक्षा का बहुत अधिक महत्त्व था। यह माना जाता था कि बालक के विकास के लिए उसे केवल माता-पिता के प्रभाव में रहना ही पर्याप्त नहीं है, अपितु उसे आचार्य के भी प्रभाव में रहना चाहिए। "मातृमान्, पितृमान्, आचार्यवान् पुरुषो वेद," इस शास्त्रवाक्य के अनुसार बालक पहले माता के प्रभाव में रहता है, फिर पिता के और बाद में आचार्य के। उसकी अन्तर्हित शक्तियों व गुणों का विकास पहले माता करती है, फिर पिता और फिर आचार्य द्वारा शिक्षा प्राप्त कर वह अपना विकास करने में समर्थ होता है। माता-पिता बालक का पालन करते हैं, पर जब वह पालन-पोषण के अनन्तर बड़ा हो जाता है, तो उसे विद्याध्ययन के लिए आचार्य के पास भेज दिया जाता है। भारत की प्राचीन परम्परा के अनुसार बालक और बालिकाओं को उपनयन संस्कार के पश्चात् आचार्यकुल में ही निवास करना होता था, और वहाँ ब्रह्मचर्यपूर्वक रहते हुए शिक्षा प्राप्त करनी होती थी। बृहदारण्यक उपनिषद् में लिखा है कि तीन लोक होते हैं, मनुष्य-लोक, पितृलोक और देवलोक। इन तीनों लोकों में देव लोक सबसे श्रेष्ठ है। इसकी प्राप्ति विद्या द्वारा ही सम्भव है। अतः सबको विद्या प्राप्त करनी चाहिए। यह विद्या आचार्य से ही प्राप्त की जा सकती थी। इस कारण यह विधान किया गया था कि एक निश्चित आयु में बालकों और बालिकाओं को शिक्षा के लिए आचार्यकुलों या गुरुकुलों में भेज दिया जाए, और वहाँ रहकर वे विद्या का अध्ययन किया करें। छान्दोग्य उपनिषद् में कथा आती है कि आरुणि का पुत्र श्वेतकेतु था। जब वह बड़ा हो गया, तो उसके पिता ने कहा—हे श्वेतकेतो, अब तू ब्रह्मचर्य का जीवन व्यतीत कर। हमारे परिवार में कोई ऐसा व्यक्ति नहीं होता, जो शिक्षा प्राप्त न करे और स्वयं ब्राह्मण न बनकर अपने को केवल ब्राह्मणों का बन्धु बताए। पिता से ऐसा कहा जाने पर श्वेतकेतु आचार्य की सेवा में गया और चौबीस वर्ष की आयु तक उसने वेदशास्त्रों का अध्ययन किया। इस प्रकार शिक्षा प्राप्त कर जब वह अपने घर वापस आया, तो उसे यह अभिमान था कि वह विद्वान् हो गया है। इस कथा से स्पष्ट है कि प्राचीन काल में बालक आचार्य कुल में जाकर वेदशास्त्रों का अध्ययन किया करते थे और चौबीस साल की आयु तक आचार्यकुल में रहा करते थे। ब्राह्मण कुल में उत्पन्न व्यक्ति भी उसी दशा में ब्राह्मण कहाने के अधिकारी होते थे, जब कि वे आचार्यकुल में रहकर वेदशास्त्रों में निष्णात हो जाएँ। अन्यथा वे केवल 'ब्रह्मबन्धु' ही समझे जाते थे, ब्राह्मण नहीं।

बालक और बालिकाएँ आचार्यकुल में ब्रह्मचर्यपूर्वक रहा करते थे। प्राचीन शास्त्रों में ब्रह्मचर्य की महिमा बड़े विशद रूप से लिखी गई है। अथर्ववेद के अनुसार ब्रह्मचर्य के

तप से ही राजा राष्ट्र की रक्षा में समर्थ होता है, और ब्रह्मचर्य द्वारा ही आचार्य वह योग्यता प्राप्त करता है जिससे कि वह ब्रह्मचारियों को शिक्षा प्रदान कर सकता है। ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करके ही मनुष्य तेजोमय ब्रह्म (ज्ञान) को धारण करता है, और वह सब देवताओं का अधिवास बन पाता है, अर्थात् सब दैवी गुणों को वह प्राप्त करता है। एक अन्य स्थान पर वैदिक साहित्य में कहा गया है कि ब्रह्मचर्य के तप से ही देवों ने मृत्यु पर विजय प्राप्त की थी, और ब्रह्मचर्य द्वारा ही इन्द्र ने देवों को 'स्वः' (सुख समृद्धि) से परिपूर्ण कर दिया था। आचार्य कुल में निवास करते हुए ब्रह्मचारी तप और साधना का जीवन बिताते थे, और विद्याध्ययन में तत्पर रहा करते थे। इन आचार्यकुलों में विद्यार्थी कौन-सी विद्याएँ पढ़ा करते थे, इसका परिज्ञान हमें छान्दोग्य उपनिषद् के एक सन्दर्भ से मिलता है, जिसमें कि महर्षि सनत्कुमार तथा नारद मुनि का संवाद उल्लिखित है। सनत्कुमार के पूछने पर नारद ने उन विद्याओं को गिनाया है, जिनका कि उसने अध्ययन किया था। ये विद्याएँ निम्नलिखित हैं--ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, व्याकरण, पितृविद्या, राशिविद्या, (गणित), दैवविद्या, निधिशास्त्र, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, ब्रह्मविद्या, भूत विद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या (ज्योतिष), सर्प-विद्या और देवजन विद्या। इससे स्पष्ट है कि आचार्यकुलों में रहते हुए उत्तर-वैदिक काल के विद्यार्थी वेदशास्त्रों के अतिरिक्त गणित, ज्योतिष, तर्क, व्याकरण, युद्ध विद्या और चिकित्सा आदि का भी अध्ययन किया करते थे। छान्दोग्य उपनिषद् में नारद द्वारा अध्ययन की गई जिन विद्याओं का उल्लेख है, उनमें से कुछ का अभिप्राय स्पष्ट नहीं है। सम्भवतः, भूतविद्या पञ्च महाभूतों के विज्ञान को कहते थे और देवजन विद्या नृत्य और संगीत को। उत्तर-वैदिक काल में छह वेदाङ्गों (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष) तथा चार उपवेदों का भी विकास हो चुका था, और यह सहज में अनुमान किया जा सकता है, कि आचार्यकुल में निवास करते हुए ब्रह्मचारी इन सबका भी अध्ययन किया करते थे।

विद्या का आरम्भ उपनयन संस्कार (वेदारम्भ संस्कार) द्वारा होता था। इस अवसर पर बालकों और बालिकाओं को यज्ञोपवीत धारण कराया जाता था। तीन तागों से बना हुआ यज्ञोपवीत उन व्रतों का प्रतीक था, जिन्हें ब्रह्मचारी ग्रहण करते थे। प्राचीन शास्त्रों में यज्ञोपवीत को 'परम पवित्र' 'आयुष्य' (दीर्घायु प्रदान करने वाला) और 'शुद्ध' कहा गया है। इसे धारण करने के अनन्तर ही बालक आचार्यकुल में निवास करने का अधिकारी हो सकता था। जब कोई विद्यार्थी विद्याध्ययन के लिए आचार्यकुल में आता था, तो आचार्य उससे पूछता था—तुम किसके ब्रह्मचारी हो ? विद्यार्थी के यह कहने पर कि 'मैं आपका ब्रह्मचारी हूँ,' आचार्य उससे कहता था—'नहीं तुम इन्द्र के ब्रह्मचारी हो, तुम अग्नि के ब्रह्मचारी हो और मैं तुम्हारा आचार्य हूँ।' इन्द्र देवताओं का राजा माना गया है, और अग्नि द्वारा याज्ञिक कर्मकांड का अनुष्ठान होता है। देवों और पितरों द्वारा जिन विद्याओं का विकास किया जा चुका था, उन्हीं की शिक्षा ग्रहण करने के लिए ब्रह्मचारी आचार्यकुल में प्रवेश किया करता था, अतः स्वाभाविक रूप से वह 'इन्द्र' का ब्रह्मचारी होता था। सब सांसारिक कृत्य तथा याज्ञिक अनुष्ठान अग्नि द्वारा ही सम्पादित

होते हैं, और आचार्यकुल में रहते हुए ब्रह्मचारी को प्रातः सायं अग्निहोत्र करना होता था, इसीलिए उसे 'अग्नि का ब्रह्मचारी' कहा जाता था। आचार्यकुल में प्रवेश के पश्चात् बालक-बालिकाओं का अपने माता-पिता के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहता था, वे पूर्णतया आचार्य या गुरु के प्रभाव में रहते हुए विद्याध्ययन किया करते थे। जिस प्रकार माता बच्चे को नौ मास तक अपने गर्भ में धारण करती है, वैसे ही आचार्य या गुरु बारह वर्ष या उससे भी अधिक समय तक ब्रह्मचारी को अपने 'गर्भ' में रखता था और उसकी अन्तर्हित शक्तियों के विकास का प्रयत्न करता था। आचार्यकुल में शिक्षा प्राप्त करने के लिए विद्यार्थियों से कोई शुल्क नहीं लिया जाता था। वे 'भैक्षचर्य' द्वारा भोजन, वस्त्र आदि प्राप्त करते थे और भिक्षा में जो कुछ उन्हें मिलता था उसे गुरु की सेवा में प्रस्तुत कर देते थे। इस प्रकार भिक्षा में जो भोजन, वस्त्र आदि प्राप्त होते थे, उनसे विद्यार्थियों तथा गुरुओं का जीवननिर्वाह होता था। उस काल में जीवन की आवश्यकताएँ बहुत अधिक नहीं होती थीं। आचार्यकुलों की स्थिति प्रायः आरण्यक आश्रमों में होती थी, जहाँ ईंधन, कन्द, मूल, फल, बल्कल आदि सुलभ होते थे। ब्रह्मचारी इनका भी चयन किया करते थे। साथ ही, आचार्यकुलों में गौ आदि पशु भी अच्छी बड़ी संख्या में होते थे, जिनका पालन-पोषण भी ब्रह्मचारियों द्वारा किया जाता था। आचार्यकुल की दूध-घी की आवश्यकता इन पशुओं द्वारा पूरी हो जाया करती थी। छान्दोग्य उपनिषद् में कथा आती है कि जब सत्यकाम जाबाल हारिद्रुमत गौतम के पास शिक्षा के लिए गया, तो आचार्य ने चार सौ गौएं उसके सुपुर्द कर दीं, और उसे आदेश दिया कि जब गौओं की संख्या एक सहस्र हो जाए, तभी वह उसके पास वापस आए। इससे सूचित होता है कि आचार्यकुल की भोजन की आवश्यकताओं की पूर्ति का एक साधन वे गौशालाएँ भी थीं जो आचार्यकुलों में हुआ करती थीं। प्राचीन युग में पशुधन का बहुत महत्त्व था, अतः यह स्वाभाविक ही था कि अरण्यों में स्थित आचार्यकुलों की अपनी गौशालाएँ हों और उनमें विद्यमान पशुओं के रक्षण तथा पालन की उत्तरदायिता ब्रह्मचारियों की मानी जाए।

आचार्यकुल में जो शिक्षक ब्रह्मचारियों को विद्यादान करते थे, उनके अनेक वर्ग होते थे। इन शिक्षकों में सर्वोच्च स्थिति आचार्य की मानी जाती थी। निरुक्त के अनुसार आचार्य उसे कहते थे, जो आचार (सदाचार) का ग्रहण कराए (आचार्यः कस्मात्, आचार्यः आचारं ग्राहयति)। इसमें सन्देह नहीं कि बालक और बालिकाओं को सदाचारी बनाना आचार्यकुलों का प्रधान कर्त्तव्य था, और यह कार्य आचार्य द्वारा सम्पन्न किया जाता था। मनुस्मृति में आचार्य का लक्षण इस प्रकार किया गया है—'जो द्विज शिष्य का उपनयन संस्कार करा के उसे वेद पढ़ाये और साथ ही कल्प वेदांग की उनके रहस्यों के सहित शिक्षा दे, उसे आचार्य कहते हैं।' आचार्यकुल आचार्य के ही अधीन होता था, और वही वहाँ वेद तथा कल्प का अध्यापन करता था। ब्रह्मचारियों को सदाचारी बनाने की उत्तरदायिता भी उसी की मानी जाती थी। आचार्य के अधीन जो शिक्षक आचार्यकुलों में अध्यापन का कार्य करते थे, वे 'उपाध्याय' कहाते थे। मनु के अनुसार जो द्विज वेद के 'एकदेश' (एक भाग) तथा वेदांगों का अध्यापन करे, और उसके लिए वृत्ति (वेतन व पारिश्रमिक) भी ग्रहण करे, वह उपाध्याय कहाता है। इससे यह संकेत मिलता है कि

आचार्यकुलों में कतिपय शिक्षकों को वृत्ति पर भी नियुक्त किया जाता था। सम्भवतः, यह वृत्ति आचार्य द्वारा ही दी जाती थी। इनके अतिरिक्त आचार्यकुलों में ऋत्विक् भी होते थे, जिनका कार्य विविध यज्ञों का अनुष्ठान कराना माना जाता था। वैदिक तथा उत्तर-वैदिक युगों के शिक्षक न केवल सदाचारी, त्यागी तथा विद्वान् होते थे, अपितु अभिमान उन्हें छू तक न जाता था। यदि किसी बात का उन्हें ज्ञान न हो, तो वे स्पष्ट रूप से उस विषय में अपनी अनभिज्ञता स्वीकार कर लेते थे। प्रश्न उपनिषद् में कथा आती है, कि कौसल्यराजपुत्र ने आचार्य सुकेशा भारद्वाज से 'सोलह कलाओं से युक्त पुरुष' के विषय में प्रश्न किया, जिस पर आचार्य ने कहा—'मैं इसे नहीं जानता। यदि मैं इसे जानता होता, तो क्यों न उत्तर देता। जो अनृत भाषण करता है, वह समूल सूख जाता है। अतः मैं झूठ नहीं बोलूंगा।'

तैत्तिरीय उपनिषद् में उन नियमों व आदेशों का बड़े विशद रूप से निरूपण किया गया है, जिन्हें आचार्यकुल में रहते हुए गुरुओं तथा शिष्यों को सदा अपने सम्मुख रखना चाहिए—उन्हें (शिष्यों को) अध्ययन करते हुए और (गुरुओं को) प्रवचन करते हुए ऋत, सत्य, तप, दम, शम, अग्निहोत्र का अनुष्ठान, अतिथि सेवा, सब मनुष्यों के प्रति समुचित व्यवहार, प्रजा के प्रति यथायोग्य बरताव, और अपने साथियों के प्रति कर्त्तव्य-पालन का सदा ध्यान रखना आवश्यक है, अध्ययन और प्रवचन ही पर्याप्त नहीं है। उसके साथ सत्य तथा तप भी अनिवार्य हैं। आचार्यकुल में विधिवत् उपनीत ब्रह्मचारी तथा उनके शिक्षक जहाँ अध्ययन और अध्यापन में व्यापृत रहते थे, वहाँ उन्हें अपना जीवन भी सत्य, दम, शम आदि से ओतप्रोत तथा तपश्चर्या से युक्त बनाना होता था। इन आचार्यकुलों में गुरु और शिष्य का सम्बन्ध बहुत महत्त्व का माना जाता था। शिष्य के लिए आचार्य ही पिता था। निरुक्त में कहा गया है कि शिष्य गुरु को ही अपना पिता और माता माने, और किसी भी दशा में उनके प्रति द्रोहभाव न रखे। मनुस्मृति के अनुसार उपनीत हुए ब्रह्मचारी के लिए आचार्य ही पिता होता है, और सावित्री (विद्या) ही उसकी माता होती है। शिष्य से यह अपेक्षा की जाती थी कि वह गुरु के प्रति भक्ति रखे। मनु के अनुसार सुश्रूषा (गुरु की सेवा) शिष्य का आवश्यक गुण है। सुश्रूषा के बिना शिष्य के लिए विद्या प्राप्त कर सकना सम्भव नहीं था। मनु ने लिखा है कि जिस प्रकार खनित्र (फावड़े) से जमीन को खोदकर जल प्राप्त किया जाता है, वैसे ही सुश्रूषा द्वारा शिष्य गुरु की विद्या को प्राप्त कर पाता है।

आचार्यकुल में ब्रह्मचर्यपूर्वक निवास कर जब विद्यार्थी शिक्षा को पूर्ण कर लेते थे, तो उनका दीक्षान्त (समावर्तन) संस्कार होता था। इस संस्कार के पश्चात् ही वे अपने घरों को वापस लौटते थे और गृहस्थाश्रम में प्रवेश के अधिकारी माने जाते थे। 'समावर्तन' का अर्थ ही वापस लौटाना है। समावर्तन संस्कार के अवसर पर जो उपदेश आचार्य द्वारा शिष्यों को दिया जाता था, तैत्तिरीय उपनिषद् के अनुसार वह निम्नलिखित था—'सदा सत्य भाषण करना। सदा धर्माचरण करना। स्वाध्याय में कभी प्रमाद न करना। आचार्य को जो प्रिय हो, वह धन दक्षिणारूप में प्रदान कर गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करना, ताकि सन्तान उत्पन्न कर वंश की परम्परा को उच्छिन्न होने से बचाया जा सके। सत्य आचरण

में कभी प्रमाद न करना। धर्म आचरण में कभी प्रमाद न करना। कुशल जीवन बिताने में कभी प्रमाद न करना। अपनी योग्यता और सामर्थ्य के विकास में कभी प्रमाद न करना। स्वाध्याय करने तथा पढ़ी हुई विद्या के प्रवचन में कभी प्रमाद न करना। देव-कार्यों (देवपूजा व देवयज्ञ) और पितृकार्यों (माता-पिता तथा गुरुजनों की सेवा व पितृ-यज्ञ) में कभी प्रमाद न करना। सदा माता की सेवा में तत्पर रहना। सदा पिता की सेवा में तत्पर रहना। सदा आचार्य की सेवा में तत्पर रहना। सदा अतिथियों की सेवा में तत्पर रहना। जो कार्य दोषरहित हों केवल उन्हीं को सम्पन्न करना, अन्य कार्यों को नहीं। हमारे केवल ऐसे कार्यों का ही अनुसरण करना जो समुचित हों और जो सदाचरण के अनुरूप हों। हमारे अनुचित कार्यों का कभी अनुसरण न करना। सदा दान देने में तत्पर रहना, श्रद्धापूर्वक दान किया करना, यदि श्रद्धा न हो तो भी दान देना, लज्जावश भी दान देना, भीतिवश भी दान देना, प्रतिज्ञात दान को देने में सदा तत्पर रहना। यदि तुम्हें कभी इस बात में सन्देह हो कि क्या कर्तव्य या अकर्तव्य है, कौन-सा आचरण समुचित या अनुचित है और क्या ज्ञातव्य या अज्ञातव्य है, तो यह देखना कि धर्मयुक्त-परम विद्वान् और सदाचारी ब्राह्मणों का संदिग्ध विषयों के प्रति क्या रुख है। वे जैसा करते हों, वैसा ही तुमने करना। यही मेरा आदेश है, यही मेरा उपदेश है, और यही वेदों व उपनिषदों का विधान है।' वैदिक और उत्तर-वैदिक युगों के आचार्य अपने शिष्यों से क्या अपेक्षा रखते थे, इसका स्पष्ट आभास तैत्तिरीय उपनिषद् के इस सन्दर्भ से मिल जाता है। इसमें सन्देह नहीं, कि प्राचीन भारत में शिक्षा का आदर्श अत्यन्त उच्च था। आचार्यकुलों का कार्य केवल विविध विद्याओं की शिक्षा देना ही नहीं था, अपितु वहाँ विद्यार्थियों को सत्यनिष्ठ व सदाचारी नागरिक बनाने का भी प्रयत्न किया जाता था। शिक्षाकाल में विद्यार्थी आचार्य को कोई भी शुल्क नहीं देते थे, पर शिक्षा की समाप्ति पर वे उन्हें अपनी सामर्थ्य के अनुसार दक्षिणा अवश्य दिया करते थे, जो आचार्यकुल की आमदनी का महत्त्वपूर्ण साधन होती थी।

(२) बौद्ध और मौर्य युगों में शिक्षा की दशा

महात्मा बुद्ध की शिक्षाओं का अनुसरण कर बहुत-से लोगों ने भिक्षुव्रत ग्रहण कर बौद्ध संघ में सम्मिलित होना प्रारम्भ कर दिया था, जिसके कारण प्राचीन काल की आश्रम मर्यादा को बहुत आघात पहुँचा था। स्त्री और पुरुष किशोर आयु में ही सांसारिक जीवन का परित्याग कर और भिक्षुओं के काषाय वस्त्र धारण कर विहारों में निवास करने लग गये थे। बौद्ध विहारों के लिए उस युग के धनी गृहस्थ और राजा उदारतापूर्वक दान देते थे, जिसके परिणामस्वरूप बहुत-से वैभवपूर्ण विहार बौद्ध युग में देश के विभिन्न नगरों में स्थापित हो गए थे। पाटलिपुत्र, श्रावस्ती, काशी, गया, काम्पिल्य, शाकल आदि नगरों में बहुत-से विहार विद्यमान थे, जहाँ सैकड़ों, हजारों की संख्या में भिक्षु निवास करते थे। भिक्षुणियों के लिए पृथक् विहारों की सत्ता थी। ये विहार शिक्षा के भी महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे, जिनमें उपाध्याय और आचार्य अध्यापन का कार्य किया करते थे। महावग्ग के अनुसार ऐसा व्यक्ति ही उपाध्याय हो सकता था, जिसे भिक्षुव्रत ग्रहण किये दस वर्ष हो चुके हों।

आचार्य का पद प्राप्त करने के लिए छह वर्ष तक भिक्षु जीवन बिता चुका होना आवश्यक माना जाता था। उपाध्याय विनय-पिटक का अध्यापन किया करता था, और आचार्य विद्यार्थियों को सदाचरण की शिक्षा दिया करता था। इसीलिये उसे 'कर्माचार्य' भी कहते थे। प्राचीन युग के आचार्यकुलों या गुरुकुलों का स्थान अब विहारों ने ले लिया था। आचार्यकुल का स्वरूप एक परिवार के समान होता था, जिसमें गुरु और शिष्यों के बीच पिता-पुत्र का सम्बन्ध माना जाता था। पर बौद्ध काल के विहारों में यह सम्भव नहीं था, क्योंकि उनमें शिक्षा प्राप्त करने वाले भिक्षुओं या विद्यार्थियों की संख्या सैकड़ों-हजारों में हुआ करती थी। भिक्षुओं को अपने भोजन आदि के लिए भैक्षचर्या की भी आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि बौद्ध बिहार प्रायः अत्यन्त समृद्ध तथा धन-धान्य से पूर्ण हुआ करते थे। अनाथपिण्डक जैसे गृहपतियों और अशोक जैसे राजाओं ने उन्हें जो अपार धन-सम्पत्ति दान में दी थी, उसके कारण उन्हें बहुत-सी भूसम्पत्ति भी प्राप्त हो गई थी, जिसमें विहार द्वारा खेती करायी जाती थी, पशु पाले जाते थे और अन्य विविध प्रकार से धन का उपार्जन किया जाता था। इसी का यह परिणाम था, कि बौद्ध विहारों के स्थविर, आचार्य और उपाध्याय बड़े ठाठ-बाठ से रहा करते थे और उन्हें तथा उनके शिष्यों को दैनिक भोजन की प्राप्ति के लिये भैक्षचर्या पर निर्भर नहीं रहना पड़ता था। वर्तमान भारत में भी ऐसे मठ व अखाड़े विद्यमान हैं, जिनके महन्तों की स्थिति बड़े जमींदारों के समान है और जिनमें धन-सम्पत्ति की कोई कमी नहीं है। बौद्ध युग के विहार भी प्रायः इसी ढंग के थे। क्योंकि इन विहारों में बहुत-से भिक्षु या विद्यार्थी निवास करते थे, अतः अपने गुरुओं से उनका वैसा व्यक्तिगत सम्बन्ध सम्भव नहीं था, जैसा कि प्राचीन समय के आचार्यकुलों में हुआ करता था। इनमें विद्यार्थी सामुदायिक जीवन बिताते थे, और एक बड़े समुदाय में रहते हुए शिक्षा प्राप्त किया करते थे। उनके अध्यापन के लिए बहुत-से उपाध्याय व शिक्षक नियत होते थे, और उन्हें उन नियमोंका पालन करना होता था जिनका प्रतिपादन विनय पिटक में किया गया है। भिक्षुओं के नियमानुरूप अनुशासित जीवन बिताने की उत्तरदायिता कर्माचार्य पर होती थी।

⇒ पर बौद्ध काल में केवल बौद्ध विहार ही शिक्षा के केन्द्र नहीं थे। उस समय तक्षशिला और काशी जैसे नगरों में बहुत-से ऐसे शिक्षा केन्द्र या विद्यापीठ भी विकसित हो गये थे, जिनमें विश्व-विख्यात आचार्य कतिपय विशिष्ट विषयों की उच्च शिक्षा दिया करते थे, और इन आचार्यों की अनुपम विद्वत्ता तथा कीर्ति से आकृष्ट होकर दूर-दूर के प्रदेशों से विद्यार्थी उनके पास विद्याध्ययन के लिये आया करते थे। जातक-कथाओं द्वारा इन शिक्षा-केन्द्रों के विषय में बहुत-सी महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं, जिन्हें संक्षिप्त रूप से यहाँ उल्लिखित करना उपयोगी है।

तक्षशिला में शिक्षा प्रारम्भ करने की आयु सोलह वर्ष की थी। इससे पूर्व विद्यार्थी अपने-अपने नगरों में ही शिक्षा प्राप्त किया करते थे। बाद में उच्च शिक्षा प्राप्त करने की अभिलाषा से वे सोलह साल की आयु में तक्षशिला जाया करते थे। शिक्षा अपने नगरों में भी मिल सकती थी, पर राजा तथा अन्य धनी लोग अपने लड़कों को तक्षशिला में शिक्षा के लिए भेजना उपयोगी समझते थे। तक्षशिला में शिक्षा का क्या

प्रबन्ध था, इस विषय को स्पष्ट करने के लिए हम एक जातक-कथा का कुछ ग्रंश यहाँ उद्धृत करते हैं—

"एक बार की बात है कि बनारस के राजा ब्रह्मदत्त के एक पुत्र हुग्रा, जिसका नाम कुमार ब्रह्मदत्त रखा गया। पुराने समय के राजा लोगों में यह प्रथा थी कि चाहे उनके ग्रपने शहर में कोई प्रसिद्ध ग्रध्यापक विद्यमान हो, तब भी वे ग्रपने लड़कों को दूर देश में शिक्षा को पूर्ण करने के लिए भेजना उपयोगी समझते थे। इससे वे यह लाभ मानते थे कि कुमार लोग ग्रभिमान ग्रौर दर्प को वश में करना सीखेंगे, गर्मी ग्रौर सर्दी को सहन करेंगे, साथ ही दुनिया के रीति-रिवाजों से जानकारी भी प्राप्त कर लेंगे। राजा ब्रह्मदत्त ने भी यही किया। उसने ग्रपने लड़के को बुलाकर—कुमार की ग्रायु ग्रब १६ वर्ष की हो गई थी—उसे एकतलिक जूते, पत्तों का छाता ग्रौर एक हज़ार कार्षापण देकर कहा—

'तात ! तक्षशिला जाग्रो ग्रौर विद्या का ग्रभ्यास करो।'

कुमार ने उत्तर दिया—'बहुत ग्रच्छा'। माता-पिता से विदा होकर वह समय पर तक्षशिला पहुँच गया। वहाँ जाकर उसने ग्राचार्य का घर पूछा। ग्राचार्य महोदय विद्यार्थियों के सम्मुख ग्रपना व्याख्यान समाप्त कर चुके थे ग्रौर ग्रपने घर के द्वार पर घूम रहे थे। ग्राचार्य को देखते ही कुमार ने जूते उतार दिये, छाता बन्द कर दिया ग्रौर सम्मानपूर्वक वन्दना करके चुपचाप खड़ा हो गया। ग्राचार्य ने देखा कि वह थका हुग्रा है, ग्रतः उसके भोजन का प्रबन्ध कर उसे ग्राराम करने के लिए ग्रादेश दिया। भोजन के बाद कुमार ने कुछ देर विश्राम किया ग्रौर फिर ग्राचार्य के सम्मुख सम्मानपूर्वक प्रणाम करके खड़ा हो गया।

ग्राचार्य ने पूछा—'तात ! तुम कहाँ से ग्राये हो ?'

'वाराणसी से'

'तुम किसके पुत्र हो ?'

'मैं वाराणसी के राजा का पुत्र हूँ।'

'तुम यहाँ किसलिए ग्राये हो ?'

'विद्याध्ययन के लिए।'

'बहुत ठीक, क्या तुम ग्राचार्य के लिए उपयुक्त शुल्क लाये हो या शिक्षा के बदले सेवा करने की इच्छा रखते हो ?'

'मैं ग्राचार्य के लिए उपयुक्त शुल्क साथ लाया हूँ।'

यह कह कर उसने एक हज़ार कार्षापणों की थैली ग्राचार्य के चरणों में रख दी। दो तरह के विद्यार्थी ग्राचार्य से शिक्षा ग्रहण करते थे। पहले 'धम्मन्तेवासिक', ये दिन में ग्राचार्य का काम करते थे व रात को शिक्षा प्राप्त करते थे। दूसरे 'ग्राचारिय भागदायक', ये ग्राचार्य के घर में ज्येष्ठ पुत्र की तरह निवास करते थे, ग्रतः इस प्रकार विद्याभ्यास में लीन रहते थे। क्योंकि कुमार ब्रह्मदत्त ग्रावश्यक शुल्क लाया था ग्रतः वह ग्राचार्य के घर पर ही रहने लगा ग्रौर उसे नियमपूर्वक शिक्षा दी गई। इस प्रकार कुमार ब्रह्मदत्त ने शिक्षा समाप्त की।"*

इस उद्धरण से तक्षशिला की शिक्षाविधि पर बहुत उत्तम प्रकाश पड़ता है। तक्षशिला में शिक्षा पाने का शुल्क एक हजार कार्षापण था। अन्य भी अनेक स्थलों पर इसी शुल्क का उल्लेख मिलता है। जो विद्यार्थी यह शुल्क दे सकते थे, वे आचार्य के घर में, आचार्य ही के प्रबन्ध से पूरे आराम के साथ रहते थे। जिस प्रकार घर में बड़े लड़के का पूरा खयाल रक्खा जाता है, उसी तरह आचार्यकुल में इन विद्यार्थियों के आराम आदि पर पूरा ध्यान दिया जाता था। उन्हें किसी तरह का श्रम करने की आवश्यकता नहीं थी। पर जो विद्यार्थी निश्चित शुल्क नहीं दे सकते थे, उनके लिए भी तक्षशिला में स्थान था। वे अपने पैरों पर आप खड़े होकर स्वावलम्बी बनकर दिन में काम किया करते थे और रात को पढ़ते थे। तक्षशिला की कीर्ति के कारण जो निर्धन विद्यार्थी वहाँ आकृष्ट होकर पहुँचते थे, उनको आचार्य की ओर से काम दिया जाता था और इस तरह वे अपना खर्च अपने आप चला सकते थे। इन दो तरह के विद्यार्थियों के अतिरिक्त एक तीसरे प्रकार के भी विद्यार्थी होते थे। ये न आवश्यक शुल्क देते थे और न दिन में काम कर रात की पढ़ाई से सन्तुष्ट होते थे। वे यह प्रतिज्ञा करते थे कि पढ़ाई समाप्त होने पर हम आवश्यक शुल्क चुका देंगे। 'दूतजातक' में एक ब्राह्मण की कथा आती है जो कि गरीब घर में उत्पन्न हुआ था। उसको शिक्षा की बहुत लगन थी, पर वह 'आचार्य भाग' या विश्व-विद्यालय का नियत शुल्क कहाँ से लाता? अतः उसने प्रतिज्ञा की कि शिक्षा समाप्त होने पर मैं सारा शुल्क दे दूँगा। यह बात मान ली गई। यह 'आचारियभागदायक' विद्यार्थियों की तरह आराम के साथ पढ़ता रहा और शिक्षा समाप्त कर चुकने पर उसने अपने प्रयत्न से सञ्चित कर आवश्यक शुल्क को अदा कर दिया।

तक्षशिला में अनेक संसार-प्रसिद्ध आचार्य शिक्षा देने का कार्य करते थे। इन आचार्यों के साथ बार-बार संसार-प्रसिद्ध विशेषण लगाना सूचित करता है, कि उस समय तक्षशिला नगरी अपनी विद्या के लिए अद्वितीय थी। एक आचार्य के पास प्रायः ५०० विद्यार्थी शिक्षा पाते थे। जातक-साहित्य में अनेक स्थानों पर ऐसे आचार्यों का उल्लेख किया गया है, जिनके पास ५०० विद्यार्थी विद्याध्ययन करते थे। जातकों से यह भी स्पष्ट रूप से प्रकट होता है कि तक्षशिला में ऐसे संसार-प्रसिद्ध आचार्यों की संख्या कम न थी। एक समय में बहुत-से ऐसे आचार्य वहाँ विद्यमान थे। सम्भवतः, यह कल्पना अनुचित नहीं होगी कि तक्षशिला में अनेक 'कालिज' थे, जिनमें से प्रत्येक में ५०० के लगभग विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करते थे, और इन 'कालिजों' के प्रधान अध्यापक को 'आचार्य' कहा जाता था।

तक्षशिला में शिक्षा समाप्त कर चुकने पर विद्यार्थी शिल्प, व्यवसाय आदि का क्रियात्मक ज्ञान प्राप्त करने के लिए तथा देश-देशान्तर के रीति-रिवाजों का अध्ययन करने के लिए भ्रमण भी किया करते थे। इस सम्बन्ध में भी अनेक निर्देश जातकों में विद्यमान है। 'सोनक जातक' में लिखा है कि मगध का राजकुमार अरिन्दम तक्षशिला में सब विद्याओं में प्रवीणता प्राप्त कर चुकने के बाद स्वयं अवलोकन द्वारा शिल्प आदि का क्रियात्मक अनुभव प्राप्त करने के लिए यात्रा करने निकला। यही बात अन्य अनेक विद्यार्थियों के सम्बन्ध में भी लिखी गयी है।

विद्या के केन्द्र के रूप में तक्षशिला नगरी इतनी प्रसिद्ध थी कि बड़े-बड़े राजा, ज़मीदार और क्षत्रिय अपने लड़कों को वहाँ पढ़ने के लिए भेजते थे। जातक-साहित्य में अनेक राजकुमारों के तक्षशिला में शिक्षा प्राप्त करने की कथाएँ विद्यमान है। ऐसे कुछ विद्यार्थी वाराणसी (काशी) का राजकुमार ब्रह्मदत्त, मगधराज का लड़का अरिन्दम, कुरुदेश (इन्द्रप्रस्थ) का राजकुमार सुतसोम, मिथिला का राजकुमार विदेह, इन्द्रप्रस्थ का राजकुमार धनञ्जय, कम्पिल्लक देश का राजकुमार और मिथिला का राजकुमार सुरुचि थे।

इसी तरह के अन्य भी अनेक राजकुमारों का उल्लेख जातकों में हुआ है। मौर्य साम्राज्य के संस्थापक चन्द्रगुप्त ने भी तक्षशिला में ही शिक्षा प्राप्त की थी। आचार्य विष्णुगुप्त चाणक्य भी तक्षशिला में ही अध्यापन का कार्य करते थे, और चन्द्रगुप्त उन्हीं का शिष्य था। तक्षशिला में शिक्षा ग्रहण करने वाले राजकुमारों के सम्बन्ध में 'महासुतसोम जातक' की कथा बहुत महत्त्व की है। इस कथा के अनुसार कुरुदेश के राजकुमार का नाम सुतसोम था। जब उसकी आयु सोलह वर्ष की हो गई, तो उसे तक्षशिला में एक संसार-प्रसिद्ध आचार्य के पास शिक्षा प्राप्त करने के लिए भेजा गया। आचार्य के लिए आवश्यक शुल्क लेकर वह तक्षशिला के लिए चल पड़ा। मार्ग में जाते हुए उसे काशी देश का राजकुमार ब्रह्मदत्त मिल गया। वह भी विद्याध्ययन के लिए तक्षशिला जा रहा था। उनमें मित्रता हो गई। वे दोनों एक ही आचार्य के पास शिक्षा के लिए जा रहे थे। दोनों ने एक ही साथ पढ़ना शुरू किया। "आचार्य को शुल्क देकर उन्होंने विद्याध्ययन प्रारम्भ कर दिया। केवल वे ही नहीं, उनके अतिरिक्त भारत के अन्य भी अनेक राजकुमार—जिनकी संख्या उन समय एक सौ एक थी—उसी आचार्य से शिक्षा पा रहे थे।" तक्षशिला में शिक्षा पाकर ये लोग अपने-अपने राज्य को वापिस गये और अपनी योग्यता प्रदर्शित कर राजा बने।

इस कथा से स्पष्ट है कि तक्षशिला में एक ऐसा विद्यापीठ भी था, जिसमें एक आचार्य के पास १०१ राजकुमार शिक्षा प्राप्त कर रहे थे। इस आचार्य के 'कालिज' को 'राजकुमारों का कालिज' कहा जा सकता है।

केवल यह 'राजकुमार-कालिज' ही नहीं, अपितु तक्षशिला के अन्य कालिज भी भारत भर में प्रसिद्ध थे। यही कारण है कि 'धोनसाख जातक' में लिखा है कि भारत भर से ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्णों के लड़के तक्षशिला में पढ़ने के लिए जाया करते थे।

परन्तु यह ध्यान में रखना चाहिये कि नीच जातियों के लोग तक्षशिला के विद्यापीठों में शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकते थे। चाण्डालों का वहाँ पढ़ना निषिद्ध था। यही कारण है कि 'चित्तसम्भूत जातक' में लिखा है कि चाण्डाल लोग वेश बदल कर—छिपकर—तक्षशिला में शिक्षा प्राप्त किया करते थे।

तक्षशिला के विद्यापीठों में विद्यार्थियों का जीवन किस प्रकार बीतता था, इस सम्बन्ध में जातकों के एक दो निर्देशों का उल्लेख उपयोगी है। विद्यार्थीगण अपने आचार्य के निरीक्षण में रहते थे। उनके जीवन के सुधार पर आचार्य बहुत ध्यान देता था। यही कारण है कि अनेक प्रकार के दण्ड भी विद्यार्थियों को दिये जा सकते थे। तक्ष-

शिला में शारीरिक दण्ड भी विद्यार्थियों को मिलता था। 'तिलमुट्ठि जातक' में लिखा है, कि एक बार कुमार ब्रह्मदत्त अपने आचार्य के साथ स्नान करने के लिए गया। मार्ग में एक वृद्ध स्त्री ने सुखाने के लिए तिल बिछा रखे थे। वह सम्मुख बैठी हुई उनकी रखवाली भी कर रही थी। कुमार ने जब उन तिलों को देखा, तो उन्हें खाने के लिए उसका मन कर आया उसने मुठ्ठी भर तिलों को उठा लिया और खाने लगा।

स्त्रीं ने समझा कि 'यह भूखा होगा', अतः उसने कुछ न कहा और चुपचाप बैठी रही। अगले दिन ठीक उसी समय आचार्य के साथ कुमार उसी मार्ग से गया और उसने उसी तरह तिल उठाकर खा लिये। उसी तरह स्त्री ने भी कुछ न कहा। तीसरे दिन भी कुमार ने वही किया। अब स्त्री चुप न रह सकी। उसने चिल्ला कर कहा—'संसार-प्रसिद्ध आचार्य अपने शिष्यों द्वारा मुझे लुटने दे रहा है।' यह कह कर वह बाँह उठा कर रोने लगी। आचार्य ने पीछे मुड़ कर पूछा—'क्या बात है माँ ?'

'मैंने सुखाने के लिए तिल बिछा रखे हैं, तुम्हारे शिष्य ने मुट्ठी भर कर उन्हें उठा लिया है। यह उसने आज किया है, कल किया था और परसों भी किया था। इस तरह तो यह मेरे सारे घर को बरबाद कर देगा।'

'माँ, रोओ मत, मैं तुम्हें इसकी कीमत चुका दूँगा।'

'ओह ! स्वामी ! मैं कीमत नहीं चाहती, इस लड़के को ऐसी शिक्षा दो कि फिर वह ऐसा न करे।' आचार्य ने कहा—'बहुत अच्छा'। यह कह कर उसने दो लड़कों को उस कुमार के दोनों हाथ पकड़ लेने का आदेश दिया और स्वयं उसकी पीठ पर तीन डण्डे मारे। इस तरह आचार्य ने कुमार को फिर ऐसा काम न करने की शिक्षा दीं। इस कथा से हमें तक्षशिला के विद्यापीठों के आन्तरिक नियन्त्रण के सम्बन्ध में एक मनोरंजक निर्देश मिल जाता है।

तक्षशिला के विद्यापीठों में कौन-कौन सी विद्याएँ पढ़ायी जाती थीं, इस विषय में भी कुछ निर्देश जातक-साहित्य में विद्यमान हैं। तक्षशिला में मुख्यतया निम्नलिखित विषय पढ़ाये जाते थे—

(१) तीनों वेद—जातकों में सर्वत्र तीन वेदों का ही उल्लेख है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस काल में अथर्ववेद को वेद नहीं समझा जाता था। कौटल्य के अर्थशास्त्र में भी 'त्रयी' में अथर्ववेद का समावेश नहीं किया गया है। (२) अष्टादश विद्याएँ—जातकों में तक्षशिला के सम्बन्ध में अनेक बार यह लिखा गया है कि वहाँ अष्टादश विद्याओं में प्रवीणता प्राप्त करायी जाती थी। पर ये १८ विद्याएँ कौन-कौन सी थीं, इसे निश्चित कर सकना कठिन है। (३) सिप्प या शिल्प—तक्षशिला में अनेकविधि शिल्पों की भी शिक्षा दी जाती थी। (४) धनुर्विद्या—'असदिस जातक' में एक असदृश (असदिस) कुमार का वर्णन है, जिसने कि तक्षशिला में एक आचार्य के पास धनुर्विद्या में अपूर्व प्रवीणता प्राप्त की थी। (५) हस्तिविद्या—'सुसीम जातक' के अनुसार वाराणसी के राजकुमार सुसीम ने तक्षशिला में आचार्य के पास वेदों के सिवाय हस्तिविद्या भी सीखी थी। (६) मन्त्र-विद्या—'अनभिरति जातक' के अनुसार काशी में रहने वाले एक ब्राह्मण कुमार ने तक्षशिला में सम्पूर्ण 'मन्त्रविद्या' का अध्ययन किया था। 'चम्पेय्य जातक' में लिखा है कि

एक विद्यार्थी ने तक्षशिला में ऐसा जादू (मन्त्र) सीखा था जिससे कि वह सब प्राणियों को अपने वश में कर सकता था। उस विद्यार्थी द्वारा साँप को वश में करने का हाल भी एक जातक में लिखा गया है। (७) सब प्राणियों की आवाज़ को समझने की विद्या—'परन्तप जातक' में एक कुमार का वर्णन है, जिसने तक्षशिला में जाकर उस विद्या का अध्ययन किया था, जिससे कि सब प्राणियों की आवाज को समझा जा सके। (८) चिकित्सा शास्त्र—तक्षशिला चिकित्साशास्त्र की दृष्टि से बहुत प्रसिद्ध था। वहाँ इसी विषय की मुख्यतया शिक्षा दी जाती थी। चिकित्सा-शास्त्र का अध्ययन करने के लिए दूर-दूर से विद्यार्थी लोग पधारा करते थे। राजा बिम्बिसार (मगध सम्राट्) के प्रसिद्ध राजवैद्य जीवक ने तक्षशिला में ही शिक्षा प्राप्त की थी। इन निर्देशों से उन विषयों का थोड़ा-सा अनुमान किया जा सकता है, जिनकी शिक्षा तक्षशिला के विद्यापीठों में दी जाती थी।

प्राचीन भारत के अनेक बड़े-बड़े व्यक्तियों ने तक्षशिला में ही शिक्षा प्राप्त की थी। राजा बिम्बिसार का राजवैद्य जीवक इनमें एक था। राजा पसेनदी (कोशल का प्रसिद्ध राजा, जो मगधराज अजातशत्रु का समकालीन था) ने भी वहीं शिक्षा प्राप्त की थी। आचार्य चाणक्य का विद्यापीठ भी तक्षशिला में ही विद्यमान था।

बौद्ध-साहित्य के अध्ययन से पता चलता है कि प्राचीन भारत में तक्षशिला के अतिरिक्त अन्य भी अनेक विद्या के केन्द्र थे, जिनमें काशी (वाराणसी) का नाम विशेषतया उल्लेखयोग्य है। मध्यकालीन भारत में काशी विद्या का सबसे मुख्य केन्द्र था। आज तक भी यह नगरी प्राचीन संस्कृतविद्या का प्रमुख केन्द्र समझी जाती है। काशी का यह महत्त्व पाँचवीं और छठी सदी ई० पू० में प्रारम्भ हो चुका था। यही कारण है कि जातक ग्रन्थों में काशी का भी विद्या के केन्द्र के रूप में उल्लेख मिलता है।

'संजीव जातक' के अनुसार बोधिसत्त्व ने पहले तक्षशिला में विद्याध्ययन किया। शिक्षा समाप्त कर वह काशी वापस आया और वहाँ शिक्षा देनी प्रारम्भ की। ५०० ब्राह्मण विद्यार्थी उसके शिष्य बनकर पढ़ने लगे और वह भी संसार-प्रसिद्ध आचार्य हो गया। इसी तरह 'कोसिय-जातक' में एक आचार्य का उल्लेख है, जिसने तक्षशिला में अध्ययन समाप्त कर काशी में अध्यापन का कार्य शुरू किया। दूर-दूर से ब्राह्मण और क्षत्रियकुमार उसके पास पढ़ने के लिए आने लगे। कुछ समय में वह भी संसार-प्रसिद्ध अध्यापक हो गया।

'अनभिरति जातक' के अनुसार बोधिसत्त्व ने तक्षशिला में मन्त्र विद्या सीख कर उसे फिर काशी में पढ़ाना प्रारम्भ किया। बहुत-से युवक उसके पास पढ़ने लगे।

इनसे प्रतीत होता है कि जातक-साहित्य के निर्माण-काल में काशी ने विद्या का केन्द्र बनना प्रारम्भ कर दिया था। पर उसकी कीर्ति अभी तक्षशिला की तुलना में बहुत कम थी। 'सेतकेतु' जातक में लिखा है कि काशी के एक आचार्य का पट्टशिष्य सेतकेतु बड़ा अभिमानी था। वह अपने को बहुत बड़ा विद्वान् समझता था। पर वह एक चाण्डाल से पराजित हो गया, और उसने उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए तक्षशिला जाने का निश्चय किया। इससे स्पष्ट है कि बौद्ध काल में काशी की तुलना में शिक्षा के केन्द्र के रूप में तक्षशिला का महत्त्व बहुत अधिक था।

बौद्ध काल में विद्या के अध्ययन-अध्ययापन के लिये तक्षशिला का क्या महत्त्व था, और वहाँ आयुर्वेद की किस प्रकार उच्च शिक्षा दी जाती थी, इसे प्रदर्शित करने के लिये बौद्ध साहित्य की एक अन्य कथा का उल्लेख करना उपयोगी होगा। चुल्लवग्ग के अनुसार प्रसिद्ध वैद्य जीवक ने चिकित्साशास्त्र की उच्च शिक्षा तक्षशिला में ही प्राप्त की थी। जीवक राजगृह की एक गणिका का पुत्र था, और पैदा होते ही उसे कूड़े के ढेर पर फेंक दिया गया था। राजा बिम्बिसार के पुत्र कुमार अभय ने उसकी प्राण रक्षा की और उसके पालन-पोषण का सब प्रबन्ध कर दिया। जीवक जब बड़ा हो गया और राजगृह में उसने जब शिक्षा पूर्ण कर ली, तो उच्च शिक्षा के लिये उसे तक्षशिला भेजा गया। तक्षशिला में उसने एक संसार-प्रसिद्ध आचार्य के पास रह कर चिकित्साशास्त्र का अध्ययन किया। सात साल में उसकी शिक्षा पूर्ण हुई। चिकित्सा शास्त्र में पारंगत होने का प्रमाण-पत्र देने से पूर्व आचार्य ने जीवक से कहा—तुम एक फावड़ा हाथ में लेकर तक्षशिला के चारों ओर एक योजन की दूरी तक घूम आओ, और तुम्हें जो ऐसी वनस्पति, पौदा आदि मिले जिसका चिकित्सा की दृष्टि से कोई उपयोग न हो, उसे उखाड़ कर मेरे पास ले आओ। आचार्य का आदेश पा कर जीवक तक्षशिला के चारों ओर दूर-दूर तक घूम आया, पर उसे कोई भी ऐसा पौदा नहीं मिला, चिकित्सा में जिसका कोई उपयोग न हो। जीवक की योग्यता से सन्तुष्ट होकर आचार्य ने उसे चिकित्सक की उपाधि प्रदान कर दी, और उसे अपने घर वापस लौट कर स्वतन्त्र रूप से चिकित्सा प्रारम्भ करने की अनुमति प्रदान कर दी। साथ ही, आचार्य द्वारा कुछ धन भी जीवक को दे दिया गया, ताकि वह तक्षशिला से राजगृह तक की यात्रा का खर्च चला सके। पर साकेत पहुँचते-पहुँचते यह धन राशि समाप्त हो गई, और अपनी यात्रा को जारी रखने के लिये जीवक के सम्मुख केवल यह उपाय रह गया कि वह कुछ समय तक साकेत में रहे, और वहाँ चिकित्सा द्वारा धन का उपार्जन करे। साकेत में एक श्रेष्ठी की पत्नी बहुत दिनों से बीमार थी और उसके सिर में कोई ऐसा रोग था, जिसकी चिकित्सा साकेत का कोई भी वैद्य नहीं कर सका था। जीवक ने कुछ जड़ी-बूटियों के साथ घी को उबाला और नाक द्वारा उसे रुग्णा को पिलाया। इस चिकित्सा से श्रेष्ठी की पत्नी नीरोग हो गई, और श्रेष्ठी ने जीवक को शुल्क के रूप में १६,००० कार्षापण, एक रथ, घोड़े और दो नौकर प्रदान किये। पर जीवक ने इस धन को अपने पास नहीं रखा। राजगृह लौटने पर उसने इसे कुमार अभय को प्रदान कर दिया, क्योंकि उसीने उसे पाला-पोसा था और उच्च शिक्षा के लिये तक्षशिला भेजा था। राजगृह में जीवक ने राजा बिम्बसार की चिकित्सा की, और उसे भगंदर रोग से मुक्त किया। कुछ ही समय में जीवक की कीर्ति दूर-दूर तक फैल गई, और वाराणसी के एक श्रेष्ठी ने उसे अपने पुत्र की चिकित्सा के लिये बुलाया। इस श्रेष्ठीपुत्र के मल मार्ग की आँतें आपस में उलझ गई थीं, जिन्हें शल्य क्रिया द्वारा ही ठीक किया जा सकता था। जीवक ने पेट और मल मार्ग की शल्य क्रिया कर आँतों को बाहर निकाला और फिर उन्हें सुलझा कर यथास्थान लगा दिया। फिर पेट को सीकर उस घाव पर दवाई लगा दी, जो चीरने के कारण हो गया था। शीघ्र ही श्रेष्ठीपुत्र स्वस्थ हो गया, और उसके पिता ने जीवक को १६,००० कार्षापण शुल्क के रूप में प्रदान किये।

उज्जैन का राजा प्रद्योत पीलिया रोग से पीड़ित था। जीवक की कीर्ति सुन कर प्रद्योत ने बिम्बिसार के पास यह संदेश भेजा कि कुछ दिनों के लिये वह अपने राजवैद्य को उज्जैन भेज दें। औषधियुक्त घृत से जीवक ने प्रद्योत के रोग की चिकित्सा करने में भी सफलता प्राप्त की, और बहुत-से बहुमूल्य भेंट-उपहारों के साथ उसे उज्जैन से विदा किया गया। जीवक को महात्मा बुद्ध की चिकित्सा करने का भी अवसर प्राप्त हुआ था। बुद्ध मलबन्ध (कब्ज) रोग से पीड़ित थे। जीवक ने अनेकविध उपचारों द्वारा उनके रोग का निवारण किया। इसमें सन्देह नहीं कि जीवक बौद्ध युग के सबसे महान् चिकित्सक थे। शल्य क्रिया में भी वे निष्णात थे, और उन्होंने आयुर्वेद शास्त्र की शिक्षा तक्षशिला में ही प्राप्त की थी। बौद्ध ग्रन्थों के अध्ययन से ज्ञात होता है, कि औषधियों के निर्माण के लिये नानाविध जड़ी-बूटियों, तैलों, घृत, लवण, क्षार, हिंगु, मूल, फल, छाल आदि का प्रयोग किया जाता था, और व्रणों की चिकित्सा के लिए विविध प्रकार की मलहमें बनायी जाती थीं।

मौर्य युग में शिक्षा का क्या स्वरूप था, इस सम्बन्ध में कौटलीय अर्थशास्त्र से विशेष परिचय प्राप्त नहीं होता। पर इस काल में तक्षशिला जैसे विद्या केन्द्र विद्यमान थे, जिनमें हजारों विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त किया करते थे। आचार्य चाणक्य तक्षशिला के ही अन्यतम आचार्य थे और वहीं पर चन्द्रगुप्त मौर्य से उनकी भेंट हुई थी। पर सामान्यतया शिक्षा का कार्य उन आचार्यों और श्रोत्रियों के हाथों में था, जिनके निर्वाह के लिये राज्य की ओर से भूमि प्रदान कर दी जाती थी और वे उसकी आमदनी से अपना तथा अपने शिष्यों का खर्च चलाया करते थे। ऐसी भूमि को 'ब्रह्मदेय' कहा जाता था। कौटल्य ने लिखा है कि ऋत्विक्, आचार्य, पुरोहित और श्रोत्रियों को इतनी ब्रह्मदेय भूमि प्रदान कर दी जाए, जिससे 'अभिरूप' आमदनी प्राप्त होती हो और इस भूमि से कोई कर न लिया जाए। इस भूमि की सम्पूर्ण आय शिक्षक वर्ग के ही काम आती थी। ऐसा प्रतीत होता है कि मौर्य युग में कतिपय शिक्षणालय ऐसे भी थे, जिनके अध्यापकों को राज्य की ओर से वेतन दिया जाता था। अर्थशास्त्र में इसे 'पूजा वेतन' की संज्ञा दी गई है, और इसकी मात्रा के सम्बन्ध में यह व्यवस्था की गई है कि वह यथायोग्य हो। कौटल्य ने राजकीय व्यय या 'व्ययशरीर' का निरूपण करते हुए सबसे पूर्व देवपूजा का उल्लेख किया है। यह देवपूजा आचार्य, श्रोत्रिय आदि अध्यापक वर्ग को प्रदान किये जाने वाले 'पूजावेतन' (ओनोरेरियम) को ही सूचित करती है। राजकीय वेतन प्राप्त करने वाले शिक्षक राज्य या शासन के पूर्णतया अधीन होते थे। इसीलिये कौटल्य ने यह व्यवस्था की है कि आदेश देने पर जो आचार्य शूद्र को शिक्षा देने से इन्कार करे, उसे दण्ड दिया जाए। मौर्य युग में गुरुकुलों (आचार्यकुलों) की भी सत्ता थी। जिन व्यक्तियों द्वारा लिये हुए ऋण सूद से मुक्त समझे थे, उनका परिगणन करते हुए कौटल्य ने 'गुरुकुलोपरुद्ध' (गुरुकुल में शिक्षा के लिये निवास करने वाले) का भी उल्लेख किया है। ये गुरुकुल प्राचीन परिपाटी के आचार्यकुल ही होते थे, यह मानना असंगत नहीं होगा।

कौटलीय अर्थशास्त्र में विद्याओं को चार वर्गों में विभक्त किया गया है, त्रयी, आन्वीक्षिकी, वार्त्ता और दण्डनीति। ऋग्, यजु और सामवेद 'त्रयी' विद्या के अन्तर्गत

थे। 'आन्वीक्षिकी' से सांख्य, योग, लोकायत आदि दर्शनशास्त्रों को ग्रहण होता था। कृषि, पशुपालन और वणिज्या को 'वार्त्ता' कहते थे। राजनीतिशास्त्र व अर्थशास्त्र को 'दण्डनीति' कहा जाता था। वार्त्ता में उन सब विद्याओं का समावेश हो जाता था, जिनका सम्बन्ध धन के उपार्जन या आर्थिक उत्पादन के साथ था। इसमें सन्देह नहीं, कि मौर्य युग के शिक्षणालयों में इन चारों विद्याओं का भलीभाँति अध्ययन, अध्यापन हुआ करता था। राजपुत्र (राजकुमार) को किस प्रकार शिक्षित किया जाए, कौटलीय अर्थशास्त्र में इसका विशद रूप से निरूपण किया गया है। उसे चतुरङ्ग बल (पदाति सेना, अश्व सेना, हस्ति सेना और रथ सेना) के सञ्चालन की शिक्षा के साथ-साथ विविध प्रकार के प्रहरणों (अस्त्र-शस्त्रों), व्यूह रचना तथा शत्रु के व्यूह का विनाश आदि की भी शिक्षा दी जाती थी, और उसे पुराण, इतिवृत्त (इतिहास), आख्यायिका, उदाहरण, धर्मशास्त्र तथा अर्थशास्त्र में भी निष्णात बनाने का प्रयत्न किया जाता था। मौर्य साम्राज्य के पतन काल में यवन राजा मिनान्दर (मिलिन्द) ने बौद्ध धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली थी। 'मिलिन्द-प्रश्नाः' नामक बौद्ध ग्रन्थ के अनुसार राजा मिनान्दर श्रुति, स्मृति, सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, गणित, संगीत, चिकित्सा विज्ञान, धनुर्विद्या, पुराण, इतिहास, ज्योतिष, काव्य, युद्ध विद्या, तन्त्र आदि विविध विद्याओं में पारंगत था। निस्सन्देह, मौर्य युग के भारत में इन विद्याओं का पठन-पाठन विविध प्रकार के शिक्षणालयों में हुआ करता था, और राजकुलों तथा सम्भ्रान्त परिवारों के व्यक्ति इनका समुचित ज्ञान प्राप्त करने के लिये प्रयत्नशील रहा करते थे।

कौटलीय अर्थशास्त्र से यह भी सूचित होता है कि पठन-पाठन प्रारम्भ कराने से पूर्व बालकों का 'चौलकर्म' (मुण्डन संस्कार) कराया जाता था, और उसके बाद ही उन्हें लिपि तथा 'संख्या' (गिनती) की शिक्षा देनी शुरू की जाती थी।

(३) मौर्य युग के पश्चात् शिक्षा का स्वरूप

मौर्य साम्राज्य के पतन के पश्चात् जब शुङ्ग वंश के शासन के साथ वैदिक धर्म का पुनरुत्थान हुआ, तो उस समय भारत में बहुत-से ऐसे बौद्ध विहार विद्यमान थे, जिनमें सैकड़ों, हजारों की संख्या में छात्र शिक्षा ग्रहण किया करते थे। सम्भवतः, इन विहारों के अनुकरण में इस युग में ऐसे आश्रमों की भी स्थापना हुई, जिनमें बहुत-से ब्रह्मचारी प्राचीन वेदशास्त्रों की शिक्षा प्राप्त करते थे। नैमिषारण्य में एक ऐसा आश्रम विद्यमान था, जिसके प्रधान आचार्य शौनक थे। उनको 'कुलपति' कहा गया है, और उनके आश्रम में दस हजार विद्यार्थियों का निवास था। इसी प्रकार का एक अन्य आश्रम महर्षि कण्व का था, जो मालिनी नदी के तट पर स्थित था। शकुन्तला इसी आश्रम में निवास करती थी, और वहीं पर राजा दुष्यन्त के साथ उसका प्रणय-सम्बन्ध विकसित हुआ था। इन आश्रमों में अनेक छात्रावास हुआ करते थे, जिन्हें 'आवसथ' कहा जाता था। महाभारत में अनेक आश्रमों तथा आवसथों का उल्लेख है। शौनक तथा कण्व के आश्रमों का परिचय हमें महाभारत तथा पुराणों से ही प्राप्त होता है। क्योंकि इन ग्रन्थों का वर्तमान रूप मौर्योत्तर युग का है, अतः उनमें वर्णित आश्रम इस युग के शिक्षणालयों के ही परिचायक

हैं, यद्यपि शौनक और कण्व का काल इससे बहुत पुराना है। इसी प्रसंग में प्रयाग के भारद्वाज आश्रम का भी उल्लेख किया जाना चाहिये। इस आश्रम में अश्वों और हस्तियों के लिये चतुःशालाएँ, अनेक हर्म्य और प्रासाद तथा राजवेश्म (राजा के निवास योग्य शाला) की सत्ता थी, और प्राचीन साहित्य के अनुसार कुमार भरत ने अपने अनुचरों और पार्श्वचरों के साथ वहाँ निवास भी किया था। कण्व, शौनक और भारद्वाज के ये आश्रम प्राचीन समय के आचार्यकुलों या गुरुकुलों से सर्वथा भिन्न प्रकार के थे, और इन्हें बौद्ध विहारों के उस वर्ग में रखा जा सकता है, जिन्हें श्रेष्ठी अनाथपिण्डक और राजा अशोक सदृश धनपतियों ने अपार धन सम्पत्ति प्रदान कर अत्यन्त समृद्ध बना दिया था।

प्राचीन गुरुजनों के आचार्यों की आमदनी का मुख्य साधन वह गुरु दक्षिणा हुआ करती थी, जिसे शिष्य शिक्षा समाप्ति के पश्चात् स्वेच्छापूर्वक अपने गुरुओं को प्रदान किया करते थे। उस समय आचार्यों का यह मन्तव्य होता था, कि शिष्य से उस समय तक कुछ भी ग्रहण न किया जाए, जब तक उसकी शिक्षा पूर्ण न हो जाए। बृहदारण्यक उपनिषद् की एक कथा के अनुसार वैदेह जनक जब याज्ञवल्क्य के पास विद्याध्ययन के लिये गया, तो उसने सहस्र हाथी और ऋषभ गुरु को देने की इच्छा प्रगट की। इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा, कि मेरे पिता का यह मन्तव्य था, कि शिक्षा प्रदान किये बिना शिष्य से कुछ भी ग्रहण न किया जाए। इस प्राचीन काल में ब्रह्मदान (विद्या दान) को ही सबसे उत्कृष्ट दान माना जाता था। पर प्रयाग के भारद्वाज आश्रम के समान जो नये प्रकार के शिक्षणालय अब स्थापित होने लग गये थे, उनके आचार्य केवल गुरुदक्षिणा पर ही आश्रित नहीं रह सकते थे। इसीलिए अब इस प्रथा का भी प्रारम्भ हो गया था कि गुरु अपने समर्थ शिष्यों से प्रभूत मात्रा में दक्षिणा प्राप्त करने की माँग करने लगें। कालिदास के महाकाव्य रघुवंश के अनुसार आचार्य वरतन्तु ने अपने शिष्य कौत्स से चौदह कोटि दक्षिणा की माँग की थी, जिसे पूरा करने के लिये कौत्स को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। अन्त में राजा रघु से इस धन को प्राप्त कर कौत्स ने गुरुदक्षिणा प्रदान की थी। इसी प्रकार के अन्य भी अनेक उदाहरण प्राचीन साहित्य में विद्यमान हैं। आश्रमों की समृद्धि मौर्योत्तर युग की महत्त्वपूर्ण बात है।

पर मौर्य युग के बाद के काल में भी बहुसंख्यक शिक्षणालय प्राचीन आचार्यकुलों के सदृश ही होते थे। यही कारण है कि स्मृति ग्रन्थों में गुरुकुलों के आचार्यों और ब्रह्मचारियों के कर्तव्य प्रायः उसी ढंग से निरूपित हैं, जैसे कि प्राचीन उपनिषदों व ब्राह्मण ग्रन्थों में पाये जाते हैं। पर इन आचार्यकुलों और आश्रमों के साथ-साथ अनेक ऐसे शिक्षा-केन्द्र व विद्यापीठ भी गुप्त वंश के शासन काल तथा उस के पश्चात् के समय में स्थापित हो गये थे, जिनकी स्थिति तक्षशिला के सदृश थी। इनमें से कुछ बौद्ध महाविहारों के रूप में थे, जिनमें बौद्ध धर्म की उच्चतम शिक्षा के अतिरिक्त अन्य विषयों की भी शिक्षा दी जाती थी। इन महाविहारों ने विश्वविद्यालयों का स्वरूप प्राप्त कर लिया था, जिनमें न केवल बौद्धों के धार्मिक और दार्शनिक साहित्य का ही अध्यापन होता था, पर साथ ही गणित, ज्योतिष, आयुर्वेद आदि विज्ञानों का भी शिक्षण होता था। भारत के सब प्रदेशों के विद्यार्थी अपनी ज्ञानपिपासा को शान्त करने के लिये इन शिक्षा-केन्द्रों में आया करते

थे। केवल भारत के ही नहीं, अपितु चीन, तिब्बत आदि विदेशों के छात्र व विद्वान् भी इन शिक्षा-केन्द्रों से आकृष्ट होकर इनमें शिक्षा ग्रहण करते थे।

मदुरा का संगम—प्राचीनकाल में सुदूर दक्षिण में मदुरा नगरी में भी एक विद्यापीठ था, जिसका नाम संगम था। तक्षशिला के समान इसमें भी बहुत-से संसार-प्रसिद्ध आचार्य रहते थे। यहाँ प्राचीन तमिल साहित्य का विकास हुआ। संगम के आचार्य केवल शिक्षा का कार्य ही नहीं करते थे, उत्कृष्ट साहित्य की रचना पर भी वे बहुत जोर देते थे। इसी कारण यहाँ उत्कृष्ट तामिल साहित्य की रचना हुई। इनमें तिरुवल्लुवर का 'कुरल' सबसे प्रसिद्ध है। यह विश्व-साहित्य में एक अनुपम रत्न गिना जाता है, और इसमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चार विभागों द्वारा मानव-जीवन के लिये उपयोगी सूक्तियों व उपदेशों का प्रतिपादन किया गया है। तमिल साहित्य में इस ग्रंथ का बहुत ऊँचा व सर्वश्रेष्ठ स्थान है। कुरल के अतिरिक्त 'मणिमेखला' और 'शीलप्पतिकारम्' ग्रंथों का उल्लेख भी यहाँ आवश्यक है। दोनों तमिल भाषा के महाकाव्य हैं, और इनकी रचना भी मदुरा के संगम में ही हुई थी।

नालन्दा महाविहार—मगध में नालन्दा का महाविहार शिक्षा का बड़ा केन्द्र था। इसकी स्थापना गुप्तवंशी सम्राट् कुमारगुप्त (राज्यकाल ४१५-५५ ई० प०) ने की थी। कुमारगुप्त से पहले भी नालन्दा शिक्षा का केन्द्र था, और वहाँ के बौद्ध-विहारों में विद्याभ्यास हुआ करता था। पर जब कुमारगुप्त ने वहाँ विद्या और शिक्षा को प्रोत्साहन देने के लिये एक महाविद्यालय की स्थापना की तब से नालन्दा की ख्याति बढ़ने लगी। कुमारगुप्त के बाद के अन्य गुप्तवंशी सम्राटों ने भी यहाँ बहुत-सी इमारतें बनवायीं, और नालन्दा के शिक्षकों और विद्यार्थियों के खर्चे के लिये बहुत-सी जायदाद लगा दी। शीघ्र ही, शिक्षा और ज्ञान के केन्द्र के रूप में नालन्दा की ख्याति दूर-दूर तक पहुँच गई, और देश-विदेश के हजारों विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करने के लिये वहाँ आने लगे। अनेक चीनी विद्वान् उसकी कीर्त्ति सुनकर उसके प्रति आकृष्ट हुए। उन्होंने अपने देश लौट कर जो यात्रा-विवरण लिखे, आज उन्हीं से हमें नालन्दा के आचार्यों और शिक्षापद्धति आदि के विषय में परिचय मिलता है। प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्यु एन-त्सांग ने नालन्दा का विवरण लिखा है। उससे ज्ञात होता है, कि यहाँ के आचार्यों और विद्यार्थियों की संख्या मिलकर दस हजार से भी अधिक थी। नालन्दा के शिक्षक अपने ज्ञान और विद्वत्ता के लिए सर्वत्र प्रसिद्ध थे। कई शिक्षक तो ऐसे थे, कि उनकी ख्याति दूर-दूर तक फैली हुई थी। इन सब का चरित्र सर्वथा उज्ज्वल और निर्दोष था। सदाचार के सब नियमों का वे पूर्ण तत्परता और सचाई से पालन करते थे। भारत के सब प्रदेशों में उनका आदर था, और सर्वत्र उनका अनुसरण किया जाता था। इस महाविद्यालय के नियम बड़े कठोर थे और यहाँ के निवासियों के लिये यह अनिवार्य था, कि वे उनका पालन करें।

नालन्दा महाविहार में प्रवेश पाने के लिये यह आवश्यक था, कि पहले एक परीक्षा को उत्तीर्ण किया जाए। यह परीक्षा 'द्वारपण्डित' लेता था। महाविहार के प्रवेश द्वार को लाँघने के लिये इस द्वार पण्डित की परीक्षा में उत्तीर्ण होना अनिवार्य था। यह परीक्षा बहुत कठिन होती थी। ह्यु एन-त्सांग के अनुसार २० वें ३० फीसदी से

अधिक परीक्षार्थी इस परीक्षा को उत्तीर्ण नहीं कर सकते थे। ह्य एन-त्सांग स्वयं बहुत समय तक नालन्दा रहा था। उसे इस शिक्षा-केन्द्र का भली-भाँति परिचय था। वह यहाँ के ज्ञानमय वातावरण और चरित्र की उच्चता द्वारा बहुत प्रभावित हुआ था। द्वार-पण्डित को पराजित कर जो विद्यार्थी नालन्दा के महाविहार में प्रविष्ट होते थे, उन्हें वहाँ बहुत मेहनत करनी पड़ती थी। चीनी यात्री ह्य एन-त्सांग के अनुसार महाविहार में प्रविष्ट होकर भी बहुत-से विद्यार्थी वहाँ परास्त हो जाते थे। जो वहाँ भी विजय करके (परीक्षाओं में उत्तीर्ण होकर) फिर बाहर आते थे, उनके ज्ञान और पाण्डित्य का सर्वत्र आदर होता था।

इत्सिग नाम का एक अन्य चीनी यात्री सातवीं सदी में भारत आया था। उसने ६७१ ई० में चीन से प्रस्थान किया और ६७३ ई० में वह ताम्रलिप्ति के बन्दरगाह पर पहुँचा। इत्सिग का मुख्य उद्देश्य भारत आकर बौद्ध-धर्म का उच्च ज्ञान प्राप्त करना और यहाँ से धर्म की प्रामाणिक पुस्तकों को एकत्र कर चीन ले जाना था। अतः उसका अधिकांश समय नालन्दा में ही व्यतीत हुआ। वहाँ उसने चार सौ के लगभग ग्रन्थों का संग्रह किया, जिनके श्लोकों की संख्या पाँच लाख थी। इन पुस्तकों को वह अपने साथ चीन ले गया। इत्सिग के विवरण से भी यह प्रमाणित होता है, कि नालन्दा महाविहार में विद्यार्थियों की संख्या हजारों में थी। वहाँ प्रवेश पाने के लिये व्याकरण, हेतु-विद्या (न्याय) और अभिधर्मकोश का ज्ञान आवश्यक था। महाविहार में शिक्षा के लिए प्रवेश पा चुकने पर विद्यार्थी जहाँ बौद्ध-धर्म के विशाल साहित्य का अध्ययन करते थे, वहाँ साथ ही शब्द-विद्या, चिकित्सा-विद्या, सांख्यशास्त्र, तन्त्र, वेद आदि की पढ़ाई की भी वहाँ व्यवस्था थी।

महाविहार का खर्च चलाने के लिये राज्य की ओर से बहुत-सी भू-सम्पत्ति प्रदान की गयी थी। इत्सिग के अनुसार दो सौ से भी अधिक गाँव ऐसे थे, जिनको नालन्दा महाविहार के खर्च के लिये दे दिया गया था। इनकी सब आमदनी इस शिक्षा-केन्द्र के खर्च के लिये काम आती थी। विद्यार्थियों को भोजन के लिये प्रधानतया चावल मिलता था। ह्य एन-त्सांग ने लिखा है, कि जब तक वह नालन्दा में रहा, उसे प्रतिदिन महासाली चावलों का एक निश्चित परिमाण, २० पूग और १२० जम्बीर मिलते रहे। साथ ही प्रतिमास तेल, घी और अन्य खाद्य-पदार्थ भी निश्चित मात्रा में उसे दिये जाते रहे।

नालन्दा का पुस्तकालय बड़ा विशाल था। उसकी तीन विशाल इमारतें थीं, जिनके नाम थे—रत्नसागर, रत्नोदधि और रत्नारंजक। रत्नोदधि-भवन नौ मंजिल ऊँचा था और उसमें धर्म-ग्रन्थों का संग्रह किया गया था। अन्य दोनों इमारतें भी इसी प्रकार विशाल व विस्तीर्ण थीं।

ह्य एन-त्सांग और इत्सिग के अतिरिक्त अन्य भी अनेक विदेशी विद्वान् नालन्दा में उच्च शिक्षा के लिए आये। इनमें से कुछ के नाम उल्लेखनीय हैं। श्रमण हिएनचिन सातवीं सदी में नालन्दा आया और तीन साल वहाँ रहा। उसका भारतीय नाम प्रकाश-मणि था। कोरिया का एक भिक्षु आर्यवर्मन बहुत दिनों तक नालन्दा रहा, और उसकी

मृत्यु वहीं पर हुई। चेहांग नाम का एक अन्य चीनी भिक्षु सातवीं सदी में नालन्दा आया और आठ वर्ष तक वहाँ अध्ययन करता रहा। विदेशी विद्यार्थियों की यह परम्परा बहुत समय तक जारी रही। नालन्दा की कीर्ति सम्पूर्ण बौद्ध-संसार में विस्तीर्ण थी, और दूर-दूर से विद्वान् लोग अपनी शिक्षा की पूर्णता के लिये वहाँ आते रहते थे।

आठवीं सदी के शुरू में तिब्बत के राजा ने नालन्दा के एक प्रसिद्ध आचार्य शान्तरक्षित को इस उद्देश्य से अपने देश में निमन्त्रित किया, ताकि वह वहाँ बौद्धधर्म की अच्छी तरह स्थापना करे। तिब्बत पहुँचने पर शान्तरक्षित का बड़ी धूमधाम के साथ स्वागत किया गया, और उसे आचार्य बोधिसत्व की उपाधि से विभूषित किया गया। शान्तरक्षित के कुछ समय बाद कमलशील नामक एक अन्य आचार्य को नालन्दा से बुलाया गया, और इन दो भारतीय आचार्यों ने तिब्बत में धर्म की स्थापना की। बाद में अतीश नाम के अन्य आचार्य को तिब्बत में धर्मस्थापना के लिये आमन्त्रित किया गया। यह मगध में ही विद्यमान विक्रमशिला महाविहार का प्रधान आचार्य था।

नालन्दा महाविहार की स्थापना पाँचवीं सदी ई० प० में हुई थी। ग्यारहवीं सदी तक वह भारत के प्रधान शिक्षा-केन्द्र रहा। इस समय विक्रमशिला नाम के एक अन्य महाविहार की स्थापना हो गयी थी, जिसे पालवंशी राजाओं का संरक्षण प्राप्त था। विक्रमशिला के विकास के कारण नालन्दा की कीर्ति कुछ मन्द पड़ने लगी, और उसमें ह्रास के चिह्न प्रगट होने लगे। बाद में जब मुहम्मद बिन बख्तियार खिलजी ने बिहार पर आक्रमण किया, तो नालन्दा के इस प्राचीन महाविहार का अन्तिम रूप से विनाश हुआ।

विक्रमशिला—नालन्दा के समान विक्रमशिला का महाविहार भी मगध में ही था। इसकी स्थापना पालवंशी राजा धर्मपाल ने नवीं सदी में की थी। धर्मपाल बौद्ध-धर्म का अनुयायी था, और अपने को "परमपरमेश्वर परम-भट्टारक महाराजाधिराज' की उपाधि से विभूषित करता था। धर्मपाल ने विक्रमशिला में एक महाविहार बनवाकर वहाँ अध्यापन के लिये १०८ आचार्यों की नियुक्ति की। इस नये शिक्षणालय को पालवंश की संरक्षा प्राप्त थी। इसके खर्च के लिये अतुल धनराशि राजा धर्मपाल व उनके उत्तराधिकारियों द्वारा दी गयी। परिणाम यह हुआ, कि बहुत-से विद्यार्थी इसमें शिक्षा ग्रहण करने के लिए आने लगे। चार सदियों तक यह महाविहार कायम रहा, और इस बीच में इसने बड़े-बड़े विद्वान् उत्पन्न किये। विक्रमशिला से जो विद्यार्थी शिक्षा पूर्ण करते थे, उन्हें 'पण्डित' की उपाधि प्रदान की जाती थी। यह उपाधि पालवंशी राजाओं द्वारा ही दी जाती थी।

नालन्दा के समान विक्रमशिला में भी द्वारपण्डित होते थे। यहाँ द्वारपण्डितों की संख्या छः थी। ऐसा प्रतीत होता है, कि विक्रमशिला के महाविहार में छः कालेज या महाविद्यालय थे, और उनमें से प्रत्येक का द्वारपण्डित पृथक्-पृथक् होता था। तिब्बती लेखक तारानाथ ने लिखा है, कि विक्रमशिला के दक्षिणी द्वार का द्वारपण्डित प्रज्ञाकरमति था। इसी प्रकार पूर्वी द्वार का रत्नाकरशान्ति, पश्चिमी द्वार का वागीश्वरकीर्त्ति, उत्तरी द्वार का नारोपन्त, प्रथम केन्द्रीय द्वार का रत्नवज्र और द्वितीय केन्द्रीय द्वार का द्वारपण्डित

ज्ञानश्रीमित्र था। द्वारपण्डित पद पर बहुत ही उच्च कोटि के विद्वानों को नियुक्त किया जाता था। प्रत्येक कालेज में शिक्षकों की संख्या १०८ रखी जाती थी। इस प्रकार विक्रमशिला में शिक्षकों की कुल संख्या ६४८ थी। वहाँ कितने विद्यार्थी शिक्षा पाते थे, इसका उल्लेख किसी विदेशी यात्री ने नहीं किया। पर विक्रमशिक्षा का जो सभाभवन था, उसमें ८००० व्यक्ति एक साथ बैठ सकते थे। इससे सूचित होता है, कि इसके विद्यार्थियों की संख्या भी हजारों में थी। महाविहार के बाहर एक धर्मशाला भी बनाई गयी थी, ताकि विद्यार्थी प्रविष्ट होने से पहले उसमें निवास कर सकें। महाविहार के चारों ओर एक प्राचीर थी, जैसी दुर्गों के चारों होती थी।

विक्रमशिला में बौद्ध-साहित्य, वैदिक साहित्य-व अन्य ज्ञान-विज्ञान की पढ़ाई होती थी। पर यह महाविहार बौद्धों के वज्रयान सम्प्रदाय के अध्ययन का सबसे प्रामाणिक केन्द्र था। इस युग के भारत में तन्त्र-विद्या का बहुत प्रचार हो गया था। बौद्ध और पौराणिक—दोनों धर्मों में तान्त्रिक साधना को बहुत महत्त्व दिया जाने लगा था। तन्त्रवाद जो इस युग के धर्म का बहुत महत्त्वपूर्ण भाग बन गया, उसका श्रेय प्रधानतया इसी महाविहार को है।

विक्रमशिला में शिक्षा पाये हुए विद्यार्थियों में से अनेक ने विद्वत्ता के क्षेत्र में बड़ी ख्याति प्राप्त की। इनसे रत्नवज्र, आचार्य रत्नकीर्त्ति, ज्ञानश्रीमित्र, रत्नाकरशान्ति और श्रीमान् अतीश के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। अतीश को तिब्बत में बौद्ध-धर्म की पुनःस्थापना के लिये बुलाया गया था, और उसने वहाँ उस व्यवस्था को कायम किया था, जो लामाओं की अधीनता में अब तक विद्यमान है। रत्नकीर्त्ति, अतीश का गुरु था, और ज्ञानश्रीमित्र अतीश का उत्तराधिकारी था। अतीश के तिब्बत चले जाने बाद ज्ञानश्रीमित्र ही विक्रमशिला महाविहार का प्रधान आचार्य बना था।

उड्यन्तपुर—नालन्दा और विक्रमशिला के समान ही प्राचीन मगध में एक अन्य महाविहार था, जिसे उड्यन्तपुर कहते थे। इसकी स्थापना पालवंश के प्रवर्त्तक व प्रथम राजा गोपाल द्वारा की गई थी। यह महाविहार उस स्थान पर विद्यमान था, जहाँ आजकल बिहार नामक नगरी है। सम्भवतः, उड्यन्तपुर के महाविहार के कारण ही इस नगर का नाम विहार पड़ा, और बाद में सारे प्रान्त का नाम ही बिहार हो गया। गोपाल द्वारा स्थापित होने के बाद उड्यन्तपुर का महाविहार निरन्तर उन्नति करता गया। शुरू में नालन्दा की ख्याति के कारण इसकी बहुत प्रतिष्ठा नहीं हुई, और बाद में राजा धर्मपाल द्वारा विक्रमशिला में अन्य महाविहार की स्थापना हो जाने के कारण उड्यन्तपुर का विहार विशेष प्रसिद्ध नहीं रहा। पर बारहवीं सदी में यह शिक्षा का अच्छा बड़ा केन्द्र हो गया था, और इसमें भी हजारों आचार्य व विद्यार्थी निवास करते थे। उड्यन्तपुर के विहार का उल्लेख इस काल के अनेक शिलालेखों में भी उपलब्ध होता है।

११९९ ई० प० में जब मुहम्मद बिन बख्तियार खिलजी ने वर्तमान समय के विहार प्रान्त पर आक्रमण किया, तो वहाँ का राजा पालवंशी गोविन्दपाल था। उसकी शक्ति बहुत नगण्य थी। मुहम्मद ने इस हमले में देखा, कि उड्यन्तपुर का बिहार एक दुर्ग के समान है। उसने उसे घेर लिया और उस पर हमला कर दिया। इस अवसर पर इस

महाविहार के आचार्यों और विद्यार्थियों ने भी शस्त्र उठाये, और डटकर मुहम्मद की सेनाओं का मुकाबला किया। जब तक एक भी आचार्य व विद्यार्थी जीवित रहा, उन्होंने उड्यन्तपुर पर अफगानों का अधिकार नहीं होने दिया। जब महाविहार के सब निवासी लड़ते-लड़ते मर गये, तभी मुहम्मद का उस पर अधिकार हुआ। वहाँ के विशाल पुस्तकालय को मुहम्मद ने अग्नि के भेंट कर दिया, और भारत के प्राचीन ज्ञान तथा विज्ञान का यह विशाल भण्डार बात की बात में ध्वंस हो गया। विक्रमशिला के महाविहार का अन्त भी इसी अफगान आक्रान्ता द्वारा किया गया था।

वलभी—सौराष्ट्र की वलभी नगरी भी शिक्षा का महत्त्वपूर्ण केन्द्र थी। इत्सिग के अनुसार वलभी का महाविहार भी नालन्दा महाविहार के समान ही महत्त्वपूर्ण था। ह्य् एन्त्सांग ने लिखा है कि वहाँ १०० विहार थे, जिनमें ६,००० भिक्षु निवास करते थे। न केवल बौद्ध अपितु पौराणिक हिन्दू सम्प्रदायों के विद्यार्थी भी वहाँ विद्याध्ययन के लिये आया करते थे, और वलभी के श्रेष्ठी इन विहारों को उदारतापूर्वक धन प्रदान किया करते थे। कथासरित्सागर में लिखा है कि अन्तर्वेदी (गंगा यमुना का द्वाबा) के द्विज वसुदत्त का पुत्र विष्णुदत्त जब सोलह वर्ष का हो गया, तो विद्या प्राप्ति के लिये वह वलभीपुरी गया। बौद्ध ग्रन्थों के अतिरिक्त तर्क, व्याकरण आदि की भी वलभी में शिक्षा दी जाती थी। बारहवीं सदी में जब मुसलिम आक्रान्ताओं ने सौराष्ट्र को भी आक्रान्त करना प्रारम्भ किया, तो वलभी के विहारों का ह्रास होने लगा और शिक्षा के केन्द्र के रूप में इस नगरी का महत्त्व बहुत कम हो गया।

ह्य् एन्त्सांग तथा अन्य चीनी यात्रियों के यात्राविवरणों से ज्ञात होता है कि पूर्व-मध्य काल में जालन्धर, काश्मीर और कान्यकुब्ज आदि में भी अनेक ऐसे विहार विद्यमान थे, जो बौद्ध धर्म तथा दर्शन के अध्ययन के महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे और जिनमें बहुत-से स्थविर तथा भिक्षु निवास करते थे। वस्तुतः, इस युग के सभी विहारों में विद्या का अध्ययन-अध्यापन हुआ करता था।

बौद्ध विहारों के समान जैन मुनियों के 'संघ' भी भारत के विविध नगरों में स्थापित थे, जिनमें जैन शास्त्रों के अतिरिक्त अन्य भारतीय ज्ञान-विज्ञान का भी पठन-पाठन हुआ करता था।

हिन्दू शिक्षा-केन्द्र—पूर्व-मध्य काल में जब बौद्ध धर्म का ह्रास होने के साथ-साथ प्राचीन सनातन वैदिक व पौराणिक हिन्दू धर्म का उत्कर्ष हो रहा था, अनेक ऐसे शिक्षा-केन्द्र भी विकसित हुए, जहाँ वेद, वेदाङ्ग, इतिहास, पुराण, ज्योतिष, शिल्प आदि की शिक्षा दी जाती थी। इन शिक्षा-केन्द्रों में वाराणसी अत्यन्त प्राचीन व महत्त्वपूर्ण था। बौद्ध युग में ही यह नगरी अपने विद्यापीठों के लिये प्रसिद्ध हो गई थी, और तक्षशिला का मुकाबिला करने लगी थी। ह्य् एन्त्सांग के यात्राविवरण से ज्ञात होता है कि वाराणसी में अनेक ऐसे आचार्य निवास करते थे, जिनके ज्ञान तथा कीर्ति से आकृष्ट होकर दूर-दूर से विद्यार्थी वहाँ पढ़ने के लिए आया करते थे। दसवीं सदी के अन्तिम चरण में जब अलबरूनी भारत आया, तो वह हिन्दू शास्त्रों से परिचय प्राप्त करने के लिए वाराणसी गया था, और उसने लिखा है कि इस नगरी में भारत के श्रेष्ठ विद्यालय विद्यमान हैं। गहड्वाल वंश के

अनेक राजाओं ने वाराणसी को अपनी दूसरी राजधानी के रूप में प्रयुक्त किया था, और उनके संरक्षण में यह नगरी शिक्षा का महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गई थी। परमार वंश की राजधानी धारा नगरी भी पूर्व-मध्यकाल में शिक्षा के लिए बहुत प्रसिद्ध थी। परमार वंश के अनेक राजाओं ने विद्या और ज्ञान के प्रोत्साहन तथा संवर्धन में असाधारण तत्परता प्रदर्शित की थी। इनमें राजा मुञ्ज और भोज के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। भोज एक विद्वान् और प्रतिभाशाली राजा था। वह स्वयं अनेक विषयों का प्रकाण्ड पण्डित था। राजनीति, ज्योतिष, वास्तुकला, काव्य, व्याकरण, साहित्य और चिकित्साशास्त्र आदि का वह मर्मज्ञ था, और उसने अनेक ग्रन्थों की रचना भी की थी। उसने अपनी राजधानी धारानगरी में एक 'भोजशाला' की स्थापना की थी, जिसका स्वरूप एक विद्यापीठ के समान था। भोज की मृत्यु पर किसी कवि ने कहा था, कि अब धारा 'निराधारा' हो गई, सरस्वती अवलम्बनविहीन हो गई और पण्डित खण्डित हो गए। काशी और धारा नगरी के समान अनहिलपाटन, कन्नौज और काञ्ची भी पूर्व-मध्यकाल में अपने आचार्यों और पण्डितों के लिये प्रसिद्ध थे, और उनमें भी विद्याध्ययन के लिये दूर-दूर से विद्यार्थी आया करते थे।

ग्यारहवाँ अध्याय

सामान्य सामाजिक जीवन

(१) मनोरंजन और आमोद-प्रमोद

सिन्धु-सभ्यता का काल—प्राचीन भारत में जनता के जीवन में मनोरंजन और आमोद-प्रमोद का महत्त्वपूर्ण स्थान था। भारतीय इतिहास के प्राचीनतम युग—सिन्धु घाटी की सभ्यता का काल—के जनजीवन से परिचय प्राप्त करने के लिए कोई साहित्यिक साधन हमें उपलब्ध नहीं हैं। पर पुरातत्त्व-सम्बन्धी अन्वेषण द्वारा इस सभ्यता के जो अवशेष प्राप्त हुए हैं, उनमें बहुत-से खिलौने भी मिले हैं। वहाँ खिलौने के रूप में बनायी गई मिट्टी की छोटी-छोटी गाड़ियाँ भी उपलब्ध हुई हैं, जिनमें से कुछ के साथ बैल भी बनाये गये हैं। बैलों से युक्त गाड़ियों से बच्चे बड़े शौक के साथ खेला करते होंगे, यह कल्पना सहज में की जा सकती है। अनेक पशु-मूर्तियां ऐसी भी मिली हैं, जिनके नीचे पहिये लगाये गए थे। सिन्धु सभ्यता के बच्चों को खिलौने बनाने का बहुत शौक था। उसके अवशेषों में बहुत-से ऐसे खिलौने मिले हैं, जो बच्चों द्वारा बनाये गए प्रतीत होते हैं। कुछ खिलौनों पर तो बच्चों की रेखाओं की उंगलियों तक भी विद्यमान हैं। बच्चे जहाँ अपने खिलौने स्वयं बनाते थे, वहाँ कुशल शिल्पियों द्वारा बनाये गए खिलौने बाजार में भी बिका करते थे। कतिपय खिलौने ऐसे भी मिले हैं, जो पशु-आकृति के हैं और जिनके सिर हिलते हैं। कुछ खिलौनों में हाथ और पैर पृथक् हैं, जिन्हें तागों से जोड़ा गया था और तागे खींचने पर जिनके हाथ-पैर हिला करते थे। बन्दर आदि की कुछ ऐसी मृण्मूर्तियाँ भी मिली हैं, जो बच्चों को विशेष रूप से आकृष्ट करती होंगी। सिंधु सभ्यता के लोग आमोद-प्रमोद के लिए अनेक प्रकार के खेल खेला करते थे। इनमें पासों का खेल प्रधान था। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के भग्नावशेषों में खेल के लिए प्रयुक्त होने वाले पासे बड़ी संख्या में प्राप्त हुए हैं। ये पासे चतुष्कोण घन रूप से बनाये गए हैं। पासे मिट्टी और पत्थर दोनों के हैं। उनके विविध पार्श्वों पर संख्या भी रहती थी। कुछ पासे हाथीदांत के भी हैं, जिन्हें सम्भवतः धनी लोग खेल के लिये प्रयुक्त किया करते थे। सिन्धु सभ्यता के लोग आमोद-प्रमोद के लिये नृत्य और गान को बहुत महत्त्व देते थे। उसके खण्डहरों में जो बहुत-सी मूर्तियाँ मिली हैं, उनमें से एक धातु की बनी हुई नर्तकी की मूर्ति भी है, जो अत्यन्त सुन्दर है और बिलकुल सजीव प्रतीत होती है। नर्तकी का शरीर नग्न है, यद्यपि उस पर बहुत-से आभूषण बनाये गए हैं। मूर्ति में सिर के केशों का प्रसाधन बहुत ही सुन्दर रूप से प्रदर्शित किया गया है। इस नर्तकीमूर्ति से यह सहज में अनुमान किया जा सकता है कि सिन्धु सभ्यता के लोग नृत्य के शौकीन थे। नृत्य और संगीत के प्रति उनकी रुचि उन छोटे-छोटे वाद्यों द्वारा भी प्रमाणित होती है, जो इस सभ्यता के अवशेषों से उपलब्ध हुए हैं। पक्षियों की कुछ ऐसी मृण्मूर्तियाँ भी मिली हैं, जिनकी पूंछ से सीटी या बांसुरी

बजाने का काम लिया जाता था। तबले और ढोल के चित्र भी कुछ स्थानों पर उत्कीर्ण मिले हैं। इस युग के लोगों को शिकार का भी बहुत शौक था। कुछ मुद्राओं (मुद्राङ्कों) पर तीर कमान से बारहसिंगे के शिकार का चित्र अंकित किया गया है। एक मुद्रांक पर दो सिंहों के साथ युद्ध करते हुए एक वीर पुरुष का चित्र अंकित है। इस युग के लोग मनोरंजन के लिए तीतर और बटेरों को भी लड़ाया करते थे। इस प्रकार के लड़ाई के दृश्य भी सिन्धु-सभ्यता के अवशेषों पर अंकित हैं। अपने केशों के प्रसाधन के लिये इस युग के नर-नारी दर्पण और कंघे का उपयोग किया करते थे। ताम्बे के बने हुए कुछ दर्पण इस सभ्यता के अवशेषों में मिले हैं, और हाथी दाँत के बने हुए कंघे भी। शृंगार की वस्तुएँ भी इस काल में प्रयोग में लायी जाती थीं। पत्थर के बने हुए छोटे-छोटे ऐसे पात्र सिन्धु सभ्यता के अवशेषों में मिले हैं, जो सम्भवतः शृंगार-प्रसाधन की सामग्री रखने के लिए प्रयुक्त किये जाते थे।

वैदिक और उत्तर-वैदिक युग—ऋग्वेद के कतिपय मन्त्रों में संगीत, नृत्य और वाद्य यन्त्रों के उल्लेख विद्यमान है। वाद्य यन्त्रों में वीणा, वाण (बाँसुरी) और ढोल की सत्ता स्पष्ट रूप से वेद मन्त्रों द्वारा सूचित होती है। कुछ सूत्र ऐसे भी हैं, जो संवाद के रूप में है। इससे यह परिणाम निकाला गया है कि वैदिक काल में नाटकों या अभिनयों का भी सूत्रपात हो चुका था। उस काल में लोगों को रथों की दौड़ का भी शौक था, और यह सामूहिक मनोरंजन का एक लोकप्रिय साधन था। द्यूतक्रीड़ा भी तब बहुत प्रचलित थी। जुआरी को 'कितब' कहते थे। वेद मन्त्रों में द्यूत की निन्दा की गई है, और उसके दोष बड़े सजीव रूप से वर्णित हैं। एक वेद-मन्त्र में कहा गया है—अक्षों (पासों) से न खेलो, खेती किया करो, उसी धन से सन्तुष्ट रहा करो जो तुम्हें प्राप्त है। पर द्यूत की बुराइयों को अनुभव करते हुए भी प्राचीन भारत के लोगों में इसने व्यसन का रूप प्राप्त कर लिया था। द्यूतक्रीड़ा के लिये आह्वान किये जाने पर उसे स्वीकार न करना बहुत अनुचित माना जाता था। राजा युधिष्ठिर ने अपने राज्य, सम्पत्ति, भाई तथा पत्नी द्रौपदी तक को जुए में दांव पर लगा दिया था। प्राचीन साहित्य में द्यूत का बड़े विशद रूप से वर्णन मिलता है। उस समय द्यूत ने एक विधिवत् अनुष्ठान का रूप प्राप्त कर लिया था, और राजसूय जैसे यज्ञों का भी वह अन्यतम अंग बन गया था। वैदिक युग में घुड़दौड़ का भी चलन था। अथर्ववेद के एक सूक्त में घुड़दौड़ और उसके लिये अर्धचन्द्राकार रूप से निर्मित मैदान का भी उल्लेख किया गया है। राजसूय यज्ञ के अवसर पर भी घुड़दौड़ हुआ करती थीं। वाजपेय यज्ञ का अनुष्ठान करने वाले के लिए यह आवश्यक माना जाता था कि वह रथों की दौड़ में सम्मिलित हो और उसमें विजय प्राप्त करे। निःसन्देह, घोड़ों और रथों की दौड़ें प्राचीन भारत में जनता के सामूहिक मनोरंजन की महत्त्वपूर्ण साधन थीं। संगीत के प्रति लोगों की रुचि को प्रदर्शित करने के लिये यही बात पर्याप्त है, कि सामवेद में उन मन्त्रों का संग्रह किया गया है, विधिवत् जिनका गायन किया जाता है। इस वेद का सम्बन्ध संगीत से ही है। गेय संगीत के साथ-साथ वाद्य संगीत भी बड़ा लोकप्रिय था। वीणा, वाण और ढोल के अतिरिक्त मृदङ्ग और झांझ आदि अन्य भी अनके वाद्यों का वैदिक साहित्य में उल्लेख मिलता है। एक ऐसे वाद्य का वर्णन भी इस साहित्य में विद्यमान है, जिसमें एक

सौ तार हुआ करते थे। चार उपवेदों में एक गान्धर्व वेद भी है, जिसमें संगीत का ही प्रतिपादन किया जाता था। गेय संगीत के लिये विविध गीतों की आवश्यकता होती थी, जिनका निर्माण विभिन्न छन्दों में किया जाता था। इन छन्दों का परिज्ञान कराने के लिये छन्दशास्त्र का विकास हुआ था, जो छह वेदाङ्गों के अन्तर्गत था। संगीत के साथ-साथ नाट्यशास्त्र भी उत्तर-वैदिक युग में भलीभाँति विकसित हुआ। वाजसनेयी संहिता में जिस 'शैलूष' का उल्लेख है, सम्भवतः उससे नर्तक व अभिनेता ही अभिप्रेत है। यजुर्वेद में बांस पर नृत्य करने वाले नटों का भी संकेत विद्यमान है।

बौद्ध काल—बौद्ध साहित्य में उन उत्सवों का अनेक स्थानों पर उल्लेख मिलता है, जिन द्वारा जनता का सामूहिक रूप से मनोरंजन हुआ करता था। वहाँ उत्सव मनाने के लिए एकत्र जनसमूह के लिए समज्ज (समाज) शब्द का प्रयोग किया गया है। यह शब्द इसी अर्थ में राजा अशोक के शिलालेखों में भी आया है। पाणिनि की अष्टाध्यायी में इसी को 'समज्या' कहा गया है। सिगालोवाद जातक के अनुसार समज्ज में नृत्य, गायन, वादन, ऐन्द्रजालिक खेल, रस्से पर चलने आदि का प्रदर्शन किया जाता था, और अनेकविध आख्यान भी कहे जाते थे। ऐसे भी समज्ज आयोजित किये जाते थे, जिनमें कि मल्लयुद्ध, घुड़दौड़, नाटक, संगीत-प्रतियोगिताएँ तथा हाथियों के खेल प्रदर्शित होते थे। बौद्ध साहित्य से सूचित होता है कि कतिपय उत्सवों के अवसर पर सांडों, भेड़ों, हाथियों और गेंडों की लड़ाइयाँ करायी जाती थीं, और रथों की दौड़ का भी आयोजन होता था। ब्रह्मजाल सुत्त में हस्तियुद्ध, अश्वयुद्ध, भेड़ों का युद्ध, मुर्गों का युद्ध, महिषयुद्ध, वृषभयुद्ध, मुष्टियुद्ध, कुश्ती, मारपीट तथा लाठी के खेल आदि का उल्लेख हुआ है, जिनके द्वारा जनता का बहुत मनोरंजन होता था। जातक कथाओं में नटों द्वारा प्रदर्शित खेलों का अनेक स्थानों पर वर्णन है। नट रज्जु पर नृत्य किया करते थे और भालों के ऊपर छलाँगें लगाया करते थे। ऐसे सामूहिक उत्सव भी इस काल में हुआ करते थे, जिनमें कि संगीत और नृत्य के साथ-साथ माँस और मदिरा का भी उन्मुक्त रूप से सेवन होता था।

मौर्य युग—कौटलीय अर्थशास्त्र के अनुशीलन से मौर्य युग में जनता के मनोरंजन तथा आमोद-प्रमोद का एक स्पष्ट चित्र हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाता है। उस समय बहुत-से ऐसे लोग थे, जिनका कार्य जनता का मनोरंजन करना और तमाशे दिखाना ही था। इनके वर्ग निम्नलिखित थे—(१) नट—नाटक करने वाले, (२) नर्तक—नाचने वाले, (३) गायक—गाने वाले, (४) वादक—बाजा बजाने वाले, (५) वाग्जीवन—विविध प्रकार की बोलियाँ बोल कर अपनी वाणी द्वारा लोगों का मनोरंजन करने वाले, (६) कुशीलव—तमाशा दिखाने वाले, (७) प्लवक—रस्से पर नाचने वाले, (८) सौभिक—मदारी, और (९) चारण।

ये सब गाँवों और नगरों में जाकर अपने-अपने शिल्प का प्रदर्शन किया करते थे। तमाशा (प्रेक्षा) दिखाने के लिये इन्हें पाँच पण प्रेक्षावेतन (तमाशे का शुल्क) देना होता था। बहुधा प्रेक्षाओं की व्यवस्था लोगों द्वारा सामूहिक रूप से की जाती थी। इस दशा में प्रेक्षा के खर्च को पूरा करने के लिये सब कोई अंश प्रदान किया करते थे। जो प्रेक्षा के खर्च का अंश प्रदान नहीं करता था, वह न स्वयं प्रेक्षा देख सकता था, और न उसके स्वजन ही

प्रेक्षा को देखने के लिये उपस्थित हो सकते थे। यदि कोई प्रच्छन्न रूप से (छिपकर) प्रेक्षा को देखने या सुनने का यत्न करता था, उसे अपने अंश का दुगना प्रदान करना पड़ता था। कौटल्य की सम्मति में ये नट, नर्तक, वादक आदि जनता के कार्य में विघ्न डालने वाले होते हैं, अतः ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिये जिससे कि ये 'कर्मविघ्न' न कर सकें। क्योंकि ग्राम प्रायः निराश्रय होते हैं, और उनके निवासी खेती पर ही अपनी आजीविका के लिये आश्रित रहते हैं, अतः नट, नर्तक आदि को ग्रामों में जाकर लोगों के कार्य में विघ्न नहीं डालने देना चाहिये। कौटल्य को तो यह भी अभिमत नहीं था, कि ग्रामों में आमोद-प्रमोद और विहार के लिये शालाओं तक का निर्माण किया जाए। ऐसी क्रीड़ाएँ (खेल) नहीं होनी चाहिएँ, जिनमें अधिक व्यय होता हो।

यद्यपि कौटल्य आमोद-प्रमोद के निमित्त निर्मित शालाओं और जनपद में नट, नर्तक आदि द्वारा प्रदर्शित प्रेक्षाओं को अच्छी दृष्टि से नहीं देखते थे, पर इसमें सन्देह नहीं कि मौर्य युग में जनता के मनोरंजन के लिए अनेकविध साधन विद्यमान थे। उस युग में प्रेक्षाएँ बहुत लोकप्रिय थीं। कुछ प्रेक्षाएँ ऐसी होती थीं, जिनमें केवल पुरुष कलाकार कार्य करते थे, और कुछ में केवल स्त्रियाँ। इन्हें क्रमशः पुरुषप्रेक्षा और स्त्रीप्रेक्षा कहा जाता था। कौटल्य ने विधान किया है, कि यदि कोई स्त्री पति की अनुमति के बिना दिन के समय स्त्रीप्रेक्षा देखने के लिये जाए, तो उस पर छः पण जुरमाना किया जाए, और यदि पुरुषप्रेक्षा देखने जाए, तो बारह पण। रात्रि के समय इन प्रेक्षाओं को देखने जाने पर दण्ड की मात्रा दुगनी कर दी जाए। जो व्यक्ति रंगमञ्च पर नाट्य करके आजीविका कमाते थे, उन्हें "रङ्गोपजीवि" कहा जाता था। स्त्रियाँ और पुरुष दोनों ही रङ्गोपजीवि होते थे, इसीलिए कौटल्य ने 'रङ्गोपजीवि' और 'रङ्गोपजीविनी' दोनों शब्द प्रयुक्त किये हैं। वर्षाऋतु में विविध प्रकार के कुशीलवों को यह अनुमति नहीं थी, कि वे घूम-घूमकर प्रेक्षाएँ प्रदर्शित कर सकें। उन्हें एक स्थान पर रहने के लिये विवश किया जाता था। पर अन्य समय पर वे देश, परिवार (गोत्र), जाति, पेशे आदि की प्रथाओं के अनुसार अपनी कला का प्रदर्शन कर सकते थे। पर कौटल्य इन सब को 'चौर' समझते थे, यद्यपि वे 'अचौर' माने जाते हुए अपने कार्यों का सम्पादन किया करते थे। इनके सम्बन्ध में कौटल्य का यही विधान है कि इन्हें देश-पीड़न (जनता को क्षति पहुंचाने) से रोका जाए।

नट, नर्तक, वादक आदि के अतिरिक्त अन्य भी अनेकविध व्यक्ति मौर्य युग में जनता का मनोरंजन किया करते थे। ऐसे लोगों का एक वर्ग 'कुहक' कहाता था, और एक 'अदिति-कौशिक'। कुहक सम्भवतः जादूगरों को कहते थे। अदिति-कौशिक ऐसे भिक्षुओं की संज्ञा थी, जो देवताओं और सर्पों के चित्रपट प्रदर्शित कर भिक्षा माँगा करते थे। विशाखदत्त के प्रसिद्ध नाटक मुद्राराक्षस में निपुणक नामक एक गुप्तचर का उल्लेख है, जो साधु के भेस में घूमता हुआ लोगों को यमराज का चित्रपट दिखाता था, और इस प्रकार जनता के गुप्त भेदों का पता लगाता था। इसी प्रकार के भिक्षुओं को कौटल्य ने 'अदिति-कौशिक' कहा है।

जनता के सामूहिक मनोरंजन और आमोद-प्रमोद के लिये जहाँ नट, नर्तक, कुशीलव आदि प्रेक्षाएँ किया करते थे, वहाँ कतिपय अन्य भी ऐसे साधन थे जिनसे जनता

सामूहिक रूप से अपना मनोरंजन कर सकती थी। ये साधन विहार, समाज और प्रहवण के रूप में थे। कौटल्य ने विहारशालाओं का उल्लेख किया है, जिनकी सत्ता उन्हें पसन्द नहीं थी। समाज ऐसे समारोहों को कहा जाता था, जिनमें लोग यथेष्ट सुरापन किया करते थे और साथ ही अन्य प्रकार से भी मनोविनोद करते थे। समाजों के अवसर पर चार दिन के लिए सब कोई न केवल स्वतन्त्रता के साथ सुरा का निर्माग ही कर सकते थे, अपितु उन्हें यथेष्ट सुरापान की अनुमति भी दे दी जाती थी। राजा अशोक को ये समाज पसन्द नहीं थे, और उन्होंने एक नये ढंग के समाजों का प्रारम्भ कराया था, जिनमें धर्मोपदेश किये जाते थे। प्रहवण भी एक प्रकार के सामूहिक समारोह होते थे, जिनमें भोज्य और पेय पदार्थों का प्रचुरता से उपयोग किया जाता था। इनमें सम्मिलित होने वाले व्यक्ति व्यय का अपना अंश प्रदान करते थे, और जो अपना भाग न दे, उसे दुगना अंश जुरमाना देना पड़ता था। कौटलीय अर्थशास्त्र में 'समाज' के साथ 'यात्रा' शब्द भी आया है। सम्भवतः, सामूहिक मनोरंजन के लिए यात्राएँ भी आयोजित की जाती थीं। अर्थशास्त्र से इनका स्वरूप स्पष्ट नहीं होता। अशोक ने पुराने ढंग की यात्राओं के स्थान पर 'धर्मयात्राओं' की परम्परा का प्रारम्भ किया था। जिस प्रकार अशोक ने पुराने ढंग के समाजों के स्थान पर नये धार्मिक समाजों का सूत्रपात किया, वैसे ही धर्म-यात्राओं का भी।

राजा तथा अन्य सम्पन्न लोगों के आमोद-प्रमोद का एक साधन शिकार भी था। मैगस्थनीज़ ने लिखा है—तीसरा प्रयोजन जिसके लिये राजा अपना महल छोड़ता है, शिकार खेलने जाना है। इस प्रयोजन से वह वेक्चेलियन रीति के अनुसार प्रस्थान करता है। स्त्रियों की भीड़ उसे घेरे रहती है, और स्त्रियों के घेरे के बाहर बरछे वाले रखे जाते हैं। मार्ग का चिह्न रस्सों से डाला जाता है, और इन रस्सों के भीतर से होकर जाना पुरुष और स्त्री दोनों के लिए समान रूप से मृत्यु है। ढोल और झाँझ लिये हुए लोग इस दल के आगे-आगे चलते हैं। राजा घेरे के भीतर से शिकार खेलता है, और एक चबूतरे से तीर चलाता है। उसके बगल में दो या तीन हथियारबन्द स्त्रियाँ खड़ी रहती हैं। यदि वह खुले मैदान में शिकार करता है, तो वह हाथी की पीठ पर से तीर चलाता है। स्त्रियों में कुछ रथ के भीतर रहती हैं, कुछ घोड़ों पर और कुछ हाथियों पर। वे सब प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित्त होती हैं, मानो वे किसी चढ़ाई पर जा रही हों।

कौटलीय अर्थशास्त्र में ऐसे वन का उल्लेख किया गया है, जो राजा के विहार के लिए सुरक्षित होता था। ऐसे वन के चारों ओर गहरी खाई होनी चाहिए, और उसमें प्रवेश के लिए केवल एक द्वार बनाया जाना चाहिये। वन में नानाविध सुस्वादु फलों के वृक्ष, निकुञ्ज, झाड़ियाँ और काँटों से विहीन वृक्ष होने चाहिएँ, और साथ ही एक सुविस्तृत जलाशय भी, जो कि अनेकविध जीव जन्तुओं से परिपूर्ण हो। इस वन में सिखाये हुए विविध चौपाये और ऐसे सिंह और अन्य जंगली पशु भी होने चाहिएं जिनके नख और दाँत निकाल दिये गये हों। इनके अतिरिक्त हाथी, हथिनी, हाथी के बच्चे और विविध प्रकार के मृग भी इस वन में होने चाहिएं। निस्सन्देह, इस प्रकार के वन को राजा विहार के लिये प्रयुक्त कर सकता था, क्योंकि वहाँ उसे किसी प्रकार का भय नहीं होता था।

सर्वसाधारण जनता के मनोरंजन के लिये मौर्य युग में चिड़ियाघरों, मृगवनों और सर्पगृहों की भी सत्ता थी।

मैगस्थनीज़ ने लिखा है, कि भारतीय यज्ञों के अरिरिक्त और कभी मदिरा नहीं पीते, पर कौटलीय अर्थशास्त्र के अनुशीलन से ज्ञात होता है, कि मौर्य युग में सुरापान का पर्याप्त प्रचार था। इस काल में अनेक प्रकार की सुराएं बनायी जाती थीं, और उनके निर्माण तथा क्रय-विक्रय पर राज्य का नियन्त्रण होता था। नगरों, ग्रामों और स्कन्धावारों में सर्वत्र सुरा के विक्रय की व्यवस्था थी। पर सुरा के सेवन को नियन्त्रण में रखने के लिये यह उपयोगी समझा जाता था, कि किसी एक स्थान पर शराब की बहुत-सी दुकानें न हों। सुरापान के लिये ऐसे पानगृह बनाये जाते थे, जिनमें अनेक कक्ष्याएँ (कमरे या कक्ष) हुआ करती थीं। प्रत्येक कक्ष्या में पृथक् शय्याएँ और आसन होते थे, और इनकक्ष्याओं को ऋतु के अनुसार सुगन्ध, फूलमाला, जल तथा अन्य सुखकर वस्तुओं से सुसज्जित किया जाता था। पानगृहों के स्वामी वणिक् केवल सुरा ही अपने ग्राहकों को नहीं देते थे, अपितु उनकी सेवा तथा भोग के लिये रूपवती दासियों को भी नियुक्त करते थे। कौटल्य ने इनका वर्णन इस प्रसंग में किया है कि वणिक् लोग पानगृह में आये हुए ग्राहकों के मनोभावों का दासियों द्वारा पता किया करें। यद्यपि सामान्य दशा में सुरा के सेवन पर राजा की ओर से नियन्त्रण था, पर उत्सव, समाज, यात्रा, प्रहवण आदि के अवसरों पर सब कोई यथेष्ट सुरापान कर सकते थे। मौर्य युग में द्यूत (जुए) क्रीड़ा भी बहुत लोकप्रिय थी। द्यूत पर राज्य का नियन्त्रण था, और इसके लिए एक पृथक् अमात्य की नियुक्ति की जाती थी जिसे 'द्यूताध्यक्ष' कहते थे। द्यूत राजकीय आमदनी का महत्त्वपूर्ण साधन था, और द्यूताध्यक्ष द्वारा ऐसे द्यूतगृह बनवाये जाते थे, जिनमें जुआ खेलने के सब साधन प्रस्तुत रहते थे।

मौर्योत्तर युग—ईस्वी सन् के प्रारम्भ से कुछ समय पूर्व के लगभग मौर्यों के पतन के पश्चात् भारतीय जनता के आमोद-प्रमोद के क्या साधन थे इस पर वात्स्यायन के कामसूत्र से बहुत अच्छा प्रकाश पड़ता है। उसके अनुसार इन साधनों में प्रधान समाज, गोष्ठी, आपानक, उद्यानयात्रा और समस्याक्रीड़ा थे। 'समाजों' की सत्ता बौद्ध और मौर्य कालों में भी थी, और राजा अशोक ने उनके स्वरूप को परिवर्तित करने का प्रयत्न किया था। पर सम्भवत: उसे अपने प्रयत्न में सफलता प्राप्त नहीं हुई थी। कामसूत्र में जिस समाज का वर्णन है, उसमें अनेक संगीतज्ञ, नृत्यकला में प्रवीण और अन्य कलाकर सम्मिलित हुआ करते थे, और अपनी कला का प्रदर्शन किया करते थे। यदि बाहर से कोई कलाकार नगर में आये हुए हों, तो उन्हें भी समाज में निमन्त्रित किया जाता था, और इसके लिए उन्हें पारिश्रमिक भी प्रदान करने की प्रथा थी। इसके लिए आवश्यक धन सब से लिया जाता था, और बाह्य कलाकारों का सम्मान करना एवं उन्हें समुचित पारिश्रमिक प्रदान करना सबकी सामूहिक उत्तरदायिता मानी जाती थी। ये समाज प्राय: सरस्वती देवी के मन्दिर में आयोजित किए जाते थे। सरस्वती के अतिरिक्त अन्य देवी-देवताओं की पूजा के अवसर पर भी समाजों का आयोजन होता था। आमोद-प्रमोद का दूसरा साधन गोष्ठियाँ थीं जिनमें कुछ चुने हुए विशिष्ट व्यक्ति ही सम्मिलित हो सकते थे।

नृत्य, संगीत आदि में प्रवीण गणिकाओं को भी इन गोष्ठियों में अपनी कला के प्रदर्शन के लिए निमन्त्रित किया जाता था, और वे वहाँ आकर उपस्थित व्यक्तियों का मनोरंजन किया करती थीं। पर गोष्ठियों में केवल नृत्य और संगीत ही नहीं होता था। अन्य भी अनेक कलाएँ उनमें प्रदर्शित की जाती थीं, यथा किसी विषय पर तत्काल कविता बनाना, समस्यापूर्ति करना, गूढ़लिपि में लिखना और फिर उसे पढ़ने का प्रयत्न करना, अन्त्यक्षारी की प्रतियोगिता और विभिन्न भाषाओं के ज्ञान का प्रदर्शन आदि। प्राचीन समय में जो चौंसठ कलाएँ इस देश में विकसित हुई थीं, उनमें प्रवीण व्यक्ति गोष्ठियों में सम्मिलित हुआ करते थे, और वहाँ उन्हें प्रदर्शित भी किया करते थे। स्त्रियाँ भी गोष्ठियों में आया करती थीं। गोष्ठियों का आयोजन विविध सम्भ्रान्त नागरिकों के घरों पर होता था, और उन्हीं द्वारा इनके खर्च को वहन किया जाता था। आपानक ऐसी गोष्ठियों को कहते थे, जिनमें एकत्र व्यक्ति विविध प्रकार की मदिराओं का पान किया करते थे। मथुरा तथा उसके समीपवर्ती ग्रामों से प्राप्त अनेक मूर्तियों में आपानक गोष्ठियों के दृश्य सुन्दर रूप से अंकित हैं। ये मूर्तियाँ मौर्योत्तर काल की ही हैं। उद्यान-यात्राएँ भी इस युग में आमोद-प्रमोद की महत्त्वपूर्ण साधन थीं। नगरों के बाहर सुन्दर उद्यान होते थे, और सम्भ्रान्त व्यक्ति मनोरंजन के लिए वहाँ जाया करते थे। प्रातःकाल होने पर वे सजधज कर इन उद्यानों में पहुँच जाते थे और सारा दिन वहीं बिताया करते थे। उनके मनोरंजन के लिए वहाँ तीतर-बटेरों तथा भेड़ों आदि की लड़ाई करायी जाती थी और द्यूत की भी व्यवस्था होती थी। तीतर-बटेर आदि की लड़ाइयाँ में विभिन्न व्यक्तियों द्वारा बाजी भी लगायी जाती थी। अनेक उद्यानों के साथ जलाशय भी होते थे जिनमें जल-क्रीड़ाओं के लिए प्रबन्ध हुआ करता था। यह पहले ही देख लिया जाता था कि इन जलाशयों में मगरमच्छ, सांप आदि कोई ऐसे जन्तु तो नहीं है जिनसे किसी को नुकसान पहुँच सके। जल क्रीड़ाओं का आयोजन ग्रीष्म ऋतु में किया जाता था। समस्या-क्रीड़ा भी मनोरंजन का अन्यतम साधन थी, जिसमें सम्भवतः गूढ़ व तिरोहित ढंग से विविध प्रकार की क्रीड़ाओं को खेला जाता था। आमोद-प्रमोद के ये साधन धनी व सम्भ्रान्त वर्ग के लोगों के लिए ही थे। पर इस युग में कुछ ऐसे उत्सव भी हुआ करते थे, जिनमें उच्च वर्ग के व्यक्तियों के साथ-साथ सर्वसाधारण लोग भी अपना मनोविनोद कर सकते थे। वात्स्यायन के कामसूत्र के अनुसार ऐसा एक उत्सव सुवसन्तक था, जो वर्तमान समय के होली के त्यौहार के सदृश था। सुवसन्तक उत्सव में धनी और निर्धन, छोटे और बड़े—सब सम्मिलित होते थे और उनमें कोई भेदभाव नहीं रह जाता था।

प्राचीन समय में कन्याएँ किस ढंग से मनोविनोद किया करती थीं, इस सम्बन्ध में भी कामसूत्र द्वारा जानकारी प्राप्त होती है। छोटी लड़कियों को गुड़ियों से खेलना बहुत प्रिय था। मालाएँ गूँथने, खिलौने तथा गुड़िया बनाने और लुकाछिपी के खेलों में उन्हें बहुत आनन्द आता था। विविध प्रकार के फूलों से अपने केशों तथा कान आदि की सजावट भी वे किया करती थीं। मथुरा क्षेत्र में उपलब्ध मूर्तियों में स्त्रियों की अनेकविध क्रीड़ाओं तथा आमोद-प्रमोद के साधनों का प्रदर्शन किया गया है, जिनमें जल विहार, शरीर को सजाना, संगीत तथा नृत्य उल्लेखनीय हैं। शालभंगिका-क्रीड़ा स्त्रियों में विशेष

रूप से लोकप्रिय थी। जब शालवृक्ष फूलों से लद जाते थे, तो स्त्रियाँ फूलों से लदी टहनियों को तोड़कर एक-दूसरे पर प्रहार किया करती थीं। इसी प्रकार की एक अन्य क्रीड़ा अशोक-पुष्प-प्रचायिका थी, जिसमें स्त्रियाँ अशोक वृक्ष के फूलों का चयन किया करती थीं। कन्दुक क्रीड़ा भी स्त्रियों में बहुत प्रचलित थी। मथुरा क्षेत्र में बहुत-सी ऐसी मूर्तियाँ मिली हैं, जिनसे स्त्रियों को कन्दुक क्रीड़ा (गेंद का खेल) करते हुए प्रदर्शित किया गया है।

वात्स्यायन के कामसूत्र द्वारा प्राचीन भारतीय लोगों के मनोविनोद के जिन साधनों का परिचय प्राप्त होता है, साहित्य द्वारा भी उनकी पुष्टि होती है। मौर्योत्तर युग में जिन विविध काव्यों और नाटकों आदि की रचना हुई, उनमें अनेक ऐसे संकेत विद्यमान हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि प्राचीन भारतीय अपने मनोरंजन के लिए प्रायः उन्हीं साधनों का प्रयोग करते थे जिनका उल्लेख वात्स्यायन ने किया है।

(२) वस्त्र, प्रसाधन और भोजन

वैदिक और उत्तर-वैदिक काल—ऋग्वेद के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वैदिक युग के लोग दो वस्त्र धारण किया करते थे—वास या अधोवस्त्र और अधिवास या उत्तरीय। वास का धारण कटि से नीचे किया जाता था, और अधिवास का कटि के उपरले भाग पर। इनके अतिरिक्त एक अन्य वस्त्र का भी प्रयोग किया जाता था, जिसे 'नीवि' कहते थे। इसे वास के नीचे पहना जाता था। ये विविध प्रकार के वस्त्र किस कपड़े से बनते थे, इस विषय पर भी वैदिक साहित्य से कुछ जानकारी प्राप्त की जा सकती है। वस्त्रों का निर्माण करने के लिए ऊन, रेशम और बल्कल का प्रयोग किया जाता था, और कपास का ज्ञान भी वैदिक युग में हो चुका था। वैदिक युग के लोग इन्हीं से बने हुए वस्त्रों को धारण किया करते थे।

कपड़ा बुनने वाले जुलाहों या बुनकरों के लिये ऋग्वेद में 'वासोवाय' शब्द का प्रयोग किया गया है, और खड्डी के लिये 'तसर' का। 'ताना' को ओत तथा 'बाना' को तन्तु कहा जाता था। एक वेदमन्त्र में कहा गया है कि माता पुत्र के लिये वस्त्र बुन रही है। कपड़े बुनने का उस समय इतना अधिक रिवाज था, कि एक मन्त्र में सूर्य की रश्मियों द्वारा प्रकाश को बुनने की उपमा दी गई है। ऊन, कपास और रेशम से विविध प्रकार के वस्त्र बनाये जाते थे, जिन पर सुन्दर रीति से कढ़ाई भी की जाती थी। शतपथ ब्राह्मण में उन वस्त्रों का वर्णन किया गया है, जिन्हें याज्ञिक अनुष्ठान के अवसर पर धारण किया जाता था। ये वस्त्र 'तार्प्य' (रेशम का बना अधोवस्त्र), ऊनी अधिवास (चोगा) और उष्णीष (पगड़ी) होते थे। राजसूय और वाजपेय यज्ञों का अनुष्ठान करते समय राजा भी उष्णीष पहना करता था। राजा तथा अन्य पुरुषों के अतिरिक्त स्त्रियों द्वारा भी उष्णीक धारण की जाती थी। जूते (उपानह) पहनने की भी प्रथा थी, जिन्हें प्रायः वराह (सूअर) के चर्म द्वारा बनाया जाता था। कपड़े बनाने के लिये जो ऊन प्रयुक्त होती थी, उसे अनेक रंगों में रंगा भी जाता था और बिना रंगे भी वस्त्र बनाने के लिये उसका प्रयोग किया जाता था। शांख्यायन आरण्यक में ऊनी वस्त्र को केसर द्वारा रंगे जाने का उल्लेख विद्यमान है।

वैदिक युग में आभूषण पहनने का भी रिवाज था। ऋग्वेद में 'निष्क', 'कुरीर' और 'कर्णशोभन' आभूषणों का उल्लेख है। निष्क एक प्रकार का हार होता था, और कुरीर को सिर या माथे पर धारण किया जाता था। कर्णशोभन को कानों में पहना जाता था। अथर्ववेद में एक अन्य आभूषण का नाम आया है, जिसे 'कुम्ब' कहते थे। इसे भी सिर पर ही धारण किया जाता था। ऋग्वेद में 'रुक्म' और 'मणि' का भी उल्लेख मिलता है। रुक्म एक ऐसा आभूषण था, जो छाती पर लटकता रहता था। मणि का प्रयोग भी आभूषण के रूप में किया जाता था। निष्क, कुरीर और कर्णशोभन जैसे आभूषण सोने के होते थे, इसका संकेत ऋग्वेद के एक मन्त्र से मिलता है, जिसमें कि एक देवता के लिये 'हिरण्यकर्ण' शब्द का प्रयोग किया गया है। 'न्योचनी' नामक एक अन्य आभूषण का भी उल्लेख ऋग्वेद में विद्यमान है, जिसे विवाह के अवसर पर वधू पहना करती थी। इसमें सन्देह नहीं कि वैदिक युग के स्त्री-पुरुष अनेकविध आभूषणों से अपने शरीर को अलंकृत किया करते थे। केशविन्यास पर भी इस काल में बहुत ध्यान दिया जाता था। बालों में तेल डालकर उनको कंघी किया जाता था और फिर उनकी अनेक लटाएँ बनायी जाती थीं। ऋग्वेद के एक मन्त्र में एक युवती का वर्णन है, जिसने कि अपने बालों की चार लटाएँ बनायी हुई थीं। इस युग के पुरुष जहाँ दाढ़ी मूँछ रखते थे, वहाँ उनको मूंड लेने की प्रथा भी विद्यमान थी। ऋग्वेद में 'क्षुर' (उस्तरे) का उल्लेख आया है, जिसका प्रयोग मूँडने या हजामत बनाने के लिये किया जाता था।

वैदिक युग के आर्यों का मुख्य भोजन अन्न, कन्द, मूल, फल, दूध और घृत थे। वैदिक साहित्य में मुख्य रूप से व्रीहि, यव, तिल, मास (उड़द), श्यामाक (सांवक), शारिशाका (सरसों) और गन्ने का उल्लेख मिलता है, जिन्हें कृषि द्वारा उत्पन्न किया जाता था। ये सब भोजन के काम आते थे। व्रीहि (धान) अनेक प्रकार के होते थे, यथा, आशु (शीघ्र पैदा होने वाला), कृष्ण और महाव्रीहि (बड़े दानों वाला)। 'तंदुल' का उल्लेख भी वैदिक साहित्य में आया है, जो चावल का ही बोध कराता है। बाद के वैदिक साहित्य में गोधून (गेहूँ), मसूर, और मुद्ग (मूँग) का उल्लेख भी विद्यमान है। बृहदारण्यक उपनिषद् में दस 'ग्राम्य धान्यों' का परिगणन किया गया है, व्रीहि, यव, तिल, माष, अणु, प्रियङ्गु गोधूम, मसूर, खल्व और खलकुल। वैदिक युग में भोजन के लिये इन सब को प्रयोग में लाया जाता था, और दूध तथा घृत द्वारा इनसे अनेक प्रकार की भोज्य वस्तुएँ तैयार की जाती थीं। मांस भक्षण का उस समय में प्रचलन था या नहीं, इस प्रश्न पर विद्वानों में मतभेद है। पर गोमांस को भोजन के लिये प्रयुक्त नहीं किया जाता था, यह भरोसे के साथ कहा जा सकता है, क्योंकि वेदों में गौ के लिये 'अघ्न्या' (जिसकी हिंसा न की जा सके) विशेषण का प्रयोग किया गया है।

बौद्ध युग से पूर्व का काल—वैदिक युग के पश्चात् और बौद्ध युग से पूर्व के काल में भारतीयों के वस्त्र आदि किस प्रकार के होते थे, इस सम्बन्ध में महाभारत के सभा पर्व से समुचित जानकारी प्राप्त की जा सकती है। सभा पर्व में उन उपहारों का विशद रूप से वर्णन है, जो कि अन्य राज्यों के राजाओं द्वारा युधिष्ठिर के लिये भेजे गये थे। वहां लिखा है, कि चोल और पाण्ड्य देशों से सूक्ष्म वस्त्र (महीन कपड़े), सिंहल द्वीप (श्रीलंका)

से सैंकड़ों कुथ (गद्दे), उत्तर दिशा के राज्यों से क्षौम (रेशमी) और अजिन (चर्मों द्वारा निर्मित) दिव्य वस्त्र, दक्षिणापथ के राज्यों से उष्णीष (पगड़ियाँ), कम्बोज देश से सोने की तारों द्वारा कढ़े हुए विविध प्रकार की खालों (फरों) से निर्मित वस्त्र, हिमालय के प्रदेशों से ऊन, कपास तथा रेशम के बने हुए महीन वस्त्र और पूर्व दिशा के राज्यों से विचित्र प्रकार के आसन राजा युधिष्ठिर को उपहार के रूप में भेजे गए थे। इसके अतिरिक्त महाभारत में अनेक स्थानों पर 'सूक्ष्मकम्बलवासिनी' (महीन ऊनी कम्बलों या चादरों के वस्त्र पहने हुई) और 'पीतकौशेय वासिनी' (पीले रेशम के वस्त्र पहने हुए) विशेषण आये हैं, जिन्हें स्त्रियों के लिए प्रयुक्त किया गया है। ये सब यह प्रदर्शित करने के लिए पर्याप्त हैं कि महाभारत के समय भारत में वस्त्र व्यवसाय बहुत उन्नत दशा में था और यहाँ अनेक प्रकार के वस्त्र प्रयोग में लाये जाते थे जिनका निर्माण ऊन, कपास, रेशम तथा विविध प्रकार की खालों द्वारा किया जाता था। पहनने के अतिरिक्त कपड़ों का प्रयोग भवनों तथा रथों आदि को सजाने के परदों के लिए भी किया जाता था। महाभारत के अनुसार पाण्डवों के विवाह के अवसर पर जो बहुत-से उपहार श्रीकृष्ण द्वारा दिये गए थे, उनमें बहुमूल्य वस्त्रों और ऊनी कम्बलों के साथ ऐसे रथ भी थे जो शुभ्र पटों (परदों) से अलंकृत थे। इन पटों पर सोने की तारों से बेलबूटे भी बनाये गए थे। द्रोणपर्व में उस कवच का वर्णन किया गया है, भीम जिसे पहना करता था। यह कवच लोहे की तारों से बुना हुआ था, सोने की तारों से उस पर चित्रकारी की हुई थी, और पीले, लाल, श्वेत और काले रंगों से रंगे हुए कपड़ों द्वारा उसे ढका गया था। महाभारत के समय सैनिक लोग चित्र-विचित्र रंग की उष्णीष (पगड़ी) सिर पर धारण किया करते थे। उस समय जिस छतरी का प्रयोग किया जाता था, उसकी मूंठ हाथी दाँत की बनी होती थी। इस विवरण से बौद्ध युग से पहले के काल के लोगों के परिधान का कुछ अनुमान सुगमता के साथ किया जा सकता है।

सूत्रग्रन्थों में उन वस्त्रों का वर्णन किया गया है, जिन्हें उपनयन के समय ब्रह्मचारी को धारण करना चाहिए। ये वस्त्र कपास, ऊप, रूव और रेशम के बने होते थे। विभिन्न वर्णों के उपनीत ब्रह्मचारियों के लिए पृथक् रंग के वस्त्रों को पहनने का विधान था। ब्राह्मण उपनीत नारंगी रंग के कपड़े पहनता था। क्षत्रिय उपनीत के लिए हलके लाल रंग के और वैश्य उपनीत के लिए पीले रंग के कपड़े पहनने की व्यवस्था थी। जब ब्रह्मचारी शिक्षा को पूर्ण कर स्नातक बनता था, तो वह उत्तरीय और अन्तरीय (अधोवस्त्र) के अतिरिक्त उष्णीष भी धारण करता था, और छत्र (छतरी) तथा उपानह (जूते) का प्रयोग करने की भी उसे अनुमति दे दी जाती थी।

इस युग के भारतीय मुख्यतया शाकाहारी थे, और अपने भोजन के लिए विविध प्रकार के अन्नों, दालों और शाक आदि का प्रयोग किया करते थे। पर माँस-भक्षण का भी इस काल में प्रारम्भ हो चुका था। महाभारत के शान्ति पर्व और अनुशासन पर्व में भक्ष्याभक्ष्य का प्रश्न उठाया गया है, और उसमें माँस-भक्षण का निषेध न कर उसे भी भक्ष्य कहा गया है। शान्ति पर्व में तो यह सिद्धान्त भी प्रतिपादित किया गया है कि जीव ही जीव का भोजन है (जीवो जीवस्य भोजनम्)। राजा युधिष्ठिर के यज्ञ में पशुहिंसा का

भी निदर्शन विद्यमान है। सूत्रग्रन्थों में उस भोजन के संकेत पाये जाते हैं, जो इस काल में प्रचलित था। अन्न को न केवल उबाल कर खाया जाता था, अपितु भून कर और पीस कर भी उसका भोजन के लिए उपयोग किया जाता था। स्थालीपाक को तैयार करने के लिए पहले चावल को किस प्रकार धोया जाए, फिर उसे कैसे पकाया जाए, और फिर कैसे उस पर 'आज्य' (पिघला हुआ घी) डाल कर तंदूर में उसे सेका जाए, इसका विशद वर्णन सूत्र-ग्रन्थों में किया गया है। पुरोडाश, अपूप, पायस, दधिमन्थ और मधुमन्थ आदि अन्य भी अनेक प्रकार के भोजन उस समय तैयार किये जाते थे, जिनका प्रयोग दैनिक जीवन तथा याज्ञिक अनुष्ठानों में किया जाता था। सूत्रग्रन्थों में माँस भक्षण के निर्देश भी विद्यमान हैं। जब बच्चे का अन्नप्राशन संस्कार किया जाता था, तो उसे माँस भी दिया जाता था। वैदिक युग में लोग सोमरस का पान किया करते थे। सोम एक वनस्पति का नाम था, जिसका रस अत्यन्त गुणकारी और बलवर्धक माना जाता था पर बौद्ध युग से पूर्व के काल में सुरा का पान भी प्रारम्भ हो चुका था।

बौद्ध युग—बौद्ध साहित्य द्वारा महात्मा बुद्ध के समय के वस्त्रों और परिधान के सम्बन्ध में समुचित जानकारी प्राप्त की जा सकती है। महापरिनिर्वाण सूत्र के अनुसार जब बुद्ध वैशाली नगरी गये, तो वहाँ के नागरिकों ने रंग-बिरंगी वस्त्र पहन कर उनका स्वागत किया। उन्होंने ऐसे वस्त्र पहने हुए थे, जो उनके शरीर के रंग से मेल खाते थे। साँवले रंग के लोगों ने गहरे नीले रंग के वस्त्र और आभूषण पहने हुए थे, और गौर वर्ण के लोगों ने हलके रंग के कपड़ों और आभूषणों को धारण किया हुआ था। सिरिकालकण्णि जातक में एक युवती का वर्णन है जिसका नाम 'कालकण्णि' था। जब वह एक श्रेष्ठि से मिलने के लिये गई, तो उसने नीले रंग के वस्त्र धारण किये थे और नीलमणियों से ही अपना शृंगार किया था। सर्वसाधारण पुरुषों के परिधान में प्रायः दो वस्त्र हुआ करते थे, उत्तरीय (दुपट्टा) और अन्तरवासक (अधोवस्त्र या धोती)। सम्पन्न वर्ग के श्रेष्ठि सदृश लोग सिर पर उष्णीष (पगड़ी) भी बाँधा करते थे। स्त्रियाँ अधोवस्त्र के रूप में साड़ी पहनती थीं, और कटि के ऊपर कंचुक (चोली)। उत्तरीय को वे चादर के समान ओढ़ा करती थीं। इस युग के परिधान का अनुमान उन मूर्तियों से भी किया जा सकता है, जो पाटलिपुत्र, साँची और भरहुत आदि में उपलब्ध हुई हैं। दीदारगंज की यक्षिणी-मूर्ति में यक्षिणी की साड़ी एड़ी तक पहुँची हुई है, और उसके आगे एक बटा हुआ दुपट्टा लटक रहा है। यह मूर्ति मौर्य काल की है, पर बौद्ध युग की स्त्रियों का परिधान भी प्रायः ऐसा ही होता होगा, इस कल्पना को असंगत नहीं कहा जा सकता।

बौद्ध युग में वस्त्रों के निर्माण के लिये कपास, रेशम, ऊन और सन का प्रयोग किया जाता था। बौद्ध साहित्य में अनेक स्थलों पर तन्तुवायों (जुलाहों), तन्तभण्ड (कपड़े बुनने के उपकरण) और तन्तविनट्ठानम् (बुनाई के स्थान) का उल्लेख आया है। सीने-पिरोने का व्यवसाय भी इस काल में भली-भाँति विकसित हो चुका था। चुल्लवग्ग में तुन्नवाय (दरज़ी) द्वारा कपड़ों की सिलाई का वर्णन विद्यमान है। तन्तुवायों द्वारा बुने हुए और तुन्नवायों द्वारा सिये हुए जो वस्त्र बौद्ध काल में प्रयोग में लाये जाते थे, वे उत्कृष्ट कोटि के भी होते थे। महापरिनिर्वाण सूत्र की टीका के अनुसार बुद्ध के

शव को वाराणसी में बने हुए ऐसे वस्त्र से ढका गया था, जो महीन होते हुए भी इस प्रकार गंठ कर बुना गया था कि तेल भी उसमें प्रवेश नहीं कर सकता था। इसी सूत्र में वाराणसी के वस्त्र के विषय में यह भी कहा गया है कि वह सब ओर से नीली झलक मारता था और साथ ही वह लाल, पीला तथा श्वेत भी दिखने लगता था। शिवि जनपद में बने एक ऊनी शाल का मूल्य शिवि जातक के अनुसार एक लाख कार्षापण था। इस प्रकार के बढ़िया व कीमती वस्त्र तो धनी श्रेष्ठी और राजकुल के व्यक्ति ही प्रयुक्त कर सकते होंगे, पर सर्वसाधारण लोगों के लिये भी तब कपास और सन के बने वस्त्रों की कोई कमी नहीं थी। जूते पहनने का भी इस युग में चलन था। पहले बौद्ध भिक्षुओं को जूते पहनने की अनुमति नहीं थी, पर बुद्ध ने उनके नंगे पैरों की दुर्दशा देख कर उन्हें जूते पहनने की अनुमति दे दी थी। पर वे केवल ऐसे जूते ही प्रयोग में ला सकते थे जो रंग-बिरंगी न होकर सादे हों। जूते बनाने के लिये सिंह, मृग आदि के चमड़े प्रयुक्त किये जाते थे, और उन्हें विविध रंगों में रंगा जाता था। महावग्ग में अनेक प्रकार के जूतों का वर्णन है, जिनमें पुटबद्धक (घुटने तक आने वाले), पालिगुंठिम (केवल पैर ढकने वाले), खलबद्धक (चप्पल) और तूलपुण्णिक (जिनमें रूई भरी हुई हो) उल्लेखनीय हैं।

वैदिक काल के समान बौद्ध युग में भी आभूषण पहनने का बहुत रिवाज था। बौद्ध साहित्य में मुद्रिका (अंगूठी), वल्लिका (कुंडल), ग्रैवेयक (हार), पामङ्ग (कर्णफूल), ओवत्तिका (कंगण), हत्थरण (चूड़ी) और मेखला आदि अनेकविध आभूषणों का उल्लेख है। बौद्ध युग के स्त्री-पुरुष न केवल विविध प्रकार के आभूषणों से अपने शरीरों को अलंकृत किया करते थे, अपितु अनेक प्रकार के आलेपनों से अपने शरीरों के सौन्दर्य में वृद्धि भी किया करते थे। विविध सुगन्धियों का भी वे प्रयोग करते थे।

बौद्ध साहित्य से इस युग के खान-पान के सम्बन्ध में भी अच्छा परिचय मिलता है। पूर्वी भारत में उस समय भत्त (भात) भोजन का प्रधान अंग था, जिसे दाल, सब्जी तथा मांस के साथ खाया जाता था। सुपत्त जातक के अनुसार सारिपुत्त ने बिम्बादेवी को भोजन के लिये आमन्त्रित कर जो भोजन प्रस्तुत किया, उसमें भात को लाल मछली तथा घी के साथ परोसा गया था। खीर इस युग में अत्यन्त लोकप्रिय थी। बुद्ध ने इसे उत्कृष्ट भोजन माना है, और भिक्षुओं के प्रातःकालीन भोजन के लिये इसे समुचित बताया है। जिन अन्य भोज्य पदार्थों का बौद्ध साहित्य में उल्लेख है, उनमें सत्तू, अपूप (पूवा), पिट्ठखज्जक (खाजा), तिलकुट, पिट्ठखादनीय (पीठा) आदि प्रधान हैं। मांस भक्षण का भी इस युग में चलन था। बौद्ध भिक्षु भी गृहस्थों द्वारा प्रदत्त मांस भोजन को स्वीकार कर लेते थे, और उसका भक्षण करने में उन्हें कोई संकोच नही होता था। महापरिनिर्वाण-सूत्र के अनुसार जब बुद्ध पावा नगरी में थे, तो उन्होंने चुन्द कर्मारपुत्र के घर पर शूकर-मार्दव (सूअर का मांस) खाया था, जिसे खाकर वे बीमार पड़ गये थे और उसी के कारण उनकी मृत्यु हुई थी। जातक कथाओं के अनुसार यज्ञों और श्राद्ध के अवसर पर ब्राह्मण लोग मांस भोजन किया करते थे। धर्मसूत्रों और स्मृतिग्रन्थों में भी इन अवसरों पर मांस भक्षण का विधान है। यद्यपि महात्मा बुद्ध अहिंसा के प्रतिपादक थे, पर उन्होंने भी मांस भोजन का निषेध नहीं किया। उनकी सम्मति में भिक्षुओं को मांसाहार नहीं करना

चाहिये, पर यदि गृहस्थ भिक्षा में मांस भोजन प्रदान करे, तो उन्हें स्वीकार कर लेना चाहिए। जैन लोग पूर्णतया अहिंसाव्रत के समर्थक थे, अतः इस धर्म के अनुयायी मुनि और गृहस्थ दोनों ही मांस भक्षण के विरोधी थे।

मज्झिम निकाय में गोघातक, मेषघातक, अजघातक, शुकरघातक, मृगलुब्धक और शाकुनिक (बहेलिया) का उल्लेख आया है, जिससे इस युग में विविध पशुओं और पक्षियों को मारने वाले लोगों की सत्ता प्रमाणित होती है। ये लोग मांस का व्यापार करते थे और मांस के प्रयोजन से प्राणियों को मारा भी करते थे। अन्य पशुओं को मारने वाले लोगों के साथ 'गोघातक' का भी उल्लेख होने से सूचित होता है कि बौद्ध काल में कतिपय प्रदेशों में व किन्हीं वर्गों में गोमांस भी खाया जाने लगा था। महाभारत में मद्रदेश के विषय में लिखा है कि वहाँ की नारियाँ धान और गुड़ की शराब पीकर गो मांस को प्याज के साथ खाया करती थीं। भारत बहुत बड़ा देश है, और प्राचीन समय में यहाँ बहुत-से जनपदों की सत्ता थी। यदि कतिपय जनपदों में गोमांस के भक्षण की भी प्रथा प्राचीन समय में रही हो, तो इसे आश्चर्यजनक नहीं समझा जा सकता।

सुरापान भी बौद्धकाल में प्रचलित था। वारुणि जातक से ज्ञात होता है, कि इस युग में मधुशालाएँ होती थीं, जिनमें शराब पीने वालों की भीड़ लगी रहती थी। मधुशाला का स्वामी अपने सहयोगियों (अन्तेवासियों) के साथ लोगों को सुरापान कराया करता था, और कुछ लोग इन मधुशालाओं में सपत्नीक भी जाया करते थे। कतिपय ऐसे उत्सव भी इस युग में मनाये जाते थे, जिनमें कि सामूहिक रूप से सुरापान का आयोजन किया जाता था। ऐसा एक उत्सव सुरानक्खत (सुरानक्षत्र) कहाता था, जिसमें बहुत-से लोग एक साथ यथेष्ट सुरापान किया करते थे। पर ब्रह्मचारी, भिक्षु, स्थविर और तापस आदि प्रायः मदिरा का सेवन नहीं करते थे। विनय पिटक में भिक्षुओं के लिये सुरापान को निषिद्ध ठहराया गया है। आपस्तम्ब और गौतम धर्मसूत्रों में ब्राह्मणों के लिये मदिरा सेवन का निषेध किया गया है, और मनु ने सुरापान करने वाले ब्राह्मण के लिये प्रायश्चित्त की व्यवस्था की है। जैन धर्मशास्त्रों में भी मद्यपान को बुरा कहा गया है। पर धर्माचार्यों की इन व्यवस्थाओं के होते हुए भी सर्वसाधारण जनता में बौद्ध युग में सुरापान प्रचलित था, इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता।

मौर्य युग—ग्रीक यात्रियों के यात्रा विवरणों तथा कौटलीय अर्थशास्त्र से मौर्य काल के वस्त्राभूषण तथा खान-पान के सम्बन्ध में विशद रूप से प्रकाश पड़ता है। इस काल में ऊन, वल्क (रेसे), कपास, तूल (एक रेशेदार पौदा), सन और रेशम को कपड़े बनाने के लिये प्रयुक्त किया जाता था, और वस्त्र निर्माण के लिये बहुत-से कर्मान्त (कारखाने) विद्यमान थे। इस काल में वस्त्र-व्यवसाय बहुत उन्नत दशा में था। मैगस्थनीज ने लिखा है, कि "अपने चलन की सादगी के प्रतिकूल भारतीय लोग बारीकी तथा सजावट के प्रेमी होते हैं। उनके वस्त्रों पर सोने का काम किया रहता है। वे मूल्यवान् रत्नों से विभूषित होते हैं, और (भारतीय) लोग अत्यन्त सुन्दर मलमल के बने हुए कपड़े पहनते हैं। सेवक उनके पीछे-पीछे छाते लगाये चलते हैं। वे अपने सौन्दर्य का बहुत ध्यान रखते हैं, और अपने रूप को सँवारने में कोई उपाय उठा नहीं रखते।" नियार्कस के अनुसार

भारतीय लोग दो वस्त्रों का प्रयोग किया करते थे, एक अधोवस्त्र जो कटि से घुटनों के नीचे तक जाता था, और दूसरा उत्तरीय जिसे वे अपने कन्धों पर डाल लेते थे। इसका एक भाग सिर पर भी लपेट लिया जाता था। नियार्कस ने विविध प्रकार के जूतों का भी वर्णन किया है, जिन्हें भारतीय लोग पैरों में पहना करते थे। उसके अनुसार इन जूतों के तल्ले बहुत मोटे होते थे, जिसके कारण उन्हें पहनने वाले व्यक्ति अधिक लम्बे प्रतीत हुआ करते थे।

ऊनी, रेशमी और सूती आदि वस्त्रों से पहनने के लिए किस ढंग के कपड़े मौर्य युग में तैयार किए जाते थे, इस सम्बन्ध में कोई भी निर्देश कौटलीय अर्थशास्त्र में उपलब्ध नहीं होता, यद्यपि वहाँ तुन्नवाय (दर्जी) का उल्लेख अवश्य है। दर्जी कैसे कपड़े सीते थे, और मौर्यों के शासनकाल में सम्पन्न व सर्वसाधारण लोग किस ढंग के कपड़े पहनते थे, इसे जानने का अभी हमारे पास कोई साधन नहीं है। हमें ग्रीक लेखकों के उन विवरणों से ही सन्तोष करना पड़ता है,जिनमें कि सिर पर धारण की जाने वाली पगड़ी, अधोवस्त्र उत्तरीय और मलमल के महीन वस्त्रों का जिक्र किया गया है। मौर्य युग की बहुत-सी मृण्मूर्तियाँ पाटिलपुत्र के भग्नावशेषों में उपलब्ध हुई हैं, जिनमें कतिपय को वस्त्र पहने हुए भी दिखाया गया है। इनसे मौर्य युग के पहरावे का कुछ अनुमान अवश्य किया जा सकता है। ऐसी एक मृण्मूर्ति में एक बालिका को चौड़ा लहंगा पहने हुए दिखाया गया है। पाटिलपुत्र में ही मौर्य युग की यक्षी की जो मूर्ति मिली है, उसे साड़ी या धोती पहने हुए दिखाया गया है। मौर्य युग में स्त्रियाँ साड़ी और लहंगा दोनों का प्रयोग करती थीं, यह इससे सूचित होता है।

मौर्य युग के लोग आभूषणों द्वारा अपने को अलंकृत करने पर बहुत ध्यान देते थे। मणि, मुक्ता, सुवर्ण आदि द्वारा अनेकविध आभूषण इस काल में तैयार किये जाते थे, और उन्हें बनाने वाले मणिकार आदि शिल्पी होते थे। पर मौर्य युग में केवल आभूषणों द्वारा अलंकृत होना ही पर्याप्त नहीं समझा जाता था। अपने शरीर को नानाविध उपायों से सुन्दर बनाने और उसका परिष्कार तथा श्रृंगार करने पर इस काल में बहुत ध्यान दिया जाता था। कौटलीय अर्थशास्त्र से राजा के प्रसाधन तथा श्रृंगार पर विशद रूप से प्रकाश पड़ता है। इस कार्य के लिए जो कर्मचारी नियत थे, उन्हें कल्पक,प्रसाधक, स्नापक और संवाहक कहते थे। स्नान के अनन्तर राजा को ऐसे वस्त्र पहनने के लिए दिए जाते थे, जो पूर्णतया शुद्ध हों और जिनकी शुद्धता को प्रमाणित करने के लिए उन पर मुद्रा (सील) भी लगी हुई हो। प्रसाधन के लिए सुगन्धि, चूर्ण (पाउडर), अनुलेपन (मलने वाली क्रीम) आदि का प्रयोग किया जाता था। राजा के अतिरिक्त अन्य सम्पन्न व्यक्ति भी अपने प्रसाधन तथा श्रृंगार के लिए नानाविध सुगन्धियों, चूर्णों और अनुलेपनों का प्रयोग किया करते होंगे, यह कल्पना सहज में की जा सकती है।

मौर्य युग में भोजन क्या होता था और उसे किस प्रकार खाया जाता था, इस सम्बन्ध में अनेक सूचनाएँ ग्रीक यात्रियों के यात्राविवरणों और कौटलीय अर्थशास्त्र में विद्यमान हैं। मैगस्थनीज के अनुसार 'जब भारतीय लोग भोजन के लिए बैठते हैं, तो प्रत्येक व्यक्ति के सम्मुख एक-एक मेज रखी जाती है जो तिपाई की आकृति की होती है।

तिपाई पर सोने का एक प्याला रखा जाता है, जिसमें सबसे पूर्व चावल परोसे जाते हैं। चावलों को वैसे ही उबाला जाता है, जैसे जौं को। चावलों के पश्चात् अन्य अनेकविध व्यञ्जन परोसे जाते हैं, जिन्हें भारतीय पाकविधि के अनुसार तैयार किया जाता है। एक अन्य स्थान पर मैगस्थनीज़ ने लिखा है कि भारतीय सदा अकेले भोजन करते हैं। वे कभी इकट्ठे बैठकर भोजन नहीं करते। जब जिसकी इच्छा हो, वह भोजन कर लेता है।

मौर्य युग में भारतीयों का मुख्य भोजन चावल था, इस बात की पुष्टि कौटलीय अर्थशास्त्र द्वारा भी होती है। कौटल्य ने इस बात का निरूपण किया है, कि आर्य, अवर (आर्यों की तुलना में कम स्थिति रखने वाले), स्त्री तथा बालक के लिए एक दिन के भोजन के प्रयोजन से कितनी-कितनी भोज्य सामग्री अपेक्षित है। यह सामग्री आर्य के लिए एक प्रस्थ (१ प्रस्थ = $\frac{1}{2}$ किलो के लगभग) तण्डुल (धान), चौथाई प्रस्थ सूप, और सूप का चौथाई भाग घी या तेल है। अवर के लिए तण्डुल की मात्रा तो एक प्रस्थ ही है, पर सूप की मात्रा चौथाई प्रस्थ न होकर प्रस्थ का छठा भाग है। इसी प्रकार स्नेह (चिकनाई) की मात्रा भी उसके लिए कम रखी गई है। स्त्रियों के लिए ऊपर लिखी मात्राओं (जो आर्य और अवर के लिये निर्धारित हैं) से चौथाई भाग कम मात्रा पर्याप्त है, और बालकों के लिए आधी। इस प्रसङ्ग में कौटल्य ने गेहूँ, चना या किसी अन्य अन्न का उल्लेख न कर केवल चावल ही लिखा है, जिससे इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि मौर्य युग में भारतीयों का मुख्य भोजन चावल ही था। सूप सम्भवतः मांस, सब्जी और दाल से बनाया जाता था, जिसके साथ मिलाकर चावल खाये जाते थे।

यद्यपि सामान्य रूप से भारतीय चावल और सूप का भोजन के लिए उपयोग करते थे, पर कौटलीय अर्थशास्त्र में अन्य भी अनेक अन्नों, सब्जियों और मांसों आदि का भोजन के रूप में उल्लेख है। बीस पल मांस के लिए आधा कुडुम्ब स्नेह (घी या तेल) एक पल नमक, एक पल चीनी, दो धरण मसाला और आधा प्रस्थ दही की आवश्यकता होती है। सब्जी बनाने के लिए यही सब सामग्री आधी मात्रा में पर्याप्त रहती है। 'शुष्क' (सुखाये हुए मांस, मछली आदि) के लिए इस सामग्री को दुगनी मात्रा में प्रयुक्त करना होता है। कौटलीय अर्थशास्त्र में कोद्रव, व्रीहि, शाली, वरक, प्रियङ्गु, चमसी (जौ), मुद्ग (मूंग), माष (उड़द), शैब्य, मसूर, कुल्माष, यावक आदि कितने ही खाद्यान्नों का उल्लेख है, जिन सबको भोजन के लिए अनेकविध प्रकार से प्रयोग में लाया जाता था। भोजन के लिए इनको पीसा भी जाता था, भूना भी जाता था, इनकी पीठी भी बनायी जाती थी, इन्हें तला भी जाता था, इन्हें पानी में भिगोया भी जाता था और इन्हें पकाया भी जाता था। इन विविध विधियों से इन खाद्यान्नों द्वारा कौन-से भोज्य पदार्थ तैयार किये जाते थे, यह हमें ज्ञात नहीं है। पर कौटलीय अर्थशास्त्र में अनेक प्रकार के पाचकों और भोज्य पदार्थों के विक्रेताओं का उल्लेख किया गया है, जिनसे मौर्य युग के भोजन का कुछ अनुमान कर सकना सम्भव है। ये निम्नलिखित थे—(१) पक्वान्नपण्याः—पक्वान्न या पकवान बेचने वाले। (२) मांसपण्याः—मांस बेचने वाले। (३) पाक्वमांसिकाः—पका

हुआ मांस बेचने वाले। (४) औदनिकाः—पका हुआ चावल बेचने वाले। (५) आपूपिकाः—रोटी, पूआ आदि के विक्रेता।

भोजन पकाने के लिए जो 'स्नेह' प्रयुक्त किया जाता था, वह केवल घी ही नहीं होता था। घी के अतिरिक्त तेल, वसा (चर्बी) और मज्जा भी 'स्नेह' माने जाते थे, और भोजन के लिए इनका भी प्रयोग किया जाता था। मसाले के लिए पिप्पली, मिर्च, अदरक आदि प्रयुक्त होते थे।

यद्यपि मौर्य युग में मांस, मछली, पक्षी आदि को भी भोज्य माना जाता था, पर सब कोई इनका सेवन नहीं करते थे। अनेक भोज्य पदार्थ विविध वर्गों के लोगों के लिए 'अभक्ष्य' समझे जाते थे। इसीलिए कौटल्य ने यह विधान किया है, कि यदि कोई व्यक्ति ब्राह्मण को कोई 'अपेय' पदार्थ पिलाए या 'अभक्ष्य' वस्तु खिलाए, तो उसे उत्तम साहस दण्ड दिया जाए।

मौर्योत्तर युग—मौर्य वंश के पतन के पश्चात् के काल की वेशभूषा तथा आभूषणों के सम्बन्ध में उस समय के साहित्य तथा मूर्तियों द्वारा समुचित जानकारी प्राप्त की जा सकती है। शुङ्ग काल की भरहुत में उपलब्ध मूर्तियों से ज्ञात होता है, कि इस काल के पुरुष धोती बाँधा करते थे, जिसका एक सिरा कमर में लपेट लिया जाता था और दूसरे सिरे को लाँग के रूप में पीठ के पीछे खोस लिया जाता था। धोती के अतिरिक्त पुरुष सिर पर पगड़ी पहना करते थे, और कन्धे पर दुपट्टा डाल लिया करते थे। भरहुत की स्त्री-मूर्तियों में स्त्रियों को साड़ी पहने हुए प्रदर्शित किया गया है। पर ये साड़ियाँ पैरों तक न पहुँच कर घुटने तक ही रहती थीं। साड़ियाँ कमरबन्द से बंधी होती थीं, और कमरबन्द के फुँदनेदार किनारे एक ओर लटकते रहते थे। दोनों पैरों के बीच से लटकते हुए ऐसे पटके धारण करने की प्रथा भी इस काल में विद्यमान थी, जो कमरबन्द में खुँसे रहते थे। पटके प्रायः लहरियादार होते थे, जिनमें मनके भी पिरोये जाते थे। भरहुत की स्त्री-मूर्तियों में कटि के ऊपर का भाग प्रायः बेढका दिखाया गया है, यद्यपि उनके सिरों को कामदार ओढ़नियों से ढ़का हुआ प्रदर्शित किया गया है। इस युग की बहुत-सी मृण्-मूर्तियाँ ऐसी भी उपलब्ध हुई हैं, जिनमें स्त्रियों के सिरों पर पगड़ी बनायी गई हैं। इससे सूचित होता है, कि इस काल में स्त्रियाँ पगड़ी भी पहना करती थीं।

शुङ्ग युग की मूर्तियों में आभूषणों का बाहुल्य है। यक्षिणी की एक मूर्ति में कटि पर एक सात लड़ों वाली करधनी बनायी गई है, और बांये कन्धे से मोतियों की एक लड़ी यज्ञोपवीत की भाँति छाती से नीचे तक चली गई है। गले में जो आभूषण बनाया गया है, उसकी पहली लड़ में पत्र, अंकुश और श्रीवत्स के आकार के टिकड़े हैं और दूसरी लड़ मनकों की है। ग्रीवा में एक मोहनमाला भी पहनायी गई है, जो उरोजों के बीच में लटक रही है। कानों में वक्रकुण्डल हैं, और हाथों में कड़े तथा चूड़ियाँ हैं। भरहुत से प्राप्त एक अन्य यक्षिणी-मूर्ति में कटि पर जो करधनी बनायी गई है, उसमें चार लड़ियाँ हैं जो सब भिन्न प्रकार की हैं। एक लड़ी चौखूंटी तख्तियों से बनी है, दूसरी मौलसरी के फूल के आकार वाले दानों से, तीसरी खरबूजेदार मनकों से और चौथी गोल मनकों से। दायें कन्धे से मोतियों की एक माला यज्ञोपवीत के समान छाती पर लटक रही है। गले में जो

कण्ठा पहनाया गया है, उसमें चार लड़ें हैं। मणि और रत्नों से बनी हुई एक माला ग्रीवा से छाती पर लटक रही है। हाथों में कंगन, उंगलियों में अंगूठियाँ और कानों में कुण्डल बनाये गए हैं। माथे पर फुल्ले के आकार का टिकुली भी दिखायी गई है। ये स्त्री-मूर्तियाँ शुङ्गकाल के अलंकरणों का एक स्पष्ट चित्र हमारे सम्मुख प्रस्तुत्त करने के लिए पर्याप्त हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इस युग की सम्भ्रांत व धनिक वर्ग की स्त्रियाँ विविध आभूषणों को धारण किया करती थीं।

शुङ्ग-सातवाहन काल में यवनों शकों और पल्लवों ने भारत के अनेक प्रदेशो में अपने राज्य स्थापित कर लिए थे। यह स्वाभाविक था, कि इन विदेशियों की वेशभूषा का भारतीयों पर भी प्रभाव पड़े। शक लोग ऊंची और नुकीली टोपियाँ पहना करते थे। उनके सम्पर्क से भारतीय भी पगड़ी के स्थान पर टोपी पहनने लगे। इसीलिए इस युग के स्तूप-पूजा के एक दृश्य में कुल्लानुमा टोपी पहनै हुए लोग भी दिखाये गए हैं। यवनों और शकों के सम्पर्क के कारण भारतीय भी अंगरखे, लम्बे कोट और कुल्ले पहनने लगे थे। इसीलिए गान्धार शैली की अनेक मूर्तियों में पुरुषों को इन परिधानों के साथ भी प्रदर्शित किया गया है। इस युग में अनेक भारतीय राजाओं के अन्तःपुरों में यवन स्त्रियाँ अंग-रक्षिका के कार्य पर नियुक्त रहती थीं। ये प्रायः यवन पोशाक में ही रहती थीं, और घुटनों से कुछ ऊपर तक पहुंचता हुआ कंचुक (कोट) तथा चुन्नटदार घाघरा पहना करती थीं। सिर पर ये कुल्लेदार टोपी रखती थीं। यवन पोशाक में अनेक स्त्रियों की मूर्तियाँ भी इस काल में निर्मित हुई थीं। पहली सदी ईस्वी में जब कुशाणों ने उत्तरी भारत के बड़े भाग को अपने अधीन कर लिया, तो उनके पहरावे का भी भारत में प्रचलन हुआ। कुशाण लोग घुटने से भी नीचे तक पहुँचने वाला लम्बा चोगा पहना करते थे, और पैरों में ऐसा जूता या बूट धारण करते थे, जिसमें बाँधने के लिए तस्मे लगे होते थे। मथुरा में कुशाण राजा कनिष्क की जो सिर से विहीन मूर्ति उपलब्ध हुई है, उसकी पोशाक इसी प्रकार की है। कुशाण युग में स्त्रियाँ ऐसी साड़ियाँ पहनने लगी थीं, जो एड़ी तक पहुँचती थीं। साड़ी कहीं अपने स्थान से च्युत न हो जाए, इस प्रयोजन से उसके ऊपर अनेक लड़ियों वाली करधनी बाँध दी जाती थी। शरीर के कटि से उपरले हिस्से को ढकने के लिए इस काल में स्त्रियाँ ऐसे दुपट्टे डाल लेती थीं, जो दोनों कन्धों को ढकते हुए नीचे लटकते रहते थे। मौर्योत्तर युग के जिन परिधानों का ऊपर उल्लेख किया गया है, साहित्य द्वारा भी उनकी पुष्टि होती है। दिव्यावदान में अधोवस्त्र (धोती) और उत्तरीय (दुपट्टे) की जोड़ी को 'यमनी' कहा गया है। ये इतने बढ़िया भी बना करते थे, कि इनकी अत्युत्कृष्ट जोड़ी की कीमत एक लाख कार्षापण तक पहुँच जाती थी। ललित विस्तर के अनुसार राजप्रासादों के रक्षक तथा योद्धा कंचुक पहना करते थे, और उनकी छाती तथा बाहें कवच से ढकी रहती थीं। इस युग के काव्य साहित्य में भी स्त्री-पुरुषों के परिधान तथा आभूषणों आदि के सम्बन्ध में अनेक निर्देश मिलते हैं, जिनसे यही ज्ञात होता है कि अधोवस्त्र, उत्तरीय और उष्णीष ही मुख्य वस्त्र थे जिन द्वारा शरीर को ढका जाता था।

मौर्योत्तर युग के स्त्री-पुरुषों को शरीर के प्रसाधन का भी बहुत शौक था।

'मिलिन्द प्रश्नाः' से सूचित होता है कि इस काल में चन्दन आदि सुगन्धित द्रव्यों का और मालाओं का प्रचुर परिमाण में प्रयोग किया जाता था। सुगन्धियों को प्रयुक्त करने का चलन इतना अधिक था, कि बच्चों को स्नान कराते हुए भी ऐसे जल का प्रयोग किया जाता था जिसमें कि सुगन्धि मिली होती थी। स्त्रियाँ अपने शरीर को अनेकविध आकृतियों से अलंकृत किया करती थीं, जिनका अश्वघोष ने सौन्दरनन्द-काव्य में विशद रूप से वर्णन किया है। रामायण के अनुसार जब भरत की सेना भारद्वाज मुनि के आश्रम में पहुँची, तो उसके लिए जो प्रसाधन सामग्री प्रस्तुत की गई थी, उसमें चन्दन आदि विविध प्रकार के सुगन्धित द्रव्य, शीशे, कंघियाँ तथा सुरमेदानियाँ आदि सम्मिलित थीं।

ऐसा प्रतीत होता है, कि भारत में वैष्णव धर्म के प्रसार के साथ मांस-भक्षण में कुछ कमी अवश्य आ गई थी। पाँचवीं सदी के प्रारम्भ में चीनी यात्री फाइयान ने भारत की यात्रा की थी। अपने यात्रा विवरण में उसने लिखा है कि, "जनपद (मध्य देश) में सुअर और मुर्गी नहीं पालते, न जीवित पशु बेचते हैं, न कहीं सूनागार (बूचड़खाने) और मद्य की दूकाने हैं।...केवल चाण्डाल मछली मारते, शिकार करते और मांस बेचते हैं।" इस विवरण से ज्ञात होता है कि गुप्तों के शासन काल में मांस-भक्षण केवल निम्न वर्ग के लोगों तक ही सीमित था। फाइयान ने यह भी लिखा है कि, "सारे देश (मध्य देश) में कोई अधिवासी न हिंसा करता है, न मद्य पीता है और न लहसुन-प्याज खाता है, सिवाय चाण्डालों के।" बौद्ध और जैन धर्म तो अहिंसा के विरोधी थे ही। शुङ्गकाल में जब प्राचीन वैदिक धर्म का पुनरुत्थान भागवत वैष्णव धर्म के रूप में हुआ, तो यह धर्म भी अहिंसा का प्रतिपादक था। इस दशा में यह कल्पना करना असंगत नहीं होगा कि नये धार्मिक आन्दोलनों के प्रभाव से भारत में मांस और मदिरा के सेवन में बहुत कमी आ गई थी। पर इन का प्रचार सर्वथा बन्द नहीं हुआ था। सातवीं सदी में चीनी यात्री ह्यु एन्त्सांग भारत आया था। उसने लिखा है कि इस देश के निवासियों का प्रधान भोजन विविध अन्न, साक-सब्जी और घी-दूध थे, पर मछली और भेड़ बकरियों का मांस भी कभी-कभी भोजन के लिए प्रयुक्त किया जाता था। लहसुन और प्याज का सेवन बुरा समझा जाने लगा था, और यह माना जाता था कि इनके सेवन से मनुष्य जातिभ्रष्ट हो जाता है। इत्सिंग (सातवीं सदी का उत्तरार्ध) से भी इन्हीं बातों की पुष्टि होती है। उसने लिखा है कि इस देश के लोग लहसुन-प्याज नहीं खाते और उपोसथ के दिन मांस भक्षण भी नहीं किया जाता। पर मद्य के सेवन का सातवीं सदी के इन दोनों चीनी यात्रियों ने उल्लेख किया है। न केवल पुरुष ही अपितु स्त्रियाँ भी सुरापान किया करती थीं, यह कालिदास के मालविकाग्निमित्र, रघुवंश और ऋतुसंहार से तथा बाणभट्ट की कादम्बरी से भी प्रमाणित होता है। इनमें स्त्रियों के सुरापान का स्पष्ट रूप से उल्लेख है।

(३) सम्भ्रान्त वर्ग के लोगों का जीवन

सभ्यता तथा आर्थिक समृद्धि के उत्कर्ष के साथ प्राचीन भारत की जनता में एक ऐसा सम्भ्रान्त वर्ग विकसित हो गया था, जिसके स्त्री-पुरुष बड़े नगरों में रहते हुए

भोग-विलास का जीवन व्यतीत किया करते थे। नगर के निवासियों की सामान्य संज्ञा 'नागर' थी, पर नगर के जो निवासी विभिन्न कलाओं में प्रवीण हों उन्हें 'नागरक' कहा जाता था। ये नागरक या तो राजकुलों के व्यक्ति होते थे और या सम्पन्न श्रेष्ठियों और व्यवसायियों के परिवारों के। वात्स्यायन ने कामसूत्र में इनके जीवन का बड़े विशद रूप में निरूपण किया है। कामसूत्र में 'नागरक वृत्ति' नामक एक अध्याय है, जिससे नागरकों की दिनचर्या और रहन-सहन के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त की जा सकती है। इसके अनुसार जब कोई व्यक्ति शिक्षा को पूर्ण कर गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करने लगे, तो उसे किसी नगर में निवास करना चाहिए और वहाँ उस सम्पत्ति का उपयोग करना चाहिए जो उसे उत्तराधिकार में प्राप्त हुई हो और या जिसका उसने स्वयं उपार्जन किया हो। नागरकों का जीवन बिताने के लिए सम्पत्तिशाली होना आवश्यक था। पर ऐसे लोग भी हो सकते थे जो धनी न हों, पर उन सब कलाओं में प्रवीण हों, जो नागरकों के लिए आवश्यक समझी जाती थीं। ऐसे लोग नागरकों की गोष्ठियों में सम्मिलित होकर अपनी कलाओं का प्रदर्शन किया करते थे, जिससे उन्हें धन की प्राप्ति हो जाती थी। ये लोग 'विट्' कहाते थे। धनी न होते हुए भी ये अपने शरीर के प्रसाधन पर विशेष ध्यान देते थे और अपने को सदा स्वच्छ और आकर्षक बनाने के लिए प्रयत्नशील रहते थे। अपने निवास के लिये नागरक ऐसे भवनों का निर्माण कराते थे, जो दो भागों में बंटे हुए हों। इन भवनों का आभ्यन्तर भाग अन्तःपुर के रूप में होता था, जिसमें स्त्रियाँ निवास किया करती थीं। बाह्य भाग में नागरक स्वयं रहा करता था, और वहाँ वह भोग-विलास में अपना समय व्यतीत करता था। बाह्य भाग में अनेक प्रकोष्ठ होते थे, जिनमें नागरक के अपने रहने का प्रकोष्ठ बहुत ही सुसज्जित तथा शानदार होता था। इस प्रकोष्ठ में दो शय्याएँ होती थीं, जिन पर सफेद चादर बिछी रहती थी। साथ ही, इन पर तकिये भी लगे रहते थे। शय्या के सिरहाने कूर्च स्थान पर नागरक के इष्ट देवता की कलामय प्रतिमा रखी होती थी, जिसके समीप वेदिका पर मालाएँ, चन्दन, उपलेपन, सौगन्धिक-पुटिका, इत्रदान और अन्य प्रसाधन सामग्री रखी जाती थी। पान के बीड़े और मातुलुंग की छाल रखने की भी यही जगह थी। शय्या के ऊपर हाथी दाँत से बने ब्रेकटों पर वीणा रखी होती थी, जो परदे से ढकी हुई रहती थी। इसके समीप ही चित्र बनाने के लिए चित्रफलक, तूलिकाएँ तथा रंग के डिब्बों को रखने का स्थान होता था। यहीं पर पुस्तकें भी सजा कर रखी जाती थीं, और चिरकाल तक न मुरझाने वाले पीले रंग के कुरण्टक पुष्पों की मालाएँ लटकी रहती थीं। शय्या से कुछ दूर फर्श पर एक गलीचा बिछा रहता था, जिस पर तकिये भी लगे रहते थे। इस गलीचे पर द्यूत और शतरंज खेलने का सब सामान रखा रहता था। प्रकोष्ठ के बाहर अनेक पिंजरे लटके होते थे, जिनमें विविध प्रकार के पक्षी होते थे। नागरक के इस भवन के साथ एक वाटिका भी होती थी, जिसमें सुन्दर फूलों और फलों के वृक्ष लगाए जाते थे। साथ ही, अनेकविध सब्जियों की भी इस वाटिका में खेती की जाती थी। इस वाटिका में लताओं के कुञ्ज भी होते थे, और नागरक तथा उसके मित्रों के विश्राम तथा मनोरंजन के लिए सुगन्धित फूलों के आस्तरणबिछाये जाते थे। छयादार वृक्षों के नीचे झूले भी लगाए जाते थे। यह

भी आवश्यक समझा जाता था कि इस वाटिका में एक जलाशय, कुंआ या बावड़ी भी हो। ग्रीष्म के प्रकोप से बचने के लिए नागरक के भवन में कुछ ऐसे प्रकोष्ठ भी बनाए जाते थे, जो जल से घिरे होते थे। इन्हें 'समुद्र-गृह' कहते थे। वाटिका के देखभाल का कार्य नागरक की पत्नी के सुपुर्द रहता था।

वात्स्यायन ने नागरक की दिनचर्या का भी विशद रूप से वर्णन किया है। प्रातःकाल उठकर वह पहले मुखप्रक्षालन से निवृत होता था, और फिर सुगन्धित द्रव्यों तथा औषधियों से सुवासित दातनों द्वारा अपने दाँत साफ करता था। दन्तधावन करने के पश्चात् नागरक अपने शरीर का प्रसाधन प्रारम्भ करता था। इसके लिए मलाई में चन्दन, केसर, कस्तूरी आदि के चूर्ण को मिला कर ऐसा उपलेपन तैयार किया जाता था, जिससे शरीर की चमड़ी स्निग्ध व कोमल बनी रहती थी, और जिसकी सुगन्ध भी देर तक कायम रहती थी। इस उपलेपन को यथोचित ढंग से शरीर पर लगाकर सुगन्धित धूम्र से बालों को धूमित किया जाता था। इससे जहाँ सुगन्ध बालों में बस जाती थी, वहाँ वे काले भी बने रहते थे। इसके बाद गले में माला पहनी जाती थी, आँखों में सुरमा डाला जाता था और होंठों को लाख से बनाये गये लाल रंग से रंगा जाता था। प्रसाधन समाप्त हो जाने पर वह दर्पण में अपना चेहरा देखता था, और सन्तोष अनुभव कर पान का बीड़ा मुँह में डालकर अपने कार्य को प्रारम्भ करता था। दोपहर तक वह अपने कार्यों को समाप्त कर देता था, और भोजन से पूर्व स्नान किया करता था। स्नान उसकी दिनचर्या का महत्त्वपूर्ण अंग था। एक दिन छोड़कर वह शरीर की मालिश करवाता था, और प्रति तीसरे दिन साबुन की झाग (फेनक) से शरीर को शुद्ध करता था। जिस जल से वह स्नान करता था वह सुगन्धित होता था। स्नान के अनन्तर वह महीन श्वेत धोती पहनता था और फिर पूजा पर बैठ जाता था। पूजा करने के बाद वह मध्याह्न का भोजन करता था। उसका भोजन अत्यन्त स्वादु और पौष्टिक होता था। चावल, गेहूँ, जौं, दालें, दूध, घी और मिष्टान्न आदि उसके भोज्य पदार्थ थे। अनेकविध मदिराओं तथा शर्बतों का भी वह सेवन करता था। भोजन से निवृत्त होकर वह विश्राम करता था। इस समय वह शुक, सारिका, हंस, चक्र-वाक्, मोर आदि पक्षियों से मनोविनोद करता था और तीतर-बटेरों तथा मेढ़ों की लड़ाई देखा करता था। साथ ही, विट् और विदूषक भी इस समय उसका मनोरंजन किया करते थे। कुछ समय इस ढंग से मनोविनोद कर वह एक नींद ले लेता था। नींद से जाग कर वह फिर एक बार अपना प्रसाधन करता था, और फिर गोष्ठियों में सम्मिलित होने के लिए घर से बाहर चला जाता था। इन गोष्ठियों के सम्बन्ध में इसी अध्याय में ऊपर लिखा जा चुका है। गोष्ठियों से लौट कर वह सन्ध्याकालीन कृत्यों से निवृत्त होता था। इस बीच में उसके अपने प्रकोष्ठ को भलीभाँति सुसज्जित कर दिया जाता था और उसमें सुगन्धित द्रव्य जला दिये जाते थे। सांयकाल का भोजन करने के पश्चात् वह अपने प्रकोष्ठ में चला जाता था, जहाँ संगीत, नृत्य आदि का आयोजन होता था, और उसमें सम्मिलित होने के लिए उसके मित्र पधार गये होते थे। कभी-कभी वह अपने मित्र नागरकों के घरों में आयोजित नृत्य-संगीत में सम्मिलित होने के लिए भी चला जाया करता था। इनसे निबट कर वह शयन करता था। प्रातःकाल से रात्रि तक नागरक का सारा समय

विलासिता और विनोद के वातावरण में व्यतीत हुआ करता था। यह स्वीकार करना होगा कि प्राचीन भारत के सम्भ्रान्त लोगों का जीवन अत्यन्त विलासमय होता था, और उन्हें सब सांसारिक सुख उपलब्ध हुआ करते थे। सामूहिक मनोरंजन के लिए जिन समाजों, आपानकों, गोष्ठियों, उद्यान-यात्राओं और समस्या-क्रीड़ाओं को आयोजित किया जाता था, नागरक उनमें भी उत्साहपूर्वक सम्मिलित हुआ करते थे।

वात्स्यायन ने नागरक के जीवन का जो वर्णन किया है, उसकी पुष्टि 'मृच्छकटिकम्' नाटक से भी होती है। इसके अनुसार शर्वलिका नामक चोर जब नागरक चारुदत्त के घर में चोरी के लिए घुसा, तो उसने उसके भवन में वह सब कुछ देखा जो कामसूत्र में वर्णित है। अन्य प्राचीन साहित्य में भी समृद्ध लोगों के घरों का इसी प्रकार का चित्र खींचा गया है।

बारहवां अध्याय

वैदिक युग तथा उससे पूर्ववर्ती काल का आर्थिक जीवन

(१) सभ्यता का आदि काल

पृथिवी पर मनुष्य पहले-पहल कब और किस प्रकार प्रकट हुआ, शुरू में उसका जीवन किस प्रकार का था और सभ्यता के क्षेत्र में उसने किस ढंग से उन्नति की, यह विषय बहुत विवादग्रस्त है। आजकल के विद्वान् यह मानते हैं कि पृथिवी पर जीवजन्तुओं का विकास धीरे-धीरे हुआ, और इस विकास में करोड़ों साल लग गये। वानर जाति के एक प्राणी से विकसित होते-होते मनुष्य की उत्पत्ति हुई, और उसे पृथिवी पर प्रकट हुए अभी कुछ लाख सालों से अधिक समय नहीं हुआ है। शुरू में मनुष्यों और अन्य चौपायों में बहुत कम भेद था। अन्य पशुओं के समान वह भी जंगल में रहता था और शिकार द्वारा अपना भोजन प्राप्त करता था। पशुओं के माँस के अतिरिक्त जंगल में प्राकृतिक रूप में उत्पन्न होने वाले कन्द, मूल, फल व अन्न का भी वह भोजन के लिये प्रयोग करता था। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए इस आदि-युग के मनुष्य आर्थिक उत्पादन नहीं किया करते थे, अपितु प्रकृति द्वारा दी गई वस्तुओं पर ही निर्भर रहते थे। पर अन्य पशुओं की तुलना में मनुष्य का दिमाग अधिक बड़ा था। उसके पास बुद्धि नामक एक ऐसी वस्तु थी, जो अन्य प्राणियों के पास नहीं थी। इसका परिणाम यह हुआ कि मनुष्य शिकार करते हुए केवल अपने हाथों और पैरों पर ही निर्भर नहीं करते थे, अपितु अनेक प्रकार के औजार बना कर उनका भी उपयोग किया करते थे। प्रारम्भ में मनुष्यों के ये औजार पत्थर, हड्डी और लकड़ी के बने होते थे। धातुओं का प्रयोग वे नहीं जानते थे। इसीलिए मानव-सभ्यता के इस आदिकाल को प्रस्तर-युग कहा जाता है। प्रस्तर युग को भी तीन भागों में विभक्त किया गया है—पुरातन-प्रस्तर युग, मध्य-प्रस्तर युग और नूतन प्रस्तर-युग।

पुरातन प्रस्तर युग का प्रारम्भ अब से लगभग छः लाख साल पूर्व हुआ था। इस युग की सभ्यता के अवशेष पृथिवी के अनेक प्रदेशों से उपलब्ध हुए हैं। भारत में ये अवशेष जिन प्रदेशों में मिले हैं, उनमें मुख्य निम्नलिखित हैं—नर्मदा नदी की घाटी, दक्खन का करनूल जिला, गुजरात में साबरमती नदी की घाटी, बम्बई के समीप खण्डिब्ली का क्षेत्र, उड़ीसा के मयूरभंज प्रदेश में कुलियाना का क्षेत्र, माइसूर में बेल्लारी का प्रदेश, काश्मीर में पुञ्छ का क्षेत्र और तमिलनाडु का समुद्रतटवर्ती प्रदेश। जो प्रदेश अब पाकिस्तान के अन्तर्गत हैं, उनमें रावलपिण्डी के पोठवार क्षेत्र और ख्यूड़ा की नमक की पहाड़ियों के प्रदेश में भी पुरातन प्रस्तर-युग के बहुत-से अवशेष मिले हैं।

पुरातन प्रस्तर युग का आर्थिक जीवन—इस युग का मनुष्य शिकार द्वारा अपनी भोजन-सामग्री प्राप्त करता था। पर जंगल में रहनेवाले जीव-जन्तुओं का शिकार करने के अतिरिक्त वह मछली पकड़ना भी जानता था, और इसके लिए उसने अनेक प्रकार के उपकरणों का भी निर्माण किया था। जंगल में जो विविध प्रकार के कन्द, मूल, फल आदि प्राकृतिक रूप से उत्पन्न होते हैं, उनमें से कौन-से भक्ष्य हैं, इसका उसे भली-भाँति ज्ञान था। इन कन्दमूलों को खोदकर निकालने के लिये उसने अनेक प्रकार के औजारों का निर्माण किया था। पृथिवी पर जो अनेक प्रकार के अन्न प्राकृतिक रूप से उगते हैं, उनका उपयोग भी उसे ज्ञात था। इन अन्नों को वह एकत्र करता था, इन्हें काटने के लिये एक प्रकार की दरांती का भी वह प्रयोग करता था, और एकत्र हुए अन्न को भूनकर व पीसकर प्रयुक्त करने का भी उसे ज्ञान था। पुरातन प्रस्तर-युग का काल कई लाख वर्षों का माना जाता है। इस सुदीर्घकाल में मनुष्य धीरे-धीरे उन्नति की ओर कदम बढ़ाता गया। शुरू में वह केवल शिकारी था, और मोटे व भद्दे औजारों का प्रयोग करता था। पर समय के साथ-साथ जहाँ वह मछली पकड़ने, कन्द-मूल-फल एकत्र करने और प्राकृतिक-रूप से उत्पन्न होनेवाले अनाज को इकट्ठा करने के लिये प्रवृत्त हुआ, वहाँ साथ ही उसके औजार भी निरन्तर उन्नति करते गए। वह पत्थर के परिष्कृत औजार बनाने लगा, और हड्डी, सींग, लकड़ी, हाथीदाँत आदि का भी अपने उपकरणों के लिए प्रयोग करने लगा। शुरू में वह पत्थर फेंककर शिकार करता था, बाद में उसने धनुषबाण बनाये। धनुष के लिए उसने सींग और लकड़ी का प्रयोग किया, और बाण के आगे हड्डी, पत्थर व सींग के फलकों को बाँधना शुरू किया।

अति प्राचीन प्रस्तर-युग का मनुष्य वृक्षों की शाखाओं पर या गुफाओं में निवास करता था। पर धीरे-धीरे उसने अपने रहने के लिए तम्बुओं या आश्रय-स्थानों का निर्माण शुरू किया। इनके लिये वह पशुओं की खालों का प्रयोग करता था। खालों को जोड़ने के लिए चमड़े को काटकर तागा बनाने की कला भी उसे ज्ञात थी। सीने के लिए वह सुइयों का निर्माण करता था, जो प्रायः हड्डी व हाथीदाँत की बनी होती थीं। चमड़े के तागे से खालों को सीकर वह अपने निवास के लिये तम्बू बना लेता था। उसके वस्त्र भी चमड़े के होते थे। प्रारम्भिक मनुष्य प्रायः नंगा ही रहता था। पर सरदी व धूप से बचने के लिये चमड़े के वस्त्र उपयुक्त हो सकते हैं, यह बात उसने पुरातन प्रस्तर-काल में ही जान ली थी।

इसमें सन्देह नहीं, कि पुरातन प्रस्तर-काल का मनुष्य आत्म-निर्भर था, वह अपनी आवश्यकताओं की सब वस्तुओं को स्वयं ही प्राप्त करता था। पर इस प्राचीन युग में भी वस्तुओं के विनिमय और व्यापार का सर्वथा अभाव हो, यह बात नहीं है। पश्चिम-मध्य फ्रांस में अनेक स्थानों पर इस युग के अन्य अवशेषों के साथ-साथ वे शंख और कौड़ियाँ भी उपलब्ध हुई हैं, जो समुद्रतट पर ही प्राप्त हो सकती थीं। फ्रांस के मध्य में निवास करने वाले पुरातन-प्रस्तर युग के इन आदि-मानवों ने इन्हें व्यापार द्वारा ही प्राप्त किया होगा। इसी प्रकार यूरोप के अन्य प्राचीन अवशेषों में भी ऐसी अनेक वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं, जो उन स्थानों पर नहीं होतीं, और जिन्हें कहीं बाहर से ही प्राप्त किया गया होगा। ऐसा प्रतीत

होता है, कि इस प्राचीन काल के शिकारी मनुष्य भी कतिपय अद्भुत एवं आकर्षक वस्तुओं को विनिमय द्वारा प्राप्त करते थे, और इन विविध वस्तुओं का व्यापार इस प्राचीन काल में भी विद्यमान था।

पुरातन प्रस्तरयुग के मनुष्य टोलियाँ बनाकर रहते थे। यह असंभव नहीं, कि इन टोलियों में एक प्रकार का संगठन भी विद्यमान हो, टोली के सब सदस्य अपने किसी मुखिया का शासन मानते हों, और यह मुखिया टोली का सबसे वृद्ध, अनुभवी या शक्तिशाली व्यक्ति हो। इस मुखिया के नेतृत्व में पुरातन-प्रस्तर युग की टोलियाँ आहार की खोज में एक स्थान से दूसरे स्थान पर भ्रमण करती रहती थीं। वे कहीं स्थिर रूप से बस कर नहीं रहती थीं। जहाँ कहीं भी शिकार, कन्द-मूल-फल आदि की सुविधा हो, वे वहीं चली जाती थीं। उस युग में जनसंख्या बहुत कम होती थी। शिकार पर आश्रित रहनेवाला प्राणी तभी अपना निर्वाह कर सकता है, जब कि वह संख्या में अधिक न हो। जनसंख्या की इतनी कमी का ही यह परिणाम है, कि पुरातन प्रस्तर-युग के मनुष्यों के शरीरों के अवशेष बहुत ही कम संख्या में उपलब्ध हुए हैं।

मध्य और नूतन प्रस्तर युग—पुरातन-प्रस्तर युग में भी मनुष्य सभ्यता के क्षेत्र में निरन्तर आगे बढ़ रहा था। धीरे-धीरे वह समय आ गया, जबकि वह न केवल पशुओं का शिकार ही करता था, अपितु उन्हें पालता भी था। उसे यह अधिक उपयोगी प्रतीत होता था, कि वह घोड़ा, हिरन, भेड़ आदि पशुओं को अपने पास पालकर रखे, ताकि आवश्यकता पड़ने पर जहाँ उसे उनका मांस भोजन के लिए उपलब्ध हो, वहाँ साथ ही वह उनके दूध, ऊन आदि का भी उपयोग कर सके। पहले वह जंगल में प्राकृतिक रूप से उत्पन्न होने वाले कन्द-मूल-फल, अन्न आदि को एकत्र मात्र करता था। अब उसने उन्हें उत्पन्न करना भी शुरू किया। शिकारी के स्थान पर अब वह पशुपालक और कृषक बनने लगा। उसके औजार भी निरन्तर अधिक-अधिक उन्नत व परिष्कृत होते गए। पत्थर के कुल्हाड़े से वह पहले भी लकड़ी काटता था। पर अब उसने इस लकड़ी का प्रयोग मकान बनाने के लिये भी करना शुरू किया। खेती के लिए यह आवश्यक था, कि मनुष्य किसी एक स्थान पर स्थिर होकर रहे। स्थिरता के साथ बसने के लिए यह उपयोगी था, कि मनुष्य अधिक पक्के किस्म के मकान बनाये। इसीलिए उसने बाकायदा घर बनाने शुरू किये, और जगह-जगह पर उसकी बस्तियों (डेरों व ग्रामों) का विकास होने लगा। पहले मनुष्य केवल पशुओं की खाल ओढ़कर सरदी व गरमी से अपना बचाव करता था। अब उसने ऊन व रेशम के कपड़े भी बनाने शुरू किये। यद्यपि अभी तक भी मनुष्य के औजार केवल पत्थर, हड्डी व लकड़ी के होते थे, धातु का प्रयोग अभी वह नहीं जानता था, पर इसमें सन्देह नहीं, कि इन औजारों की सहायता से ही वह सभ्यता के क्षेत्र में तेजी के साथ आगे बढ़ रहा था। इन नये युग के मनुष्य को हम 'नूतन प्रस्तर युग' का कह सकते हैं। यह युग अब से दस या पन्द्रह हजार साल पहले शुरू हो चुका था। पर पुरातन और नूतन प्रस्तर युगों के बीच में एक ऐसा भी काल था, जब कि मनुष्य पूरी तरह से कृषक व पशुपालक न होकर एक ऐसा जीवन व्यतीत करता था, जिसमें कि वह शिकार के साथ-साथ कुछ-कुछ खेती भी प्रारम्भ कर चुका था। इस युग को मध्य प्रस्तर युग कहा जाता है। यूरोप और पश्चिमी

एशिया में इस युग के अनेक अवशेष उपलब्ध हुए हैं। खेद की बात है, कि भारत में पुरातत्त्व-सम्बन्धी खोज अभी इस दशा में नहीं पहुँची है कि मध्य व नूतन प्रस्तर युगों के अवशेष बड़ी मात्रा में उपलब्ध किये जा सके हों।

भारत में मध्य-प्रस्तर युग के अवशेष—मध्य प्रस्तर-युग के औजारों की यह विशेषता है, कि वे पुरातन युग के औजारों की अपेक्षा बहुत अधिक परिष्कृत व उन्नत होते हैं। इस युग में मनुष्य उन्नति करता हुआ इस दशा तक पहुँच जाता है, कि वह अपने औजारों को सुडौल बना सके व उसके उपकरण ज्यामिति की दृष्टि से पूर्ण व निर्दोष हों। यही कारण है, कि इस युग के अनेक औजार अर्धचन्द्राकार, त्रिभुजाकार व अन्य प्रकार से ज्यामिति के सिद्धान्तों के अनुरूप होते हैं। साथ ही, इस युग में मनुष्य मिट्टी के बरतनों का निर्माण शुरू कर चुकता है, यद्यपि ये बर्तन हाथ से बने होने के कारण बहुत सुन्दर व सुडौल नहीं होते। प्राचीन काल के अवशेषों में जब पत्थर के परिष्कृत औजार मिट्टी के हाथ से बने बरतनों के टुकड़ों के साथ मिलने लगते हैं, तो हम उन्हें मध्य-प्रस्तर काल का समझ सकते है।

भारत और पाकिस्तान में इस काल के अवशेष बहुत-से स्थानों में मिले हैं—

(१) माइसूर राज्य के चित्तलद्रुग क्षेत्र में ब्रह्मगिरि नामक स्थान पर मध्य प्रस्तर-युग के बहुत-से अवशेष उपलब्ध हुए हैं, जिन्हें 'रोप्पा सभ्यता' कहा जाता है। (२) आन्ध्र प्रदेश में मास्की नामक स्थान पर भी इस युग के अवशेष मिले हैं। (३) नर्मदा नदी की घाटी में प्राचीन काल के अवशेषों की विविध सतहों की जो खुदाई हुई है, उससे जहाँ नीचे की सतहों में पुरातन प्रस्तर-युग के अवशेष मिले हैं, वहाँ ऊपर की सतह में मध्य-प्रस्तर युग के औजार और मिट्टी के बरतनों के टुकड़े भी प्राप्त हुए हैं। (४) दक्खन में करनूल के क्षेत्र में इस युग के औजार मिले हैं, जिनसे मिलते-जुलते औजार विन्ध्याचल की पर्वतशृंखला में और उत्तर-प्रदेश के बाँदा जिले से भी उपलब्ध हुए हैं। (५) गोदावरी नदी की घाटी में अनेक स्थानों पर मध्य प्रस्तर युग के औजार व मिट्टी के बरतनों के टुकड़े प्राप्त हुए हैं। किसी-किसी स्थान पर तो विशाल आकार के वे बरतन भी मिले हैं, जिनमें मृत शरीर को गाड़ दिया जाता था, और शव के साथ में मृत मनुष्य के उपयोग की वस्तुओं को भी रख दिया जाता था। (६) गुजरात में साबरमती नदी की घाटी में और बम्बई के समीप खंडिव्ली नामक स्थान पर पुरातन प्रस्तर युग के अवशेषों के अतिरिक्त उपरली सतहों पर इस युग के अवशेष भी मिले हैं। (७) काश्मीर में उपलब्ध प्राचीन अवशेषों का उल्लेख पहले किया जा चुका है। काश्मीर घाटी के विविध अवशेष पुरातन प्रस्तर-युग की अपेक्षा मध्य व नूतन प्रस्तर-युग के समझे जाने चाहियें, क्योंकि वहाँ के औजार जहाँ अधिक परिष्कृत हैं, वहाँ साथ ही मिट्टी के बरतनों के टुकड़े भी प्रचुर संख्या में वहाँ मिलते हैं। (८) सिन्ध में सक्खर और रोहड़ी के क्षेत्र में पत्थर के बहुत-से औजार मिले हैं, जो मध्य प्रस्तर युग के हैं। इन औजारों की मोहनजोदड़ो में प्राप्त प्राचीनतम औजारों से बहुत अधिक समता है। सम्भवतः, मोहनजोदड़ो की समुन्नत सभ्यता का विकास उन्हीं लोगों द्वारा हुआ था, जिनके अधिक पुराने औजार सक्खर और

रोहड़ी के क्षेत्र में पाये गए हैं। (६) काश्मीर रियासत में श्रीनगर के दक्षिण-पूर्व में स्थित पाम्पूर से चार मील की दूरी पर साम्बुर नामक स्थान पर पत्थर के अनेक औजार मिले हैं, जिन्हें इस युग का माना जाता है। (१०) रावलपिण्डी के दक्षिण में चिट्टा नामक स्थान पर इस युग के न केवल औजार मिले हैं, अपितु साथ ही उन मनुष्यों के अनेक अस्थिपंजर व उनके खण्ड भी प्राप्त हुए हैं, जो इन औजारों को प्रयुक्त करते थे। इन अस्थिपंजरों की खोपड़ियों के अवलोकन से ज्ञात होता है, कि इन मनुष्यों के सिर आकार में लम्बे होते थे। औजारों और अस्थिपंजरों के साथ-साथ मिट्टी के बरतनों के अवशेष भी मिले हैं, जिनके कारण इन सबको मध्य प्रस्तर युग का माना जाता है।

नूतन प्रस्तर युग के अवशेष—नूतन प्रस्तर युग में मनुष्य शिकारी के स्थान पर कृषक और पशुपालक बनकर किसी निश्चित स्थान पर बस जाता है, और धीरे-धीरे ग्रामों और नगरों का विकास प्रारम्भ करता है। वह मकानों में रहने लगता है, और वस्त्र-आभूषणों से सुसज्जित होकर अपना जीवन व्यतीत करता है। पश्चिमी एशिया के अनेक प्रदेशों में इस युग के बहुत-से महत्त्वपूर्ण अवशेष मिले हैं, जिनसे इस काल के मनुष्य की सभ्यता के सम्बन्ध में विशदरूप से प्रकाश पड़ता है। पर भारत में अभी नूतन प्रस्तर युग के जो अवशेष प्राप्त हुए हैं, वे बहुत महत्त्व के नहीं हैं। फिर भी उन अवशेषों का निर्देश करना आवश्यक है, जिन्हें इस युग का माना जाता है—

(१) माइसूर राज्य के चित्तलद्रुग क्षेत्र में चन्द्रबल्ली और ब्रह्मगिरि नामक स्थानों पर खुदाई द्वारा नूतन प्रस्तर युग के अनेक अवशेष मिले हैं। इनमें चन्द्रबल्ली की खुदाई विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। उसमें सबसे उपरली सतह पर सातवाहन-काल के अवशेष पाये गए हैं, उसके नीचे मौर्य-काल के और उसके भी नीचे लौहकाल के अवशेष मिले हैं। ये लौहकाल के अवशेष किस समय के हैं, यह अभी निश्चित नहीं किया जा सका है। लौह-काल के अवशेषों के नीचे, जमीन से कोई बारह फीट नीचे नूतन प्रस्तर-युग के औजार व मिट्टी के बरतन पाये गए हैं। मिट्टी के बरतन रंग में लाल व काले हैं, और मध्य प्रस्तर युग के हाथ से बनाये गए बरतनों की अपेक्षा बहुत अधिक परिष्कृत व सुडौल हैं।

(२) दक्षिणी भारत में बेल्लौरी नामक स्थान पर नूतन प्रस्तर युग के अनेक अवशेष उपलब्ध हुए हैं, जिन्हें बहुत महत्त्वपूर्ण समझा जाता है। बेल्लारी के प्राचीनतम अवशेष सक्खर और रोहड़ी (सिन्ध) में प्राप्त मध्य प्रस्तर युग के अवशेषों से समता रखते हैं। पर वहाँ के बाद के अवशेष विशुद्ध रूप से नूतन प्रस्तर युग के हैं। बेल्लारी के ये अवशेष इस समय मद्रास म्यूजियम में सुरक्षित हैं।

(३) काश्मीर में गान्धरबल के समीप नूनर नामक स्थान पर खुदाई करने से नूतन प्रस्तर-युग के अवशेष मिले हैं। काश्मीर का बुर्जहोम नामक स्थान गान्धरबल के समीप ही है। उसकी खुदाई में ऊपर की सतहों में मिट्टी के जो बरतन व पत्थर के औजार मिले हैं, वे बहुत परिष्कृत व उन्नत हैं। इसी कारण उन्हें नूतन प्रस्तर युग का माना जाता है।

(४) उत्तरप्रदेश के मिरजापुर जिले में जहाँ इस युग के अनेक औजार मिले हैं,

वहाँ साथ ही बहुत-से अस्थिपंजर भी प्राप्त हुए हैं। इनके अतिरिक्त अनेक ऐसे कलश (मिट्टी के बने हुए) भी इस क्षेत्र में मिले हैं, जिनमें मृत शरीरों के भस्म रखे गए थे। मिरजापुर के समीप ही विन्ध्याचल की पर्वतशृंखला में कुछ ऐसी गुफाएँ भी मिली हैं, जिनमें इस युग के मनुष्यों के बनाये हुए चित्र अंकित हैं।

धातुओं के उपयोग का प्रारम्भ होने से पूर्व भारत में एक ऐसा युग था, जब इस देश के बड़े भाग में नूतन प्रस्तर-युग की सभ्यता विद्यमान थी। यद्यपि इस युग के अवशेष भारत में उतनी प्रचुरता से उपलब्ध नहीं हुए हैं, जितने कि पश्चिमी एशिया के विविध क्षेत्रों में मिले हैं, तथापि इस सभ्यता की सत्ता में कोई सन्देह नहीं है। अब से कोई दस हजार साल पहले यह सभ्यता भली-भाँति विकसित हो चुकी थी, और बाद में धातुओं का उपयोग शुरू होने पर यही सभ्यता धातु-युग में परिवर्तित हो गई। सिन्ध नदी की घाटी में मोहनजोदड़ो और हड़प्पा में जिस प्राचीन समुन्नत सभ्यता के अवशेष मिले हैं, वे इसी नूतन प्रस्तर-युग की सभ्यता का विकसित रूप है, यद्यपि उस काल में कांसे और ताम्बे का प्रयोग भली-भाँति शुरू हो गया था।

नूतन प्रस्तर युग का जीवन—पुरातन प्रस्तर-युग में, जबकि मनुष्य किसी एक स्थान पर स्थिर रूप से निवास नहीं करता था, सभ्यता के क्षेत्र में अधिक उन्नति हो सकना सम्भव नहीं था। पर जब मनुष्य ने बस्तियाँ बसाकर एक स्थान पर रहना शुरू किया, और शिकार के बजाय कृषि और पशु-पालन द्वारा जीवन-निर्वाह करना प्रारम्भ किया, तो सभ्यता के मार्ग पर वह बड़ी तेजी के साथ आगे बढ़ने लगा। यही कारण है, कि नूतन प्रस्तर युग का मानव-इतिहास में बहुत अधिक महत्त्व है।

कृषि और पशुपालन का आश्रय लेकर मनुष्य ने पहले-पहल किस प्रदेश में अपनी स्थायी बस्तियाँ बसानी शुरू कीं, इस विषय पर सब विद्वान् एकमत नहीं हैं। पर बहुसंख्यक विद्वानों का यह विचार है, कि नूतन प्रस्तर-युग का प्रारम्भ पश्चिमी एशिया में हुआ। एशिया माइनर, ट्रांस-काकेशिया, ईरान, तुर्किस्तान और अफगानिस्तान ऐसे प्रदेश हैं, जहाँ जौ प्राकृतिक रूप में उत्पन्न होता है। ईराक और पश्चिमी ईरान में वह अनाज भी प्राकृतिक रूप से उत्पन्न होता था, जो आगे चलकर गेहूँ के रूप में विकसित हुआ। इस दशा में यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि पश्चिमी एशिया के इन प्रदेशों में विचरण करने वाले पुरातन प्रस्तर युग के मनुष्य इस बात के लिए प्रवृत्त हों, कि इन अनाजों को एकत्र कर उन्हें भोजन के लिए प्रयुक्त करें। क्योंकि इन प्रदेशों में ये अन्न प्राकृतिक रूप में उत्पन्न होते थे, अतः यहीं पर उनकी खेती करने की प्रवृत्ति भी मनुष्य में उत्पन्न हुई। शुरू में मनुष्य किसी एक स्थान पर स्थिर रूप से खेती नहीं करता था। जिन खेतों में वह इस साल खेती करता, उन्हें अगले साल परता छोड़ देता था। उस युग में जनसंख्या कम थी, और ज़मीन बहुत अधिक थी। इस दशा में प्रतिदिन शिकार की आवश्यकता नहीं थी। वह जब चाहे अपने पालतू पशुओं को भोजन के लिए प्रयुक्त कर सकता था। साथ ही, वह इन पशुओं के दूध, खाल व ऊन को भी अनेक प्रकार के कार्यों के लिए उपयोग में ला सकता था।

मनुष्य ने पुरातन प्रस्तर-युग से आगे बढ़कर किस प्रकार नूतन प्रस्तर-युग में

प्रवेश किया, इसका उत्तम उदाहरण पैलेस्टाइन में उपलब्ध हुआ है। पैलेस्टाइन में वादी-एल-नतफ नाम का एक स्थान है, जहाँ पर किसी प्राचीन सभ्यता के अवशेष प्राप्त हुए हैं। इस सभ्यता के लोग गुफाओं में निवास करते थे, और शिकार द्वारा अपना आहार प्राप्त करते थे। वादी-एल-नतफ की इन प्राचीन गुफाओं में जहाँ शिकार के लिए प्रयुक्त होने वाले पत्थर और हड्डी के औजार मिले हैं, वहाँ साथ ही ऐसी दरांतियाँ भी मिली हैं, जो अनाज काटने के लिए प्रयुक्त होती थीं। खेती के लिए काम आ सकने वाले अन्य भी अनेक प्रकार के उपकरण यहाँ मिले हैं, जो पत्थर व हड्डी के ही बने हुए हैं। अनाज को कूट कर आटा बनाने के उपकरण भी यहाँ उपलब्ध हुए हैं। प्राचीन युग के इन अवशेषों से यह भली-भाँति अनुमान किया जा सकता है, कि वादी-एल-नतफ की गुफाओं में निवास करने वाले लोग शिकार के साथ-साथ कृषि में भी प्रवृत्त हो रहे थे, और धीरे-धीरे उस सभ्यता की ओर अग्रसर हो रहे थे, जिसे हम नूतन प्रस्तर-युग की सभ्यता कहते हैं। वादी-एल-नतफ के इन अवशेषों को कम-से-कम ५००० ई० पू० का माना जाता है।

ईराक, पैलेस्टाइन, मिस्र, ईरान आदि पश्चिमी एशिया के देशों में नूतन प्रस्तर-युग के अवशेष बहुत बड़ी संख्या में मिले हैं। फ्रांस, स्विट्जरलैण्ड आदि यूरोपियन देशों में भी इस युग के अवशेष इस दशा में उपलब्ध हुए हैं, कि उनसे इस काल के मनुष्यों का जीवन भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है। भारत के मुकाबले में इन देशों के नूतन प्रस्तर-युग के अवशेष बहुत अधिक पूर्ण दशा में हैं। यहाँ यह सम्भव नहीं है, कि हम इनका अधिक विस्तार से उल्लेख करें। पर इनके अध्ययन से इस युग की सभ्यता का जो स्वरूप हमारे सम्मुख आता है, उसका संक्षेप से निदर्शन करना उपयोगी होगा, क्योंकि भारत का नूतन प्रस्तर-युग भी पश्चिमी संसार के इस युग के सदृश ही था।

नूतन प्रस्तर-युग के मनुष्य की आजीविका के मुख्य साधन कृषि और पशुपालन थे। खेती के लिए वह पत्थर के औजारों का प्रयोग करता था। उसके हल, दरांती, कुल्हाड़े, हथौड़े आदि सब उपकरण पत्थर के बने होते थे। शुरू में वह स्वयं अपने हाथ से जमीन खोदता था, पर समयान्तर में उसने यह जान लिया था, कि बैलों व घोड़ों का प्रयोग हल चलाने के लिए किया जा सकता है। नूतन प्रस्तर-युग के अन्तिम दिनों तक मनुष्य न केवल हल के लिए बैलों व घोड़ों का प्रयोग करने लगा था, अपितु गाड़ी चलाने के लिए भी इन पशुओं का उपयोग जान गया था। उसकी गाड़ियाँ लकड़ी की बनी होती थीं। पत्थर के बने औजारों से वह लकड़ी काटता था, और उन्हीं की सहायता से हल, गाड़ी आदि का निर्माण करता था। अब उसके निवास-स्थान गुफाएँ और खाल के बने तम्बू न होकर, लकड़ी, पत्थर व मिट्टी के बने मकान हो गये थे। जिन प्रदेशों में लकड़ी, फूँस आदि की सुविधा थी, वहाँ वह लकड़ी के मकान बनाता था। अन्य स्थानों पर कच्ची मिट्टी या पत्थर मकान बनाने के काम में लाये जाते थे। उसके गाँव छोटे-छोटे होते थे। यूरोप और पश्चिमी एशिया में नूतन प्रस्तर-युग के गाँवों के जो अवशेष मिले हैं, उनका रकबा १॥ एकड़ से ५॥ एकड़ तक है। इन अवशेषों के अध्ययन से प्रतीत होता है, कि एक गाँव में प्रायः २५ से लगाकर ३५ तक मकान रहते थे। इन मकानों में अनाज को जमा करने के लिए बड़े-बड़े गोदाम बनाये जाते थे। अनाज के ये गोदाम कच्ची मिट्टी के बने होते थे।

भारत के वर्तमान गाँवों में भी इस प्रकार के गोदाम विशेष महत्त्व रखते हैं और प्रत्येक किसान के घर में उनकी सत्ता अनिवार्य होती है। पुरातन प्रस्तर-युग के गाँवों में सामूहिक जीवन की भी सत्ता थी। पश्चिमी यूरोप और बालकन प्रायद्वीप में उपलब्ध हुए इस युग के गाँवों के अवशेषों से यह सूचित होता है, कि बहुत-से गाँवों के चारों ओर खाई व मिट्टी की मोटी दीवार भी बनाई गई थी। इस क़िलाबन्दी का प्रयोजन सम्भवत: शत्रुओं से अपनी रक्षा करना होता था। ये खाइयाँ, दीवारें और गाँव के बीच की सड़कें व गलियाँ किसी एक व्यक्ति की सम्पत्ति न होकर सारे गाँव की सम्मिलित सम्पत्ति होती थीं, और उनका निर्माण भी ग्राम-निवासियों के सामूहिक प्रयत्न द्वारा ही होता था। इस दशा में यह सर्वथा स्वाभाविक है, कि गाँव के लोगों में एक प्रकार का संगठन भी विद्यमान हो। पुरातन प्रस्तर-युग में मनुष्य शिकार के लिए टोलियाँ बनाकर विचरण करते थे। ये टोलियाँ ही इस नूतन प्रस्तर युग में ग्रामों के रूप में बस गयी थीं। इन टोलियों का संगठन इस युग में और भी अधिक विकसित हो गया था। शिकारी टोली का मुखिया अब ग्राम का नेता या 'ग्रामणी' बन गया था। यह ग्रामणी सम्पूर्ण ग्रामवासियों पर एक प्रकार का शासन रखता था, यह सहज में कल्पित किया जा सकता है।

मिट्टी के बरतन बनाने की कला मध्य प्रस्तर-युग में ही प्रारम्भ हो चुकी थी। नूतन प्रस्तर-युग में उसने बहुत उन्नति की। पहले बरतन हाथ से बनाये जाते थे, अब कुम्हार के चाक का आविष्कार हुआ, और चाक (चक्र) का उपयोग कर सुन्दर व सुडौल बरतन बनने लगे। इन बरतनों पर अनेक प्रकार की चित्रकारी भी शुरू की गयी, और बरतनों को सुन्दर रंगों द्वारा सुशोभित करने की कला का भी विकास हुआ। ये बरतन आग में पकाये जाते थे, और इनके बहुत-से अवशेष नूतन प्रस्तर-युग के खंडहरों में उपलब्ध हुए हैं। सभ्यता के विकास के साथ-साथ नूतन प्रस्तर-युग के मनुष्यों में श्रम-विभाग का भी प्रारम्भ हुआ। अतिप्राचीन युग में श्रम-विभाग का प्राय: अभाव था। उस समय यदि कोई श्रम-विभाग था, तो वह पुरुषों और स्त्रियों में था। पुरुष प्राय: शिकार करते थे, और स्त्रियाँ जंगली अनाज को एकत्र कर उसका उपयोग करती थीं। पर अब नूतन प्रस्तर-युग में बढ़ई, कुम्हार आदि के रूप में ऐसे शिल्पियों की पृथक् श्रेणियाँ विकसित होनी शुरू हुईं, जो खेती न करके शिल्प द्वारा ही अपनी आजीविका कमाते थे।

नूतन प्रस्तर-युग में व्यापार की भी उन्नति हुई। एक ग्राम में रहने वाले लोग परस्पर अपनी वस्तुओं का विनिमय करते थे। बढ़ई या कुम्हार अपने शिल्प द्वारा तैयार की गई वस्तु के बदले में किसान से अनाज प्राप्त करता था। उस युग में वस्तुओं के विनिमय के लिये मुद्रा (सिक्के) की आवश्यकता नहीं थी। मुद्रा के अभाव में भी लोग अपनी वस्तुओं का विनिमय करने में समर्थ होते थे। व्यापार का क्षेत्र केवल ग्राम ही नहीं था, सुदूरवर्ती ग्राम आपस में भी व्यापार किया करते थे। यूरोप और पश्चिमी एशिया के भग्नावशेषों में अनेक ऐसी वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं, जो उस प्रदेश में उत्पन्न ही नहीं हो सकती थीं, और जिन्हें अवश्य किसी सुदूरवर्ती प्रदेश से व्यापार द्वारा प्राप्त किया गया था। यह विदेशी व 'अन्तर्राष्ट्रीय' व्यापार केवल विशिष्ट वस्तुओं के लिये होता था। वैसे प्रत्येक गाँव अपनी आवश्यकताओं को स्वयं पूर्ण करने का प्रयत्न करता था।

उस युग में मनुष्य की आवश्यकताएँ बहुत कम थीं, और उन्हें अपने प्रदेश से ही पूरा कर सकना सर्वथा सम्भव था।

वस्त्र-निर्माण—वस्त्र बनाने की कला में भी इस युग में अच्छी उन्नति हुई। ऊन और रेशम के वस्त्र मध्य प्रस्तर-युग में ही शुरू हो चुके थे। अब उनका निर्माण करने के लिये बाकायदा तकुओं और खड्डियों का प्रारम्भ हुआ। तकुए पर सूत कात कर उसे खड्डी पर बुना जाता था, और नूतन प्रस्तर-युग का मनुष्य सरदी-गरमी से बचने के लिए पशु-चर्म के वस्त्रों पर आश्रित न रहकर ऊन और रेशम के सुन्दर वस्त्रों को धारण करता था। वस्त्र के निर्माण के लिए कपास का प्रयोग इस युग में प्रारम्भ हुआ था या नहीं, यह विषय अभी संदिग्ध है।

धातु-युग का प्रारम्भ—नूतन प्रस्तर-युग के बाद धातु-युग का प्रारम्भ हुआ। नूतन प्रस्तर-युग का मनुष्य आग का उपयोग करता था, और मिट्टी के बरतन पकाने के लिये व भोजन बनाने के लिए वह भट्टियों व चूल्हों का निर्माण करता था। ये भट्टियाँ प्रायः पत्थर की बनी होती थीं। अनेक पत्थरों में धातु का अंश पर्याप्त मात्रा में होता है। आग के ताप से ये धातुमिश्रित पत्थर पिघल जाते थे, और उनसे चमकीली धातु अलग हो जाती थी। धीरे-धीरे मनुष्य ने यह मालूम किया, कि यह धातु औजार बनाने के लिए अधिक उपयुक्त है। क्योंकि इसे न केवल पिघलाया ही जा सकता है, अपितु ठोक-पीट कर अभीष्ट आकार में भी लाया जा सकता है। सम्भवतः, सबसे पहले मनुष्य ने सोने का प्रयोग शुरू किया, क्योंकि अनेक स्थलों पर सोना प्राकृतिक रूप में भी पाया जाता है। पर सोना इतनी अधिक मात्रा में नहीं मिलता था, कि उसका उपयोग औजार बनाने के लिए किया जा सके। सम्भवतः, मनुष्य इस धातु का उपयोग केवल आभूषण बनाने के लिए ही करता था। पर समयान्तर में उसे ताम्बे, ब्रोंज और लोहे का ज्ञान हुआ, और इन धातुओं का प्रयोग उसने औंजार बनाने के लिए शुरू किया। उत्तरी भारत में ताम्बे के और दक्षिण भारत में लोहे के औजार बनाये जाने लगे। पश्चिमी भारत के कुछ प्रदेशों (सिन्ध और बिलोचिस्तान) में ताम्बे से पहले ब्रोंज का प्रयोग शुरू हुआ। ब्रोंज एक मिश्रित धातु होती है, जो ताम्बे और टिन के मिश्रण से बनती है। न केवल सिन्ध और बिलोचिस्तान में, अपितु पाश्चात्य संसार के भी अनेक देशों में मनुष्य ने ताम्बे से पहले ब्रोंज का उपयोग शुरू किया था। इसी कारण नूतन प्रस्तर-युग के बाद मानव-सभ्यता का जो युग शुरू हुआ, उसे ब्रोंज-युग कहते हैं। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए, कि धातु का उपयोग शुरू होने से मनुष्य की सभ्यता में कोई आकस्मिक व महान् परिवर्तन नहीं आ गया। जो काम पहले मनुष्य पत्थर के औजारों से करता था, वही अब धातु के औजारों से होने लगा। इसमें सन्देह नहीं, कि धातु के बने औजार पत्थर के औजारों की अपेक्षा अधिक सुडौल व उपयोगी होते थे, और मनुष्य उनकी सहायता से कृषि व शिल्प को अधिक अच्छी तरह से कर सकता था। पर नूतन प्रस्तर-युग में ही मनुष्य ने उस उन्नत सभ्यता का प्रारम्भ कर दिया था, जो धातु-युग में जारी रही। अन्तर केवल इतना आया, कि कृषि, शिल्प आदि का अनुसरण अब मनुष्य के लिए अधिक सुगम हो गया, और धातु के बने उपकरणों से मनुष्य अपना कार्य अधिक अच्छी तरह से करने लगा।

सिन्ध और बिलोचिस्तान के जो प्रदेश आजकल रेगिस्तान व उजाड़ हैं, किसी प्राचीन युग में वे एक अच्छी उन्नत सभ्यता के केन्द्र थे। इन प्रदेशों में खोज द्वारा ताम्र-युग की सभ्यता के बहुत-से भग्नावशेष उपलब्ध हुए हैं। नूतन प्रस्तर-युग के ग्रामों और बस्तियों के जिस प्रकार के अवशेष पश्चिमी एशिया व यूरोप में बड़ी संख्या में मिले हैं, उसी ढंग के ताम्र-युग के अवशेष सिन्ध और बिलोचिस्तान के अनेक प्रदेशों में भी उपलब्ध हुए हैं। इस युग के मनुष्य बस्तियों में रहते थे, मकानों का निर्माण करते थे, कृषि और पशु-पालन द्वारा अपना निर्वाह करते थे, मिट्टी के बने हुए सुन्दर व सुडौल बरतनों का उपयोग करते थे, और ताम्र के बने सुन्दर औजारों को कृषि, शिल्प व युद्ध के लिए प्रयुक्त करते थे। बरतनों और औजारों की रचना के भेद को दृष्टि में रख कर इन प्रदेशों में उपलब्ध हुए भग्नावशेषों को निम्नलिखित भागों में विभक्त किया गया है—

(१) क्वेटा-सभ्यता (बोलान दर्रे में उपलब्ध अवशेषों के आधार पर)

(२) अमरी-नल-सभ्यता (सिन्ध में अमरी नामक स्थान पर और बिलोचिस्तान के नल-घाटी में उपलब्ध अवशेषों के आधार पर)

(३) कुल्ली सभ्यता (दक्षिणी बिलोचिस्तान के कोलवा नामक स्थान में प्राप्त अवशेषों के आधार पर)

(४) झोब-सभ्यता (उत्तरी बिलोचिस्तान की झोब-घाटी में उपलब्ध अवशेषों के आधार पर)

इन चारों सभ्यताओं पर हम क्रमशः संक्षिप्त रूप से प्रकाश डालने का यत्न करेंगे।

क्वेटा-सभ्यता—भारत की ताम्र-युग की सभ्यताओं में क्वेटा-सभ्यता सबसे अधिक प्राचीन हैं। बोलान के दर्रे में क्वेटा के समीप पाँच ऐसे खेड़े (गाँव, बस्ती या शहर के खंडहरों के कारण ऊँचे उठे हुए प्रदेश) मिले हैं, जो इस सभ्यता के भग्नावशेषों को सूचित करते हैं। इनमें सबसे बड़े खेड़े का व्यास २०० गज के लगभग है, और यह खेड़ा ४५ फीट से ५० फीट तक ऊँचा हैं। यह खेड़ा एक प्राचीन बस्ती को सूचित करता है। इस बस्ती के मकान मिट्टी या मिट्टी की ईंटों के बने हुए थे। ये ईंटें आग से पकायी गई थीं, इन खेड़ों में जो बरतन मिले हैं, वे मिट्टी को पकाकर बनाये गए थे और उन पर अनेक प्रकार से चित्रकारी की गई थी। इस चित्रकारी में पशुओं व अन्य जन्तुओं के चित्रों का सर्वथा अभाव है। गोल व तिर्यक् रेखाओं द्वारा ही इन बरतनों को सुशोभित करने का प्रयत्न किया गया है। इस ढंग के बरतनों के अवशेष ईरान में भी अनेक स्थानों पर उपलब्ध हुए हैं। क्वेटा-सभ्यता के अवशेषों में सामग्री की इतनी कमी है, कि उनके आधार पर इस सभ्यता के सम्बन्ध में अधिक जानकारी प्राप्त नहीं की जा सकी है।

अमरी-नल-सभ्यता—इस सभ्यता के अवशेष सिन्ध और बिलोचिस्तान में बहुत-से स्थानों पर उपलब्ध हुए हैं। इन अवशेषों के कारण जो बहुत-से खेड़े इस क्षेत्र में मिलते हैं, उनका आकार क्वेटा-सभ्यता की अपेक्षा अधिक बड़ा है। उदाहरणार्थ, रकशां नामक प्रदेश का एक खेड़ा लम्बाई में ५३० गज और चौड़ाई में ३६० गज है। बंधनी नामक स्थान पर विद्यमान एक अन्य खेड़ा ४०० गज लम्बा और २३० गज चौड़ा है। इससे

सूचित होता है, कि अमरी-नल-सभ्यता की कतिपय बस्तियाँ आकार में अधिक विशाल थीं, पर बहुसंख्यक बस्तियाँ क्वेटा-सभ्यता की बस्तियों के सदृश ही छोटी-छोटी थीं। इन बस्तियों में से कुछ के चारों ओर परिखा और दीवार के चिह्न भी मिले हैं। ये दीवारें मिट्टी की ईंटों द्वारा बनायी गई थीं, यद्यपि इनके आधार में मजबूती के लिए पत्थरों का भी उपयोग किया गया था। इस सभ्यता की एक बस्ती तो ऐसी भी मिली है, जिसके चारों ओर दो दीवारें थीं, और दोनों दीवारों के बीच में २५० फीट का अन्तर रखा गया था। इन दीवारों के निर्माण के लिए कच्ची मिट्टी की जिन ईंटों का प्रयोग किया गया था, वे लम्बाई में २१ इंच, चौड़ाई में १० इंच और ऊँचाई में ४ इंच है। बस्ती के चारों ओर की दीवार के लिए ही नहीं, अपितु मकानों के निर्माण के लिए भी इसी ढंग की ईंटों का प्रयोग किया गया था।

अमरी-नल-सभ्यता के भग्नावशेषों की जो खुदाई हुई है, उससे उन मकानों के सम्बन्ध में भी अनेक महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं, जो इस सभ्यता की बस्तियों में विद्यमान थे। मकानों का आकार प्रायः ४० फीट लम्बा व ४० फीट चौड़ा होता था। मकान के अन्दर अनेक छोटे-बड़े कमरे होते थे, जिनमें से कुछ १५ × १५ फीट, कुछ १५ × १० फीट और कुछ ८ × ५ फीट होते थे। मकान के बीच में सहन भी रखा जाता था। मकान प्रायः कच्ची मिट्टी की ईंटों के बने होते थे, यद्यपि किसी-किसी खेड़े में ऐसे मकानों के अवशेष भी मिले हैं, जिनमें ईंटों के साथ-साथ पत्थर का भी प्रयोग किया गया है। मकानों में दरवाजे और खिड़कियाँ भी होती थीं, और इनके भी कतिपय अवशेष खुदाई द्वारा उपलब्ध हुए हैं। एक मकान और दूसरे मकान के बीच में गली छोड़ दी जाती थी, जिसकी चौड़ाई २।। फीट से ८ फीट तक होती थी। ऐसा प्रतीत होता है, कि अमरी-नल-सभ्यता की बस्तियों में मकानों का निर्माण बहुत अच्छे ढंग से और एक निश्चित योजना के अनुसार किया जाता था।

इस सभ्यता के खेड़ों की खुदाई द्वारा अनेक स्थानों पर कबरिस्तान भी उपलब्ध हुए हैं। एक खेड़े के कबरिस्तान में १०० के लगभग अस्थिपंजर मिले हैं, जिनसे यह कल्पना सहज में की जा सकती है, कि ऐसे खेड़े द्वारा सूचित होने वाली बस्ती में मनुष्य अच्छी बड़ी संख्या में निवास करते थे। अमरी-नल-सभ्यता के मनुष्य अपने शवों को जमीन में गाड़ते थे, और इसके लिए बाकायदा कबरों का निर्माण करते थे। उनकी कबरें ईंटों व पत्थरों द्वारा बनायी जाती थीं। कबर में शव को रखने के साथ-साथ उन वस्तुओं को भी रख दिया जाता था, जिनका उपयोग मृत मनुष्य अपने जीवन-काल में करता था। यही कारण है, कि कबरों में अस्थिपंजर के साथ मिट्टी के बरतन, आभूषण, औजार व इसी प्रकार की अन्य वस्तुएँ भी प्राप्त हुई हैं। कहीं-कहीं बरतनों में पशुओं की हड्डियाँ भी मिली हैं। सम्भवतः शव के साथ बरतन में मांस भी रख दिया गया था, जिसकी हड्डियाँ अबतक सुरक्षित रूप से विद्यमान हैं। ये हड्डियाँ प्रायः भेड़ व बकरी की हैं। इन कबरों में जो औजार मिले हैं, वे प्रायः ताम्बे के बने हुए हैं। इससे सूचित होता है, कि अमरी-नल-सभ्यता के लोग धातु के प्रयोग से भली-भाँति परिचित हो गए थे। कबरों में प्राप्त हुए आभूषण मुख्यतया ताम्बे, शंख कौड़ी व मिट्टी के बने हुए हैं। इनके

अतिरिक्त, मूँगे आदि की बनी हुई मालाएँ भी कहीं-कहीं इस सभ्यता के कब्रिस्तानों में मिली हैं।

अमरी-नल-सभ्यता के भग्नावशेषों में जो बरतन और उनके टुकड़े मिले हैं, वे सुन्दर, सुडौल व परिष्कृत हैं। उन पर अनेक प्रकार की चित्रकारी की गयी है। बरतनों को चित्रित करने के लिए केवल गोल, अर्धचन्द्राकार व तिरछी रेखाओं का ही प्रयोग नहीं किया गया, अपितु पौदों और पशुओं की आकृतियों का भी प्रयोग किया गया है। इनमें बैल, बारासिंगा और मछली का प्रयोग विशेष रूप से हुआ है।

कुल्ली-सभ्यता—दक्षिणी बिलोचिस्तान के कोलवा-प्रदेश में इस युग की प्राचीन सभ्यता के जो अनेक भग्नावशेष मिले हैं, उन्हें कुल्ली-सभ्यता कहते हैं। इसकी बस्तियों में भवन-निर्माण के लिए पत्थरों का उपयोग प्रचुरता से होता था। पत्थरों को परस्पर जोड़ने के लिए मिट्टी के गारे का उपयोग किया जाता था। पत्थर के अतिरिक्त मिट्टी की कच्ची ईंटें भी मकान बनाने के लिए प्रयुक्त होती थीं, जिनका आकार १६ × १० × ३ इंच होता था। ऐसा प्रतीत होता है, कि कुल्ली-सभ्यता के मकानों के फरश बनाने के लिए लकड़ी का भी प्रयोग किया जाता था। ऐसे फरशों के कुछ अवशेष कुल्ली के खेड़े में दृष्टिगोचर हुए हैं। इस सभ्यता के मकानों के कमरे आकार में कुछ छोटे होते थे। कुल्ली में कमरों का आकार १२ × ८ और ८ × ६ फीट का था। यहाँ के मकान एक से अधिक मंजिल के थे, इसीलिए कहीं-कहीं ऊपर की मंजिल में जाने के लिए बनायी गयी पत्थर की सीढ़ी के अवशेष भी मिले हैं।

अमरी-नल-सभ्यता के समान कुल्ली सभ्यता के बरतन भी सुन्दर और सुडौल होते थे। उन पर चित्रकारी के लिए वनस्पति और पशुओं की आकृतियों का प्रयोग किया जाता था। ककुद् से युक्त बैल इन आकृतियों में विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

कुल्ली-सभ्यता के अवशेषों में पशुओं और स्त्रियों की छोटी-छोटी मूर्तियाँ प्रचुर संख्या में मिली हैं। ये मूर्तियाँ मिट्टी की बनी हुई हैं, और बरतनों के समान उन्हें भी आग में पकाया गया है। इन मूर्तियों के निर्माण का क्या प्रयोजन था, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। पशुओं की कतिपय मूर्तियों में पैरों के नीचे पहिये लगाने के भी निशान पाये जाते हैं। इससे अनुमान किया गया है, कि ये पशु-मूर्तियाँ बच्चों के खिलौने के रूप में बनायी गई होंगी। कुछ पक्षी-मूर्तियाँ ऐसी भी मिली हैं, जिनकी पूँछ से सीटी बजाने का काम लिया जाता था। कुल्ली-सभ्यता की स्त्री-मूर्तियाँ कुछ अद्भुत प्रकार की हैं, उनमें स्त्री-शरीर केवल कमर तक बनाया गया है, और मुख को बहुत बेडौल कर दिया गया है। पर इन सबमें आभूषणों और केश-कलाप को बहुत स्पष्ट रूप से प्रदर्शित किया गया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है, कि कुल्ली-सभ्यता की स्त्रियाँ अपने केशों को किस ढंग से संवारती थीं, और किस प्रकार के आभूषणों का प्रयोग करती थीं। उनके आभूषणों में चूड़ियों की बहुलता होती थी, जिन्हें वे हाथों पर कुहनियों तक व उससे भी ऊपर तक पहना करती थीं।

कुल्ली-सभ्यता के अन्यतम स्थान मही में पत्थर के बने हुए कुछ सुन्दर बरतन

मिले हैं, जो सम्भवतः शृंगार-प्रसाधन की वस्तुओं को रखने के काम में आते थे। ये बरतन न केवल अत्यन्त परिष्कृत हैं, पर साथ ही इनमें अनेक छोटे-छोटे व सुन्दर खाने भी बनाये गए हैं। इन बरतनों को बाहर की ओर से चित्रित भी किया गया है।

मही में ही एक कबरिस्तान भी मिला है, जो अनेक दृष्टियों से अत्यन्त महत्त्व का है। यहाँ से ताम्बे के अनेक उपकरण मिले हैं, जिनमें ताम्बे का बना हुआ दर्पण विशेषरूप से उल्लेखनीय है। यह दर्पण आकार में वर्तुल है, और इसका व्यास ५ इंच है। दर्पण के हत्थे को स्त्री-आकृति के समान बनाया गया है, जिसके हाथ और छातियाँ बड़े सुन्दर रूप से बनायी गयी हैं। स्त्री-आकृति में सिर नहीं रखा गया है। जब कोई महिला इस दर्पण में अपने मुख को देखती होगी, तो हत्थे की स्त्री-आकृति की सिर की कमी पूरी हो जाती होगी। इस प्रकार का सुन्दर दर्पण प्राच्य संसार के पुरातन अवशेषों में अन्यत्र कहीं भी नहीं मिला है।

कुल्ली-सभ्यता के बरतनों और पश्चिमी एशिया (ईरान और एलम) के बरतनों तथा उनके चित्रण में बहुत समता है। कुल्ली के बरतनों पर प्रकृति (वृक्ष, बनस्पति आदि) के बीच में पशुओं को चित्रित किया गया है। यही शैली ईराक व पश्चिमी ईरान के इस युग के बरतनों को चित्रित करने के लिए अपनायी गई है। कुल्ली-सभ्यता और पश्चिमी एशिया के बरतनों में यह असाधारण समता ध्यान देने योग्य है। इसी प्रकार जिस ढंग के पत्थर के सुन्दर व छोटे आकार के बरतन कुल्ली-सभ्यता के अवशेषों में मिले हैं, ठीक वैसे ही पत्थर के बरतन पश्चिमी एशिया के अनेक भग्नावशेषों में भी उपलब्ध हुए हैं। इन समताओं को दृष्टि में रखकर विद्वानों ने यह अनुमान किया है, कि कुल्ली-सभ्यता और पश्चिमी एशिया की सभ्यताओं में घनिष्ठ सम्बन्ध था और इनके व्यापारी एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में व्यापार के लिए आया-जाया करते थे। पश्चिमी एशिया के इस युग के भग्नावशेषों में भी बिलोचिस्तान के भारतीय व्यापारियों की विद्यमानता के अनेक प्रमाण मिले हैं।

झोब-सभ्यता—उत्तरी बिलोचिस्तान में झोब नदी की घाटी में ताम्र-युग की सभ्यता के अनेक भग्नावशेष मिले हैं, जिनमें रनघुण्डई का खेड़ा सबसे अधिक प्रसिद्ध है। यह खेड़ा ४० फीट ऊँचा है, और इसकी विविध सतहों में झोब-सभ्यता के विकास की प्रक्रिया स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। यहाँ यह सम्भव नहीं है, कि हम रनघुण्डई के खेड़े की विविध सतहों में प्राप्त हुई सामग्री का संक्षेप के साथ भी उल्लेख कर सकें। यहाँ इतना निर्देश कर देना ही पर्याप्त होगा, कि रनघुण्डई व अन्यत्र प्राप्त झोब-सभ्यता के अवशेषों से सूचित होता है, कि यह सभ्यता भी अमरी-नल और कुल्ली-सभ्यता के समान अच्छी उन्नत थी। इसके मकान मिट्टी की कच्ची ईंटों के बने होते थे, यद्यपि आधार को मजबूत बनाने के लिए पत्थरों का भी प्रयोग किया जाता था। यहाँ की ईंटों का आकार प्रायः $१३ \times ६ \times २\frac{१}{२}$ इंच होता था। कतिपय बस्तियों के चारों ओर परिखा और प्राकार भी विद्यमान थे।

कुल्ली-सभ्यता के समान झोब-सभ्यता के अवशेषों में भी पशुओं और स्त्रियों की बहुत-सी मूर्तियाँ उपलब्ध हुई है। कुल्ली में जो पशु-मूर्तियाँ मिली हैं, वे प्रायः गाय-बैल

की हैं। पर झोब-सभ्यता के अवशेषों में एक स्थान पर घोड़े की भी एक मूर्ति मिली है। झोब सभ्यता की स्त्री-मूर्तियाँ देखने में भयंकर हैं। यद्यपि विविध प्रकार के आभूषणों से ये भली-भाँति विभूषित की गई हैं, पर इनकी मुख-आकृति कंकाल के सदृश बनायी गयी है, और आँखें उस ढंग के छेद द्वारा दिखायी गयी हैं, जैसा कि मानव-कंकाल की खोपड़ी में होता है। सम्भवतः, ये स्त्री-मूर्तियाँ पूजा के काम में आती थीं, और इनके चेहरे की भयंकरता मातृ-देवता के रौद्र-रूप को अभिव्यक्त करती थी।

भारत में अन्यत्र ताम्र-युग के अवशेष—उत्तरी भारत में अन्यत्र भी कई स्थानों पर ताँबे के बने हुए औजार मिले हैं। पर जिस ढंग से प्राचीन भग्नावशेषों की खुदाई सिन्ध और बिलोचिस्तान में हुई है, वैसी अभी तक अन्यत्र नहीं हुई। सम्भव है, कि भविष्य में भारत के अन्य भागों में भी वैसी ही ताम्र-युग की सभ्यताओं के चिह्न प्रकाश में आयें, जैसे कि पश्चिमी भारत में खोज द्वारा प्रगट हुए हैं।

(२) सिन्धुघाटी की सभ्यता

अत्यन्त प्राचीन काल में सिन्ध और बिलोचिस्तान के प्रदेशों में ताम्र-युग की जिस सभ्यता का विकास हुआ था, उसका उल्लेख हम पिछले प्रकरण में कर चुके हैं। इस प्राचीन सभ्यता के बाद सिन्ध नदी की घाटी में एक अन्य उन्नत व समृद्ध सभ्यता का विकास हुआ, जिसके प्रधान नगरों के भग्नावशेष इस समय के हड़प्पा और मोहनजोदड़ो नामक स्थानों पर उपलब्ध हुए हैं। यह सभ्यता पूर्व में गुजरात और काठियावाड़ से शुरू होकर पश्चिम में मकरान तक विस्तृत थी। उत्तर में इसका विस्तार हिमालय तक था। इसके प्रधान नगर सिन्ध व उसकी सहायक नदियों के समीपवर्ती प्रदेशों में विद्यमान थे, इसी लिए इसे 'सिन्धु-घाटी की सभ्यता' कहा जाता है। इस सभ्यता के सुविस्तृत क्षेत्र को यदि एक त्रिभुज द्वारा प्रकट किया जाय, तो उसकी तीनों भुजाएं क्रमशः ९५०,६०० और ५५० मील लम्बी होंगी। इस सुविशाल क्षेत्र में बहुत-सी बस्तियों में खुदाई का कार्य हुआ है। इन बस्तियों के भग्नावशेष खेड़ों के रूप में विद्यमान हैं, जिनकी खुदाई करने से इस समृद्ध व उन्नत सभ्यता के बहुत-से महत्त्वपूर्ण अवशेष प्राप्त किए गये हैं। इस क्षेत्र में अभी अन्य भी अनेक खेड़े विद्यमान हैं, जिनकी अब तक खुदाई नहीं हुई है। खोज द्वारा जिन बस्तियों का अब तक परिचय मिला है, उनमें कुछ ग्राम, कुछ कस्बे और दो विशाल नगर हैं। इस सिन्धु-सभ्यता के प्रधान नगर हड़प्पा और मोहनजोदड़ो थे, जिनमें मोहन-जोदड़ो कराची से २०० मील उत्तर में सिन्ध नदी के तट पर स्थित है। यह स्थान सिन्ध के लरकाना जिले में है। हड़प्पा पंजाब में लाहौर से १०० मील दक्षिण-पश्चिम में रावी नदी के तट पर है। यह नदी आगे चलकर सिन्ध में मिल जाती है। हड़प्पा और मोहन-जोदड़ो में ३५० मील का अन्तर है।

सिन्धु-सभ्यता की विविध बस्तियों के अवशेष एक-दूसरे से असाधारण समता रखते हैं। उनमें उपलब्ध हुए मिट्टी के बरतन एकसदृश हैं; उनके मकानों का निर्माण करने के लिए जो ईंटें प्रयुक्त हुई हैं, वे भी एक ही आकार की हैं। उनमें माप और तोल के उप-करण भी एक समान हैं, और इन स्थानों से जो उत्कीर्ण लेख मिले हैं, वे भी एक ही तरह

के हैं। हजारों वर्गमील के इस विशाल क्षेत्र में एकसदृश सभ्यता की सत्ता इस बात को सूचित करती है, कि यह सारा प्रदेश एक व्यवस्था व एक संगठन के अधीन था। यदि इसे एक साम्राज्य कहा जाय, तो अनुचित नहीं होगा। सम्भवतः, इस विशाल साम्राज्य की दो राजधानियाँ थीं, उत्तर में हड़प्पा और दक्षिण में मोहनजोदड़ो।

नगरों की रचना और भवन-निर्माण—मोहनजोदड़ो और हड़प्पा से नगरों की रचना एक निश्चित योजना के अनुसार की गई थी। मोहनजोदड़ो में जो भी सड़कें हैं, वे या तो उत्तर से दक्षिण की ओर सीधी रेखा में जाती हैं, और या पूर्व से पश्चिम में। ये सड़कें चौड़ाई में भी बहुत अधिक हैं। नगर की प्रधान सड़क तेंतीस फीट चौड़ी है, और यह नगर के ठीक बीच में उत्तर से दक्षिण की ओर चली गई है। सड़क का तेंतीस फीट चौड़ा होना इस बात को सूचित करता है, कि इसका उपयोग गाड़ियों के लिए होता था, और इस पर अनेक गाड़ियाँ एक साथ आ-जा सकती थीं। इस प्रधान मार्ग को काटती हुई जो सड़क पूर्व से पश्चिम की ओर गई है, वह इससे भी अधिक चौड़ी है, और यह भी शहर के ठीक बीच में है। इन दो (पूर्व से पश्चिम की ओर व उत्तर से दक्षिण की ओर जाने वाली) सड़कों के समानान्तर जो अन्य अनेक सड़कें हैं, वे भी चौड़ाई में बहुत पर्याप्त हैं। ये अन्य सड़कें भी नौ फीट से अठारह फीट तक चौड़ी हैं। सड़कों को मिलाने वाली गलियों की चौड़ाई भी कम नहीं है। कम से कम चौड़ी गली चार फीट के लगभग है। यह आश्चर्य की बात है, कि मोहनजोदड़ो की कोई भी सड़क या गली पक्की नहीं है। केवल मुख्य सड़क (उत्तर से दक्षिण की ओर जाने वाली) पर इस बात के चिह्न पाए जाते हैं, कि उसे किसी समय में ईंटों के टुकड़ों से पक्का करने का प्रयत्न किया गया था। पर प्रतीत होता है, कि इसमें सिन्धु-सभ्यता के प्राचीन मनुष्यों को सफलता नहीं हुई, और इसी लिए इस परीक्षण को उन्होंने अन्य सड़कों में नहीं दोहराया।

सड़कों व गलियों के दोनों ओर मकानों का निर्माण किया गया था। इन मकानों की दीवारें अब तक भी भग्न रूप में विद्यमान हैं। खेड़े की खुदाई द्वारा सड़कों व गलियों के साथ-साथ मकानों की जो दीवारें मिली हैं, कहीं-कहीं उनकी ऊंचाई पच्चीस फीट तक पहुँच गई है। इससे सहज में अनुमान किया जा सकता है, कि मोहनजोदड़ो के मकान ऊँचे व विशाल थे, और जिस समय यह नगर अपने अविकल रूप में विद्यमान होगा, तो ऊँचे-ऊँचे मकानों की ये पंक्तियाँ बहुत ही भव्य प्रतीत होती होंगी।

खुदाई के द्वारा हड़प्पा नगर का जो चित्र सामने आता है, वह मोहनजोदड़ो के समान ही एक निश्चित योजना के अनुसार बना था। सड़कों का सीधा होना और उनके साथ-साथ मकानों का एक निश्चित क्रम के अनुसार बनाया जाना इन बात का प्रमाण है, कि उस युग में नगर की व्यवस्था करने के लिए कोई ऐसा संगठन अवश्य विद्यमान था, जिसके आदेशों का सब लोग पालन करते थे।

शहर के गन्दे पानी को नालियों द्वारा बाहर ले जाने का सिन्धु-सभ्यता के इन नगरों में बहुत उत्तम प्रबन्ध था। मकानों के स्नानागारों, रसोइयों और टट्टियों का पानी नालियों द्वारा बाहर आता था, और वह शहर की बड़ी नाली में मिल जाता था। प्रत्येक गली व सड़क के साथ-साथ पानी निकलने के लिए नालियां बनी हुई थी। सड़कों के साथ

की नालियाँ प्रायः नौ इंच चौड़ी और बारह इंच गहरी होती थीं। गलियों के साथ की नालियाँ इनकी अपेक्षा छोटी होती थीं। नालियों का निर्माण पक्की ईंटों से किया गया था, और उन्हें परस्पर जोड़ने के लिए मिट्टी मिले चूने का प्रयोग किया गया था। नालियों को ढँकने के लिए इंटें प्रयुक्त होती थीं, जिन्हें ऊपर की सतह से कुछ इंच नीचे जमाकर रखा जाता था। इस प्रकार की खुली ईंटों से ढँकने का लाभ यह था, कि आवश्यकता पड़ने पर नाली को सुगमता के साथ साफ किया जा सकता था। अधिक चौड़ी नालियों को ढँकने के लिए पत्थर की शिलायें भी प्रयुक्त की जाती थीं। मकानों से बाहर निकलने वाले गन्दे पानी के लिए मिट्टी के पाइप भी प्रयोग में लाये जाते थे। सिन्धु-सभ्यता के नगरों के मकान प्रायः दोमंजिले या और भी अधिक मंजिलों वाले होते थे। अतः यह आवश्यक था, कि ऊपर की मंजिलों से गिरने वाले पानी को ढँकने का प्रबन्ध किया जाय, ताकि गलियों में चलने वाले लोगों पर पानी के छींटे न पड़ें। इसी उद्देश्य से मिट्टी के इन पाइपों का प्रयोग किया जाता था। मकानों के बाहर प्रायः चौबच्चे भी बना दिए जाते थे, ताकि मकान का गन्दा पानी पहले इनमें एकत्र हो, और उसका गन्द नीचे बैठ जाय, केवल पानी ही शहर की नालियों में जाने पाये। सम्भवतः, इन चौबच्चों को साफ करने व उनके गन्द को एकत्र कर शहर से बाहर फेंकने की व्यवस्था भी सिन्धु-सभ्यता के नगरों में विद्यमान थी। शहर की कुछ नालियाँ बहुत बड़ी (मनुष्य के समान ऊँचाई वाली) भी होती थीं। गलियों और सड़कों के साथ-साथ विद्यमान नालियों से आकर जब बहुत-सा पानी एकत्र होकर चलता था, तो उसे शहर से बाहर ले जाने के लिए इन विशाल नालियों की आवश्यकता होती थी। इन नालियों में कहीं-कहीं सीढ़ियां भी बनायी गयी थीं, ताकि उनसे उतर कर नाली को भली-भाँति साफ किया जा सके। सम्भवतः, ये बड़ी नालियाँ वर्षा के पानी को बाहर निकालने के लिए भी उपयोगी थीं। उस युग में सिन्धु-घाटी में अब की अपेक्षा बहुत अधिक वर्षा होती थी। इसी कारण ऐसी विशाल नालियों को बनाने की आवश्यकता हुई थी, जो कि गहराई में पाँच फीट और चौड़ाई में ढाई फीट के लगभग थीं। इसमें सन्देह नहीं कि वर्षा के या मकानों के गन्दे पानी को शहर से बाहर ले जाने की जो उत्तम व्यवस्था सिन्धु-सभ्यता के इन नगरों में विद्यमान थी, वह प्राचीन संसार के अन्य किसी नगर में नहीं पायी जाती।

सिन्धु-सभ्यता के इन नगरों में पानी के लिए कुएँ विद्यमान थे। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के भग्नावशेषों में बहुत-से कुएँ मिले हैं, जो चौड़ाई में २ फीट से लगाकर ७ फीट तक हैं। इन कुओं के किनारे पर रस्सी के निशान अब तक विद्यमान हैं। ऐसा प्रतीत होता है, कि बहुत-से मकानों में अपने निजी कुएं विद्यमान थे, और कुछ बड़े कुएँ ऐसे थे, जिनसे सर्वसाधारण जनता पानी खींच सकती थी। कुओं के अतिरिक्त जल की प्राप्ति का कोई अन्य साधन भी इन नगरों में था, इस बात का कोई प्रमाण अभी तक नहीं मिला है।

मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई द्वारा उन मकानों के सम्बन्ध में भी बहुत-कुछ ज्ञान उपलब्ध होता है, जिनमें सिन्धु-सभ्यता के नागरिक निवास करते थे। इन मकानों के निर्माण के लिए पक्की ईंटों का प्रयोग किया गया था। ईंटें अनेक आकारों की होती थीं। छोटी ईंटों का आकार $१०\frac{३}{४} \times ५ \times २\frac{३}{४}$ इंच होता था। बड़ी ईंटों का

आकार २०½ × ८½ × २½ इंच था। सम्भवतः, ये बड़ी ईंटें विशेष कार्यों के लिए प्रयुक्त होती थीं। सिन्धु-सभ्यता के मकानों के निर्माण के लिए जिन ईंटों का प्रयोग बाहुल्य के साथ हुआ है, उनका आकार १०¼ × ५ × २¼ इंच ही है। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की ये प्राचीन ईंटें बहुत मजबूत, पक्की और रंग में लाल हैं। हजारों साल बीत जाने पर भी ये उत्तम दशा में हैं। ईंटों को पकाने के लिए लकड़ी प्रयुक्त होती थी। शहर के बाहर ईंटों को पकाने के लिए बड़े-बड़े पजावे उस युग में विद्यमान रहे होंगे, यह कल्पना सहज में की जा सकती है। दीवार में ईंटों को जोड़ने के लिए मिट्टी का गारा प्रयुक्त होता था, पर अधिक मजबूती के लिए कभी-कभी मिट्टी में चूना भी मिला दिया जाता था।

मोहनजोदड़ के छोटे मकानों का आकार प्रायः २६ × ३० फीट होता था। पर बहुत-से ऐसे मकान भी थे, जो आकार में इसकी अपेक्षा दुगने व और भी अधिक बड़े होते थे। प्रायः मकान दोमंजिले होते थे। मोहनजोदड़ो में उपलब्ध दीवारों की मोटाई इस बात को सूचित करती है, कि वहाँ के मकान कई मंजिल ऊँचे रहे होंगे। जो दीवारें २५ फीट के लगभग ऊँची मिली हैं, इनमें अभी तक वे छेद विद्यमान हैं, जिनमें शहतीरें लगाकर दूसरी मंजिल का फर्श बनाया गया था। इस युग में छत बनाने की यह पद्धति थी, कि पहले शहतीरें डाली जाती थीं, फिर उन पर बल्लियाँ डालकर एक मजबूत चटाई बिछा दी जाती थी। उसके ऊपर मिट्टी बिठाकर उसे भली भांति कूटकर पक्का कर दिया जाता था। भारत में अब भी अनेक स्थानों पर छतें इसी ढंग से बनायी जाती है। निचली मंजिल से उपरली मंजिल पर जाने के लिए सीढ़ियाँ थीं, जो पत्थर और लकड़ी से बनायी जाती थीं। ऐसा प्रतीत होता है, कि सिन्धु-सभ्यता के इन नगरों में जगह की बहुत कमी थी, और नागरिकों के लिए स्थान का बहुत मूल्य था। इसीलिए वे सीढ़ियों को बहुत ऊँची व तंग बनाते थे, ताकि जगह की बचत हो। मोहनजोदड़ो से उपलब्ध बहुत-सी सीढ़ियों की पौढ़ियाँ १५ इंच ऊँची और ५ इंच चौड़ी हैं। पर कुछ ऐसी इमारतें भी थीं, जिनकी सीढ़ियाँ बहुत चौड़ी व सुविधानजक थीं। एक विशाल भवन में ऐसी सीढ़ी भी मिली है, जो ऊँचाई में २¼ इंच, और चौड़ाई में ८¼ इंच है। निस्सन्देह, यह मकान किसी सम्पन्न व धनी व्यक्ति का था, जिसे जगह की कमी अनुभव नहीं होती थी। कमरों के दरवाजे अनेक प्रकार के होते थे। छोटे मकानों में प्रायः दरवाजे की चौड़ाई ३ फीट ४ इंच होती थी। पर कुछ ऐसे दरवाजों के अवशेष भी मिले हैं, जिनमें से बोझ से लदे हुए पशु, बैलगाड़ियाँ व रथ भी आ-जा सकते थे। कमरों में दीवारों के साथ अलमारियाँ बनाने की भी प्रथा थी। अलमारी दीवार में ही बना ली जाती थी। इस युग में खूँटियों व चटखनियों आदि का भी प्रयोग होता था। हड्डी और शंख के बने हुए इस प्रकार के अनेक उपकरण मोहनजोदड़ो के अवशेषों में उपलब्ध हुए हैं। सम्भवतः, उस समय फर्नीचर का भी प्रयोग किया जाता था। मोहनजोदड़ो में प्राप्त एक मुद्रा पर एक स्टूल (चौकी) का भी चित्र अंकित है। खेद की बात है, कि सिन्धु-सभ्यता के इन नगरों के भग्नावशषों में से अब तक किसी पलंग, मेज, कुर्सी, चौकी आदि का कोई खण्ड नहीं मिला है, जिससे कि इस सम्बन्ध में अधिक प्रकाश पड़ सके।

मकानों के बीच में प्रायः सहन (आँगन) भी होता था, जिसके एक कोने में रसोई-घर बनाया जाता था। मोहनजोदड़ो में कुछ रसोईघर मिले हैं, जिनमें चूल्हे अब तक विद्यमान हैं। ये चूल्हे ईंटों द्वारा बनाये गए हैं। भारत में अब तक भी इस प्रकार के चूल्हे भारी संख्या में प्रयुक्त होते हैं। स्नानागार प्रत्येक मकान का एक आवश्यक अंग होता था। यह न केवल स्नान के काम में आता था, अपितु इसमें पानी संचित भी रहता था। पानी को रखने के लिए मिट्टी के बने हुए घड़े और मटके प्रयोग में आते थे। स्नानागार के समीप ही अनेक मकानों में टट्टी (शौचालय) के अवशेष भी मिले हैं। स्नानागार के फर्श पक्की ईंटों से बनाये जाते थे, और उन्हें चिकना व साफ रखने का विशेष रूप से उद्योग किया जाता था। स्नानागार का कमरा आकार में प्रायः चौकोर होता था।

मोहनजोदड़ो की खुदाई में जहाँ छोटे मकानों के बहुत-से अवशेष मिले हैं, वहाँ साथ ही विशाल इमारतों के भी अवशेष उपलब्ध हुए हैं। शहर के उत्तरी भाग में मध्यवर्ती सड़क के साथ एक विशाल इमारत के खण्डहर विद्यमान हैं, जो लम्बाई में २४५ फीट और चौड़ाई में ११२ फीट थी। इस इमारत की बाहरी दीवार की मोटाई ५ फीट है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि यह इमारत कई मंजिलों की थी। इसके समीप ही एक अन्य इमारत के खण्डहर हैं, जिसकी लम्बाई २२० फीट तथा चौड़ाई ११५ फीट थी। इसकी बाहरी दीवार ५ फुट से भी अधिक मोटी है। सम्भवतः, यह इमारत एक भव्य प्रासाद थी। मोहनजोदड़ो की इमारतों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण एक जलाशय है, जो ३९$\frac{3}{4}$ फीट लम्बा, २३ फीट चौड़ा और ८ फीट गहरा है। यह पक्की ईंटों से बना है, इसकी दीवारें मजबूत हैं और इसमें उतरने के लिए पक्की सीढ़ियाँ बनी हुई हैं। जलाशय के चारों ओर एक गैलरी बनी है, जो १५ फीट चौड़ी है। इसके साथ ही जलाशय के दक्षिण-पश्चिम की ओर आठ स्नानागार बने हैं। इनके ऊपर कमरे भी बने हुए थे। जलाशय को पानी से भरने और उसके गन्दे पानी को निकालने के लिये जो नल थे, उनके अवशेष भी उपलब्ध हुए हैं। इस जलाशय के समीप एक अन्य इमारत भी है, जिसे हम्माम समझा जाता है। सम्भवतः, इसमें पानी को गरम करने की भी व्यवस्था थी।

सिन्धु-सभ्यता के इन नगरों में दुकानों के भी अनेक अवशेष मिले हैं। सड़कों और गलियों के दोनों ओर अनेक ऐसे खण्डहर प्राप्त हुए हैं, जो सम्भवतः दुकानों के रूप में प्रयुक्त होते थे। कुछ ऐसी विशाल इमारतों के अवशेष भी मिले हैं, जिन्हें विद्वानों ने व्यापार-भण्डार माना है। इनमें व्यापारी लोग अपने माल का सञ्चय किया करते थे।

आर्थिक जीवन—मोहनजोदड़ो और हड़प्पा जैसे विशाल व समृद्ध नगरों की सत्ता इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि सिन्धु-सभ्यता का आर्थिक-जीवन बहुत उन्नत व समृद्ध था। इस सभ्यता के लोगों के आर्थिक जीवन का मुख्य आधार कृषि थी। ये लोग खेती द्वारा अनेक प्रकार के अन्नों का उत्पादन किया करते थे, जिनमें गेहूँ और जौ प्रधान थे। इन अन्नों के कुछ अवशेष भी सिन्धु-सभ्यता के खण्डहरों में मिले हैं। पर इस सभ्यता के लोग शाकाहारी ही नहीं थे। वे मांस, मछली, अण्डे आदि का भी भोजन के लिये प्रयोग करते थे। मृत शरीरों को गाड़ते हुए जो भोजन सामग्री उन्होंने शवों के साथ रखी थी, उनमें अन्न के साथ मांस भी सम्मिलित था। यही कारण है कि मनुष्यों के

अस्थिपंजरों के साथ-साथ पशुओं की हड्डियाँ भी उपलब्ध हुई हैं। इस सभ्यता के अवशेषों में खजूर की गुठलियों का मिलना यह सूचित करता है कि इस सभ्यता के लोग फलों का भी उपयोग किया करते थे। मुद्राङ्कों पर अंकित गाय, बैल, भैंस आदि की प्रतिमाएँ इस बात का प्रमाण है, कि सिन्धु-सभ्यता के आर्थिक-जीवन में इन पशुओं का महत्त्वपूर्ण स्थान था। वहाँ इन पशुओं के दूध, घी और मांस का भी भोजन के लिये प्रयोग किया जाता था। सिन्धु-सभ्यता में भेड़, बकरी, हाथी, सुअर, कुत्तों, घोड़ों और गधों की भी सत्ता थी, और लोग इनका भी विविध प्रकार से उपयोग किया करते थे।

सिन्धु-सभ्यता के लोग गेहूँ और जौं सदृश अन्नों के अतिरिक्त कपास की भी खेती किया करते थे। मोहनजोदड़ो के अवशेषों में एक सूती कपड़ा मिला है जो चाँदी के एक कलश के साथ चिपका हुआ है। विशेषज्ञों के अनुसार यह कपड़ा वर्तमान समय की खादी से मिलता-जुलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि सिन्धु घाटी के प्रदेश में सूती कपड़ा बहुतायत के साथ बनता था। वह सुदूरवर्ती देशों में विक्रय के लिए जाता था, और पश्चिमी संसार में उसकी बहुत कद्र थी। प्राचीन ईराक में सूती कपड़े के लिये 'सिन्धु' शब्द का प्रयोग होता था। यही शब्द और अधिक पश्चिम में ग्रीक भाषा में 'सिन्दन' बन गया। सूत को लपेटने के लिये प्रयुक्त होने वाली बहुत-सी नरियाँ मोहनजोदड़ो के भग्नावशेषों में मिली हैं। इनकी उपलब्धि इस बात का प्रमाण है, कि वहाँ घर-घर में सूत कातने की प्रथा विद्यमान थी। वस्त्र-व्यवसाय के समुन्नत होने के कारण सिन्धु-सभ्यता में कपास की खेती का कितना अधिक महत्त्व होगा, इस बात की कल्पना सहज में की जा सकती है।

हड़प्पा के भग्नावशेषों में उन विशाल गोदामों के चिह्न पाये गए हैं, जिनका उपयोग अनाज को जमा रखने के लिए किया जाता था। इन अन्न-भंडारों के समीप ही अनाज को पीसने का भी प्रबन्ध था। गेहूँ और जौं के अतिरिक्त सरसों और राई की खेती के भी प्रमाण सिन्धु-सभ्यता के अवशेषों में मिले हैं।

शिल्प और व्यवसाय—कृषि के अतिरिक्त जो व्यवसाय और शिल्प सिन्धु-सभ्यता में विद्यमान थे, उनके सम्बन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण बातें इस युग के खण्डहरों से ज्ञात हुई हैं। मिट्टी के बरतन बनाने की कला इस युग में बहुत उन्नत थी। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के भग्नावशेषों में बहुत-से बरतन खण्डित रूप में उपलब्ध हुए हैं। ये बरतन कुम्हार के चाक पर बनाये गए हैं, और इन्हें अनेक प्रकार के चित्रों व आकृतियों द्वारा विभूषित किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि सिन्धु-सभ्यता के कुम्हार पहले चाक पर अनेक प्रकार के बरतन बनाते थे, फिर उन्हें चमकाने के लिए एक विशेष प्रकार का लेप प्रयुक्त करते थे, और बाद में उन पर विविध प्रकार की चित्रकारी की जाती थी। अन्त में उन्हें भट्ठी में पकाया जाता था, और इस प्रकार तैयार हुए बरतन अत्यन्त सुन्दर और मजबूत होते थे। इस युग के कटोरे-कटोरियाँ, कलश, थालियाँ, रकाबियाँ, सुराहियाँ आदि बहुत बड़ी संख्या में उपलब्ध हुई हैं, जो कुम्हार के शिल्प की उत्कृष्टता के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। बहुत-से बरतनों पर उस ढंग की चमक पाई जाती है, जैसी कि चीनी मिट्टी के बने बरतनों पर होती है।

बरतन न केवल मिट्टी के बनाए जाते थे, अपितु पत्थर और धातु का भी इनके

निर्माण के लिए प्रयोग होता था। सिन्धु-सभ्यता के अवशेषों में पत्थर के बरतन अधिक संख्या में नहीं मिले हैं। इसका कारण शायद यह है, कि धातु का ज्ञान हो जाने से उनकी विशेष आवश्यकता अनुभव नहीं की जाती थी। धातु से बरतन व मूर्ति आदि बनाने के शिल्प पर हम इसी प्रकरण में आगे चलकर प्रकाश डालेंगे।

मोहनजोदड़ो की खुदाई से हाथी-दाँत का बना हुआ एक फूलदान भी उपलब्ध हुआ है, जिसका यहाँ विशेषरूप से उल्लेख करना आवश्यक है। यह फूलदान बहुत सुन्दर है, और इस पर अनेक प्रकार के रेखाचित्र भी उत्कीर्ण किए गये हैं। उस युग में सिन्धु-घाटी में हाथी भी विद्यमान थे, यह इससे सूचित होता है। हाथी-दाँत को शिल्प के लिए प्रयुक्त किया जाता था, यह बात इस फूलदान से ज्ञात होती है। सिन्धु-सभ्यता के खण्डहरों में हाथी-दाँत के कुछ टुकड़े भी मिले हैं, जो इस शिल्प की लोकप्रियता के प्रमाण हैं।

सूती कपड़ों के निर्माण का जिक्र हम ऊपर कर चुके हैं। सिन्धु-घाटी सूती कपड़ों के लिए प्रसिद्ध थी, और वहाँ के वस्त्र पश्चिमी संसार में दूर-दूर तक बिकने के लिए जाते थे। पर इस सभ्यता के लोग ऊनी और रेशमी वस्त्रों का भी निर्माण करते थे, और तैयार हुए वस्त्रों पर अनेक प्रकार के फूल व अन्य आकृतियाँ भी काढ़ते थे। सम्भवतः कपड़े को छापने की कला भी उस युग में विकसित हो चुकी थी। कुम्हार के सदृश ही तन्तुवाय (जुलाहे) का शिल्प भी इस युग में अच्छी उन्नत दशा में था। यद्यपि इस सभ्यता की पुरुष-मूर्तियाँ नग्नरूप में बनायी गयी हैं, पर इससे यह नहीं समझना चाहिए, कि इस काल में कपड़ा पहनने की प्रथा का अभाव था। नग्नमूर्तियाँ शारीरिक सौन्दर्य को प्रदर्शित करने के लिए बनाई गयी थीं या इन मूर्तियों के दैवी होने के कारण ही इन्हें नग्न रखा गया था। एक पुरुष-मूर्ति का पहले उल्लेख हो चुका है, जिसे वस्त्र पहने हुए बनाया गया है। स्त्री-मूर्तियों पर तो कमर से जाँघ तक का वस्त्र सर्वत्र ही प्रदर्शित किया गया है। कुछ स्त्री-मूर्तियाँ ऐसी भी मिली हैं, जिनमें कमर के ऊपर भी वस्त्र बनाया गया है। इस युग की सभी पुरुष-प्रतिमाएँ नग्न नहीं हैं। हड़प्पा में एक ऐसी पुरुष-प्रतिमा भी उपलब्ध हुई है, जिसकी टाँगों पर चूड़ीदार पायजामा के ढंग का एक वस्त्र है। कुछ विद्वानों के मत में यह कपड़ा धोती है, जिसे टाँगों के साथ कसकर बाँधा गया था।

सिन्धु-सभ्यता के स्त्री-पुरुष आभूषणों के बहुत शौकीन थे। यही कारण है, कि इस युग की जो स्त्री-मूर्तियाँ व पुरुष मूर्तियाँ व प्रतिमाएँ मिली हैं, उनमें बहुत-से आभूषणों को प्रदर्शित किया गया है। सौभाग्यवश, मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के भग्नावशेषों में आभूषण अच्छी बड़ी संख्या में उपलब्ध हुए हैं, जिन्हें इस युग के स्त्री-पुरुष धारण किया करते थे। ये आभूषण चाँदी और ताँबे के बरतनों में सँभालकर रखे हुए मिले हैं। ये बरतन मकानों के फर्श के नीचे गड़े हुए पाये गये हैं, जिससे सूचित होता है कि सुरक्षा के लिए इन्हें जमीन के नीचे गाड़ दिया गया था। आभूषणों से भरा हुआ एक कलश हड़प्पा में फर्श से आठ फीट के लगभग नीचे गड़ा हुआ मिला है। जिस स्थान पर यह कलश पाया गया है, वह समृद्ध व धनी लोगों के निवास का मोहल्ला नहीं था। वहाँ गरीब लोगों के छोटे-छोटे घर थे। ऐसा प्रतीत होता है, कि किसी चोर ने ये आभूषण चोरी द्वारा प्राप्त किये थे, और उन्हें अपने कमरे में आठ फीट नीचे गाड़ दिया था। इस कलश में सोने के बने हुए

जो आभूषण व उनके खण्ड मिले हैं, उनकी संख्या ५०९ के लगभग है। इनमें सुवर्णनिर्मित बाजूबन्द और हार से लगाकर छोटे-छोटे मनके तक सम्मिलित हैं। मोहनजोदड़ो के भग्नावशेषों में भी आभूषणों से पूर्ण अनेक छोटे-बड़े कलश उपलब्ध हुए हैं। यहाँ हमारे लिए यह सम्भव नहीं है, कि हम इन आभूषणों का संक्षिप्त वर्णन भी दे सकें। पर यह उल्लेख कर देना आवश्यक है, कि सिन्धु-सभ्यता के अवशेषों में मिले आभूषणों में अनेक लड़ियों वाले गले के हार, बाजूबन्द, चूड़ियाँ, कर्णफूल, झुमके, नथ आदि बहुत प्रकार के आभूषण विद्यमान हैं। कला की दृष्टि से ये अत्यन्त सुन्दर और उत्कृष्ट हैं। ऐसा प्रतीत होता है, कि सिन्धु-सभ्यता में सुनार और जौहरी का शिल्प बहुत उन्नत दशा में था। सुवर्ण के अतिरिक्त चाँदी और बहुमूल्य पत्थरों (लाल, पन्ना, मूँगा आदि) का भी आभूषणों के लिये प्रयोग किया जाता था। ताँबे, हाथी-दाँत, हड्डी और मिट्टी के बने हुए भी बहुत-से आभूषण इस सभ्यता के अवशेषों में प्राप्त हुए हैं। इससे सूचित होता है, कि जो गरीब लोग सोने-चाँदी के आभूषण नहीं पहन सकते थे, वे ताँबे आदि के आभूषण पहनकर ही सन्तोष कर लेते थे। पर उस युग के सब मनुष्य आभूषणों के बहुत शौकीन थे, यह सर्वथा सत्य है।

धातु का उपयोग—सिन्धु-सभ्यता के आर्थिक जीवन में धातुओं द्वारा बरतन और औजार बनाने का शिल्प भी बहुत उन्नत था। इन धातुओं में ताँबे को प्रचुरता के साथ प्रयुक्त किया जाता था, यद्यपि चाँदी, ब्रोंज और शीशे का उपयोग भी उस युग के धातुकार भली-भाँति जानते थे। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई में अब तक चाँदी के केवल तीन बरतन उपलब्ध हुए हैं। पर इन तीन बरतनों की सत्ता इस बात का प्रमाण है, कि इस युग के धनी लोग चाँदी का उपयोग किया करते थे। ताम्र और ब्रोंज के बरतन वहाँ बहुत बड़ी संख्या में मिले हैं, और ये अच्छे सुडौल व सुन्दर हैं। ताम्र का प्रयोग औजारों के लिये विशेष रूप से किया जाता था। सिन्धु-सभ्यता प्रस्तर-युग को पीछे छोड़ चुकी थी, और उसके निवासी अपने सब प्रकार के उपकरण ब्रोंज और ताँबे से बनाते थे। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के खण्डहरों में मिले कुछ ताँबे के कुल्हाड़े लम्बाई में ११ इंच हैं, और उनका बोझ दो सेर से कुछ अधिक है। इनमें लकड़ी को फँसाने के लिए छेद भी विद्यमान हैं। आकार-प्रकार में ये ठीक वैसे हैं, जैसे लोहे के कुल्हाड़े आजकल भारत में प्रयुक्त होते हैं। धातु से निर्मित औजारों में ताँबे की बनी एक आरी भी उपलब्ध हुई है, जिसका हत्था लकड़ी का था। इस आरी में दाँते भी बने हैं, और यह लम्बाई में १६½ इंच है। पाश्चात्य संसार में रोमन-युग से पूर्व आरी की सत्ता का कोई प्रमाण नहीं मिलता। यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है, कि सिन्धु-सभ्यता के लोग अब से पाँच हजार वर्ष के लगभग पूर्व भी आरी का प्रयोग करते थे, जबकि पाश्चात्य दुनिया में इसकी सत्ता को दो हजार साल से पूर्व नहीं ले जाया जा सकता। इस आरी की सत्ता से यह भली-भाँति सूचित हो जाता है, कि बढ़ई का शिल्प सिन्धु-सभ्यता में भली-भाँति विकसित था, और उसके नगरों में लकड़ी का प्रचुरता के साथ उपयोग किया जाता था। इस युग में अस्त्र-शस्त्र भी धातु के बनते थे। सिन्धु-सभ्यता के अवशेषों में परशु, तलवार, कटार, धनुष-बाण, बरछी, भाले, छुरी आदि अनेक प्रकार के हथियार मिले हैं, जो सब ताँबे या

ब्रोंज के बने हैं। ये हथियार जहाँ शिकार के काम में आते थे, वहाँ युद्ध के लिये भी इनका उपयोग होता था। छोटे-छोटे चाकू भी इन अवशेषों में मिले हैं, जो घरेलू कार्यों के लिए प्रयुक्त होते होंगे। पत्थर काटने वाली छेनियों की सत्ता इस बात को सूचित करती है, कि पत्थर तराशने का शिल्प भी इस युग में विकसित था। ब्रोंज के बने मछली पकड़ने के काँटे भी इस सभ्यता के अवशेषों में उपलब्ध हुए हैं। रावी और सिन्धु-नदियों के तट पर स्थित होने के कारण इन नगरों में मछली पकड़ने का व्यवसाय अवश्य ही विकसित दशा में होगा, और इसी प्रयोजन से इन कांटों का प्रयोग किया जाता होगा। धातुओं का प्रयोग केवल बरतन और औजार बनाने के लिये ही नहीं होता था। इस युग के अवशेषों में ताम्र और ब्रोंज की बनी अनेक मूर्तियाँ भी उपलब्ध हुई हैं, जो धातु-शिल्प की उत्कृष्टता के जीवित जागृत प्रमाण हैं।

तोल और माप के साधन—सिन्धु-सभ्यता की विविध बस्तियों के अवशेषों में तोल के बहुत-से बट्टे भी उपलब्ध हुए हैं। ये बट्टे पत्थर के बने हैं, और इन्हें एक निश्चित आकार (चौकोर घन के आकार) में बनाया गया है। सबसे छोटा बाट तोल में १३·६४ ग्राम के बराबर है। इस छोटे बाट को अगर इकाई मान लिया जाते, तो १,२,४,८,१६,३२,६४, १६०,२००,३२० और ६४० इकाइयों के बजन के बाट उपलब्ध हुए हैं। यह बात बड़े आश्चर्य की है, कि भारत की इस प्राचीन सभ्यता में भी वजन के विविध अनुपात को सूचित करने के लिए १,४,८,१६ की पद्धति का अनुसरण किया जाता था। वर्तमान समय का सेर १६ छटांकों में विभक्त था, और अधपौवा, पौवा व अधसेरा के बाट ही भारत में तोल के लिये प्रयुक्त किये जाते थे। इस तरह के बाट केवल मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के अवशेषों में ही नहीं मिले हैं, अपितु छन्नूदड़ो, मही आदि सिन्धु-सभ्यता की अन्य बस्तियों के अवशेषों में भी प्राप्त हुए हैं। हजारों वर्ग मील में विस्तृत इस सिन्धु-सभ्यता में सर्वत्र एकसदृश बाटों की उपलब्धि इस बात का प्रमाण है, कि उसका राजनीतिक व आर्थिक संगठन बहुत दृढ़ था। तोलने के लिये उस युग में तराजू का प्रयोग होता था। धातु की बनी एक तराजू के भी अनेक खण्ड इस सभ्यता के अवशेषों में मिले हैं।

मोहनजोदड़ो के खण्डहरों में सीपी के बने 'फुट' का एक टुकड़ा मिला है, जिसमें नौ एक समान विभाग स्पष्ट रूप से अंकित हैं। ये विभाग ०.२६४ इंच के बराबर हैं। ऐसा प्रतीत होता है, कि यह फुटा अच्छा लम्बा था, और सीपी के जिन टुकड़ों से इसे बनाया गया था, उन्हें परस्पर जोड़ने के लिये धातु का प्रयोग किया गया था। हड़प्पा के अवशेषों में ब्रोंज की एक शलाका मिली है, जिस पर नापने के लिये छोटे-छोटे विभाग अंकित हैं। ये विभाग लम्बाई में ०.३६७६ इंच हैं। इन दो 'फुटों' के आधार पर सिन्धु-सभ्यता की ईंटों व कमरों की लम्बाई-चौड़ाई को माप कर विद्वानों ने यह परिणाम निकाला है, कि इस युग का फुट १३.२ इंच लम्बा होता था। इस फुटे के अतिरिक्त माप का एक अन्य मान था, जो लम्बाई में २०.४ इंच होता था। सिन्धु-सभ्यता में जो भी मकान बनाये गए थे, व जो ईंटें बनायी गयी थीं, वे इन दो मानों में से किसी-न-किसी मान के अनुसार ठीक उतरती हैं।

व्यापार—तोल और माप के इन निश्चित मानों की सत्ता इस बात की सूचक है, कि इस युग में व्यापार अच्छी उन्नत दशा में था। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के अवशेषों में जो बहुत-सी वस्तुएँ मिली हैं, वे सब उसी प्रदेश की उपज व कृति नहीं हैं। उनमें से अनेक वस्तुएँ सुदूरवर्ती प्रदेशों से व्यापार द्वारा प्राप्त की गयी थीं। सिन्धु नदी की घाटी में ताँबा, चाँदी, सोना आदि धातुएँ प्राप्त नहीं होतीं। सम्भवतः, सिन्धु-सभ्यता के लोग चाँदी, टिन, सीसा, और सोना अफ़गानिस्तान व और भी दूर ईरान से प्राप्त करते थे। अनेक प्रकार के बहुमूल्य पत्थर बदख्शां जैसे सुदूरवर्ती प्रदेशों से आते थे। ताँबे के लिये मुख्यतया राजपूताना पर निर्भर रहना पड़ता था। सीपी, शंख, कौड़ी आदि का प्रयोग सिन्धु-सभ्यता में प्रचुरता के साथ हुआ है। सम्भवतः, ये सब काठियावाड़ के समुद्र तट से आती थीं। इसी प्रदेश से मूँगा, मोती आदि बहुमूल्य रत्न भी आते थे, जिनका उपयोग आभूषणों के लिये किया जाता था। सिन्धु-सभ्यता के भग्नावशेषों में देवदार के शहतीरों के खण्ड भी मिले हैं। देवदार का वृक्ष केवल पहाड़ों में होता है। हिमालय से इतनी दूरी पर स्थित सिन्धु-सभ्यता के नगरों में देवदार की लकड़ी की उपलब्धि इस बात का स्पष्ट प्रमाण है, कि इन नगरों का पार्वत्य प्रदेशों के साथ भी व्यापार था।

यह व्यापार तभी सम्भव था, जबकि व्यापारियों का वर्ग भली-भाँति विकसित हो चुका हो, और आवागमन के साधन भी अच्छे उन्नत हों। व्यापारियों के काफिले (सार्थ) स्थल और जल दोनों मार्गों से दूर-दूर तक व्यापार के लिए आया-जाया करते थे। इस युग में नौका व छोटे जहाजों का प्रयोग होता था, यह बात असंदिग्ध है। इस सभ्यता के खण्डहरों में उपलब्ध हुई एक मोहर पर एक जहाज की आकृति सुन्दर रूप से अंकित की गयी है। इसी प्रकार मिट्टी के बरतन के एक टुकड़े पर भी जहाज का चित्र बना हुआ मिला है। ये चित्र इस बात को भली-भाँति सूचित करते है, कि सिन्धु-सभ्यता के लोग जहाजों व नौकाओं का प्रयोग किया करते थे। स्थल-मार्ग से आवागमन के लिए जहाँ घोड़े और गधे जैसे पशु प्रयुक्त होते थे, वहाँ साथ ही बैलगाड़ियाँ भी उस युग में विद्यमान थीं। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के भग्नावशेषों में खिलौनों के तौर पर बनाई गयी मिट्टी की छोटी-छोटी गाड़ियाँ बड़ी संख्या में उपलब्ध हुई है। सम्भवतः, बच्चे इन गाड़ियों से खेलते थे। पर खिलौने के रूप में गाड़ियों को बनाना ही इस बात का प्रमाण है, कि उस युग में इनका बहुत अधिक प्रचार था। केवल बैलगाड़ी ही नहीं, इस युग में इक्के भी प्रयुक्त होते थे। हड़प्पा के खण्डहरों में ब्रोंज का बना एक छोटा-सा इक्का मिला है, जिसे सम्भवतः उस युग में प्रयुक्त होने वाले इक्के के नमूने पर बनाया गया था। इसी तरह का एक इक्का छन्नूदड़ो के खण्डहरों में भी मिला है। हड़प्पा और छन्नूदड़ो में ४०० मील का अन्तर है। पर इतने अन्तर पर स्थित इन दो बस्तियों में एक ही तरह के इक्के का मिलना एक बात को सूचित करता है, कि सिन्धु-सभ्यता में सर्वत्र बैलगाड़ी के साथ-साथ इक्के का भी चलन था।

इस युग की सिन्धु-सभ्यता में न केवल अन्तर्देशीय व्यापार अच्छा उन्नत था, अपितु विदेशी व्यापार भी बहुत विकसित दशा में था। एक प्रकरण में हम यह बता चुके हैं, कि दक्षिणी बिलोचिस्तान की कुल्ली-सभ्यता के व्यापारी सुदूर पश्चिमी एशिया

में व्यापार के लिये आते-जाते थे। सिन्धु-सभ्यता के लोग भी पश्चिमी एशिया के विविध देशों से व्यापारिक सम्बन्ध रखते थे, इसके भी अनेक प्रमाण उपलब्ध हुए हैं। प्राचीन सुमेरिया के अवशेषों में अनेक ऐसी मुद्राएँ मिली हैं, जो हड़प्पा की मुद्राओं से हूबहू मिलती-जुलती हैं। ये सुमेरिया की अपनी मुद्राओं से सर्वथा भिन्न हैं। इनमें से एक मुद्रा पर सूती कपड़े का निशान भी अंकित है, जो सिन्धु-सभ्यता में बड़ी मात्रा में तैयार होता था। ऐसा प्रतीत होता है, कि सिन्धु देश के व्यापारी सुमेरिया में भी बसे हुए थे, और वहाँ वे मुख्यतया कपड़े का व्यापार करते थे। इसी प्रकार मोहनजोदड़ो में कुछ ऐसी मुद्राएँ मिली हैं, जो ठीक सुमेरियन शैली की हैं। ये मुद्राएँ या तो सुमेरियन व्यापारियों की सिन्धु देश में सत्ता को सूचित करती हैं, और या यह भी सम्भव है, कि सुमेरिया से घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध रखने वाले कुछ सिन्धुदेशीय व्यापारियों ने सुमेरियन शैली पर अपनी मुद्राओं का निर्माण किया हो। सिन्धु-सभ्यता के व्यापारी न केवल सुमेरिया के साथ व्यापार करते थे, अपितु ईरान से भी उनका व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित था। ईरान के अनेक प्राचीन भग्नावनेषों में ऐसी अनेक वस्तुएँ उपलब्ध हुई हैं, जो वहाँ सिन्धु देश से गयी मानी जाती हैं। यह विदेशी व्यापार समुद्र-मार्ग द्वारा होता होगा, यह कल्पना असंगत नहीं है, क्योंकि सिन्धु-सभ्यता के लोग जहाज से भली-भाँति परिचित थे। पुरातत्त्व के पण्डितों के अनुसार सिन्धु देश का पश्चिमी एशिया के देशों के साथ यह व्यापार-सम्बन्ध तीसरी सहस्राब्दी ई० पू० में विद्यमान था।

(३) वैदिक-काल

आर्य जाति का मूल निवास-स्थान कौन-सा था और भारतीय इतिहास के रंग-मञ्च पर वे कब प्रगट हुए, इस सम्बन्ध में ऐतिहासिकों में बहुत मतभेद है। प्रायः यह माना जाता है कि सिन्धु-सभ्यता के निवासी किसी आर्य-भिन्न जाति के थे, और आर्यों ने उनपर आक्रमण कर उन प्रदेशों को अधिकृत कर लिया जिनमें कि पहले सिन्धु-सभ्यता की सत्ता थी। जिस समय आर्यों ने भारत में प्रवेश किया, तो वे सभ्यता के क्षेत्र में उतने उन्नत नहीं थे जितने कि सिन्धु घाटी के लोग थे। वे किसी एक स्थान पर स्थायी रूप से बस कर नहीं रहते थे, और मुख्यतता पशु-पालन द्वारा अपना निर्वाह किया करते थे। भारत में आकर आर्यों के विविध जन (कबीले) विभिन्न प्रदेशों में स्थायी रूप से बस गये, और पशु-पालन के साथ-साथ उन्होंने खेती तथा अनेकविध शिल्पों का अनुसरण भी प्रारम्भ किया। सिन्धु घाटी के जिन लोगों को उन्होंने युद्ध में परास्त किया था, वे खेती शिल्प, भवन-निर्माण आदि में आर्यों की तुलना में अधिक उन्नत थे। इन्हें आर्यों ने अपना दास बना लिया, और दास कर्मकरों तथा शिल्पियों द्वारा वे भी आर्थिक उन्नति के मार्ग पर अग्रसर होने में प्रवृत्त हुए।

वैदिक साहित्य द्वारा प्राचीन भारतीय आर्यों के आर्थिक जीवन के सम्बन्ध में भी जानकारी प्राप्त होती है। वैदिक युग के आर्थिक जीवन के मुख्य आधार कृषि और पशु-पालन थे। पशुओं में गाय, बैल, घोड़ा, बकरी, कुत्ते और गधे विशेष रूप से पाले जाते थे। आर्यों के आर्थिक जीवन में गाय का इतना अधिक महत्व था, कि उसे अघ्न्या (न

मारने योग्य) समझा जाता था। आर्य लोग इन पशुओं को बड़ी संख्या में पालते थे, और इनसे उनकी आर्थिक समृद्धि में बहुत सहायता मिलती थी। इस युग में आर्य लोग कतिपय निश्चित प्रदेशों पर बस गये थे, और कृषि के क्षेत्र में उन्होंने अच्छी उन्नति कर ली थी। जमीन को जोतने के लिए बैलों का प्रयोग किया जाता था। खेतों की उपज बढ़ाने के लिये खाद भी प्रयुक्त होता था। सिंचाई के लिये झील, जलाशय, नदी व कुएँ का जल काम में लाया जाता था। खेतों में पानी देने के लिये छोटी-छोटी नहरें व नालियाँ बनाई जाती थीं। भारत के ग्रामों में जिस ढंग से आजकल किसान लोग खेती करते हैं, जिस प्रकार वे अब लकड़ी और धातु के बने हलों को बैलों से चलाते हैं, जिस तरह से वे खेती को सींचते, नलाते व काटते हैं, प्रायः उसी ढंग से वैदिक युग के आर्य भी करते थे। खेतों में उत्पन्न होते वाले अनाजों में जौं, गेहूँ, धान, माष व तिल प्रमुख थे। यद्यपि वैदिक आर्यों की आजीविका का मुख्य साधन कृषि था, पर धीरे-धीरे अनेक प्रकार के शिल्पों और व्यवसायों का भी विकास हो रहा था। तक्ष्मन् (बढ़ई), हिरण्यकार (सुनार) कर्मार (धातु-शिल्पी), चर्मकार (मोची), वाय (तन्तुवाय या जुलाहा) आदि अनेक व्यवसायियों का उल्लेख वेदों में आया है। उस युग में आर्य लोग रथों का बहुत उपयोग करते थे। ये रथ न केवल सवारी व माल ढोने के काम में आते थे, अपितु युद्ध के लिये भी इनका बहुत उपयोग था। आर्य-भिन्न दास लोग तो विविध शिल्पों का अनुसरण करते ही थे, पर आर्य लोगों ने भी कारु (शिल्पी), भिषक् (चिकित्सक) आदि अनेक प्रकार के व्यवसायों का संचालन प्रारम्भ कर दिया था। दास-शिल्पियों को अपनी नौकरी में व गुलाम रूप में रखकर आर्य गृहपति अनेक प्रकार के व्यवसायों का संचालन करने लग गये थे।

वैदिक युग के आर्य अनेक धातुओं का प्रयोग जानते थे। सभ्यता के क्षेत्र में वे प्रस्तर युग से बहुत आगे बढ़ चुके थे। सुवर्ण और रजत का प्रयोग वे आभूषणों और पात्रों के लिये करते थे, पर 'अयस्' नामक एक धातु को वे अपने औजार बनाने के लिये काम में लाते थे। संस्कृत भाषा में 'अयस्' का अर्थ लोहा है, पर अनेक विद्वानों का यह विचार है, कि वेदों में जिस अयस् का उल्लेख है, वह लोहा न होकर ताँबा है। अयस् का अभिप्राय चाहे लोहे से हो और चाहे ताम्बे से, इसमें सन्देह नहीं कि वैदिक युग के आर्य इस उपयोगी धातु के प्रयोग को भली-भाँति जानते थे, और कर्मार लोग अनेक प्रकार के उपकरणों के निर्माण के लिये इसका उपयोग करते थे।

आर्य लोग अपने निवास के लिये सुन्दर शालाओं का निर्माण करते थे। वेद में एक शाला-सूक्त है, जिसमें शाला (मकान या घर) का बड़ा उत्तम वर्णन किया गया है। सम्भवतः, इन शालाओं के निर्माण के लिये लकड़ी का प्रयोग अधिक किया जाता था।

वस्त्र-निर्माण का शिल्प भी इस युग में अच्छा उन्नत था। ऊन और रेशम कपड़े बनाने के लिये विशेष रूप से प्रयुक्त होते थे। यह सहज में अनुमान किया जा सकता है, कि रुई से भी आर्य लोग भली-भाँति परिचित थे। सिन्धु-सभ्यता के आर्थिक जीवन का विवरण देते हुए हमने उन प्रमाणों का उल्लेख किया है, जिनसे इस सभ्यता के लोगों का रुई से परिचय सिद्ध होता है। आर्य लोगों के लिए यह बहुत सुगम था, कि वे अपने से पूर्ववर्ती सिन्धु-सभ्यता के लोगों से रुई की खेती और उपयोग को भली-भाँति सीख सकें।

सूत कातने और उससे अनेक प्रकार के वस्त्र बनाने के व्यवसाय में आर्य लोग अच्छे कुशल थे। वे सिर पर उष्णीष (पगड़ी) धारण करते थे, नीचे एक अधोवस्त्र (धोती या साड़ी) और फिर उत्तरीय (चादर) का प्रयोग करते थे। स्त्री और पुरुष दोनों आभूषण पहनने का शौक रखते थे; कुण्डल, केयूर, निष्कग्रीव आदि अनेक प्रकार के आभूषण इस युग के लोग प्रयोग में लाते थे।

व्यापार के लिए इस युग में वस्तुविनिमय (बार्टर) का प्रयोग होता था। पर बहुधा वस्तुओं के मूल्य का अंकन गौओं द्वारा करके और गौ को मूल्य की इकाई मान कर विनिमय का काम चलाया जाता था। धातु द्वारा निर्मित किसी सिक्के का चलन इस युग में था या नहीं, यह बात संदिग्ध है। निष्क नामक एक सुवर्ण मुद्रा का उल्लेख वैदिक साहित्य में आया है। पर सम्भवतः, उसका उपयोग मुद्रा की अपेक्षा आभूषण के रूप में अधिक था। वैदिक संहिताओं में नौकाओं का भी अनेक स्थानों पर वर्णन आया है। इनमें से कतिपय नौकाएँ बहुत विशाल भी हैं। सम्भवतः, वैदिक युग के लोग स्थल और जल मार्गों द्वारा दूर-दूर तक व्यापार के लिये आते-जाते थे। सिन्धु-सभ्यता के काल में भी सामुद्रिक व्यापार का प्रारम्भ हो चुका था। इस काल में यह और भी अधिक विकसित हुआ।

वैदिक साहित्य में अनेक स्थानों पर 'पणि' नामक व्यापारियों का उल्लेख आता है, जिन्हें असुर कहा गया है। सम्भवतः, ये पणि फिनीशियन लोग थे, जिन्हें लैटिन भाषा में 'पूनि' कहा जाता था। फिनीशियन लोगों की बस्ती पैलेस्टाइन के समुद्रतट पर थी जहाँ से वे सुदूर देशों में व्यापार के लिये आया जाया करते थे। भारत के आर्यों का इनसे परिचय था। सम्भवतः,वैदिक युग में भारत का पैलेस्टाइन के फिनीशियन (पूनि या पणि) लोगों से व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित था।

(४) उत्तर-वैदिक युग

वैदिक युग के समान उत्तर-वैदिक युग में भी आर्यों के आर्थिक जीवन का मुख्य आधार कृषि ही थी। आर्य 'विशः' (जनता) का बड़ा भाग अब भी खेती द्वारा ही अपना निर्वाह किया करता था। जमीन को जोतने के लिये हलों को प्रयुक्त किया जाता था जिन्हें खींचने के लिए बैल काम में लाये जाते थे। इस युग में ऐसे भारी हल भी प्रयोग में आने लगे थे, छह, आठ, बारह या चौबीस बैल जिन्हें खींचने के लिये जोते जाते थे। ब्राह्मण-ग्रन्थों में ऐसे भारी हलों के उल्लेख विद्यमान हैं। गाड़ी (शकट) खींचने के लिये भी बैलों का प्रयोग किया जाता था। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार खेत को जोतने के लिए 'कर्षण', बोने के लिए 'वपन', फसल काटने के लिए 'कर्तन', और माड़ने के लिये 'मर्दन' शब्दों का प्रयोग होता था। जब अनाज पक जाता था, तो दात्र (दतिया) द्वारा उसका कर्तन किया जाता था, और फिर गट्ठर बाँध कर उसे खल (खलिहान) में ले जाते थे जहाँ उसका मर्दन कर अनाज को भूसे से पृथक् किया जाता था। सब से अन्त में शूर्प (सूप) और तिउत (चलनी) द्वारा अनाज को ओसाया जाता था। खेती द्वारा उत्पन्न अन्न में जौं, गेहूँ, चावल, दाल और तिल प्रमुख थे। जमीन की उपजशक्ति को बढ़ाने के लिये गोबर का खाद के रूप में प्रयोग किया जाता था। ब्राह्मण ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर

शकृत (गोबर) और करीष (सूखा गोबर) शब्द आये हैं। इस काल में खेतों की सिंचाई का भी समुचित व्यवस्था की जाने लगी थी। कुएँ खोदकर उनसे कोष (चरस) और अश्मचक्र (गरारी) की सहायता से पानी निकाला जाता था, और उसे नालियों द्वारा खेतों तक पहुँचाया जाता था। कुओं के अतिरिक्त सिंचाई के लिए ह्रदों (जलाशयों) व कुल्याओं (रजवाहों) का प्रयोग भी शुरू हो चुका था। क्योंकि कृषि इस युग के आर्थिक जीवन की आधार थी, अतः कृषि द्वारा उत्पन्न अन्न का महत्त्व बहुत अधिक माना जाता था। तैत्तिरीय उपनिषद् में लिखा है कि अन्न ही ब्रह्म है, उसी से सब प्राणी उत्पन्न होते हैं और उसी से सबकी आजीविका चलती है। अन्न अधिक मात्रा में उत्पन्न किया जा सके, इस प्रयोजन से अनेकविध अनुष्ठान भी इस युग में किये जाने लगे थे, जिनमें इन्द्र, व पूषन् आदि देवताओं की पूजा का विशिष्ट स्थान था। सिंचाई के होते हुए भी इस युग के किसानों को अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि का भय बना रहता था और इन दैवी विपत्तियों से बचने के लिए भी वे वरुण आदि देवताओं की पूजा किया करते थे।

कृषि के साथ-साथ पशुपालन भी इस युग के आर्यों के आर्थिक जीवन का मुख्य आधार था। वे बड़ी संख्या में गाय, बैल, भेड़, बकरी आदि पशुओं को पाला करते थे। वैदेह जनक ने अपनी राजसभा में एकत्र विद्वानों में सर्वश्रेष्ठ को पुरस्कृत करने के लिए सहस्र गौओं का पुरस्कार देने की घोषणा की थी। न केवल गृहस्थ कृषक अपितु वानप्रस्थ ऋषि मुनि भी गोपालन किया करते थे और उनके अन्तेवासियों (ब्रह्मचारियों) का एक कार्य गौओं की सेवा करना समझा जाता था। दूध-घी के लिये जहाँ गौओं का उपयोग था, वहाँ साथ ही खेती के लिए भी उनका बहुत महत्त्व था।

अनेक शिल्प और व्यवसाय भी इस युग में विकसित हो गये थे। तन्तुवाय (जुलाहे), रजक (रंगरेज), रज्जुकार, सुवर्णकार, लौहकार, रथकार, कुम्भकार (कुम्हार) नर्तक, गायक, व्याध आदि कितने ही शिल्पियों का उल्लेख ब्राह्मण ग्रन्थों में विद्यमान है। धातुओं के ज्ञान में वृद्धि के कारण इस काल में आर्थिक उत्पादन के साधन बहुत उन्नत हो गये थे। वैदिक काल के आर्यों को प्रधानतया सुवर्ण और अयस् का ही ज्ञान था, पर इस युग में त्रपु (टिन), ताम्र, लौह, रजत, हिरण्य और सीसे का प्रयोग किया जाने लगा था, यह असंदिग्ध है। सुवर्ण और रजत का प्रयोग मुख्यतया आभूषणों और बरतनों के लिये होता था, और ताम्र तथा लौह आदि धातुएँ उपकरण बनाने के काम में भी आती थीं। तैत्तिरीय संहिता के एक संदर्भ से इस युग के शिल्पियों के सम्बन्ध में बहुत अच्छी जानकारी प्राप्त होती है। वहाँ तक्ष् (बढ़ई), रथकार, कुलाल (कुम्हार), कर्मकार या कर्मार (धातु शिल्पी), इषुकृत् (तीर या बाण बनाने वाले), धन्वकृत् (धनुष बनाने वाले) आदि शिल्पियों को नमस्कार किया गया है। इसमें सन्देह नहीं कि विविध प्रकार के शिल्प उत्तर-वैदिक काल में सुचारु रूप से विकसित हो चुके थे।

कृषि और शिल्पों के विकास के कारण व्यापार भी इस युग में अच्छी उन्नत दशा में था। हस्तिनापुर, तक्षशिला, अयोध्या आदि कितनी ही समृद्ध नगरियाँ इस युग में स्थापित हो चुकी थीं, जिनमें सम्पन्न श्रेष्ठियों ने पण्यशालाएं भी खोली हुई थीं। वस्तुओं के विनिमय के लिए अब सिक्कों का भी प्रयोग किया जाने लगा था। वेदों में जिस

'निष्क' का उल्लेख है वह आभूषण था या सिक्का, इस सम्बन्ध में मतभेद हो सकता है। पर उत्तर-वैदिक काल में निष्क का सिक्के के रूप में चलन अवश्य था। निष्क के अतिरिक्त एक अन्य सिक्का भी इस काल में विनिमय के लिये प्रयुक्त होता था, जिसे 'शतमान' कहते थे। इसका वजन सौ कृष्णल (रत्ती) होता था, और यह सोने का बना होता था। वैदेह जनक ने याज्ञवल्क्य ऋषि को जो एक सहस्र गौवें पुरस्कार के रूप में दी थीं, उनके सींगों के साथ दस-दस सुवर्णपाद बँधे हुए थे। सम्भवतः, ये 'पाद' निष्क सिक्के के चौथाई भाग ही थे। यह भरोसे के साथ कहा जा सकता है, कि उत्तर-वैदिक युग में वस्तु-विनिमय (बार्टर) का स्थान सिक्के द्वारा विनिमय ने ले लिया था और सुवर्ण के अनेकविध सिक्के इस काल में विनिमय के लिए प्रयुक्त किये जाने लगे थे। धन को ऋण पर लेने का रिवाज भी इस समय में विद्यमान था। शतपथ ब्राह्मण में ऋण देने वाले के लिए 'कुसीदी' शब्द का प्रयोग किया गया है। पर ऋण पर सूद की दर क्या थी, इस विषय में कई निर्देश ब्राह्मण-ग्रन्थों में नहीं मिलते।

ऐसा प्रतीत होता है, कि इस युग के कृषक, शिल्पी और व्यापारी अनेकविध श्रेणियों (गिल्ड) में भी संगठित होने लग गये थे। बौद्ध जातक-कथाओं, कौटलीय अर्थशास्त्र तथा स्मृति-ग्रन्थों द्वारा श्रेणियों के विषय में समुचित जानकारी प्राप्त होती है। बौद्ध युग में कृषकों, शिल्पियों और व्यापारियों के संगठन भली-भाँति विकसित हो चुके थे। इनके विकास में पर्याप्त समय लगा होगा, अतः यह अनुमान करना असंगत नहीं होगा कि उत्तर-वैदिक काल में भी ये 'श्रेणियाँ' विद्यमान थीं।

तेरहवाँ अध्याय

बौद्ध काल में भारत की आर्थिक दशा

(१) कृषि तथा विविध शिल्प और व्यवसाय

छठी सदी ईस्वी पूर्व में भारत में बौद्ध और जैन धर्मों का प्रादुर्भाव एवं प्रसार हुआ था। प्राचीन वैदिक व पौराणिक साहित्य के समान बौद्ध और जैन साहित्य भी अत्यन्त विशाल हैं। यद्यपि यह साहित्य प्रायः धर्मपरक है, पर प्रसंगवश उसमें कहीं-कहीं ऐसे निर्देश भी विद्यमान हैं जिनसे कि इस साहित्य के निर्माणकाल (जिसे इतिहास में बौद्ध काल कहा जाता है) में भारत की आर्थिक दशा पर उत्तम प्रकाश पड़ता है। जातक कथाएं इसके लिए विशेष रूप से उपयोगी हैं। पाणिनि के प्रसिद्ध व्याकरण अष्टाध्यायी का रचना काल भी छठी या पाँचवी सदी ईस्वी पूर्व में माना जाता है। अतः बौद्ध काल के आर्थिक जीवन का अनुशीलन करने के लिये इस ग्रन्थ का भी उपयोग किया जा सकता है।

जातक कथाओं में अनेकविध अन्नों का उल्लेख है, जिनमें बाजरा, व्रीहि, तंदुल, शालि, चना, मटर, मूँग और उड़द मुख्य हैं। इनके अतिरिक्त ईख, नारियल, अदरख, मिर्च, राई, लहसुन, जीरा सदृश कृषिजन्य पदार्थों और आम, सेव, जामुन, अंगूर, केला, खजूर और अंजीर जैसे फलों की पैदावार के संकेत भी जातकों में विद्यमान हैं। पाणिनि की अष्टाध्यायी द्वारा भी शालि, व्रीहि, यव (जौ), षष्ठिक्य (साठी चावल), तिल, माष (उड़द) उम्य (अलसी), ईख, नील, मंजिष्ठ (मंजीठ), गवेधुका (गोभी) और भंग्य (भांग) की खेती प्रमाणित होती है। जैन ग्रन्थों में तीन प्रकार के भोज्य अन्नों व अन्य पैदावार का उल्लेख है, क्षैत्रिक (जो खेतों में पैदा की जाए), आरामिक (जो बाग-बगीचों में पैदा हो), और आटविक (जो प्राकृतिक रूप से जंगलों में पैदा हो)। क्षैत्रिक पैदावार यव, व्रीहि, शालि, गोधूम (गेहूँ), चणक (चना), माष, मुद्ग (मूंग), ईख, कपास, लौंग, पिप्पल और पान के पत्तों आदि का परिगणन किया गया है, और आरामिक पैदावार में में आम, सेव, अनार, अंगूर, अंजीर और खजूर आदि का। जामुन, दाडिम और बिल्व (बेल का फल) आदि आटविक पैद.वार थे।

बौद्ध काल में भारत में बहुत से जनपदों की सत्ता थी, जिनका स्वरूप नगर-राज्यों के समान था। जनपद के बीच में 'पुर' (राजधानी) होता था, जिसमें श्रेष्ठी (व्यापारी) और शिल्पी निवास करते थे। पुर के चारों ओर की भूमि खेती और चरागाह के काम में आती थी। गृहपति वैश्य कर्मकरों की सहायता से खेती कराया करते थे। जनपद में बहुत-से ग्राम होते थे, जिनमें कृषक अपने कर्मकरों और पशुओं के साथ रहा करते थे। साधारणतया, खेत छोटे-छोटे होते थे जिनमें कृषक अपने परिवार और एक दो कर्मकरों की सहायता से खेती कर सकता था। पर बौद्ध साहित्य में ऐसे बड़े कृषकों का भी उल्लेख आया है, जिनके बहुत बड़े-बड़े फार्म थे। ऐसा एक कृषक काशी भारद्वाज था, जो दक्षिणी

मगध का निवासी था। उसके पास पांच सौ हलों की खेती थी। पांच सौ हलों के साथ-साथ वह पांच सौ जोड़ी बैलों और बहुत-सी गौवों का भी स्वामी था। एक जातक कथा में एक ऐसे कृषक का वर्णन है, जिसकी जागीर का क्षेत्रफल एक सहस्र 'करीस' था। करीस एकड़ या बीघे के समान भूमि का एक 'मान' या 'माप' होता था। पर ऐसे बड़े कृषक या भूमिपति अपवाद रूप में ही थे। एक जातक कथा में एक गृहपति द्वारा इस बात पर संतोष प्रगट किया गया है कि उसके पास दूध देने वाली गौवें हैं, भरपूर फसल है और वह किसी अन्य का वेतनभोगी न होकर 'आत्मवेतनभृत' है। बौद्ध युग के बहुसंख्यक किसान इसी प्रकार के थे, जो अपने खेतों में स्वयं या कुछ वेतन भोगी कर्मकरों की सहायता से खेती किया करते थे। खेत को बटाई पर दूसरों को प्रदान कर देने की प्रथा भी इस काल में विद्यमान थी। किसान खेती से जो पैदावार प्राप्त करते थे, उसका एक भाग(प्राय: षड्-भाग) उन्हें राजकीय कर के रूप में प्रदान करना होता था।

व्यवसाय—बौद्धकालीन भारत में कौन-कौन-से मुख्य व्यवसाय प्रचलित थे, इसका परिचय दीर्घनिकाय के एक संदर्भ द्वारा बहुत अच्छी तरह से मिलता है। जब महात्मा बुद्ध धर्मोपदेश करते हुए राजगृह पहुँचे, तो मागध सम्राट् अजातशत्रु ने उनसे प्रश्न किया—

"हे भगवन्! ये जो भिन्न-भिन्न व्यवसाय हैं, जैसे हस्ति-आरोहण, अश्वारोहण, रथिक, धनुर्धर, चेलक (युद्ध-ध्वज धारण), चलक (व्यूह-रचना), पिंडदायिक (पिंड काटने वाले), उग्र राजपुत्र (वीर राजपुत्र), महानाग (हाथी से युद्ध करने वाले), शूर, चर्मयोधी (ढाल से युद्ध करनेवाले), दासपुत्र, आलारिक (बावर्ची), कल्पक (हज्जाम), नहापक (स्नान करानेवाले), सूद, (पाचक), मालाकार, रजक (रंगरेज), नलकार (टोकरे बनानेवाले), कुम्भकार (कुम्हार), गणक, मुद्रिक (गिननेवाले) और जो दूसरे इसी प्रकार के भिन्न-भिन्न शिल्प (व्यवसाय) हैं, उनसे लोग इसी शरीर में प्रत्यक्ष जीविका करते हैं, उससे अपने को सुखी करते हैं, तृप्त करते हैं। पुत्र स्त्री को सुखी करते हैं, तृप्त करते हैं। मित्र अमात्यों को सुखी करते हैं, तृप्त करते हैं। ऊपर ले जानेवाला, स्वर्ग को ले जानेवाला, सुखविपाक वाला, स्वर्गमार्गीय, दान श्रमण ब्राह्मणों के लिये स्थापित करते हैं। क्या भगवन्! इसी प्रकार श्रामण्य (भिक्षुपन) का फल भी इसी जन्म में प्रत्यक्ष बतलाया जा सकता है?"

सम्राट् अजातशत्रु ने इस प्रश्न में बहुत-से व्यवसायियों का नाम लिया है। एक राजा के लिये यह प्रश्न कितना स्वाभाविक है। उसके चारों तरफ जो सांसारिक जन निवास करते हैं, अपने-अपने कार्यों का इसी जन्म में फल प्राप्त करते हैं, वे स्वयं सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते हुए दानद्वारा परलोक के लिये भी प्रयत्न करते हैं। हमारे लिये इस सन्दर्भ में आये हुए व्यवसाय विशेषरूप से उपयोगी हैं। इसमें निम्नलिखित व्यवसायों का नाम आया है :—

(१) हस्तिसेना के हाथी परसवारी करनेवाले योद्धा लोग, (२) घुड़सवार लोग, (३) रथ पर चढ़कर लड़नेवाले रथारोही लोग, (४) धनुर्धर योद्धा, (५) युद्ध की ध्वजा का धारण करनेवाले 'चेलक' लोग, (६) व्यूह-रचना में प्रवीण 'चलक' लोग, (७) पिंड काटनेवाले पिंडायिक लोग, (८) वीर योद्धा 'उग्र राजपुत्र' लोग, (९) हाथी

से युद्ध करने में प्रवीण 'महानाग' लोग, (१०) सामान्य शूरवीर सैनिक, और (११) ढाल से लड़नेवाले 'चर्मयोधी' लोग।

ये ग्यारह तो सेना व युद्ध सम्बन्धी पेशे करनेवाले लोगों के नाम हैं। इनके अतिरिक्त जिन अन्य व्यवसायियों के नाम अजातशत्रु ने दिये हैं, वे निम्नलिखित हैं—(११) दासपुत्र—सामान्य दास लोग, (१३) आलारिक—बावर्ची, (१४) कल्पक—हज्जाम, नाई, (१५) नहापक—स्नान करानेवाले, (१६) सूद—पाचक, हलवाई, (१७) मालाकार—माला बेचनेवाले, (१८) रजक—कपड़े धोनेवाले धोबी, (१९) रंगरेज, (२०) नलकार—टोकरे बनानेवाले, (२१) कुम्भकार—कुम्हार, (२२) गणक—हिसाब-किताब रखनेवाले, और (२३) मुद्रिक—गिननेवाले।

अजातशत्रु द्वारा दी हुई व्यवसायों की यह सूची पूर्ण नहीं है। इसमें स्वाभाविक रूप से उन व्यवसायों का परिगणन किया गया है, जो किसी राजपुरुष के ध्यान में एकदम आ सकते हैं। इनके अतिरिक्त अन्य व्यवसाय, जिनका जिक्र अन्यत्र बौद्ध-साहित्य में आया है, निम्नलिखित हैं:—

(१) वर्धकि या बढ़ई—बौद्ध-साहित्य में वर्धकि व कम्मार शब्द का प्रयोग बहुत व्यापक अर्थों में हुआ है। इससे केवल सामान्य बढ़ई का ही ग्रहण नहीं होता, अपितु जहाज बनाने वाले, गाड़ी बनानेवाले, भवनों का निर्माण करनेवाले आदि विविध प्रकार के मिस्त्रियों का भी ग्रहण होता है। वर्धकि के अतिरिक्त विविध प्रकार के अन्य मिस्त्रियों के लिये थपति, तच्छक, भमकार आदि शब्द भी जातक-ग्रन्थों में आये हैं। वर्धकि लोगों के बड़े-बड़े गांवों का भी वहाँ उल्लेख है।

(२) धातु का काम करने वाले—सोना, चाँदी, लोहा आदि विविध धातुओं की विभिन्न वस्तुएं बनाने वाले कारीगरों का उल्लेख बौद्ध-साहित्य में आया है। लोहे के अनेक प्रकार के औजार बनाये जाते थे—युद्ध के विविध हथियार, फलके, कुल्हाड़े, आरे, चाकू, फावड़े आदि विविध उपकरण जातकों में उल्लिखित हैं। इसी प्रकार सोना-चाँदी के विविध कीमती आभूषणों का भी वर्णन मिलता है। सूचि जातक में सुइयाँ बनाने का जिक्र है। कुस जातक में एक शिल्पी का वर्णन है, जो सोने की मूर्तियाँ बनाया करता था।

(३) पत्थर का काम करनेवाले—ये लोग पत्थरों को काटकर उनसे शिलाएँ, स्तम्भ, मूर्तियाँ आदि बनाते थे। यह शिल्प बौद्ध-काल में बहुत उन्नति कर चुका था। पत्थरों पर तरह-तरह से चित्रकारी करना, उन्हें खोदकर उन पर बेल-बूटे व चित्र बनाना उस समय एक महत्त्वपूर्ण शिल्प माना जाता था। इसी प्रकार पत्थर से प्याले, बर्तन आदि भी बनाये जाते थे।

(४) जुलाहे—बौद्ध-काल में कपास, ऊन, रेशम और रेशेदार पौदों का वस्त्र बनाने के लिये उपयोग किया जाता था। मज्झिमनिकाय में विविध प्रकार के वस्त्रों के निम्नलिखित नाम दिये गये हैं—गोनक, चित्तिक, पटिक, पटलिक, तुलिक, विकटिक, उड्डलोमि, एकन्तलोमि, कोसेय्य और कुट्टकम्। इन विविध शब्दों से किन वस्त्रों का ग्रहण होता था, यह पूर्णतया स्पष्ट नहीं है। पर इससे यह सहज में अनुमान किया जा सकता है, कि उस समय वस्त्र-व्यवसाय अच्छा उन्नत था। थेरीगाथा से ज्ञात होता है, कि रेशम और

महीन मलमल के लिये बनारस उन दिनों में भी बहुत प्रसिद्ध था। जातक-ग्रन्थों में बनारस के समीप कपास की प्रभूत मात्रा में उत्पत्ति और वहाँ के सूती वस्त्रों का उल्लेख है। इसी प्रकार महावग्ग से ज्ञात होता है, कि शिवि देश के सूती कपड़े भी बहुत प्रसिद्ध थे।

(५) चमड़े का काम करनेवाले—ये लोग चमड़े को साफ कर उससे अनेक प्रकार के जूते, चप्पल तथा अन्य वस्तुएँ बनाते थे।

(६) कुम्हार—ये लोग अनेक प्रकार की मिट्टियों के भाँति-भाँति के बर्तन बनाते थे। बौद्ध-काल के अनेक बर्तनों के अवशेष वर्तमान समय में उपलब्ध भी हुए है।

(७) हाथी दाँत का काम करनेवाले—आधुनिक समय में भी भारतवर्ष हाथी-दाँत की कारीगरी के काम के लिये प्रसिद्ध है। प्राचीन काल में हाथी-दाँत को रत्नों में गिना जाता था, और उससे अनेक प्रकार की वस्तुएँ बनाई जाती थीं। उन पर बहुत सुन्दर चित्रकारी भी की जाती थी।

(८) रंगरेज—ये कपड़ों को रंगने का काम करते थे।

(९) जौहरी—ये कीमती धातुओं तथा रत्नों से विविध प्रकार के आभूषण बनाते थे। बौद्ध-काल के कुछ आभूषण वर्तमान समय में उपलब्ध भी हुए हैं।

(१०) मछियारे—ये नदियों में मछली पकड़ने का काम करते थे।

(११) बूचड़—बूचड़खानों तथा माँस की दुकानों का अनेक स्थानों पर बौद्ध-साहित्य में उल्लेख मिलता है।

(१२) शिकारी—बौद्धकाल में शिकारी दो प्रकार के होते थे। एक वे लोग जो जंगलों में रहते थे, और वहाँ जीवजन्तुओं का शिकार कर तथा जंगल की कीमती वस्तुओं को एकत्रित कर बाजार में बेचते थे। दूसरे शिकारी वे होते थे, जो नगरों में बसने वाले कुलीन लोग होते थे, परन्तु जिन्होंने शिकार को एक पेशे के रूप में स्वीकृत किया था।

(१३) हलवाई और रसोइये।

(१४) नाई तथा प्रसाधक।

(१५) मालाकार और पुष्प-विक्रेता।

(१६) मल्लाह तथा जहाज चलानेवाले—बौद्ध-साहित्य में नदी, समुद्र तथा महा-समुद्र में चलनेवाले जहाजों तथा उनके विविध कर्मचारियों का उल्लेख आया है। यह व्यवसाय उस काल में बहुत उन्नत था।

(१७) रस्सी तथा टोकरे बनानेवाले।

(१८) चित्रकार।

(२) व्यवसायियों के संगठन

बौद्ध-काल के व्यवसायी 'श्रेणियों' (Guilds) में संगठित थे, इस बात के अनेक प्रमाण बौद्ध-साहित्य में मिलते हैं। प्राचीन भारत में श्रेणियों की सत्ता के प्रमाणों की कमी नहीं है। 'श्रेणियों' द्वारा बनाये गये कानून प्राचीन भारत में राज्य द्वारा स्वीकृत किये जाते थे। श्रेणियों के साथ सम्बन्ध रखनेवाले मुकदमों का फैसला उन्हीं के अपने कानूनों के अनुसार होता था। उन्हें अपने मामलों का स्वयं फैसला करने का अधिकार

था। श्रेणियों के न्यायालय राज्य द्वारा स्वीकृत थे, यद्यपि उनके फैसलों के विरुद्ध अपील की जा सकती थी। बौद्ध-साहित्य में व्यवसायी लोग श्रेणियों में संगठित थे, इसके प्रमाणों का निर्देश करना यहाँ उपयोगी होगा। निग्रोध जातक में एक भाण्डागारिक का वर्णन है, जिसे सब 'श्रेणियों' के आदर के योग्य बताया गया है। उरग जातक में 'श्रेणीमुख' और दो राजकीय अमात्यों के झगड़ों का उल्लेख है। इससे सूचित होता है कि 'श्रेणी' के मुखिया को 'प्रमुख' कहते थे। अन्य स्थानों पर श्रेणी' के मुखिया को 'जेट्ठक' शब्द से कहा गया है। डा० फिक ने व्यवसायियों के संगठन पर बड़े विस्तार से विचार किया है। वे लिखते हैं, कि तीन कारणों से हम यह परिणाम निकाल सकते हैं, कि बौद्ध-काल में भी व्यवसायियों के संगठन बन चुके थे। ये कारण निम्नलिखित हैं :—

(१) बौद्ध-काल में विविध व्यवसाय वंशाक्रमानुगत हो चुके थे। पिता की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र उसी व्यवसाय को करता था। अपनी किशोरावस्था से ही लोग अपने वंश क्रमानुगत व्यवसाय को सीखना प्रारम्भ कर देते थे। ज्यों-ज्यों समय गुजरता जाता था, अपने पिता तथा अन्य गुरुजन की देख-रेख में वे व्यवसाय में अधिक-अधिक प्रवीणता प्राप्त करते जाते थे। अपने व्यवसाय की बारीकियों से उनका अच्छा परिचय हो जाता था। इसीलिये जब पिता की मृत्यु होती थी, तो उसकी सन्तान उसके व्यवसाय को बड़ी सुगमता से सम्भाल लेती थी। उसे किसी प्रकार की दिक्कत अनुभव नहीं होती थी। बौद्ध साहित्य में कोई ऐसा निर्देश नहीं मिलता, जिससे यह सूचित होता हो, कि किसी व्यक्ति ने अपने वंशाक्रमानुगत व्यवसाय को छोड़कर किसी अन्य व्यवसाय को अपनाया हो। इसके विपरीत इस बात के प्रमाणों की कमी नहीं है, कि लोग अपने वंशाक्रमानुगत व्यवसाय का ही अनुसरण करते थे।

(२) बौद्ध-काल में विविध व्यवसायों का अनुसरण करनेवाले लोग एक निश्चित स्थान पर बसकर अपने व्यवसाय का सञ्चालन करने की प्रवृत्ति रखते थे। नगरों की भिन्न-भिन्न गलियों में भिन्न-भिन्न व्यवसायी केन्द्रित थे। उदाहरण के लिये दन्तकारों (हाथीदाँत का काम करने वालों) की अपनी गली होती थी, जिसे 'दन्तकार-वीथी कहते थे। इसी प्रकार कुम्हारों, लुहारों आदि की भी अपनी-अपनी पृथक् वीथियाँ होती थीं। नगरों के अन्दर की गलियों के अतिरिक्त विविध व्यवसायी नगरों के बाहर उपनगरों में भी निवास करते थे। कुलीनचित्त जातक में लिखा है, कि बनारस के समीप ही एक वड्ढकि--गाम था, जिसमें ५०० वर्धकि-परिवार निवास करते थे। इसी प्रकार एक अन्य महावड्ढकि-गाम का उल्लेख है, जिसमें एक हजार वर्धकि-परिवारों व कुलों का निवास था। बनारस के ही समीप एक अन्य ग्राम या उपनगर का उल्लेख है, जिसमें केवल कुम्हारों के ही कुल रहते थे। केवल बड़े नगरों के समीप ही नहीं, अपितु देहात में भी इस प्रकार के ग्राम विद्यमान थे, जिनमें किसी एक व्यवसाय का ही अनुसरण करनेवाले लोग बसते थे। सूचिजातक में कुम्हारों के दो गाँवों का वर्णन है, जिनमें से एक में एक हजार कुम्हार-परिवारों का निवास था। इसी प्रकार के अन्य भी अनेक निर्देश जातक कथाओं से संगृहीत किये जा सकते हैं।

(३) व्यवसायियों की श्रेणियों के मुखियाओं का, जिन्हें 'प्रमुख' या 'जेट्ठक'

कहते थे, अनेक स्थानों पर उल्लेख आया है। इससे इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि व्यवसायियों के सुदृढ़ संगठन बौद्ध-काल में विद्यमान थे। जातक-कथाओं में कम्मार-जेट्ठक, मालाकार-जेट्ठक आदि शब्दों की सत्ता इस बात को भली-भाँति स्पष्ट कर देती है। जेट्ठक के अधीन संगठित श्रेणियों में अधिक-से-अधिक कितने व्यवसायी सम्मिलित हो सकते थे, इस सम्बन्ध में भी एक निर्देश मिलता है। समुद्दवणिजजातक में लिखा है, कि एक गाँव में एक हजार वड्ढकि-परिवार निवास करते थे, जिनमें पाँच-पाँच सौ परिवारों का एक-एक जेट्ठक था। इस प्रकार इस गाँव में दो वड्ढकि-जेट्ठक विद्यमान थे। इन जेट्ठकों की समाज में बड़ी प्रतिष्ठा थी। राज-दरबार में भी इन्हें सम्मान प्राप्त होता था। सूचिजातक में लिखा है, कि एक सौ कम्मार-कुलों का जेट्ठक राजदरबार में बड़ा सम्मानित था, और वह बहुत समृद्ध तथा ऐश्वर्यशाली था। एक अन्य जातक में लिखा है कि राजा ने कम्मार-जेट्ठक को अपने पास बुलाया और उसे स्वर्ण की एक स्त्री-प्रतिमा बनाने के लिये नियुक्त किया।

इन बातों से डा० फिक ने यह परिणाम निकाला है, कि बौद्ध-काल के व्यवसायी श्रेणियों में प्रायः उसी ढंग से संगठित थे, जैसे कि मध्यकालीन यूरोप के व्यवसायी 'गिल्ड' में संगठित होते थे। यदि हम प्राचीन भारतीय साहित्य का अनुशीलन करें, तो व्यवसायियों के संगठनों (श्रेणियों) की सत्ता में कोई सन्देह नहीं रह जाता। डा० रमेशचन्द्र मजूमदार ने इस विषय पर बहुत विस्तार से विचार किया है, और सम्पूर्ण प्राचीन भारतीय साहित्य में श्रेणियों के सम्बन्ध में जो निर्देश मिलते हैं, उन्हें एकत्रित कर इनके स्वरूप को भी प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया है। बौद्ध-साहित्य में श्रेणियों के स्वरूप पर विस्तार से कुछ नहीं लिखा गया है, पर जो थोड़े-बहुत निर्देश उसमें मिलते हैं, उनसे इनकी सत्ता के सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता।

(३) बौद्ध काल के नगर और ग्राम

बौद्धकालीन भारत में नागरिक जीवन का समुचित विकास हो चुका था। यद्यपि जनता का अधिक भाग ग्रामों में निवास करता था, तथापि अनेक छोटे-बड़े नगर इस काल में विकसित हो चुके थे। बौद्ध-साहित्य के अनुशीलन से अनेक नगरों का परिचय मिलता है। हम यहाँ पर इनका संक्षिप्त रूप से उल्लेख करना आवश्यक समझते हैं—

(१) अयोध्या—यह कोशलदेश में सरयू नदी के तट पर स्थित थी। प्राचीन समय में इसका महत्त्व बहुत अधिक था। रामायण के समय में यह कोशल की राजधानी था, पर बौद्धकाल में इसकी महत्ता कम हो गई थी। इसका स्थान श्रावस्ती ने ले लिया था, जो अब कोशलदेश की राजधानी थी। सरयू नदी के तट पर स्थित प्रसिद्ध अयोध्या के अतिरिक्त दो अन्य अयोध्याओं का उल्लेख भी बौद्ध-ग्रन्थों में आया है। एक गंगा के तट पर और दूसरी पश्चिमी भारत में। एक नाम के अनेक नगरों का होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

(२) वाराणसी या बनारस—यह गंगा नदी के तट पर स्थित था। बौद्ध-काल में यह बहुत ही उन्नत तथा समृद्ध नगर था। मगध और कोशल के साम्राज्यवाद से पूर्व

महाजनपद-काल में भी काशी एक स्वतन्त्र राज्य था। उस समय में इसकी राजधानी वाराणसी का महत्त्व बहुत अधिक था। बौद्धग्रन्थों में इस नगर का विस्तार ८५ वर्गमीलों में लिखा गया है। यह कोई असम्भव बात नहीं है। यदि उपपुरों सहित वाराणसी का विस्तार ८५ वर्गमीलों में हो, तो आश्चर्य नहीं। बौद्ध-काल में वाराणसी न केवल विद्या का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था, पर साथ ही व्यापारिक दृष्टि से भी बहुत उन्नत था। वाराणसी के व्यापारियों का अनेक स्थानों पर उल्लेख आया है।

(३) चम्पा—यह अंग देश की राजधानी थी, और चम्पा नदी के तट पर स्थित थी। भागलपुर से २४ मील पूर्व इस नगरी की स्थिति थी। वर्तमान समय में यह नष्ट हो चुकी है, और इसके भग्नावशेषों पर कुछ ऐसे ग्राम विद्यमान हैं, जिनके नाम चम्पा का स्मरण दिलाते हैं।

(४) काम्पिल्य—यह पाञ्चाल राज्य की राजधानी थी।

(५) कौशाम्बी—यह वत्स व वंश-राज्य की राजधानी थी। यह यमुना के तट पर बनारस से २३० मील की दूरी पर स्थित थी।

(६) मधुरा या मथुरा—यह शूरसेन देश की राजधानी थी, और यमुना के तट पर स्थित थी। यमुना के तट पर विद्यमान मथुरा के अतिरिक्त दो अन्य मधुराएँ या मथुराएँ भी उस काल में विद्यमान थीं, एक टिनेवली के समीप, जिसे आजकल 'मदुरा' कहते हैं, और दूसरी अत्यन्त उत्तर में। उत्तर में विद्यमान मधुरा का उल्लेख भी जातक-कथाओं में आया है।

(७) मिथिला—यह विदेह राज्य की राजधानी थी। बौद्ध-साहित्य में इसका विस्तार पचास मीलों में लिखा गया है।

(८) राजगृह—यह बौद्ध-काल में मगध की राजधानी था। महात्मा बुद्ध के समय में यह अत्यन्त समृद्ध और उन्नत नगर था। साम्राज्यवाद के संघर्ष में मगध को असाधारण सफलता प्राप्त हो रही थी, अतः यह सर्वथा स्वाभाविक था कि उसकी राजधानी राजगृह भी विशेष रूप से उन्नति को प्राप्त हो। शैशुनाग-वंश के शासन-काल में ही राजगृह के स्थान पर पाटलिपुत्र को मगध की राजधानी बना लिया गया था। उसके बाद से राजगृह का पतन हो गया, और यह एक सामान्य नगर ही रह गया। राजगृह के प्राचीन दुर्ग की दीवारों के अवशेष वर्तमान समय में भी उपलब्ध होते हैं। इनकी परिधि तीन मील के लगभग है।

(९) रोरुक या रोरुव—यह सोवीर देश की राजधानी था। यह भारत के पश्चिमी समुद्र-तट पर विद्यमान था, और बौद्धकाल में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बन्दरगाह माना जाता था। भारत के सभी प्रधान नगरों से काफले व्यापार के लिये यहाँ आते थे, और भारत का माल जहाजों द्वारा यहाँ से ही विदेशों में पहुँचाया जाता था।

(१०) सागल या सांकल—यह मद्रदेश की राजधानी था। अनेक विद्वान् इसे आधुनिक सियालकोट के साथ मिलाते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं, कि बौद्ध-काल में यह उत्तर-पश्चिमी भारत का एक अत्यन्त प्रसिद्ध नगर था।

(११) साकेत—यह कोशल-राज्य में स्थित था, और कुछ समय के लिये उसकी

राजधानी भी रहा था। बौद्ध-सुत्तों में इसे भारत के सबसे बड़े नगरों में से एक माना गया है। यह श्रावस्ती से ४५ मील के लगभग दूर था। अनेक विद्वानों ने इसे उत्तर प्रदेश के उन्नाव जिले में सई नदी के तट पर स्थित सुजानकोट के साथ मिलाया है।

(१२) श्रावस्ती या सावट्ठी—यह उत्तर-कोशल राज्य की राजधानी थी। इसे भी बौद्ध-काल के सबसे बड़े छः राज्यों में गिना जाता था। बौद्ध-काल में कोशल का राज्य अत्यन्त उन्नतिशील था, अतः श्रावस्ती भी समृद्ध और उन्नत थी।

(१३) उज्जयिनी—यह अवन्ति की राजधानी थी। बौद्ध-काल में इसका भी बहुत महत्त्व था।

(१४) माहिष्मती—बौद्ध-काल में कुछ समय के लिये माहिष्मती भी अवन्ति की राजधानी रही थी।

(१५) वैशाली—यह प्रसिद्ध वज्जि-राज्य संघ की राजधानी थी।

(१६) पाटलिपुत्र—इसकी स्थापना शैशुनाग-वंश के सम्राट् उदायी के समय में हुई थी, और आगे चलकर यह मगध की राजधानी बन गया था।

(१७) प्रतिष्ठान या पैठन—यह दक्षिण का एक प्रसिद्ध नगर था।

इन प्रसिद्ध नगरों के अतिरिक्त अन्य भी अनेक पत्तनों, निगमों व ग्रामों के नाम बौद्ध-साहित्य में मिलते हैं। इनमें उक्कट्ठ, अट्टक, अस्सपुर, कीटगिरि, हलिद्दवंश, भरुकच्छ और सुप्पारक के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

जैन-ग्रन्थों में भी अनेक नगरों के नाम आये हैं। प्रसिद्ध जैन-ग्रन्थ उदवासगदसाओ में निम्नलिखित नगरों के नाम उपलब्ध होते हैं—वनिअग्राम, चम्पा, वाराणसी, पोलसपुर, राजगिह, सेतव्य, काम्पिल्लपुर, सावट्ठी, वैशाली, मिथिला, अलवी कौशाम्बी, उज्जयिनी, तक्षशिला, सगुल, सुँसुमार, कपिलवस्तु, साकेत, इन्द्रपत्त, उक्कट्ठ, पाटलि-पुत्तक और कुशीनारा।

बौद्ध और जैन-साहित्य के आधार पर हमने जिन नगरों के नाम यहाँ लिखे हैं, वे उस समय में बहुत प्रसिद्ध थे। पर उनके अतिरिक्त अन्य भी बहुत-से नगरों की सत्ता में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। बौद्ध और जैन-ग्रन्थों का क्षेत्र धार्मिक है। उनमें प्रसंगवश ही उस समय के कुछ नगरों के नाम भी आ गये हैं।

बौद्ध-काल में नगरों का निर्माण किस ढंग से होता था, और उनके विविध मकान किस प्रकार के बने होते थे, इस सम्बन्ध में बौद्ध-साहित्य से बहुत कम निर्देश प्राप्त होते हैं। रीज डेविड्स ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'बुद्धिस्ट इंडिया' में बौद्ध-साहित्य के आधार पर इस विषय पर जो प्रकाश डाला है, उसकी कुछ महत्त्वपूर्ण बातों को यहाँ उल्लिखित करना अप्रासंगिक न होगा।

उस समय के नगर प्रायः दुर्गरूप से बनाये जाते थे। नगरों के चारों ओर प्राकार होता था। दुर्ग में राजप्रासाद, राज्यसम्बन्धी इमारतें, बाजार तथा प्रमुख मनुष्यों के निवास-स्थान रहते थे। दुर्ग के बाहर बहुत-से उपनगर होते थे, जिनमें सर्वसाधारण जनता निवास करती थी।

मकान बनाने के लिए पत्थर, ईंट और लकड़ी—तीनों का प्रयोग होता था।

तीनों प्रकार की सामग्री से बनाये गए मकानों का बौद्ध-साहित्य में उल्लेख है। मकान बनानेवाले राजों की कला इस काल में पर्याप्त उन्नति कर चुकी थी। विनयपिटक में उस मसाले का जिक्र आता है, जिससे बौद्ध-काल के मकानों की दीवारों पर प्लास्तर किया जाता था। पानी तथा अन्य गन्दगी को निकालने के लिये किस प्रकार का प्रबन्ध किया जाए, इसका उल्लेख भी इन ग्रन्थों में आया है। जातक कथाओं में अनेक स्थानों पर सात मंजिलों वाले मकानों (सत्तभूमक प्रासाद) का वर्णन आता है। सात मंजिलवाले मकानों का बनना यह सूचित करता है, कि उस समय भवननिर्माण-कला पर्याप्त उन्नत हो चुकी थी। बौद्ध-काल में स्नान-शालाओं का विशेष महत्त्व था। अनेक प्रकार की स्नानशालाओं का वर्णन बौद्ध-ग्रन्थों में आया है। पर सर्वसाधारण जनता इन 'सत्तभूमक प्रासादों' या स्नानशालाओं का उपयोग नहीं कर सकती थी। वह एकमंजिले सामान्य मकानों में रहकर ही जीवन व्यतीत करती थी। बौद्ध-काल की (मौर्य-काल से पूर्व की) इमारतों के अवशेष वर्तमान समय में उपलब्ध नहीं हुए हैं, अतः उनके सम्बन्ध में हम साहित्यिक वर्णनों से ही कल्पना कर सकते हैं।

बौद्धकाल में ग्राम दो प्रकार के होते थे—सामान्य ग्राम और व्यावसायिक ग्राम, जिनमें कि किसी एक ही व्यवसाय को करनेवाले कारीगर लोग बसे होते थे। इनके अतिरिक्त इस प्रकार के भी ग्राम थे, जिनमें किसी एक ही वर्ण व जाति के लोग निवास करते थे। बौद्ध-ग्रन्थों में ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों के ग्रामों का वर्णन आया है। इसी प्रकार किसी एक प्रकार के व्यवसायियों यथा बढ़ई, कुम्हार आदि से ही बसे हुए ग्रामों का उल्लेख भी अनेक स्थानों पर है। अलीनचित्त-जातक में एक ग्राम का वर्णन है, जिसमें केवल वर्धकि लोग बसते थे और उनके घरों की संख्या ५०० थी। इसी प्रकार कुम्हारों, मछियारों, शिकारियों, चाण्डालों, डाकुओं आदि के ग्रामों का भी विविध स्थानों पर उल्लेख आया है।

सामान्य ग्रामों में सब प्रकार के लोग बसते थे, पर अधिक संख्या किसानों की होती थी। किसान लोग खेती करते थे, और अन्य लोग अपने-अपने पेशे करते थे। विविध पेशेवाले लोगों के अपने-अपने संगठन होते थे, जिन्हें 'श्रेणी' कहा जाता था।

बौद्धकालीन ग्रामों के स्वरूप को भी रीज डेविड्स ने प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया है। वे लिखते हैं, कि ग्राम के मध्य में ग्राम-निवासियों के घर होते थे, जिनके चारों ओर की भूमि कृषि के लिये प्रयोग में आती थी। ग्राम के निवासी अपनी भूमि पर स्वयं खेती करते थे, इसके लिये दास आदि का प्रयोग नहीं किया जाता था। कृषि के काम में आनेवाली भूमि के अतिरिक्त प्रत्येक ग्राम में चरागाह भी होते थे। इनमें सबके पशु स्वच्छन्दतापूर्वक चर सकते थे। चरागाह की भूमि पर ग्राम का सम्मिलित अधिकार माना जाता था। गाँवभर को पशुओं के ग्वाले लोग चराने के लिये इस चरागाह में ले जाते थे। ये ग्वाले सम्पूर्ण ग्राम की ओर से नियुक्त होते थे। ग्वाले के लिये निम्नलिखित गुणों की आवश्यकता बौद्ध-ग्रन्थों में बतायी गई है—उसमें प्रत्येक पशु को पहचानने की क्षमता होनी चाहिये। किस पशु पर कौन-से चिह्न हैं, इसका भी उसे परिज्ञान होना चाहिए। पशुओं की खाल पर मक्खियाँ अण्डा न दे सकें, इसका

उसे ध्यान रखना चाहिये। पशुओं की बीमारियों तथा उनके घावों का इलाज भी उसे आना चाहिये। पशुओं को मक्खी, मच्छर आदि से बचाने के लिये धुएँ आदि का प्रयोग उसे कर सकना चाहिये। उसे यह भी ज्ञात होना चाहिये, कि नदी को किस स्थान से पार किया जा सकता है, पीने का पानी कहाँ मिल सकता है, और कौन-से चरागाह उत्तम हैं। निस्सन्देह, इस प्रकार के कुशल ग्वालों के संरक्षण में बौद्धकालीन ग्रामों के पशु अच्छी हालत में रहते होंगे।

चरागाह के अतिरिक्त प्रत्येक ग्राम की सीमा पर जंगल भी होते थे। जंगलों की उस समय में कमी न थी। इन जंगलों से ग्राम के निवासी लकड़ी, बाँस, फूँस, काने आदि पदार्थों को बिना किसी बाधा के स्वच्छन्दता के साथ ले सकते थे। इन पर किसी प्रकार का कर नहीं लगता था।

ग्राम के निवासियों में सामूहिक जीवन की कमी नहीं थी। वे अनेक प्रकार के कार्यों को सम्मिलित रूप से करते थे। कुआँ खोदना, सड़कें बनाना, बाँध बाँधना आदि अनेक कार्य वे सम्मिलित रूप से ही करते थे। कुलावक जातक में एक ग्राम का उल्लेख है, जिसमें तीस परिवार निवास करते थे। इस ग्राम के निवासी अपने साथ सम्बन्ध रखनेवाले सामूहिक कार्यों का सम्पादन स्वयं करते थे। इसके निवासियों द्वारा सम्मिलित रूप से बनाये जाने वाले कूप, बाँध तथा मन्दिर का उल्लेख भी इस जातक में मिलता है। इसी प्रकार के वर्णन लोशक जातक, तक्क जातक और महा-उवग्ग जातक में भी मिलते हैं।

अनेक ग्रामों के चारों ओर भी मिट्टी की दीवार व काँटों का घेरा आदि रहता था। इसीलिये अनेक स्थानों पर जातकों में ग्रामद्वारों का उल्लेख किया गया है। खेती की रक्षा करने के लिये रखवाले नियुक्त किये जाते थे, जो सम्पूर्ण ग्राम की तरफ से नियत होते थे। खेतों के आकार प्रायः बड़े नहीं होते थे। एक परिवार जितनी जमीन को सुगमता के साथ स्वयं जोत सके, खेत प्रायः उतने ही होते थे। पर अनेक बड़े खेतों का वर्णन भी बौद्ध-साहित्य में आया है। जातक कथाओं में एक इस प्रकार के खेत का उल्लेख है, जिसका विस्तार १,००० करीष था। एक अन्य स्थान पर ब्राह्मण काशी भारद्वाज का वर्णन है, जिसके पास ५०० हलों की खेती थी। इन खेतों में भूमि पर काम करनेवाले मजदूरों का भी उपयोग होता था।

(४) व्यापार और नौकानयन

बौद्ध-साहित्य के अनुशीलन से उस समय के व्यापार तथा नौकानयन के सम्बन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण और मनोरंजक बातें ज्ञात होती हैं। उस समय में भारत के व्यापारी महासमुद्र को पार कर दूर-दूर देशों में व्यापार के लिये जाया करते थे। समुद्र को पार करने के लिये जहाज बहुत बड़ी संख्या में बनते थे, और उस समय में जहाज बनाने का व्यवसाय अत्यन्त उन्नत दशा में था। समुद्द वणिज जातक में एक जहाज का उल्लेख है, जिसमें वर्धकियों के सहस्र परिवार बड़ी सुगमता के साथ बैठकर सुदूरवर्ती किसी द्वीप को चले गये थे। वर्धकियों के ये एक सहस्र परिवार ऋण के बोझ से बहुत दबे हुए थे,

और अपनी दशा से असन्तुष्ट होने के कारण उन्होंने यह निश्चय किया था कि किसी सुदूर प्रदेश में जाकर बस जाएँ। सचमुच वह जहाज बहुत विशाल होगा, जिसमें एक हजार परिवार सुगमता के साथ यात्रा कर सकें। वलाहस्स जातक में पाँच सौ व्यापारियों का उल्लेख है, जो जहाज के टूट जाने के कारण लंका के समुद्रतट पर आ लगे थे, और जिन्हें पथभ्रष्ट करने के लिये वहाँ के निवासियों ने अनेक प्रकार के प्रयत्न किये थे। सुप्पारक जातक में ७०० व्यापारियों का उल्लेख है, जिन्होंने एक साथ एक जहाज पर समुद्रयात्रा के लिये प्रस्थान किया था। महाजनक जातक में चम्पा से सुवर्ण-भूमि को प्रस्थान करने-वाले एक जहाज का वर्णन आया है, जिसमें बहुत-से व्यापारी अपना माल लादकर व्यापार के लिये जा रहे थे। इस जहाज में सात सार्थवाहों का माल लदा हुआ था, और इसने सात दिन में सात सौ योजन की दूरी तय की थी। संख जातक में संख नामक ब्राह्मण की कथा आती है, जो बहुत दान करता था। उसने दान के लिये छः दानशालाएँ बनायी हुई थीं। इनमें वह प्रतिदिन छः लाख मुद्राओं का दान करता था। एक बार उसके मन में आया, कि धीरे-धीरे मेरी सम्पत्ति का भण्डार समाप्त होता जाता है, और जब सम्पत्ति समाप्त हो जायेगी, तो मैं क्या दान करूँगा? यह सोचकर उसने एक जहाज द्वारा व्यापार के लिये सुवर्णभूमि को प्रस्थान करने का विचार किया, और एक जहाज को व्यापारी माल से भरकर सुवर्णभूमि की तरफ प्रस्थान किया। मार्ग में किस प्रकार इस जहाज पर विपत्तियाँ आयीं और किस तरह उनसे इसकी रक्षा हुई, इस सबका विस्तृत वर्णन संख जातक में मिलता है। जहाज बहुत बड़ी संख्या में बनाये जाते थे। महा-उम्मग्गजातक के अनुसार भगवान् ने आनन्द को ३०० जहाज बनाने की आज्ञा दी थी। ३०० जहाजों को बनाने की आज्ञा देना सूचित करता है, कि उस समय इस प्रकार के अनेक केन्द्र विद्यमान थे, जहाँ बड़ी संख्या में जहाजों का निर्माण किया जाता था। इसी प्रकार बौद्ध-साहित्य में अन्यत्र भी अनेक स्थानों पर जहाजों और उन द्वारा होने वाले व्यापार का उल्लेख है, पर इस सबको यहाँ उद्धृत करने की आवश्यकता नहीं। इन थोड़े-से निर्देशों से यह भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है, कि समुद्र में जहाजों द्वारा व्यापार करना उस समय में एक सामान्य बात थी।

इन जहाजों द्वारा भारत का लंका, सुवर्णभूमि, फारस और बैबिलोन के साथ व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित था। सुवर्णभूमि के साथ व्यापार का और वहाँ जाने वाले जहाजों का जातकों में स्थान-स्थान पर उल्लेख आया है। इसी प्रकार लंका और वहाँ जानेवाले जहाजों के सम्बन्ध में भी अनेक निर्देश पाये जाते हैं। बैबिलोन के साथ व्यापार का उल्लेख बावेरु जातक में आया है। इसकी कथा संक्षेप में इस प्रकार है – एक बार की बात है, जब राजा ब्रह्मदत्त बनारस में राज्य करता था, कुछ व्यापारी व्यापार करने के लिए बावेरु देश में गये और अपने साथ जहाज पर एक कौवे को भी लेते गये। बावेरु देश में कोई पक्षी नहीं होता था, इसलिये जब वहाँ के निवासियों ने इस पक्षी को देखा, तो उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। उन्होंने भारत के इन व्यापारियों से प्रार्थना की, कि इस उड़नेवाले अद्भुत जन्तु को उन्हें बेच जाएँ। वह कौवा एक सौ मुद्राओं में बिका। दूसरी बार जब ये व्यापारी फिर व्यापार करते हुए बावेरु देश पहुँचे, तो जहाज

पर अपने साथ एक मोर को ले गये। मोर को देखकर बावेरु के निवासियों को और भी अधिक आश्चर्य हुआ, और वह वहाँ एक सहस्र मुद्राओं में बिका। इस विषय में सब विद्वान् सहमत हैं, कि बावेरु का अभिप्राय बैबिलोन से है, और इस जातक से यह भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है कि बौद्धकाल में भारतीय व्यापारी सुदूरवर्ती बैबिलोनिया के राज्य में भी व्यापार के लिये जाया करते थे। बैबिलोन के मार्ग में विद्यमान फारस की खाड़ी और फारस के समुद्रतट उनके जहाजों द्वारा भली-भाँति आलोड़ित हुए थे, इस बात में किसी प्रकार का सन्देह नहीं किया जा सकता।

भारत से इन देशों तक पहुँचने के लिये अनेक जलमार्ग विद्यमान थे। भारत की नदियाँ उस समय जलमार्ग के रूप में व्यवहृत होती थीं। चम्पा और बनारस उस समय में अच्छे बन्दरगाह माने जाते थे, जहाँ से जहाज पहले नदी में और फिर समुद्र में जाते थे। कुमार महाजनक ने सुवर्ण-भूमि के लिए चलते हुए चम्पा से प्रस्थान किया था। इसी प्रकार सीलानिसंस जातक में समुद्र में एक जहाज के टूट जाने पर जलमार्गद्वारा उसके यात्रियों के बनारस पहुँचने का उल्लेख है। पर सुदूरवर्ती देशों में जाने के लिये चम्पा और बनारस जैसे नदीतटवर्ती नगर विशेष उपयुक्त नहीं हो सकते थे। इसके लिये उस समय में समुद्र-तट पर भी अनेक प्रसिद्ध बन्दरगाह विद्यमान थे। इन बन्दरगाहों के सम्बन्ध में भी कुछ महत्त्वपूर्ण निर्देश बौद्ध-साहित्य में मिलते हैं, जिन्हें यहाँ निर्दिष्ट करना आवश्यक है।

लोसक जातक में समुद्रतट पर विद्यमान एक बन्दरगाह का वर्णन है, जिसका नाम गम्भीरपत्तन था। यहाँ पर जहाज किराये पर मिल सकते थे। गम्भीरपत्तन से जहाजों के चलने और उनके महासमुद्र में जाने का वर्णन इस जातक से उपलब्ध होता है। सुस्सोन्दि जातक में भरुकच्छ नाम के बन्दरगाह का उल्लेख है, और वहाँ से जहाज द्वारा जानेवाले व्यापारियों का विशद रूप से वर्णन इस जातक में किया गया है। इसी प्रकार सुप्पारक जातक में भी भरुकच्छ-पत्तन का उल्लेख है, और वहाँ यह भी लिखा है कि यह समुद्रतट पर विद्यमान एक बन्दरगाह था। इसी प्रकार अन्यत्र बौद्ध-साहित्य में ताम्र-लिप्ति, सुप्पारक, रोरुक, कावेरपत्तन आदि बन्दरगाहों का भी उल्लेख है।

समुद्र में जहाजों द्वारा होनेवाले विदेशी व्यापार के अतिरिक्त बौद्धकालीन भारत में आन्तरिक व्यापार की भी कमी न थी। भारत एक बहुत बड़ा देश है। उसके विविध प्रदेशों का पारस्परिक व्यापार उस समय बहुत महत्त्वपूर्ण था। यह आन्तरिक व्यापार स्थल और जल दोनों मार्गों द्वारा होता था। भारत में व्यापार के प्रमुख स्थलमार्ग कौन कौन-से थे, इसपर हम अभी आगे प्रकाश डालेंगे। पर यहाँ यह बताना आवश्यक है, कि स्थलमार्गों द्वारा होने वाले व्यापार का स्वरूप क्या था। यह आन्तरिक व्यापार सार्थों (काफिलों) द्वारा होता था। बहुत-से व्यापारी परस्पर साथ मिलकर काफिलों में व्यापार किया करते थे। उस समय भारत में जंगलों की अधिकता थी। रास्ते बहुत सुरक्षित नहीं थे। इस कारण किसी व्यापारी के लिये यह सम्भव नहीं होता था, कि वह अकेला सुदूरवर्ती प्रदेशों में व्यापार के लिये जा सके। अतः वे बड़े-बड़े काफिले बना कर एक साथ व्यापार के लिये जाया करते थे। जातक-साहित्य में बहुत-से काफिलों और

उनकी यात्राओं के वर्णन संगृहीत है। अनेक काफिलों में तो ५०० से लेकर १,००० तक गाड़ियाँ होती थीं। जातक-कथाओं में जिन काफिलों (सार्थों) का वर्णन है, वे बैल-गाड़ियों द्वारा व्यापार करते थे। सार्थ के नेता को सार्थवाह कहते थे। काफिलों की यात्रा निरापद नहीं होती थी। उन्हें लूटने के लिये डाकुओं के विविध दल हमेशा प्रयत्नशील रहते थे। सत्तिगुम्ब जातक में डाकुओं के एक ग्राम का उल्लेख है, जिसमें ५०० डाकू निवास करते थे। सार्थों को इन डाकुओं का सामना करने तथा उनसे अपने माल की रक्षा करने की उचित व्यवस्था करनी पड़ती थी। इसके लिये वे अपने साथ शस्त्रयुक्त पहरेदारों को रखते थे। ये पहरेदार व योद्धा सार्थ पर होनेवाले हमलों का वीरता के साथ मुकाबला करते थे। सार्थों की रक्षार्थ साथ चलनेवाले पहरेदारों का जगह-जगह पर जातक-कथाओं में वर्णन है। डाकुओं के अतिरिक्त अन्य भी अनेक प्रकार की आपत्तियों का मुकाबला इन सार्थों को करना होता था। अपण्णक जातक में इन विपत्तियों का विशद रूप से वर्णन है। डाकुओं के अतिरिक्त जंगली जानवर, पानी की कमी, भूतपिशाच आदि की सत्ता और आहार का अभाव—ये सब आपत्तियाँ थीं, जिनका समुचित प्रबन्ध किये बिना कोई सार्थ सफलता के साथ अपनी यात्रा नहीं कर सकता था।

स्थल-मार्ग से व्यापार करनेवाले ये सार्थ बड़ी लम्बी-लम्बी यात्राएँ किया करते थे। गान्धार जातक में एक सार्थ का वर्णन है, जिसने विदेह से गान्धार तक की यात्रा की थी। इन दोनों नगरों का अन्तर १,२०० मील के लगभग है। बनारस उस समय व्यापार का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। बनारस के साथ बहुत-से नगरों और देशों के व्यापार का उल्लेख जातकों में मिलता है। काम्बोज, काम्पिल्य, कपिलवस्तु, कोशल, कुरुक्षेत्र, कुरु, कुशीनारा, कौशाम्बी, मिथिला, मधुरा, पाञ्चाल, सिन्ध, उज्जयिनी, विदेह आदि के साथ बनारस के व्यापार का वर्णन इस बात को सूचित करता है, कि उस समय में बनारस व्यापार का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण केन्द्र था, जहाँ के सार्थ विविध देशों में व्यापार के लिये जाया करते थे। बनारस से काम्बोज, सिन्ध और उज्जयिनी बहुत दूर हैं। इतनी दूर व्यापार के लिये जानेवाले सार्थों की सत्ता इस बात का स्पष्ट प्रमाण है, कि बौद्ध-काल में भारत का आन्तरिक व्यापार बहुत उन्नत दशा में था।

स्थल-मार्ग के अतिरिक्त आन्तरिक व्यापार के लिए नदियों का भी प्रयोग होता था। उस समय में गंगा नदी का जहाजों के आने-जाने के लिये बहुत उपयोग था। जातक-कथाओं में बनारस आनेवाले जहाजों का अनेक स्थानों पर उल्लेख है। महाजनक जातक से सूचित होता है, कि बौद्धकाल में गंगा में बहुत-से जहाज आते-जाते थे। गंगा के अतिरिक्त अन्य भी अनेक नदियाँ व्यापारिक मार्ग के रूप में प्रयुक्त होती थीं।

बौद्ध-काल में स्थलमार्ग से व्यापार करनेवाले व्यापारी किन मार्गों से आया-जाया करते थे, इस सम्बन्ध में भी कुछ महत्त्वपूर्ण निर्देश जातक-कथाओं में मिलते हैं। रीज डेविड्स ने बौद्ध-ग्रन्थों के आधार पर इन मार्गों को इस प्रकार निश्चित किया है—

(१) उत्तर से दक्षिण-पश्चिम को—यह मार्ग सावट्ठी से पतिट्ठान जाता था। इसमें मुख्यतया निम्नलिखित पड़ाव आते थे—पतिट्ठान से चलकर माहिष्मती, उज्जयिनी, गोनद्ध, विदिशा, कौशाम्बी और साकेत होते हुए सावट्ठी पहुँचा जाता था।

(२) उत्तर से दक्षिण-पूर्व को—यह मार्ग सावट्ठी से राजगृह जाता था। यह रास्ता सीधा नहीं था, अपितु सावट्ठी से हिमालय के समीप-समीप होता हुआ वैशाली के उत्तर में हिमालय की उपत्यका में पहुँचता था, और वहाँ से दक्षिण की ओर मुड़ता था। इसका कारण शायद यह था, कि हिमालय से निकलनेवाली नदियों को ऐसे स्थान से पार किया जा सके, जहाँ कि उनका विस्तार अधिक न हो। नदियाँ पहाड़ के समीप बहुत छोटी होती हैं, वहाँ वे अधिक गहरी भी नहीं होती। इस मार्ग से सावट्ठी से चलकर सेतव्य, कपिलवस्तु, कुशीनारा, पावा, हत्थिगाम, भण्डगाम, वैशाली, पाटलिपुत्र और नालन्दा रास्ते में आते थे। यह रास्ता आगे गया की तरफ मुड़ जाता था। वहाँ यह एक अन्य मार्ग से जाकर मिल जाता था, जो कि बनारस से ताम्रलिप्ति (समुद्रतट पर) की तरफ जा रहा होता था।

(३) पूर्व से पश्चिम को—यह मार्ग भारत की प्रसिद्ध नदी गंगा और यमुना के साथ-साथ जाता था। इन नदियों में नौकाएँ और जहाज भी चलते थे, यह हम पहले लिख चुके हैं। बौद्ध-काल में गंगा नदी में सहजाती नामक नगर तक तथा यमुना में कोशाम्बी तक जहाज आया-जाया करते थे। इस मार्ग में कौशाम्बी का बहुत महत्त्व था। यहाँ पर उत्तर से दक्षिण-पश्चिम को जानेवाला मार्ग भी मिल जाता था, और नौकाओं तथा जहाजों से आनेवाला माल यहाँ उतार दिया जाता था, और उसे गाड़ियों पर लादकर उत्तर और दक्षिण में पहुँचाया जाता था।

इन तीन प्रसिद्ध मार्गों के अतिरिक्त व्यापार के अन्य महत्त्वपूर्ण मार्ग भी बौद्ध-काल में विद्यमान थे, इसमें सन्देह नहीं। जातकों में विदेह से गान्धार, मगध से सौवीर और भरुकच्छ से समुद्रतट के साथ-साथ सुवर्णभूमि जानेवाले व्यापारियों का वर्णन हैं। विदेह से गान्धार तथा मगध से सौवीर जानेवाले व्यापारी किन मार्गों का अनुसरण करते थे, यह हमें ज्ञात नहीं हैं। पर यह निश्चित है, कि इन सुदूरवर्ती यात्राओं के कारण उस समय में व्यापार के मार्ग बहुत उन्नत हो चुके थे।

बौद्ध-काल के व्यापारी ऐसे सुदूरवर्ती प्रदेशों में भी व्यापार के लिये जाया करते थे, जहाँ निश्चित मार्ग नहीं थे, या जिनके मार्ग सर्वसाधारण को ज्ञात न थे। ऐसे सार्थों (काफिलों) के साथ इस प्रकार के लोग रहते थे, जो मार्गों का भली-भाँति परिज्ञान रखते हों। इन लोगों को 'थलनियामक' कहा जाता था। ये थलनियामक नक्षत्रों तथा ज्योतिष के अन्य तत्त्वों के अनुसार मार्ग का निश्चय करते थे। थलनियामकों से सघन जंगलों, विस्तीर्ण मरुस्थलों तथा महासमुद्रों में मार्ग का पता लगाने में सहायता मिलती थी। जातक-कथाओं में लिखा है, कि विस्तीर्ण मरुस्थलों में यात्रा करना उसी प्रकार का है, जैसे महासमुद्र में यात्रा करना। अतः उनके लिये भी मार्गप्रदर्शकों की आवश्यकता अनिवार्य होती थी। उस समय में दिग्दर्शक-यन्त्रों का आविष्कार नहीं हुआ था। इस प्रकार के यन्त्रों का उल्लेख कहीं बौद्ध-साहित्य में नहीं है। इसलिये मार्ग का ज्ञान प्राप्त करने के लिए नक्षत्रों से ही सहायता ली जाती थी। समुद्र में दिशा जानने के लिये एक अन्य भी उपाय बौद्ध-काल में प्रयुक्त किया जाता था। उस समय के नाविक लोग अपने साथ एक विशेष प्रकार के कौवे रखते थे, जिन्हें 'दिशाकाक' कहते थे। जब नाविक लोग रास्ता भूल

जाते थे और स्थल का कहीं पता न चलता था, तो इन 'दिशाकाकों' को उड़ा दिया जाता था। ये 'दिशाकाक' जिधर जमीन देखते थे, उधर की तरफ उड़ते थे, और उधर ही नाविक लोग अपने जहाजों को भी ले चलते थे। महासमुद्र के बीच में तो इन दिशाकाकों का विशेष उपयोग नहीं हो सकता था, पर सामान्य समुद्र-यात्राओं में इनसे बहुत सहायता मिलती थी।

दिग्दर्शक-यन्त्र के अभाव में महासमुद्र की यात्रा बहुत संकटमय होती थी। अनेक वार नाविक लोग मार्गभ्रष्ट होकर नष्ट हो जाते थे। जातक-ग्रन्थों में रास्ते से भटककर नष्ट होनेवाले अनेक जहाजों की कथाएँ लिखी हैं। पण्डर जातक में कथा आती है, कि पाँच सौ व्यापारी महासमुद्र में जहाज लेकर गये। अपनी यात्रा के सत्रहवें दिन वे मार्ग भूल गये। स्थल का चिह्न कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता था। परिणाम यह हुआ, कि ये सब नष्ट हो गये और मछलियों के ग्रास बन गये।

जल और स्थल के इन मार्गों से किन वस्तुओं का व्यापार किया जाता था, इस सम्बन्ध में कोई महत्त्वपूर्ण निर्देश बौद्ध ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होते। जातक-कथाओं के लेखक इतना लिखकर ही सन्तुष्ट हो जाते हैं, कि व्यापारियों ने ५०० व १,००० गाड़ियाँ बहुमूल्य भाण्ड (व्यापारी पदार्थों) से भरीं और व्यापार के लिये चल पड़े। पर इन गाड़ियों में कौन-से बहुमूल्य भाण्ड को भरा गया, यह बताने का वे कष्ट नहीं करते। जो दो-चार निर्देश इस विषय में मिलते हैं, उनका जिक्र करना उपयोगी है। बौद्ध-काल में वस्त्र-व्यवसाय के लिये बनारस और शिवि-देश सबसे अधिक प्रसिद्ध थे। महापरिनिब्बान सुत्तान्त में बनारस के वस्त्रों की बहुत प्रशंसा की गयी है, और लिखा है कि वे अत्यन्त महीन होते हैं। महावग्ग में शिविदेश के वस्त्रों को बहुमूल्य बताया गया है। सिन्ध के घोड़े उस समय में बहुत प्रसिद्ध थे। जातकों के अनुसार प्राच्य देश के राजा लोग उत्तर या पश्चिम के घोड़ों को पसन्द करते थे, और उन्हीं को अपने पास रखते थे। अनेक स्थानों पर घोड़े के सौदागरों का वर्णन है, जो उत्तरापथ से आकर बनारस में घोड़े बेचते थे।

मुद्रा-पद्धति तथा वस्तुओं के मूल्य—बौद्ध-काल की मुद्रा-पद्धति के सम्बन्ध में बौद्ध-ग्रन्थों से अनेक उपयोगी बातें ज्ञात होती हैं। उस समय का प्रधान सिक्का 'काहापन' या 'कार्षापण' होता था। जातक-कथाओं में बार-बार इसका उल्लेख आया है। परन्तु इसके अतिरिक्त निष्क, सुवर्ण और धरण नाम के सिक्कों का भी इस काल में प्रचलन था।

निष्क या निक्ख एक सोने का सिक्का था, जिसका भार ४०० रत्ती होता था। 'सुवर्ण' भी सोने का ही सिक्का था, जो भार में ८० रत्ती होता था। बौद्ध-साहित्य में सामान्य सोने के लिये हिरण्य शब्द आता है, और सोने के सिक्के के लिये 'सुवर्ण' या 'सुवर्णमाषक'। उदय जातक में कथा आयी है, कि उदयभद्दा को 'सुवर्णमाषक' देकर प्रलुब्ध करने का प्रयत्न किया गया। इसी प्रकार अन्यत्र भी 'सुवर्णमाषक' का उल्लेख आता है।

बौद्ध-काल का प्रधान सिक्का कार्षापण होता था। यद्यपि मुख्यतया कार्षापण

ताँबे के होते थे, पर इस प्रकार के भी निर्देश मिलते हैं, जिनसे यह सूचित होता है कि कार्षापण सोने और चाँदी के भी बने होते थे। डाक्टर भाण्डारकर ने भारतीय मुद्रा-पद्धति-विषयक अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ में इन निर्देशों का विशद रूप से विवेचन किया है।

इन विविध सिक्कों का भार कितना होता था, और वर्तमान सिक्कों में इनका मूल्य कितना था, इस सम्बन्ध में विचार कर श्रीमती रीड डेविड्स निम्नलिखित परिणाम पर पहुँची हैं :—

सोने के १४६ ग्रेन = १६ सोने के माषक = १ सुवर्ण
चाँदी के १४६ ग्रेन = १६ चाँदी के माषक = १ धरण
ताँबे के १४६ ग्रेन = १६ ताँबे के माषक = १ कार्षापण

इसके अनुसार इन सिक्कों के वर्तमान मूल्य ये हैं —

१ सुवर्ण = १ पौ० ५ शि०
१ धरण = ९ पेंस
१ कार्षापण = १ पेंस

विनिमय की सुगमता के लिये बौद्ध-काल में वर्तमान अठन्नी, चवन्नी, इकन्नी आदि की तरह अर्धकार्षापण, पादकार्षापण आदि अन्य सिक्के भी होते थे। बहुत छोटी कीमतों के लिये माषक और काकणिका का प्रयोग किया जाता था।

विविध वस्तुओं की कीमतों के सम्बन्ध में भी कुछ मनोरंजक निर्देश बौद्ध-साहित्य में मिलते हैं। उनका उल्लेख करना भी यहाँ उपयोगी होगा। विनय-पिटक के अनुसार एक मनुष्य के एक बार के आहार के लिये उपयुक्त भोजन-सामग्री एक कार्षापण द्वारा प्राप्त की जा सकती थी। बौद्ध-भिक्षुओं के लिये उपयुक्त चीवर भी एक कार्षापण द्वारा प्राप्त किया जा सकता था। परन्तु भिक्षुणी के लिये उपयुक्त वस्त्र १६ कार्षापणों में बनता था। बहुमूल्य वस्त्रों की कीमत बहुत अधिक होती थी। बौद्ध-ग्रन्थों में एक हजार तथा एक लाख कार्षापणों में बिकनेवाले वस्त्रों का भी उल्लेख है।

पशुओं की कीमतें भिन्न-भिन्न होती थीं। महाउम्मग जातक के अनुसार गधे की कीमत ८ कार्षापण होती थी। गामणिचण्ड जातक और कन्ह जातक के अनुसार बैलों की एक जोड़ी २४ कार्षापणों में खरीदी जा सकती थी। दास-दासियों की कीमत उनके गुणों के अनुसार कम-अधिक होती थी। वेस्सन्तर जातक में एक दासी का वर्णन है, जिसकी कीमत १०० निष्क से भी अधिक थी। दुर्गन-जातक और नन्द जातक में ऐसे दास-दासियों का उल्लेख है, जो केवल १०० कार्षापणों से ही प्राप्त किये जा सकते थे।

घोड़े उस समय में महंगे थे। जातकों में घोड़ों की कीमत १,००० कार्षापण से लेकर ६,००० कार्षापण तक लिखी गयी है। मेमने की कीमत एक स्थान पर १०० कार्षापण लिखी गयी है, गधे और बैल के मुकाबले में मेमने का इतना महँगा होना समझ में नहीं आता।

उस समय में वेतन तथा भृति किस दर से दी जाती थी, इस विषय में भी कुछ निर्देश मिलते हैं। राजकीय सेवक की न्यूनतम भृति १ कार्षापण दैनिक होती थी। नाई को बाल काटने के बदले में ८ कार्षापण तक दिये जाते थे। गणिका की फीस ५० से

१०० कार्षापण तक होती थी। अत्यन्त कुशल धनुर्धारी को १,००० कार्षापण तक मिलता था। रथ किराये पर लेने के लिये ८ कार्षापण प्रति घण्टा दिया जाता था। एक मछली की कीमत ७ माषक तथा शराब के एक गिलास की कीमत १ माषक लिखी गयी है।

तक्षशिला में अध्ययन के लिये जानेवाले विद्यार्थी अपने आचार्य को १,००० कार्षापण दक्षिणा के रूप में प्रदान करते थे। इन थोड़े-से निर्देशों से हम बौद्ध-काल की कीमतों के सम्बन्ध में कुछ अनुमान कर सकते हैं।

चौदहवाँ अध्याय

मौर्यकाल का आर्थिक जीवन

(१) कृषि

वैदिक और बौद्ध युगों के समान मौर्य युग में भी भारत के आर्थिक जीवन में खेती का स्थान सर्वप्रधान था। मैगस्थनीज़ ने लिखा है कि भारतीयों की "दूसरी जाति में किसान लोग हैं जो दूसरों से संख्या में कहीं अधिक जान पड़ते हैं, पर युद्ध करने तथा अन्य राजकीय सेवाओं से मुक्त होने के कारण वे अपना सारा समय खेती में ही लगाते हैं।" एरियन के अनुसार "भारत में बहुत-से लोग किसान हैं जो कि अन्न से अपना निर्वाह करते हैं।" यद्यपि मौर्य युग में भी कृषि ही भारत का मुख्य व्यवसाय था, पर आजकल के समान उस समय कृषकों की दशा हीन और असंतोषजनक नहीं थी। इस सम्बन्ध में मैगस्थनीज़ के भारत-वर्णन के कतिपय संदर्भ महत्त्व के हैं—

"भूमि का अधिक भाग सिंचाई में है। अतः उसमें एक वर्ष में दो फसलें तैयार होती हैं।"

"यहाँ के लोग निर्वाह की सब सामग्री बहुतायत से पाकर प्रायः मामूली डील डौल से अधिक के होते हैं, और अपनी गर्वीली चेष्टा के लिये प्रसिद्ध हैं।"

"भूमि पशुओं के निर्वाह-योग्य तथा अन्य खाद्य पदार्थ भी प्रदान करती है। अतः यह माना जाता है कि भारत में अकाल कभी नहीं पड़ा है, और खाने की वस्तुओं की महँगाई साधारणतया कभी नहीं हुई है। चूँकि यहाँ वर्ष में दो बार वर्षा होती है—एक जाड़े में जबकि गेहूँ की बुआई होती है, और दूसरी गरमी के टिकाव के समय जो कि तिल और ज्वार बोने के लिए उपयुक्त ऋतु है, अतएव भारतवर्ष में दो फसलें काटते हैं, और यदि इनमें से एक फसल बिगड़ भी जाती है तो लोगों को दूसरी फसल का पूरा विश्वास रहता है। इसके अतिरिक्त एक साथ होने वाले फल और मूल जो दलदलों में उपजते हैं और भिन्न-भिन्न मिठास के होते हैं, मनुष्यों को प्रचुर निर्वाह-सामग्री प्रदान करते हैं। बात यह है, कि देश के प्रायः समस्त मैदानों में ऐसी सीलन रहती है जो समभाव से उपजाऊ होती है, चाहे यह सीलन नदियों द्वारा प्राप्त हुई हो और चाहे गरमी की वर्षा के जल द्वारा —जो कि प्रत्येक वर्ष एक नियत समय पर आश्चर्यजनक क्रम के साथ बरसा करता है। कड़ी गरमी मूलों को और विशेषतया कसेरू को पकाती है।"

दुर्भिक्ष की सम्भावना न होने का कारण केवल यही नहीं था कि इस देश में वर्षा नियमित रूप से होती थी, पर भूमि की सिंचाई का अन्य भी प्रबन्ध था। इस विषय में मैगस्थनीज़ ने लिखा है—"परन्तु इतने पर भी भारतवासियों में बहुत-सी ऐसी प्रथाएँ हैं जो उनके बीच अकाल पड़ने की सम्भावना को रोकने में सहायता देती हैं। दूसरी जातियों में युद्ध के समय भूमि को नष्ट करने और इस प्रकार उसे परती व ऊसर कर डालने की

चाल है, पर इसके विपरीत भारतवासियों में, जो कृषक समाज को पवित्र और अवध्य मानते हैं, भूमि जोतने वाले चाहे उनके पड़ोस में युद्ध हो रहा हो, तो भी किसी प्रकार के भय की आशंका से विचलित नहीं होते। दोनों पक्ष के लड़ने वाले युद्ध के समय एक दूसरे का संहार करते हैं, परन्तु जो खेती में लगे हुए हैं उन्हें सर्वतोभाव से निर्विघ्न पड़ा रहने देते हैं। इसके सिवाय न तो वे शत्रु के देश का अग्नि से सत्यनाश करते हैं और न उनके पेड़ काटते हैं।"

भारत में कृषक समाज को पवित्र और अवध्य माना जाता था, इस बात को मैगस्थनीज़ ने अनेक बार दोहराया है। एक अन्य स्थान पर उसने लिखा है—"शत्रु निज भूमि पर काम करते हुए किसी किसान को हानि नहीं पहुँचाता, क्योंकि इस वर्ग के लोग सर्वसाधारण जनता द्वारा हितकारी माने जाने के कारण सब हानियों से बचाये जाते हैं।"

मौर्य युग में किन वस्तुओं की खेती होती थी, इस विषय में मैगस्थनीज़ का यह कथन उल्लेखनीय है—"अनाज के अतिरिक्त सारे भारतवर्ष में, जो नदी नालों की बहुतायत के कारण भले प्रकार सींचा हुआ रहता है, ज्वार इत्यादि भी बहुत पैदा होता है। अन्य अनेक प्रकार की दालें, चावल और वास्फोरम कहलाने वाला एक पदार्थ तथा और बहुत-से खाद्योपयोगी पौदे उत्पन्न होते हैं, जिनमें से बहुतेरे तो एक साथ होते हैं।"

मैगस्थनीज़ के ये उद्धरण मौर्य युग में खेती की दशा के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण निर्देश प्रदान करते हैं। पर कौटलीय अर्थशास्त्र द्वारा खेती के विषय में जो निर्देश मिलते हैं, वे अधिक उपयोगी हैं। मौर्य युग में भारत में किन वस्तुओं की खेती की जाती थी, इस सम्बन्ध में कौटल्य ने लिखा है—"वर्षा ऋतु के प्रारम्भ में शालि (एक प्रकार का धान), व्रीहि (चावल), कोद्रव (कोदों का धान), तिल, प्रियङ्गु (कंगनी का चावल), दारक (सम्भवतः, दाल) और वरक (मोठ) बोयें जाएँ। वर्षा के मध्य में मुद्ग (मूँग), माष (उड़द) और शैव्य (?) बोये जाएँ। वर्षा ऋतु की समाप्ति हो जाने पर कुसुम्भ (कुसुंवा), मसूर, कुलत्थ (कुल्थी), यव (जौं), गोधूम (गेहूँ), कलाय (चना), अतसी (अलसी) और सर्षप (सरसों) को बोया जाए।" कौटलीय अर्थशास्त्र में जो ये विभिन्न अन्न आदि उल्लिखित हैं, वे अब भी भारत में खरीफ और रबी की फसलों में बोये जाते हैं। इनके अतिरिक्त अन्य भी अनेक फसलों का उल्लेख कौटल्य ने किया है, जिनमें इक्षु (ईख) और कार्पास (कपास) प्रमुख हैं। ईख की खेती को कौटल्य ने 'अवर' (निकृष्ट) कहा है, क्योंकि उसमें बहुत-सी बाधाएँ उपस्थित होती हैं, और उसमें परिश्रम और खर्च भी बहुत पड़ता है।

शालि, व्रीहि आदि की फसलें कौटल्य की सम्मति में सर्वश्रेष्ठ थीं, और षण्ड (साक-सब्जी) की मध्यम प्रकार की। ईख की फसल को वह निकृष्ट मानते थे। मौर्य युग में साल में तीन फसलें पैदा की जाती थीं, हैमन (रबी), ग्रैष्मिक (खरीफ) और केदार (जायद)। कर्मकरों और सिंचाई के पानी की उपलब्धि के अनुसार ये तीनों फसलें पैदा करने का प्रयत्न किया जाता था। कैसी भूमि में कौन-सी फसल बोयी जाए, इस विषय का भी कौटल्य ने निरूपण किया है। जो भूमि फेनाघात (नदी के जल से जो आप्लावित हो जाती हो) हो, उस पर वल्लीफल (खरबूजा, तरबूज, लौकी आदि) बोयी जाएँ; जो

भूमि परिवाहान्त (जिस पर सिंचाई होती हो) हो, उस पर पिपल्ली, मृद्वीका (अंगूर) और ईख बोया जाए; जो भूमि कूपपर्यन्त (कुओं के समीप स्थित) हो, उस पर शाक और मूल (मूली आदि) बोये जाएँ; जो भूमि हरणीपर्यन्त (जहाँ पहले तालाब रहे हों और जो उनके सूख जाने पर भी गीली रहती हो) हो, उस पर हरी फसलें बोयी जाएँ, और क्या-रियों की मेड़ों पर सुगन्धि, भैषज्य आदि के पौदे लगाये जाएँ। अर्थशास्त्र में अन्य भी अनेक अन्न, शाक, कन्द-मूल-फल आदि का उल्लेख किया गया है। इनमें मरीच (मिर्च), शृङ्गि (अदरक), गौर सर्षप (श्वेत सरसों), धनिया, जीरा, निम्बू, आम, आँवला, बेर, झरबेरी, फालसा, जामुन, कटहल और अनार उल्लेखनीय हैं। इस प्रसंग में अर्थशास्त्र में अनेक ऐसे भी शब्द आये हैं, जिनका अर्थ स्पष्ट नहीं है। निस्सन्देह, मौर्य युग में बहुत प्रकार के अन्नों, फलों और शाक-कन्द-मूल आदि की खेती की जाती थी। यद्यपि कौटल्य ने ईख की खेती के लिये निकृष्ट माना है, पर उसकी पैदावार कम नहीं थी। ईख के रस से गुड़, मत्स्यण्डिका (दानेदार चीनी), खण्ड (खाँड) और शर्करा (शक्कर) तैयार किये जाते थे। उनसे अनेक प्रकार के शरबत भी बनाये जाते थे। कौटल्य ने निम्बू, आम आदि फलों के रसों को इक्षु-रस से बने गुड़ आदि में मिला कर ऐसे शरबत बनाने का उल्लेख किया है, जो एक मास, छः मास या एक साल तक कायम रह सकें।

फसल की उत्कृष्टता के लिये बीजों को कैसे तैयार किया जाए और खेतों में किस फसल के लिये कौन-सी खाद डाली जाए, इसका भी कौटलीय अर्थशास्त्र में निरूपण किया गया है। धान्य के बीजों को सात रात ओस में रखा जाता था, और दिन में उन्हें सुखाया जाता था। कोशीधान्यों के लिये यही क्रिया तीन दिन तक की जाती थी। ईख आदि की आँखों को खेत में गाड़ने से पूर्व ईख के टुकड़ों के कटे हुए भागों पर मधु घृत, सुअर की चरबी और गोबर को मिलाकर लगाया जाता था। कन्दों को बोने से पहले उनके छेदों पर मधु और घृत का लेप किया जाता था, और बिनौलों को बोने से पूर्व उन्हें गोबर से मल लिया जाता था। खाद के लिये गोबर और हड्डी के चूरे का प्रयोग किया जाता था। जब अंकुर निकल आएँ, तो उन पर मछलियों की खाद और आक का दूध डाला जाता था। मौर्य युग के लोग अभीष्ट फल की प्राप्ति के लिये देवपूजा में विश्वास रखते थे और अनेक प्रकार के अनुष्ठान भी किया करते थे। इसीलिए कौटल्य ने लिखा है, कि जब बीजों का बोना प्रारम्भ किया जाए, तो कुछ बीजों को पानी में भिगो कर और बीच में सुवर्ण रख कर यह मन्त्र पढ़ा जाए—प्रजापति और काश्यप देवताओं को सदा नमस्कार है। हमारी कृषि में सदा वृद्धि हो, और हमारे बीजों और धन में देवी का निवास हो।

यद्यपि मौर्य युग में नदी, सर, तटाक, कूप आदि द्वारा खेती की सिंचाई की समुचित व्यवस्था थी, पर फसल के लिए वर्षा की भी उपेक्षा नहीं की जाती थी। किस ऋतु में, किन दशाओं में और किन प्रदेशों में कितनी वर्षा होती है, इसका ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त कर खेती के लिए उसका उपयोग किया जाता था। वर्षा को मापने के लिए विशेष प्रकार के कुण्ड बनाये जाते थे, जिनका मुख एक अरत्नि चौड़ा होता था। इन्हें कोष्ठागार के सम्मुख वर्षा को मापने के लिए रखा जाता था। इस ढंग से कुण्डों द्वारा वर्षा को माप कर जो परिणाम निकाला गया था, कौटल्य ने उसका उल्लेख इस प्रकार किया है—

जाङ्गल प्रदेशों में १६ द्रोण, अनूप (खादर) प्रदेशों में २४ द्रोण, अश्मक देश में १३।। द्रोण, अवन्ति देश में २३ द्रोण, और अपरान्त (पश्चिमी सीमान्त) तथा हिमालय के प्रदेश में अपरिमित वर्षा होती है। यहाँ 'अपरान्त' से कोंकण सदृश पश्चिमी सीमान्त प्रदेशों का ग्रहण समझना चाहिये। द्रोण भार का अन्यतम मान होता था, जो २०० पल (एक पल = ६४ माषक) के बराबर होता था। एक निश्चित आकार के बने हुए (एक अरत्नि चौड़े) कुण्ड में जितना पानी एकत्र हो जाता था, उसके भार के आधार पर ही विभिन्न प्रदेशों में वर्षा की मात्रा को कौटल्य ने सूचित किया है।

वर्ष के किस भाग में कितनी वर्षा होनी चाहिए, और कब कितनी वर्षा का होना खेती के लिए लाभकर है, इसका विवेचन भी कौटल्य ने किया है। वर्षाऋतु के चार मासों में पहले और चौथे मास में कुल वर्षा का एक तिहाई भाग और बीच के दो मासों में शेष दो तिहाई भाग पड़ना ठीक माना जाता था। ज्योतिष के आधार पर यह भी जानने का प्रयत्न किया जाता था, कि वर्षा कब होगी और कम या अधिक होगी। बृहस्पति के स्थान (स्थिति), गमन (गति) और गर्भाधान से, शुक्र के उदय और अस्त से, और सूर्य के स्वरूप से वर्षा के सम्बन्ध में अनुमान किया जाता था। वर्षा के सम्बन्ध में अनुमान करने के लिए शुक्र की गतिविधि को विशेष महत्त्व दिया जाता था।

वर्तमान समय के समान मौर्य युग में भी खेती के लिए प्रधानतया हलों और बैलों का ही प्रयोग किया जाता था। कौटल्य ने लिखा है कि राजकीय भूमि पर बार-बार हल चलवा कर पहले उसे तैयार कराया जाए, और फिर दासों, कर्मकरों (श्रमिकों) और दण्ड-प्रतिकर्ताओं (कैदियों) द्वारा उस पर बीज बुआये जाएँ, और कर्षण-यन्त्र (हल आदि), उपकरण (खेती के लिए आवश्यक अन्य औजार) और बलीवर्दों (बैलों) की कमी के कारण खेती के काम में बाधा न पड़ने पाए। कृषिकार्य में सहायता के लिए कर्मार, कुट्टाक (कुट्टी काटने वाले), मेदक (कुआँ खोदने वाले), रज्जुवर्तक (रस्सी बटने वाले) और सर्पग्राहि (सांप पकड़ने वाले) लोगों का भी बहुत उपयोग था, अतः उनकी कमी के कारण भी खेती को हानि नहीं पहुँचने दी जाती थी राजकीय भूमि पर खेती करने वाले कर्मकरों को उनके कार्य के अनुसार जहाँ भोजन आदि दिया जाता था, वहाँ साथ ही सवा पण मासिक वेतन भी दिया जाता था। लुहार, बढ़ई आदि शिल्पियों को भी उनके कार्य के अनुरूप भोजन और वेतन प्रदान किया जाता था। यह सब कार्य सीताध्यक्ष के अधीन था।

पर ऐसी भूमि भी होती थी, जिस पर सीताध्यक्ष द्वारा खेती नहीं करायी जाती थी। ऐसी भूमि पर 'करद' (भाग देने वाले) कृषक खेती करते थे। कृषि के योग्य तैयार खेतों को किसानों को खेतों के लिए दे दिया जाता था, पर इन किसानों का भूमि पर अधिकार केवल अपने जीवन-काल के लिए ही होता था। जो भूमि कृषियोग्य न हो, उसे जो लोग खेती के लिए तैयार करें, वह उनसे वापस नहीं ली जाती थी। खेती के लिए जो कृषियोग्य भूमि किसी किसान को दी गई हो, यदि वह स्वयं उस पर खेती न करे, तो उसे उससे लेकर अन्य किसानों को दे दिया जाता था, या उस पर ग्राम-भृतकों (ग्राम की सेवा में नियुक्त कर्मकरों) और वैदेहकों (व्यापारियों) द्वारा खेती करायी जाती थी। इस व्यवस्था का प्रयोजन यह था, कि राजकीय आमदनी में कमी न होने पाए, क्योंकि जो व्यक्ति कृषि-

योग्य भूमि पर खेती नहीं करेगा, वह कर की समुचित मात्रा राज्य को नहीं दे सकेगा। धान्य, पशु, हिरण्य आदि प्रदान कर किसानों के प्रति अनुग्रह भी प्रदर्शित किया जाता था, जिसे कि वे अनुसुख रूप (सुहूलियत) से वापस लौटा सकते थे। यहाँ राज्य द्वारा किसानों को दी जानेवाली तकाबी का निर्देश है।

(२) व्यवसाय और उद्योग

मौर्य युग में खेती भारत की जनता का प्रधान व्यवसाय था। पर साथ ही, अनेक अन्य व्यवसाय और उद्योग भी अच्छी उन्नत दशा में थे। मैगस्थनीज़ ने अपने भारत-वर्णन में अनेकविध शिल्पियों और उद्योगों का उल्लेख किया है। उसने लिखा है—

"वे कला कौशल में भी बड़े निपुण पाये जाते हैं, जैसा कि ऐसे मनुष्यों से आशा की जा सकती है जो कि स्वच्छ वायु में साँस लेते हैं और अत्यन्त उत्तम जल का पान करते हैं।"

अधिक सुसभ्य भारतीय समाजों में भिन्न-भिन्न प्रकार के बहुत-से व्यवसायों में जीवन बिताया जाता है। कई भूमि को जोतते हैं, कई सिपाही हैं, कई व्यापारी हैं। अत्यन्त उच्च और धनाड्य लोग राजकाज के प्रबन्ध में सम्मिलित होते हैं, न्याय विचारते हैं और राजाओं के साथ सभा में बैठते हैं।''

कौटलीय अर्थशास्त्र के अनुशीलन से मौर्य युग के विविध उद्योगों के विषय में समुचित जानकारी प्राप्त की जा सकती है। मैगस्थनीज़ के भारत-वर्णन में भी इन उद्योगों के सम्बन्ध में उपयोगी निर्देश उपलब्ध हैं। मौर्य युग के प्रधान उद्योग निम्नलिखित थे—

(१) **वस्त्र-उद्योग**—मौर्य युग का प्रधान उद्योग सूत कातने और बुनने का था। ऊर्णा (ऊन), वल्क (रेशे), कार्पास (कपास), तूल (रेशेदार पौदा), शण (सन) और क्षेम (रेशम) सूत कातने के लिये प्रयुक्त होते थे। सूत कातने के लिए किस उपकरण का प्रयोग किया जाता था, इसका उल्लेख कौटल्य ने नहीं किया है। पर क्योंकि राज्य की ओर से विधवा, विकलाङ्ग, कन्या, प्रव्रजिता, राजदण्डित, वेश्याओं की बूढ़ी माता और वृद्ध राज-दासी से सूत कातने का काम लिया जाता था, इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि चरखे के सदृश कोई सरल उपकरण ही सूत कातने के लिए प्रयुक्त किया जाता होगा। सूत मोटा है, महीन है या बीच का है, इसकी परीक्षा करके ही उसकी कताई दी जाती थी। सूत कातने का कार्य केवल विधवा आदि से ही नहीं लिया जाता था, अपितु ऐसे शिल्पियों (कारुओं) से भी यह कार्य कराया जाता था, जो कि सुनिर्धारित समय, कार्य और वेतन के अनुसार यह कार्य करना स्वीकार करते थे। इससे सूचित होता है, कि अनेक शिल्पी भी सूत कातने का ही धन्धा किया करते थे।

सूत को बुनाई के लिए बुनने के कारखानों (कर्मान्तों) में भेज दिया जाता था, जहाँ उससे अनेक प्रकार के कपड़े तैयार किये जाते थे। रेशम, ऊन, रूई, सन, रेशे आदि सबके सूत को वस्त्र बनाने के लिए प्रयुक्त किया जाता था। कौटलीय अर्थशास्त्र में अनेक-विध वस्त्रों का उल्लेख किया गया है। ऊन से अनेक प्रकार के कम्बल और अन्य कपड़े बनाये जाते थे। कम्बल तीन प्रकार के होते थे, शुद्ध (ऊन के असली रंग के), शुद्धरक्त

(हल्के लाल रंग के) और पद्मरक्त (लाल कमल के रंग के)। इन्हें चार प्रकार से बनाया जाता था, खचित (बटी हुई ऊन से), वानचित्र (रंग-विरंगी ऊन से), खण्डसंघात्य (पट्टियों को जोड़ कर) और तन्तुविच्छिन्न (ताने-बाने से बुन के)। ऊनी कपड़े की निम्नलिखित किस्में कौटल्य ने लिखी हैं—कौचपक (ग्वालों द्वारा ओढ़ा जाने वाला मोटा कम्बल), कुलमितिका (सिर पर ओढ़े जाने वाला शाल), सौमितिका (बैलों के ऊपर ओढ़ाया जाने वाला कम्बल), तुरगास्तरण (घोड़ों की झूल), वर्णक (रंगीन), तलिच्छक (बिस्तर पर बिछाया जाने वाला आवरण), वारवाण (जिससे पहनने के कोट आदि बनाये जाएँ), परिस्तोम (ओढ़ने का कम्बल या लोई), और समन्तभद्रक (हाथी पर डाले जानी वाली झूल)। जो ऊनी वस्त्र चिकना, आर्द्र (सम सतह वाला), सूक्ष्म (महीन) और मृदु (नरम) हो, उसे श्रेष्ठ माना जाता था।

भेड़ की ऊन गरम कपड़ों के निर्माण के लिए मुख्य साधन थी। जब भेड़ बकरी पर ऊन छः मास की हो जाए, तब उसे काट लिया जाता था और उसे कताई के लिए भेज दिया जाता था। ऊन के अतिरिक्त अन्य पशुओं के बाल भी वस्त्र बनाने के लिए प्रयोग में लाये जाते थे। इन्हें कौटल्य ने 'मृगरोम' कहा है। इनसे सम्पुटिका (जङ्घत्राण या जाँघिया), चतुरश्रिका (आयताकार वस्त्र), लम्बरा (महीन परदा), कटवानक (मोटा परदा), प्रावरक (परदा) और सत्तलिका (गलीचा) का निर्माण किया जाता था।

सन के अतिरिक्त जिन अन्य पौदों और वृक्षों के रेशों से कपड़े बनाये जाते थे, उनके नाम भी कौटल्य ने लिखे हैं, नागवृक्ष, लिकुच, वकुल और वट। नागवृक्ष के रेशे पीले रंग के होते हैं, लिकुच के गेहुँए रंग के, वकुल के श्वेत रंग के और वट के मक्खन के रंग के। इन विभिन्न वृक्षों के रेशों द्वारा भी उत्कृष्ट प्रकार के वस्त्रों का निर्माण किया जाता था।

मौर्य साम्राज्य के विविध प्रदेशों में किस-किस प्रकार के वस्त्र बनते थे, और उनमें से किन्हें श्रेष्ठ माना जाता था, इसका परिचय भी कौटलीय अर्थशास्त्र से मिलता है। वहाँ लिखा है—बंग देश का कपड़ा श्वेत, चिकना और महीन होता है; पुण्ड्र देश का कपड़ा काला और मणि के समान चिकना होता है; और सुवर्णकुड्य देश का कपड़ा सूर्य के रंग का और मणि के समान चिकना होता है। उसे जल से भिगो कर बुना जाता है, और वह चतुरश्रवान (सीधे ताने-बाने से बुना हुआ) और व्यामिश्रवान (उलटा टेढ़ा बुना हुआ) दोनों प्रकार का होता है। ये एक तह, आधी तह, दो तह, तीन तह और चार तह के बनाये जाते हैं। काशी और पुण्ड्र देशों में रेशमी कपड़े भी बनाये जाते हैं। मगध, पुण्ड्र और सुवर्णकुड्य में रेशों के वस्त्र भी बनते हैं। सुवर्णकुड्य के रेशों से बने कपड़े श्रेष्ठ होते हैं, और काशी तथा चीन-भूमि (चीन देश) के बने हुए रेशमी कपड़े। सूती कपड़े मधुरा (मदुरा), अपरान्त (कोंकण), कलिङ्ग (उड़ीसा), काशी, बङ्ग (बंगाल), वत्स (राजधानी कौशाम्बी) और माहिष्मती के श्रेष्ठ होते हैं।

ब्रिटिश शासन से पूर्व तक बंग देश की मलमल (श्वेत, महीन और चिकनी) विश्वविख्यात थी, काशी का रेशम अब तक श्रेष्ठ माना जाता है, और सुदूर दक्षिण के सूती कपड़े आज भी भारत में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। चीन के रेशमी कपड़े मौर्य युग

में भी श्रेष्ठता के लिए प्रसिद्ध थे, और वे विक्रय के लिए अवश्य ही भारत में आया करते होंगे।

कौटलीय अर्थशास्त्र के इस विवरण से यह भलीभाँति प्रगट है कि मौर्य युग में वस्त्र-उद्योग बहुत उन्नत दशा में था। इस बात की पुष्टि मैगस्थनीज़ के भारत-वर्णन द्वारा भी होती है। उसने लिखा है, कि "अपनी चाल की साधारण सादगी के प्रतिकूल वे भारतीय बारीकी और सजावट के प्रेमी होते हैं। उनके वस्त्रों पर सोने का काम किया रहता है। ये वस्त्र मूल्यवान् रत्नों से विभूषित रहते हैं, और (भारतीय) लोग अत्यन्त सुन्दर मलमल के बने हुए फूलदार कपड़े पहनते हैं। सेवक लोग उनके पीछे-पीछे छाते लगाये चलते हैं। क्योंकि वे अपने सौन्दर्य का बहुत ध्यान रखते हैं, और अपने स्वरूप को संवारने में कोई उपाय उठा नहीं रखते।"

"वे मलमल पहनते हैं, पगड़ी पहनते हैं, सुगन्धित द्रव्यों का व्यवहार करते हैं, और चमकीले रंगों में रंगे हुए पहरावों को धारण करते हैं।"

वस्त्र-उद्योग के साथ सम्बन्ध रखने वाले कतिपय अन्य उद्योग या व्यवसाय भी थे, जिनका इसी प्रकरण में उल्लेख करना उपयोगी होगा। ये उद्योग निम्नलिखित थे— (१) रस्सी बनाना—कौटल्य ने तन्तुवायों (जुलाहों) के साथ ही रस्सी बनाने वालों का भी उल्लेख किया है, जो सूत्राध्यक्ष के अधीन व नियन्त्रण में रहते हुए कार्य करते थे। रस्सी और रस्सों को बनाने के लिये सूत, रेशे, बेंत और बाँस का प्रयोग किया जाता था। सूत और रेशों से बनी रस्सी को 'रज्जू' कहते थे, और बेंत और बाँस से बनी रस्सी को 'वस्त्रा'। (२) कवच बनाना—युद्ध के लिये कवचों का बहुत उपयोग था। उनके निर्माण के लिये पृथक् कर्मान्त (कारखाने) होते थे, जिनमें इस शिल्प के विशेषज्ञ कारु और शिल्पी कवचों को बनाते थे। (३) रंगने का उद्योग—सूती, ऊनी आदि वस्त्रों का रंगना भी एक महत्त्वपूर्ण उद्योग था। रंगरेजों को 'रक्तक' कहते थे। धुलाई के लिये जो दर नियत थी, उससे दुगुनी दर से रक्तकों को कपड़े रंगने की मजदूरी दी जाती थी। (४) धोबी का व्यवसाय—रजक (धोबी) को भी अर्थशास्त्र में 'कारु' कहा गया है। धोबी काठ के पटरे और चिकनी शिला पर ही कपड़े फटक सकते थे। अन्यत्र फटकने पर उनसे न केवल वस्त्र को हुई हानि की क्षति-पूर्ति करायी जाती थी, अपितु छः पण जुरमाना भी वसूल किया जाता था। धोबियों के अपने पहनने के कपड़ों पर मुद्गर का निशान अंकित कर दिया जाता था। इसका प्रयोजन यह था, कि वे किसी ग्राहक के कपड़ों को स्वयं पहन लेने के काम में न ला सकें। यदि किसी धोबी को कोई ऐसा वस्त्र पहने हुए पाया जाए, जो कि मुद्गर के चिह्न से अंकित न हो, तो उस पर तीन पण जुरमाना किया जाता था। यदि धोबी ग्राहक के वस्त्र को बेच दे या किसी अन्य धोबी से क्रय करे या गिरवी रख दे, तो उसे बारह पण जुरमाने का दण्ड दिया जाता था। यदि धोबी ग्राहक के कपड़े बदल दे, तो उसे असली वस्त्र वापस करना होता था, अन्यथा उसपर वस्त्र की कीमत का दुगुना दण्ड पड़ता था। धोबी बहुत शीघ्र कपड़े धोकर वापस लौटा देते थे। जिन कपड़ों को केवल धोकर श्वेत कर देना हो या जिनका असली रंग ही धोकर निखार देना हो, उनके लिये एक रात (एक अहोरात्र) का समय पर्याप्त समझा जाता था। इससे अधिक देर करने पर

धोबी को दण्ड दिया जाता था। पर यदि कपड़े को धोने के अतिरिक्त रंगना भी हो, तो अधिक समय दिया जाता था। हलके रंग में रंगने के लिये पाँच दिन, नीले रंग से रंगने के लिये छः दिन, और पुष्प, लाक्षा, मञ्जिष्ठ व आरक्त (गाढा लाल) रंगों में रंगने के लिये सात दिन का समय अपेक्षित समझा जाता था। जिन कपड़ों को धोने और रंगने में विशेष परिश्रम और ध्यान की आवश्यकता हो, उनके लिये भी सात दिन का समय दिया जाता था। इससे अधिक देर करने पर रजक को धुलाई और रंगाई की धनराशि नहीं दी जाती थी। यदि धुलाई के सम्बन्ध में कोई विवाद उपस्थित हो जाय, तो उसका निर्णय कुशलों (विशेषज्ञों) द्वारा किया जाता था। मौर्य युग में धुलाई की दर बहुत पर्याप्त थी। उत्कृष्ट वस्त्रों की धुलाई एक पण थी, मध्यम प्रकार के वस्त्रों की आधा पण, और घटिया कपड़ों की धुलाई चौथाई पण नियत थी। मोटे कपड़ों की धुलाई के लिये एक माषक दिया जाता था। (५) दर्जी (तुन्नवाय) का व्यवसाय—कौटलीय अर्थशास्त्र तुन्नवायों (दर्जियों) का उल्लेख भी आया है, जिससे सूचित होता है कि मौर्य युग के दर्जी अनेक प्रकार के वस्त्र भी सिया करते थे। पर इन वस्त्रों के विषय में कोई विशद सूचना अर्थशास्त्र से उपलब्ध नहीं होती। मौर्य युग के स्त्री-पुरुष किस प्रकार के सिले हुए वस्त्र पहना करते थे, यह ज्ञात नहीं है। मैगस्थनीज़ के विवरण से केवल यही ज्ञात होता है, कि इस युग के भारतीय कीमती रत्नों से विभूषित और फूलदार मलमल के कपड़े पहना करते थे।

(२) **धातु उद्योग**—खानों से कच्ची धातु निकालने, उसे धातुओं के रूप में परिवर्तित करने और धातुओं से अस्त्र-शस्त्र, उपकरण, आभूषण आदि बनाने का उद्योग भी मौर्य युग में बहुत उन्नत दशा में था। कौटल्य ने कोश (राज्यकोश) को 'आकर-प्रभव' (खानों से उत्पन्न या खानों पर आधारित) कहा है। साथ ही, संग्राम के सब उपकरण (अस्त्र-शस्त्र, कवच आदि) भी खानों से ही प्राप्त होते हैं। इस दशा में यह स्वाभाविक था, कि मौर्य युग के राजा खानों और धातु-उद्योग पर विशेष ध्यान देते। ऐसी खानें अच्छी समझी जाती थीं, जो प्रभूतसार (जिनसे बहुमूल्य द्रव्य प्रभूत मात्रा में उपलब्ध होते हों), अदुर्गमार्ग (जिन तक पहुँचने का मार्ग कठिन न हो), अल्पव्यय (जिन पर खर्च अधिक न पड़ता हो) और अल्प-आरम्भ (जिनसे धातु निकालने में अधिक परिश्रम न पड़े) हों। खानों का विभाग एक पृथक् अमात्य के अधीन होता था, जिसे 'आकराध्यक्ष' कहते थे। उसके अधीन 'खन्यध्यक्ष', 'लोहाध्यक्ष', 'लक्षणाध्यक्ष', 'लवणाध्यक्ष' आदि बहुत-से अमात्य कार्य करते थे। आकराध्यक्ष के लिये यह आवश्यक था, कि वह शुल्व-धातुशास्त्र (ताम्र आदि धातुओं की विद्या), रसपाक (पारे आदि के निर्माण की विद्या) और मणियों की पहचान में प्रवीण हो, और उसके अधीन ऐसे कर्मकर भी कार्य करने के लिये हों, जो कि धातु-सम्बन्धी कार्यों में निपुण हों। साथ ही, उसके पास ऐसे उपकरण भी होने चाहिये, जो खानों से धातुएँ निकालने के लिये आवश्यक हों। आकराध्यक्ष के कर्मचारी मैदानों और पहाड़ों में स्थित खानों का पता लगाते थे। कच्ची धातु की परीक्षा भार, रङ्ग, गन्ध, स्वाद आदि द्वारा की जाती थी। यह भी देखा जाता था, कि खान का पहले उपयोग हुआ है या नहीं। किसी खान का पहले उपयोग किया जा चुका है, इसका परिज्ञान वहाँ उपलब्ध कोयले, राख, धातु पिघलाने के बर्तनों के टूटे हुए टुकड़ों आदि से किया जा

सकता था। किस खान में कौन-सी धातु विद्यमान है, इसका पता करने के लिये कौटलीय अर्थशास्त्र में अनेक पहचानें लिखी गई हैं। यदि पहाड़ के गड्ढों, गुहाओं, उपत्यकाओं, दरारों और खोदे गये स्थानों से जम्बू (जामुन), चूत (आम), तालफल (ताड़), पक्वहदिद्रा (हलदी), हड़ताल, मनःशिला (मनसिल), शहद, हिंगुलक (सिंगरफ): तोते, कमल और मोर के पंखों के रंग के द्रव बहते हों, और इन द्रवों में काई के समान चिकनाहट हो, और ये पारदर्शक तथा भारी भी हों, तो समझना चाहिये कि वहाँ सोने की कच्ची धात विद्यमान है, और ये द्रव उसी से मिलकर निकल रहे हैं। यदि द्रव को पानी में डालने पर वह तेल की तरह सारी सतह पर फैल जाए और सब मैल तथा गर्द को इकट्ठा कर ले, तो वहाँ तांबे और चाँदी का मिश्रण समझना चाहिये। यदि ऐसा द्रव निकल रहा हो, जो देखने में तो इसी प्रकार का हो पर उसकी गन्ध और स्वाद बहुत तेज हों, तो वहाँ शिलाजतु की सत्ता होगी।

कहाँ कौन-सी धातु है, और कच्ची धातों की किस प्रकार पहचान की जा सकती है, इस विषय पर कौटल्य ने पर्याप्त विस्तार के साथ लिखा है। उस सब को यहाँ उद्धृत करना उपयोगी नहीं है। पर अर्थशास्त्र के इस विवरण को पढ़कर यह भली भाँति ज्ञात हो जाता है, कि मौर्य युग में धातुविद्या भलीभाँति उन्नत थी, और 'आकराध्यक्ष' के कर्मचारी पर्वतों और मैदानों में विद्यमान खानों की तलाश में निरन्तर प्रयत्नशील रहते थे।

कच्ची धात को खान से ले जाकर उसे शुद्ध धातु के रूप में परिवर्तित किया जाता था। इसके लिये बहुत-से कर्मान्त (कारखाने) विद्यमान थे। यह कार्य किस प्रकार किया जाता था, इस पर भी अर्थशास्त्र से प्रकाश पड़ता है। धातु में मिले हुए अशुद्ध द्रव्यों को शुद्ध धातु से पृथक् करने के लिये कच्ची धात को तीक्ष्ण मूत्र और क्षार में डाल कर भावना देनी चाहिये,फिर राजवृक्ष, वट, पेलु और गोपत्ति के साथ मिलाकर उसे तपाना चाहिये। साथ ही, भैंसे, गधे और हाथी के मूत्र तथा गोबर व लीद को बीच में डाल देना चाहिये। इस प्रकार तपाने पर शुद्ध धातु कच्ची धात से पृथक् हो जायगी।

धातुओं को नरम और लचकदार बनाने की विधियाँ भी कौटल्य ने लिखी हैं। कन्दली और वज्रकन्द के चूरे, तथा यव, माष, तिल, पलाश और पीलु की राख और गाय व बकरी के दूध को मिलाकर उनसे मलने पर धातुएँ नरम हो जाती हैं। ऐसी ही अन्य भी अनेक विधियाँ अर्थशास्त्र में उल्लिखित हैं। नाना विधियों द्वारा शुद्ध धातुओं को तैयार करना और धातुओं को नरम, चमकीला व कठोर बनाना एक ऐसा शिल्प था, जो मौर्य युग में अच्छी तरह विकसित हो चुका था। खनिज पदार्थों में कौटल्य ने सोना, चाँदी ताम्बा, सीसा, लोहा, टिन, वैकृन्तक, पीतल, वृत्त (?), कंस (कांसी), हड़ताल, मनसिल, शिलाजीत, सिंगरफ, नमक, मणि और शिला-प्रस्तरों का उल्लेख किया है। निस्सन्देह, इन सबके कारखाने मौर्ययुग में विद्यमान थे। खानों और कर्मान्तों से धातु आदि की चोरी न हो सके, इसके लिये समुचित व्यवस्था की गई थी। खान में काम करने वाला कोई व्यक्ति यदि धातु आदि की चोरी करे, तो चोरी किये गये द्रव्य की कीमत का आठ गुना उस पर जुरमाना किया जाता था। पर रत्नों की चोरी के लिये सम्भवतः मृत्यु दण्ड का विधान था। यदि कोई अन्य व्यक्ति (जो खान या कर्मान्त में कार्य न करता हो) धातु

आदि की चोरी करे या राज्य से अनुमति प्राप्त किये बिना धातुएँ तैयार करे, तो उसे गिरफ्तार कर कैदी के रूप में कार्य करने के लिये विवश किया जाता था। यद्यपि धातुओं के कारखानों और खानों का सञ्चालन राज्य की ओर से होता था, पर जिन कारखानों और खानों में बहुत अधिक धनराशि लगाने की आवश्यकता हो, उन्हें राज्य की ओर से अन्य व्यक्तियों के भी सुपुर्द कर दिया जाता था, जिसके बदले में राज्य या तो निर्धारित किराया लेता था और या पैदावार का निश्चित भाग। इस प्रकार मौर्य युग में धातु-उद्योग के निजी क्षेत्र (प्राइवेट सेक्टर) की भी सत्ता थी। उस युग में भी यह स्वीकार किया जाता था, कि उद्योगों के लिये पूँजीपतियों का उपयोग है।

आकराध्यक्ष के अधीन सबसे महत्त्वपूर्ण अमात्य 'लोहाध्यक्ष' था, जो ताम्र, सीस (सीसा), त्रपु, वैकृन्तक आदि धातुओं के कारखानों का सञ्चालन करता था। एक अन्य अमात्य 'खन्यध्यक्ष' था, जो सामुद्रिक आकरों से शंख, वज्र, मणि, मुक्ता, प्रवाल आदि निकलवाने की व्यवस्था करता था। नमक की गिनती भी खनिज पदार्थों में की जाती थी, जिसके लिये 'लवणाध्यक्ष' की नियुक्ति की जाती थी। लोहे का मुख्य उपयोग अस्त्र-शस्त्र और कृषि एवं उद्योगों के उपकरणों के निर्माण के लिये था, और ताँबे, पीतल आदि का बरतनों के निर्माण के लिये। सोना और चाँदी जहाँ आभूषण बनाने के लिये प्रयुक्त होते थे, वहाँ साथ ही सिक्के बनाने के लिये भी प्रधानतया उन्हीं को प्रयुक्त किया जाता था, यद्यपि माषक, अर्धमाषकं सदृश छोटे सिक्के ताँबे से भी बनाये जाते थे। मुद्रापद्धति का संचालन लक्षणाध्यक्ष के अधीन था, जो आकराध्यक्ष के नियन्त्रण में अपने कार्य का सम्पादन करता था।

खानों और धातुओं के कर्मान्तों (कारखानों) से जो माल उपलब्ध होता था, उसकी बिक्री की व्यवस्था भी राज्य द्वारा की जाती थी। लोहा, ताँबा, त्रपु आदि धातुओं का विक्रय लोहाध्यक्ष के अधीन था, शंख मुक्ता आदि का विक्रय खन्यध्यक्ष के और नमक का लवणाध्यक्ष के। चाँदी और सोने को शुद्ध रूप से तैयार करने और उन द्वारा विविध प्रकार के आभूषणों को बनवाने का कार्य एक पृथक् विभाग द्वारा किया जाता था, जिसके अध्यक्ष को 'सुवर्णाध्यक्ष' कहते थे।

खानों और धातु-उद्योग के विषय में मैगस्थनीज़ ने भी अपने भारत-वर्णन में लिखा है। उसके अनुसार "भूमि तो अपने ऊपर हर प्रकार के फल, जो कृषि द्वारा उत्पन्न होते हैं, उपजाती ही है, पर उसके गर्भ में भी सब प्रकार की धातुओं की अनगिनत खानें हैं। उनमें सोना, चाँदी बहुत होता है, और ताँबा तथा लोहा भी कम नहीं होता। जस्ता और दूसरी धातुएँ भी होती हैं। इनका प्रयोग आभूषण की वस्तुओं और लड़ाई के हथियार तथा साज आदि बनाने के निमित्त होता है।

(३) **नमक-उद्योग**—नमक बनाने का व्यवसाय राज्य द्वारा अधिकृत था, और आकराध्यक्ष के अधीन 'लवणाध्यक्ष' नाम का अमात्य उसका सञ्चालन करता था। नमक बनाने के लिये राज्य से लाइसेन्स लेना होता था। लाइसेन्स प्राप्त करके जो व्यक्ति नमक बनाने का कार्य करते थे, वे पाकमुक्त लवण (तैयार हुए शुद्ध नमक) का निर्धारित भाग और प्रक्रय (नमक के कर्मान्त का किराया) लवणाध्यक्ष को प्रदान करते थे। इस प्रकार

जो नमक लवणाध्यक्ष के पास संगृहीत हो जाता था, उसकी बिक्री राज्य द्वारा करायी जाती थी। राज्य की अनुमति के बिना नमक का क्रय-विक्रय कर सकना निषिद्ध था। विदेशों से जो नमक बिकने के लिये आता था, उस पर भी अनेकविध कर लिये जाते थे।

(४) रत्न, मुक्ता आदि का उद्योग—समुद्ररूपी खान से शंख, मुक्ता आदि बहुमूल्य वस्तुओं को निकालने का कार्य 'खन्यध्यक्ष' के अधीन था, जो आकराध्यक्ष की अधीनता में अपने विभाग का सञ्चालन करता था। समुद्र से प्राप्त होने वाले शंख, मुक्ता प्रवाल आदि को साफ करने और उनसे विविध वस्तुएँ बनवाने के लिये अनेक कर्मान्त भी स्थापित थे। मणि-मुक्ता का व्यवसाय मौर्यकाल में बहुत उन्नत था। कौटल्य ने मुक्ताओं (मोतियों) के बहुत-से भेद लिखे हैं।

मोतियों का प्रयोग प्रधानतया हार बनाने के लिये किया जाता था। अर्थशास्त्र में अनेक प्रकार की मुक्ता-यष्टियों (मोती की मालाओं) का उल्लेख किया गया है—शीर्षक (एक समान आकार के मोतियों की ऐसी माला जिसके मध्य में एक बड़ा मोती हो), उपशीर्षक (एक समान आकार के मोतियों की ऐसी माला जिसके मध्य में पाँच बड़े मोती हों), प्रकाण्ड (बीच में एक बड़ा मोती रखकर उसके दोनों ओर जो मोती पिरोये जाएँ, उनका आकार क्रमानुसार घटता जाये), अवघाटक (जिसके सब मोती एक समान आकार के हों), तरल प्रतिबन्ध (ऐसी माला जिसके मध्य में एक अत्यन्त चमकीला मोती लगाया गया हो)।

मोतियों की बहुत-सी लड़ियों से बड़े-बड़े हार बनाये जाते थे, जिन्हें अत्यन्त समृद्ध व्यक्ति ही प्रयुक्त कर सकते थे। इन्द्रच्छन्द हार में १००८ मुक्ता-यष्टियाँ होती थीं, विजयच्छन्द हार में ५०४, अर्धहार में ६४, रश्मिकलाप में ५४, गुच्छहार में ३२, नक्षत्र-माला हार में २७, अर्धगुच्छहार में २४, माणवक हार में २०, और अर्धमाणवक हार में १२। इसी प्रकार के अन्य भी बहुत-से हारों का उल्लेख कौटल्य ने किया है, जिनमें कोई मणि भी मोतियों की लड़ियों के बीच में लगायी जाती थी। अर्थशास्त्र के इस विवरण को पढ़ कर इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता, कि मौर्य युग में मोतियों के हार बनाने का शिल्प बहुत उन्नत था।

मोतियों की लड़ियाँ और हार गले में पहनने के लिये बनाये जाते थे, और साथ ही सिर, हाथ, पैर और कटि (कमर) आदि के लिये भी। इन विविध प्रकार के हारों के लिये पृथक्-पृथक् संज्ञाएँ थीं, और इनके निर्माण के लिये सुवर्ण-सूत्र का भी प्रयोग किया जाता था।

मोतियों के अतिरिक्त अनेकविध मणियों को प्राप्त करना भी खन्यध्यक्ष का कार्य था। मणियों के तीन मुख्य भेद थे—कोट (कूट-पर्वत से प्राप्तव्य), मालेयक (मलय पर्वत से प्राप्तव्य) और पारसमुद्रक (समुद्र पार से प्राप्तव्य)। स्थान भेद के सिवाय रूप-भेद से भी मणियों को अनेक वर्गों में विभक्त किया जाता था—सौगन्धिक (जो रक्त पद्म या पारिजात पुष्प के समान निर्दोष लाल रंग की हो, और जिसमें बाल सूर्य के समान चमक हो), वैदूर्य (जो नील कमल या शिरीष पुष्प या जल या कच्चे बाँस या सूखे पत्ते के रंग की

हो), पुष्पराग, गोमूत्रक, गोमेदक, नीलावलीयक, इन्द्रनील, कलग्यपुष्पक, महानील, जाम्बवाभ, जीमूतप्रभ, नन्दक, स्रवन्मध्य, शीतवृष्टि और सूर्यकान्त आदि। वे मणियाँ उत्कृष्ट मानी जाती थीं, जो आकार में षट्कोन, चौकोन या गोल हों, जिनका रंग गाढ़ा और चमकीला हो, जो चिकनी और भारी हों, जिनसे किरणें फूटती हों और जो पारदर्शक हो। सौगन्धिक आदि जिन मणियों का ऊपर परिगणन किया गया है, उन सबको उत्कृष्ट माना जाता था। कतिपय मणियाँ घटिया किस्म की भी थीं। इनके नाम भी कौटलीय अर्थशास्त्र में दिये गये हैं।

मुक्ता और मणि के अतिरिक्त वज्र (हीरे) भी खन्यध्यक्ष द्वारा एकत्र कराये जाते थे। इन्हें खानों और स्रोतों से प्राप्त किया जाता था।

मोती, मणि और हीरे आदि से विविध प्रकार के आभूषणों को बनाने और मणि तथा हीरे को काटकर निश्चित आकार प्रदान करने का कार्य 'मणिकारुओं' द्वारा किया जाता था।

(५) **शराब का उद्योग**—सुरा (शराब) का उद्योग 'सुराध्यक्ष' के अधीन था, जो शराब बनवाने और उसकी बिक्री की सब व्यवस्था कराता था। इसके लिये सुरा-निर्माण में दक्ष व्यक्तियों को राजकीय सेवा में रखा जाता था। शराब की बिक्री का प्रबन्ध नगरों, देहातों और छावनियों में सर्वत्र किया जाता था। सुरा छः प्रकार की होती थी, मेदक, प्रसन्न, आसव, अरिष्ट, मैरेय और मधु। एक द्रोण जल, आधा आढ़क चावल और तीन प्रस्थ किण्व (fermant) मिलाकर मेदक सुरा तैयार की जाती थी। मेदक के निर्माण में जल और चावल का अनुपात ८ और १ का होता था, और खमीर उठाने के लिये उसमें किण्व डाला जाता था। प्रसन्न सुरा को बनाने के लिये अन्न (चावल, जौ आदि) की पीठी के अतिरिक्त दालचीनी आदि मसाले भी पानी में मिलाये जाते थे। कौटल्य ने अन्य प्रकार की सुराओं के निर्माण की विधियाँ भी दी है, जिन्हें यहाँ लिखने की आवश्यकता नहीं है।

सुरा के सेवन पर अनेक प्रकार के नियन्त्रण विद्यमान थे। उसके क्रय-विक्रय के स्थान नियत थे, जिनके अतिरिक्त अन्य कहीं शराब नहीं बेची जा सकती थी। इस नियम का उल्लंघन करने पर ६०० पण जुरमाने का विधान था। नियत स्थान से शराब को अन्यत्र ले जाना निषिद्ध था। यह ध्यान में रखा जाता था, कि शराबखाने एक दूसरे से पर्याप्त दूरी पर हों। सुरा का सेवन केवल ऐसे व्यक्तियों को ही करने दिया जाता था, जो 'वेदित-ज्ञात-शौच' (जिनकी शुचिता या तो ज्ञात हो और या ज्ञात करा दी गई हो) हों। कौटल्य ने लिखा है, कि कर्मचारी और कर्मकर निर्दिष्ट कार्य में प्रमाद न करने लग जाएँ, आर्य जन कहीं मर्यादा का अतिक्रमण न करने लगें, और तीक्ष्ण प्रकृति के व्यक्तियों की उत्साह-शक्ति में क्षीणता न आ जाये, अतः केवल निर्धारित मात्रा में ही शराब दी जाया करे। इसीलिये मैगस्थनीज ने यह लिखा है कि 'वे (भारतवासी) यज्ञों के सिवाय कभी मदिरा नहीं पीते। उनका पेय जौं के स्थान पर चावल द्वारा निर्मित एक रस है।' क्योंकि सुरा का सेवन राज्य द्वारा नियन्त्रित था, इसी कारण मैगस्थनीज ने भारत में यह अनुभव किया था, कि यहाँ के लोग मदिरा का पान नहीं करते हैं।

यद्यपि शराब का व्यवसाय राज्य के हाथों में था, पर कतिपय अवसरों पर अन्य लोग भी स्वतन्त्रता के साथ शराब का निर्माण कर सकते थे। कौटल्य ने लिखा है कि विशेष कृत्यों के अवसरों पर कुटुम्बी (गृहस्थ) लोग श्वेत सुरा का स्वयं निर्माण कर सकते हैं, और औषधि के प्रयोजन से अरिष्टों का भी। इसी प्रकार उत्सव, समाज (सामूहिक समारोह) और यात्राओं के अवसर पर चार दिन के लिये सब किसी को सुरा-निर्माण की स्वतन्त्रता थी।

(६) **चमड़े का उद्योग**—मौर्य युग में चमड़े का उद्योग भी अच्छी उन्नत दशा में था। कौटल्य ने अनेक प्रकार की खालों का उल्लेख किया है—कान्तनावक (इस खाल का रंग मोर की गरदन के सदृश होता था), प्रैयक (इस खाल पर नीले, श्वेत और पीले रंग के बिन्दु पड़े होते थे), उत्तरपर्वतक (यह उत्तरी पर्वतों से प्राप्त होने वाली विशेष प्रकार की खाल होती थी), बिसी (इस खाल पर बड़े-बड़े बाल होते थे, और इसका कोई विशेष रंग नहीं होता था), महाबिसी (यह श्वेत रंग की सख्त खाल होती थी), श्यामिका (यह खाल कपिल रंग की होती थी और इस पर बिन्दु पड़े होते थे), कालिका (यह खाल कपिल और कपोत के रंग की होती थी), कदली (यह एक सख्त खाल होती थी), चन्द्रोत्तरा (यदि कदली खाल पर चाँद की तरह के चकत्ते हों, तो उसे चन्द्रोत्तरा कहते थे), शाकुला (इस खाल पर कोढ़ के ढंग के या मृग की खाल के समान चकत्ते होते थे), सामूर (यह अंजन के रंग की काली खाल होती थी) चीनसी (यह खाल लाल-काले रंग की या पाण्डु-काले रंग की होती थी), सामूली (यह गेहुँए रंग की होती थी), सातिना (काले रंग की खाल), नलतूला (नल घास के रंग की खाल), कपिला (कपिल रंग की खाल) और वृत्तपुच्छा (भूरे रंग की एक विशेष प्रकार की खाल)।

इन विविध प्रकार की खालों के सम्बन्ध में कुछ अन्य विवरण भी अर्थशास्त्र में उपलब्ध है। कान्तनावक और प्रैयक खालों की चौड़ाई ८ अंगुल होती थी। बिसी और महाबिसी चौड़ाई में १२ अंगुल होती थीं। श्यामिका और कालिका चौड़ाई में ८ अंगुल, कदली लम्बाई में १ हाथ, चन्द्रोतरा लम्बाई में ८ अंगुल, और सामूर लम्बाई में ३६ अंगुल होती थीं। ये सब खालें जंगली जन्तुओं की होती थीं, सम्भवतः, जिनका शिकार उनकी कीमती खालों के लिये ही किया जाता था। इनमें से बहुत-सी खालें हिमालय या उनकी तराई के जंगलों से ही प्राप्त की जाती थीं। बिसी और महाबिसी खालें 'द्वादश ग्राम' में उपलब्ध थीं; श्यामिका, कालिका, कदली, चन्द्रोत्तरा और शाकुला को 'आरोह' से प्राप्त किया जाता था; और सामूर, चीनसी तथा सामूली को बाह्लव से। ये द्वादश-ग्राम, आरोह और बाह्लव हिमालय के क्षेत्र में ही स्थित थे।

कौटलीय अर्थशास्त्र के इस विवरण द्वारा इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता, कि मौर्ययुग में अनेक प्रकार की खालों को एकत्र करने का व्यवसाय बहुत उन्नत था। आधुनिक समय में भी विविध प्रकार की फरें जंगली जन्तुओं को मार कर प्राप्त की जाती हैं, और वे बहुत अधिक कीमत पर बिकती हैं। कौटल्य ने इन चर्मों को 'रत्नों' में गिना है. और इनका उल्लेख मणि, मुक्ता, चन्दन आदि बहुमूल्य पदार्थों के साथ किया है। कोशाध्यक्ष जिन कीमती रत्न, सार, कुप्य आदि का कोशागार में संग्रह करता था, ये चम

भी उन्हीं में थे। कौटल्य ने उन चर्मों को श्रेष्ठ कहा है, जो नरम, चिकने और प्रभूत बालों वाले हों। चर्म का यह रूप आधुनिक समय की फरों को ही सूचित करता है। कान्तनावक आदि विविध प्रकार की फरों की ही संज्ञा थी।

बहुमूल्य चर्मों (खालों) के अतिरिक्त गाय, बैल, भैंस, भेड़, बकरी आदि पशुओं की खालें भी अनेकविध कार्यों के लिये प्रयुक्त की जाती थीं। जो पशु स्वयं मर जाते थे या जिनका सूनाओं (बूचड़खानों) में वध किया जाता था, उनकी खालें जूते आदि बनाने के प्रयोग में लायी जाती थीं। मैगस्थनीज़ ने चमड़े के श्वेत जूतों का वर्णन किया है। नियार्कस के अनुसार भारतीय लोग श्वेत रंग के चमड़े के जूतों को पहना करते थे। ये जूते बहुत बढ़िया होते थे। इनकी एड़ियाँ कुछ ऊँची बनायी जाती थीं, जिससे पहनने वाला व्यक्ति कुछ अधिक ऊँचा प्रतीत होने लगता था।

(७) **बरतनों का उद्योग**—मौर्य युग में बरतन बनाने का उद्योग भी बहुत उन्नत था। लौहाध्यक्ष जहाँ ताम्र, सीसा, टिन, पीतल, काँसा, लोहा आदि धातुओं को तैयार कराता था, वहाँ उसका यह कार्य भी था कि इन विभिन्न धातुओं से नानाविध उपयोगी पण्यों (विक्रेय वस्तुओं) को तैयार कराए। इस उपयोगी 'भाण्ड' में बरतन भी अवश्य होते होंगे, यह कल्पना सहज में की जा सकती है। पर बरतन बनाने के लिये केवल धातुओं का ही उपयोग नहीं किया जाता था। बेंत, छाल और मिट्टी के भी बरतन बनाये जाते थे।

(८) **काष्ठ का उद्योग**—मौर्य युग में जंगलों का बहुत महत्त्व था, और आर्थिक दृष्टि से उन्हें बहुत उपयोगी माना जाता था। जंगलों की रक्षा और वृद्धि का विभाग एक पृथक् अमात्य के अधीन रहता था, जिसे 'कुप्याध्यक्ष' कहते थे। उसके अधीन द्रव्यपाल और वनपाल आदि अन्य राजकर्मचारी होते थे, जिनकी सहायता से वह जंगलों से कुप्य पदार्थों को एकत्र करता था, और साथ ही काष्ठ आदि कुप्य पदार्थों को तैयार भाण्ड के रूप में परिवर्तित कराने के लिये कर्मान्तों (कारखानों) का सञ्चालन करता था। विपत्ति के अतिरिक्त यदि साधारण दशा में कोई व्यक्ति जंगल को किसी प्रकार से नुकसान पहुँचाए, तो उसे न केवल क्षतिपूर्ति करनी पड़ती थी, पर साथ ही उसे जुरमाने आदि के रूप में दण्ड भी दिया जाता था।

कुप्य पदार्थों में निम्नलिखित को अन्तर्गत किया जाता था—शाक (सागौन), तिनिश, धन्वन, अर्जुन, मधूक, तिलक, साल, शिंशुप, अरिमेद, राजादन, शिरीष, खदिर (खैर), सरल, तालसर्ज, अश्वकर्ण, सोमवल्क, कशाम्र, प्रियक, धव आदि सारदारु। ये ऐसे वृक्ष हैं, जिनके काष्ठ ठोस और कड़े होते हैं और जिनका प्रयोग इमारत और आसन्दी आदि बनाने के लिये किया जाता है।

सारदारु के अतिरिक्त अनेक प्रकार के बाँसों, वल्लियों (लताओं), वल्कों (रेशेदार वृक्षों और पौदों), रज्जुभाण्डों (मूंज, भाबड़ आदि ऐसी घासें जिनसे रस्सियाँ बनायी जाती हैं), पत्र, पुष्प औषधि, विष, विषैले जन्तु, जंगली पशुओं और जन्तुओं के चमड़े, हड्डी, दाँत, सींग, खुर, पूँछ आदि, फूंस, सरकण्डे, ईंधन और कोयले आदि भी कुप्य थे, क्योंकि ये सब उपयोगी पण्य-द्रव्य भी जंगलों से ही प्राप्त किये जाते थे। जंगलों से इन सबको

यद्यपि शराब का व्यवसाय राज्य के हाथों में था, पर कतिपय अवसरों पर अन्य लोग भी स्वतन्त्रता के साथ शराब का निर्माण कर सकते थे। कौटल्य ने लिखा है कि विशेष कृत्यों के अवसरों पर कुटुम्बी (गृहस्थ) लोग श्वेत सुरा का स्वयं निर्माण कर सकते हैं, और औषधि के प्रयोजन से अरिष्टों का भी। इसी प्रकार उत्सव, समाज (सामूहिक समारोह) और यात्राओं के अवसर पर चार दिन के लिये सब किसी को सुरा-निर्माण की स्वतन्त्रता थी।

(६) **चमड़े का उद्योग**—मौर्य युग में चमड़े का उद्योग भी अच्छी उन्नत दशा में था। कौटल्य ने अनेक प्रकार की खालों का उल्लेख किया है—कान्तनावक (इस खाल का रंग मोर की गरदन के सदृश होता था), प्रैयक (इस खाल पर नीले, श्वेत और पीले रंग के बिन्दु पड़े होते थे), उत्तरपर्वतक (यह उत्तरी पर्वतों से प्राप्त होने वाली विशेष प्रकार की खाल होती थी), विसी (इस खाल पर बड़े-बड़े बाल होते थे, और इसका कोई विशेष रंग नहीं होता था), महाविसी (यह श्वेत रंग की सख्त खाल होती थी), श्यामिका (यह खाल कपिल रंग की होती थी और इस पर बिन्दु पड़े होते थे), कालिका (यह खाल कपिल और कपोत के रंग की होती थी), कदली (यह एक सख्त खाल होती थी), चन्द्रोत्तरा (यदि कदली खाल पर चाँद की तरह के चकत्ते हों, तो उसे चन्द्रोत्तरा कहते थे), शाकुला (इस खाल पर कोढ़ के ढंग के या मृग की खाल के समान चकत्ते होते थे), सामूर (यह अंजन के रंग की काली खाल होती थी) चीनसी (यह खाल लाल-काले रंग की या पाण्डु-काले रंग की होती थी), सामूली (यह गेहुँए रंग की होती थी), सातिना (काले रंग की खाल), सलतूला (नल घास के रंग की खाल), कपिला (कपिल रंग की खाल) और वृत्तपुच्छा (भूरे रंग की एक विशेष प्रकार की खाल)।

इन विविध प्रकार की खालों के सम्बन्ध में कुछ अन्य विवरण भी अर्थशास्त्र में उपलब्ध है। कान्तनावक और प्रैयक खालों की चौड़ाई ८ अंगुल होती थी। बिसी और महाबिसी चौड़ाई में १२ अंगुल होती थीं। श्यामिका और कालिका चौड़ाई में ८ अंगुल, कदली लम्बाई में १ हाथ, चन्द्रोतरा लम्बाई में ८ अंगुल, और सामूर लम्बाई में ३६ अंगुल होती थीं। ये सब खालें जंगली जन्तुओं की होती थीं, सम्भवतः, जिनका शिकार उनकी कीमती खालों के लिये ही किया जाता था। इनमें से बहुत-सी खालें हिमालय या उनकी तराई के जंगलों से ही प्राप्त की जाती थीं। बिसी और महाबिसी खालें 'द्वादश ग्राम' में उपलब्ध थीं; श्यामिका, कालिका, कदली, चन्द्रोत्तरा और शाकुला को 'आरोह' से प्राप्त किया जाता था; और सामूर, चीनसी तथा सामूली को बाह्लव से। ये द्वादश-ग्राम, आरोह और बाह्लव हिमालय के क्षेत्र में ही स्थित थे।

कौटलीय अर्थशास्त्र के इस विवरण द्वारा इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता, कि मौर्ययुग में अनेक प्रकार की खालों को एकत्र करने का व्यवसाय बहुत उन्नत था। आधुनिक समय में भी विविध प्रकार की फरें जंगली जन्तुओं को मार कर प्राप्त की जाती हैं, और वे बहुत अधिक कीमत पर बिकती हैं। कौटल्य ने इन चर्मों को 'रत्नों' में गिना है. और इनका उल्लेख मणि, मुक्ता, चन्दन आदि बहुमूल्य पदार्थों के साथ किया है। कोशाध्यक्ष जिन कीमती रत्न, सार, कुप्य आदि का कोशागार में संग्रह करता था, ये चम

भी उन्हीं में थे। कौटल्य ने उन चर्मों को श्रेष्ठ कहा है, जो नरम, चिकने और प्रभूत बालों वाले हों। चर्म का यह रूप आधुनिक समय की फरों को ही सूचित करता है। कान्तनावक आदि विविध प्रकार की फरों की ही संज्ञा थी।

बहुमूल्य चर्मों (खालों) के अतिरिक्त गाय, बैल, भैंस, भेड़, बकरी आदि पशुओं की खालें भी अनेकविध कार्यों के लिये प्रयुक्त की जाती थीं। जो पशु स्वयं मर जाते थे या जिनका सूनाओं (बूचड़खानों) में वध किया जाता था, उनकी खालें जूते आदि बनाने के प्रयोग में लायी जाती थीं। मैगस्थनीज़ ने चमड़े के श्वेत जूतों का वर्णन किया है। नियार्कस के अनुसार भारतीय लोग श्वेत रंग के चमड़े के जूतों को पहना करते थे। ये जूते बहुत बढ़िया होते थे। इनकी एड़ियाँ कुछ ऊँची बनायी जाती थीं, जिससे पहनने वाला व्यक्ति कुछ अधिक ऊँचा प्रतीत होने लगता था।

(७) **बरतनों का उद्योग**—मौर्य युग में बरतन बनाने का उद्योग भी बहुत उन्नत था। लौहाध्यक्ष जहाँ ताम्र, सीसा, टिन, पीतल, काँसा, लोहा आदि धातुओं को तैयार कराता था, वहाँ उसका यह कार्य भी था कि इन विभिन्न धातुओं से नानाविध उपयोगी पण्यों (विक्रेय वस्तुओं) को तैयार कराए। इस उपयोगी 'भाण्ड' में बरतन भी अवश्य होते होंगे, यह कल्पना सहज में की जा सकती है। पर बरतन बनाने के लिये केवल धातुओं का ही उपयोग नहीं किया जाता था। बेंत, छाल और मिट्टी के भी बरतन बनाये जाते थे।

(८) **काष्ठ का उद्योग**—मौर्य युग में जंगलों का बहुत महत्त्व था, और आर्थिक दृष्टि से उन्हें बहुत उपयोगी माना जाता था। जंगलों की रक्षा और वृद्धि का विभाग एक पृथक् अमात्य के अधीन रहता था, जिसे 'कुप्याध्यक्ष' कहते थे। उसके अधीन द्रव्यपाल और वनपाल आदि अन्य राजकर्मचारी होते थे, जिनकी सहायता से वह जंगलों से कुप्य पदार्थों को एकत्र करता था, और साथ ही काष्ठ आदि कुप्य पदार्थों को तैयार भाण्ड के रूप में परिवर्तित कराने के लिये कर्मान्तों (कारखानों) का सञ्चालन करता था। विपत्ति के अतिरिक्त यदि साधारण दशा में कोई व्यक्ति जंगल को किसी प्रकार से नुकसान पहुँचाए, तो उसे न केवल क्षतिपूर्ति करनी पड़ती थी, पर साथ ही उसे जुरमाने आदि के रूप में दण्ड भी दिया जाता था।

कुप्य पदार्थों में निम्नलिखित को अन्तर्गत किया जाता था—शाक (सागौन), तिनिश, धन्वन, अर्जुन, मधूक, तिलक, साल, शिंशुप, अरिमेद, राजादन, शिरीष, खदिर (खैर), सरल, तालसर्ज, अश्वकर्ण, सोमवल्क, कशाम्र, प्रियक, धव आदि सारदारु। ये ऐसे वृक्ष हैं, जिनके काष्ठ ठोस और कड़े होते हैं और जिनका प्रयोग इमारत और आसन्दी आदि बनाने के लिये किया जाता है।

सारदारु के अतिरिक्त अनेक प्रकार के बाँसों, वल्लियों (लताओं), वल्कों (रेशेदार वृक्षों और पौदों), रज्जुभाण्डों (मूँज, भाबड़ आदि ऐसी घासें जिनसे रस्सियाँ बनायी जाती हैं), पत्र, पुष्प औषधि, विष, विषैले जन्तु, जंगली पशुओं और जन्तुओं के चमड़े, हड्डी, दाँत, सींग, खुर, पूँछ आदि, फूँस, सरकण्डे, ईंधन और कोयले आदि भी कुप्य थे, क्योंकि ये सब उपयोगी पण्य-द्रव्य भी जंगलों से ही प्राप्त किये जाते थे। जंगलों से इन सबको

एकत्र कराके कुप्याध्यक्ष इन्हें इनके विभिन्न कर्मान्तों में भिजवा देता था, जहाँ इनसे विविध प्रकार का माल तैयार कराया जाता था।

कुप्य द्रव्यों के उद्योगों में अनेकविध कारु कार्य करते थे। मैगस्थनीज़ ने विभिन्न प्रकार के शिल्पियों का उल्लेख करते हुए लकड़हारों और बढ़इयों का भी जिक्र किया है, जो वृक्ष काटने और काष्ठ से विविध प्रकार का सामान बनाने में व्यापृत रहते थे।

(९) **हथियार बनाने का उद्योग**—मौर्य साम्राज्य की स्थिति उसकी सैनिक शक्ति पर ही निर्भर थी, और सेना का कार्य अस्त्र-शस्त्रों के बिना नहीं चल सकता था। अतः स्वाभाविक रूप से हथियार बनाने के उद्योग का मौर्य युग में बहुत महत्त्व था। इसके लिये एक पृथक् अमात्य होता था, जिसे 'आयुधागाराध्यक्ष' कहते थे। वह अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण में कुशल कारु-शिल्पियों से सांग्रामिक (युद्ध में काम आनेवाले), दौर्गकर्मिक (किलों की रक्षा के लिये प्रयुक्त होने वाले) और परपुराभिघातक (शत्रुओं के नगरों को आक्रान्त व नष्ट करने के लिये उपयोगी) चक्र, यन्त्र, आयुध, कवच और अन्य उपकरणों को तैयार कराता था। विविध प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों के विषय में कौटल्य ने विशदरूप से लिखा है, पर उसे यहाँ लिपक उद्धृत कर सकना सम्भव नहीं है। यह निस्सन्दिग्ध है, कि मौर्यों के काल में अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण का उद्योग भी अच्छी उन्नत दशा में था।

(१०) सुवर्णकार (सुनार) का व्यवसाय—सोना, चाँदी आदि बहुमूल्य धातुओं को शुद्ध कर उनसे आभूषण बनाने का कार्य सुवर्णकारों द्वारा किया जाता था। मौर्य युग के लोग नानाविध आभूषणों और अलंकरणों द्वारा अपने को सुशोभित किया करते थे, अतः यह व्यवसाय उस काल में बहुत विकसित दशा में था। इसके लिये राज्य का एक पृथक् विभाग था, जिसके अध्यक्ष को 'सुवर्णाध्यक्ष' कहते थे। इसकी अधीनता में सुवर्ण और रजत से आभूषण आदि तैयार करने के लिये पृथक्-पृथक् कर्मान्त (कारखाने) स्थापित किये जाते थे, और उन पर नियन्त्रण रखने के लिये एक 'अक्षशाला' बनवायी जाती थी जिसमें चार शालाएँ और केवल एक द्वार रहता था। सोने-चाँदी के व्यवसाय को सुवर्णाध्यक्ष ही नियन्त्रित करता था।

सोने और चाँदी की पहचान के लिये जहाँ निकष (कसौटी) प्रयुक्त की जाती थी, वहाँ अग्नि में डाल कर भी उनकी शुद्धता आदि को परखा जाता था।

सोने और चाँदी से जो बहुत-से आभूषण बनाये जाते थे, उसकी कला (कर्म) को तीन वर्गों में विभक्त किया जाता था, क्षेपण, गुण और क्षुद्र। काँच के मनकों और मणि आदि को सुवर्ण में जड़ने को 'क्षेपण' कहते थे। सोने, चाँदी आदि से सूत्र और जंजीर बनाने की संज्ञा 'गुण' थी। सोने-चाँदी के घन (ठोस) तथा सुषिर (खोखले) गहने बनाने और मनके आदि बनाने को 'क्षुद्र' कहते थे। इन विविध प्रकार के कार्यों को करनेवाले शिल्पियों को 'त्वष्ट्र' और 'सौवर्णिक' आदि कहा जाता था। सुवर्णाध्यक्ष के अधीन अक्षशाला में जो विविध कर्मचारी कार्य करते थे, उनमें से कुछ की संज्ञा सौवर्णिक (सुनार), त्वष्टा या त्वष्ट्र, पृषितकारु, काचकारु, तपनीयकारु, ध्मायक, चरक, पांसुयावक और कञ्चनकारु थी।

(११) **धातु-उद्योग के शिल्पी**—लोह, ताम्र, त्रपु आदि धातुओं से बरतन और हथियार बनाये जाते थे, और सोना-चाँदी से आभूषण तथा सिक्के। इन व्यवसायों में लगे हुए अनेकविध शिल्पियों का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। पर इनके अतिरिक्त भी कतिपय कारु और शिल्पी धातु-शिल्प का अनुसरण किया करते ये। इनमें लुहार प्रधान थे। लोहे द्वारा निर्मित खनित्र (फावड़ा), कुद्दाल (कुदाल), काण्डच्छेदन (कुल्हाड़ा) आदि कितने ही उपकरणों का उल्लेख कौटलीय अर्थशास्त्र में विद्यमान है, जिनका निर्माण लुहारों द्वारा ही किया जाता था। लुहार के लिए कौटल्य ने 'लोहकार' शब्द का प्रयोग किया है। लोहकार जहाँ अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण करते थे, वहाँ साथ ही फावड़ा, कुदाल, कुल्हाड़ा आदि भी बनाते थे। मैगस्थनीज़ ने भी लुहारों का उल्लेख किया है।

(१२) **भोजन के साथ सम्बन्ध रखनेवाले व्यवसाय**—कौटलीय अर्थशास्त्र में पाक्वमांसिक (पका हुआ मांस बचने वाले), औदनिक (भात व कच्ची रसोई बनाने वाले), आपूपिक (पुए व पूरी आदि बनाने वाले), पक्वान्नपण्य (पक्कान्न या पकवान बेचने-वाले) आदि का भी उल्लेख किया है। निस्सन्देह, ये सब ऐसे व्यवसायी थे, जो कि विविध प्रकार के पके हुए भोजन को बेचने का कारोबार किया करते थे।

(१३) **नर्तक, गायक आदि**—मौर्य युग में बहुत-से ऐसे लोग भी थे, जो नट, नर्तक, वादक, गायक, कुशीलव, तालापचार (बाजा बजाने वाले) आदि का कारोबार करके अपना निर्वाह करते थे। कौटल्य को ये व्यवसायी पसन्द नहीं थे। वे समझते थे, कि इनसे जनपद-निवासियों के दैनिक कार्य में विघ्न पड़ता है। इसी कारण उन्होंने यह व्यवस्था की थी, कि नट, नर्तक, वादक आदि जनपदों में 'कर्मविघ्न' न करने पाएँ, क्योंकि इनसे कृषिकार्य में लगे हुए ग्रामवासियों के कार्य में बाधा पड़ती है। पर इस व्यवस्था के होते हुए भी मौर्य युग के भारत में इन विभिन्न कारोबारियों की सत्ता थी, और उन्हें अपना शिल्प दिखाने का अवसर भी प्राप्त होता था। पर ऐसा करते हुए वे स्वेच्छापूर्वक कार्य नहीं कर सकते थे, और न ही बहुत अधिक संख्या में प्रेक्षाएं प्रदर्शित कर सकते थे। विभिन्न प्रकार की रूपाजीवाओं (रूप द्वारा आजीविका कमाने वाली वेश्याओं) की भी मौर्य युग में सत्ता थी, जो राजकीय सेवा में रहते हुए या स्वतन्त्र रूप से पेशा करके अपना निर्वाह करती थीं। उनके कार्य को नियन्त्रित करने के लिये एक पृथक् अमात्य होता था, जिसे 'गणिकाध्यक्ष' कहते थे।

(१४) **अन्य व्यवसाय**—कौटलीय अर्थशास्त्र में अन्य भी बहुत-से व्यवसायियों का उल्लेख है, जिनमें देवताकारु (देवताओं की मूर्तियाँ बनाने वाले) मणिकारु (मणियों से आभूषण बनाने वाले), माल्यपण्य (मालाएँ बनाकर बेचने वाले), गन्धपण्य (सुगन्धियाँ बनाकर बेचने वाले), और भिषक् आदि मुख्य हैं। ये सब व्यवसाय भी मौर्य युग में अच्छी उन्नत दशा में थे।

(३) व्यापार

मौर्य युग में कृषि और उद्योगों के समान व्यापार भी बहुत उन्नत और विकसित था। ग्रामों के छोटे-छोटे सौदागरों से लगाकर बड़ी-बड़ी कम्पनियाँ तक उस युग में

विद्यमान थीं। गाँवों के छोटे दूकानदार जहाँ पण्य की बिक्री का धन्धा करते थे, वहाँ साथ ही खेती भी किया करते थे। गाँवों में जहाँ छोटी-छोटी दूकानों की सत्ता थी, वहाँ साथ ही जल और स्थल के मार्गों पर मण्डियाँ भी लगा करती थीं। इनका प्रबन्ध राज्य की ओर से किया जाता था। इन मण्डियों द्वारा कर्मान्तों में तैयार हुआ माल ग्रामवासियों को भी उपलब्ध हो जाता था। शहरों और ग्रामों में सम्बन्ध कायम रखने के लिये इनकी बहुत उपयोगिता थी।

व्यापार के नियन्त्रण के लिये राज्य का एक पृथक् विभाग था, जो वैदेहकों (व्यापारियों व दूकानदारों) के कार्यों की देखभाल करता था। इस विभाग के अध्यक्ष को 'संस्थाध्यक्ष' कहते थे, जो 'पण्याध्यक्ष' की अधीनता में अपने कार्यों का सम्पादन करता था। व्यापारी माल को ठीक तोलते हैं, और उनकी तराजू तथा बाट सही हैं, इसे देखना संस्थाध्यक्ष का ही कार्य था। माल में कोई मिलावट तो नहीं की गई है, पुराने माल को नया बता कर तो नहीं बेचा जा रहा है, जो माल जिस स्थान का बना हुआ न हो, उसे वहाँ का बना बताकर तो नहीं बेचा जा रहा है, और व्यापारी बिके हुए माल को बदल तो नहीं रहा है—इन सब बातों पर ध्यान रखना और अपराधियों को दण्ड देना 'संस्थाध्यक्ष' के ही कार्य थे। यदि कोई व्यापारी माल खरीदते हुए ऐसी तराजू का प्रयोग करे जिससे माल अधिक तुलता हो, और माल बेचते हुए ऐसी तराजू प्रयोग में लाये जो कम तोलती हो, तो उसे दण्ड दिया जाता था। पर यदि तोल में अन्तर अधिक न हो, तो उसकी उपेक्षा कर दी जाती थी। यदि एक आढ़क माल तोलते हुए केवल आधे कर्ष का अन्तर पड़े, तो उसे अपराध नहीं समझा जाता था। एक आढ़क ४ प्रस्थ या १६ कुडुम्ब के बराबर होता था, और १ कुडुम्ब में १२½ कर्ष होते थे। इस प्रकार एक आढ़क २०० कर्ष के बराबर होता था। यदि २०० कर्ष तोलते हुए केवल आधे कर्ष का अन्तर पड़ जाये, तो उसकी उपेक्षा कर देना अनुचित नहीं था। यह अन्तर नाममात्र का ही था। पर यदि एक आढ़क तोलने पर एक कर्ष का अन्तर (½ प्रतिशत के लगभग) पड़ जाये, तो दूकानदार पर ३ पण जुरमाना किया जाता था। यदि कमी एक कर्ष से भी अधिक हो, तो जुरमाने की मात्रा इसी अनुपात (एक कर्ष के अन्तर पर ३ पण) से बढ़ती जाती थी। माल का विक्रय करते हुए खरीदारों को धोखा देने पर कड़ा दण्ड दिया जाता था। यदि कोई व्यापारी काष्ठ (विविध प्रकार की सारदारु), लोह (लोहा, ताँबा आदि धातुएं), मणि, रज्जु, चर्म (विविध प्रकार की खालें), मिट्टी के बने हुए बरतन, सूती या ऊनी या रेशों के बने हुए वस्त्र आदि के घटिया होने पर बढ़िया बताकर बेचे, तो उसे बेची गई वस्तु के मूल्य का आठ गुना दण्ड के रूप में देना होता था। यदि व्यापारी परस्पर एक होकर यह प्रयत्न करें कि कारुओं और शिल्पियों द्वारा तैयार किये गये माल को घटिया बताया जाये, और इस प्रकार उन्हें कम पारिश्रमिक मिले, उन द्वारा तैयार किया गया माल कम कीमत पर बिके या उसका क्रय-विक्रय ही न हो सके, तो उन व्यापारियों पर एक हजार पण जुरमाना किया जाता था। यदि व्यापारी एक साथ मिलकर पण्य (विक्रेय माल) को रोक लें, और इस ढंग से उसकी कीमत को बढ़ाने का यत्न करें, या आपस मे मिलकर किसी पण्य की कीमत को गिराने का प्रयत्न करें, तो भी उन्हें एक हजार पण जुरमाने का दण्ड

दिया जाता था। जो दूकानदार बाटों या मापों को बदलकर तोलने या मापने में अन्तर (कमी) कर दें, और इस प्रकार अन्तर आ जाने के कारण माल में आठवें हिस्से की कमी पड़ जाये, तो दूकानदार पर २०० पण जुरमाना किया जाता था। यदि कमी आठवें हिस्से से अधिक हो, तो इसी हिसाब (२/८ कमी पर २०० पण) से जुरमाने की मात्रा बढ़ा दी जाती था। धान्य (विविध अन्न), स्नेह (घी, तेल आदि), क्षार (शर्करा, दानेदार चीनी, गुड़ आदि), गन्ध (सुगन्धियों) और भैषज्य (औषधि) में मिलावट करने पर १२ पण जुरमाने का दण्ड दिया जाता था। विविध प्रकार के अन्न का (विक्रय के लिये) संचय केवल ऐसे व्यापारी ही कर सकते थे, जो राज्य द्वारा इस कार्य के लिये अनुज्ञात (अधिकृत) हों। यदि कोई अन्य व्यक्ति अपने पास अन्न का संचय करे, तो पण्याध्यक्ष को अधिकार था कि वह उसे जब्त कर ले। इस व्यवस्था का प्रयोजन यह था, कि धान्य-पण्य की बिक्री जनता के लाभ को दृष्टि में रखकर की जा सके। व्यापारी लोग कितना मुनाफा ले सकें, यह भी राज्य द्वारा निर्धारित किया जाता था। माल खरीदने की जो कीमत राज्य द्वारा निश्चित की गई हो, दूकानदार अपने देश के माल को उससे ५ प्रतिशत अधिक मूल्य पर बेच सकता था। इस प्रकार वह पाँच प्रतिशत मुनाफे का अधिकारी था। विदेशी माल पर दस प्रतिशत मुनाफा लिया जा सकता था। यदि कोई व्यापारी इससे अधिक मुनाफा ले, तो ५ प्रतिशत अतिरिक्त मुनाफे पर २०० पण के हिसाब से उस पर जुरमाना किया जाता था। इससे अधिक मुनाफे पर जुरमाने की मात्रा इसी हिसाब से बढ़ती जाती थी। यदि पण्य की मात्रा बहुत हो और माल की अधिकता के कारण उसका निर्धारित कीमत पर बिक सकना सम्भव न रहे, तो पण्याध्यक्ष सारे पण्य को एक स्थान से बिक्री कराता था, ताकि उसे निर्धारित मूल्य पर बेचा जा सके।

कौटलीय अर्थशास्त्र में प्रतिपादित व्यापार-सम्बन्धी ये नियम अत्यन्त महत्त्व के हैं। इनके अनुशीलन से मौर्य युग के व्यापार का एक स्पष्ट चित्र हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाता है। इसमें सन्देह नहीं, कि मौर्य युग में व्यापार पर राज्य का कठोर नियन्त्रण विद्यमान था। व्यापारी न माल में मिलावट कर सकते थे, न उसे कम तोल सकते थे, न अधिक मुनाफा ले सकते थे, और न परस्पर मिलकर किसी पण्य की कीमत ही बढ़ा सकते थे। अन्न-सदृश लोकोपयोगी पण्य को केवल वे व्यापारी ही बेच सकते थे, जो राज्य द्वारा अधिकृत हों। इनके क्रय-विक्रय के सम्बन्ध में कौटल्य ने यही सिद्धान्त प्रतिपादित किया है, कि इनकी बिक्री जनता के लाभ को दृष्टि में रखकर की जाये।

तुलाओं और बाटों तथा मापों (मापने के साधन) पर भी राज्य का नियन्त्रण था। इनका निर्माण राज्य द्वारा ही कराया जाता था, जिसके लिये पौतवाध्यक्ष-संज्ञक अमात्य की अधीनता में कर्मान्त स्थापित किये जाते थे। तुलाएँ अनेक प्रकार की होती थीं—तुला, आयमानी, व्यावहारिकी, संवृत्ता, भाजिनीया, अन्तःपुरभाजनीया और काष्ठतुला। ये विभिन्न प्रकार के भारों को तोलने के लिये प्रयुक्त की जाती थीं। कौटलीय अर्थशास्त्र में इनकी बनावट आदि के सम्बन्ध में भी विवरण विद्यमान है, पर उसे यहाँ उद्धृत करने का विशेष उपयोग नहीं है।

मैगस्थनीज़ के यात्रा-विवरण से भी इन व्यवस्थाओं की पुष्टि होती है। उसने

लिखा है, कि "चौथा वर्ग व्यापार और व्यवसाय का निरीक्षण करता है। इसके कर्मचारी नाप और तोल की निगरानी रखते हैं। पाँचवाँ वर्ग तैयार माल की देखभाल करता है··· नई वस्तुएँ पुरानी वस्तुओं से अलग बेची जाती हैं। दोनों को एक साथ मिला देने पर जुरमाना किया जाता है।"

पण्य को तोलने या मापने के लिये कौन-से बाट या माप प्रयुक्त होते थे, इस पर भी कौटलीय अर्थशास्त्र से प्रकाश पड़ता है। सबसे छोटा बाट 'सुवर्ण-माषक' कहलाता था, जो तोल में दस धान्यमाष या पाँच गुञ्जा (रत्ती) के बराबर होता था। वर्तमान समय का मासा वज़न में आठ रत्ती होता है। मौर्य युग का माषक आजकल के मासे से हलका होता था। सोलह सुवर्णमाषक से एक 'कर्ष' बनता था, और चार कर्ष से एक 'पल'। कर्ष तोल में ८० रत्तियों के बराबर होता था। वर्तमान समय का तोला ९६ रत्तियों के बराबर होता है। इस प्रकार कर्ष का वजन तोले से कुछ कम होता था। इन बाटों का प्रयोग प्रायः सोने जैसे बहुमूल्य पदार्थों को तोलने के लिये किया जाता था, अतः अर्धमाषक, द्विमाषक जैसे छोटे-छोटे बाट भी हुआ करते थे।

सुवर्ण माषक के समान रूप्यमाषक का बाट भी होता था, जो वजन में ८८ गौर-सर्षप के बराबर था। १६ रूप्यमाषकों के बराबर 'धरण' संज्ञा का बाट होता था।

अर्धमाषक, माषक, द्विमाषक, चार-माषक, आठ माषक, दश माषक, बीस माषक, तीस माषक, चालीस माषक और सौ माषक के बट्टे बनाये जाते थे। इसी प्रकार रूप्य-माषकों और धरणों के भी अनेकविध बाट होते थे।

कर्ष ८० रत्ती या १६ माषक के बराबर होता था, यह अभी ऊपर लिखा जा चुका है। पल चार कर्षों के बराबर होता था, और पलों के भी एक पल, दो पल, चार पल आदि सौ पलों तक के बाट होते थे। १०० पल आजकल के चार सेर से कुछ बड़ा होता था। १०० पल के बाट को 'आयमानी' कहते थे, और २०० पल या २ आयमानी के बाट को द्रोण।

जिस प्रकार द्रोण के छोटे बाट आयमानी, पल, कर्ष और माषक होते थे, वैसे ही द्रोण के एक अन्य ढंग के भी छोटे बाट थे, जिन्हें आढ़क, प्रस्थ और कुडुम्ब कहा जाता था। कुडुम्ब वजन में २०० माषक या १२½ कर्ष के बराबर था। ४ कुडुम्ब से १ प्रस्थ बनता था, और ४ प्रस्थ से १ आढक और ४ आढक से १ द्रोण। दोनों पद्धतियों में द्रोण का वजन एकसदृश था। द्रोण वजन में आजकल के ८ सेर या १७ पौंड के लगभग होता था। अधिक वजन के द्रव्य को तोलने के लिये 'वारी' और 'वह' प्रयुक्त होते थे। 'वारी' १६ द्रोण के बराबर होता था, और 'वह' १० द्रोण के। २० द्रोण के बाट की संज्ञा 'कुम्भ' थी।

बाटों के निर्माण के लिए या तो धातुओं का प्रयोग किया जाता था, या पत्थरों का, और या ऐसे द्रव्यों का जिन पर जल या अग्नि का कोई असर न पड़े (जो जल के सम्पर्क से भारी न हो जाएँ, और अग्नि के सम्पर्क से ह्रास को प्राप्त न हो सकें)। धातुओं में लोहे को बाटों के लिये उपयुक्त समझा जाता था, और पत्थरों में उन पत्थरों को जो मगध और मेकल में मिलते थे।

मौर्य युग में वस्तुओं और भूमि आदि को नापने के लिये भी अनेकविध 'माप' प्रचलित थे। सबसे छोटा माप परमाणु था। आठ परमाणुओं से एक रथचक्रविपुट् बनता था, आठ रथचक्र-विपुटों से एक लिक्षा, आठ लिक्षाओं से एक यूकामध्य, आठ यूकामध्यों से एक यवमध्य और आठ यवमध्यों से एक अंगुल। यह अंगुल औसत दर्जे के पुरुष की बीच की उँगली के बीच के पोर के बराबर चौड़ाई का होता था। वर्तमान समय के इंच का यह तीन-चौथाई के लगभग था। इस प्रकार की अंगुल की लम्बाई ३४,४०८ परमाणुओं के बराबर होती थी। मौर्य युग के लोग कितनी स्वल्प लम्बाई को मापने के लिये भी 'मापों' का निर्माण किया करते थे, यह इससे भली-भाँति समझा जा सकता है। ४ अंगुलों से १ धनुर्ग्रह बनता था, ८ अंगुलों से १ धनुर्मुष्टि और १२ अंगुलों से १ वितस्ति। धनुर्मुष्टि की लम्बाई आजकल के ६ इंचों या आधे फुट के बराबर होती थी। २ वितस्ति १ अरत्नि के बराबर थी, और ४ अरत्नि १ दण्ड के। दण्ड की लम्बाई प्रायः २ गज या ६ फुट के बराबर थी। १० दण्ड से एक रज्जु बनती थी, और १००० धनु (जो दण्ड का ही अन्य नाम था) से १ गोरुत। ४ गोरुतों से एक योजन बनता था। इस प्रकार योजन लम्बाई में ४००० दण्ड या ८००० गज होता था। वर्तमान समय का मील लम्बाई में १७६० गज होता है। इस प्रकार योजन लगभग ४½ मील के बराबर था। कौटल्य ने लम्बाई नापने के अन्य भी अनेक माप दिये हैं, पर प्रधानतया उपरिलिखित माप ही नापने के लिये मौर्य युग में प्रयुक्त हुआ करते थे।

माप के मानों को भी राज्य द्वारा नियन्त्रित किया जाता था, और यह कार्य 'मानाध्यक्ष' नामक अमात्य के सुपुर्द रहता था, जो सम्भवतः पौतवाध्यक्ष की अधीनता में कार्य करता था। वस्त्र, रज्जु आदि जिन पण्यों का विक्रय नाप कर किया जाता था, उनके लिये ये मान ही प्रयुक्त होते थे। भूमि आदि को नापने के लिये भी इनका प्रयोग किया जाता था। नगरों में विभिन्न पण्यों की बिक्री के लिये पृथक्-पृथक् बाजार होते थे। कौटल्य ने जिस आदर्श नगर का चित्र प्रस्तुत किया है, उसमें नगर के दक्षिण-पश्चिम में पक्वान्न, सुरा और माँस की दूकानों की व्यवस्था की गई है, उत्तर-पश्चिम भाग में औषधियों की दूकानों की, और पूर्व-दक्षिण भाग में गन्ध, माल्य, धान्य आदि की दूकानों की।

मौर्य युग में स्वदेशीय (आन्तरिक) और परदेशीय (बाह्य)—दोनों प्रकार का व्यापार बहुत उन्नत दशा में था। भारत का आन्तरिक व्यापार जल और स्थल दोनों मार्गों द्वारा होता था। इन मार्गों के विषय में पहले प्रकाश डाला जा चुका है। क्योंकि विविध प्रदेशों और स्थानों की विभिन्न वस्तुएं प्रसिद्ध थीं, अतः व्यापारी उन्हें अन्यत्र ले जाकर बेचा करते थे। जिन प्रदेशों की खालें, मणियाँ, कम्बल, सूती मैलमल, रेशम आदि बहुत प्रसिद्ध थे, उनका उल्लेख भी इसी अध्याय में ऊपर किया जा चुका है। व्यापारी इन्हें वहाँ से खरीदकर विक्रय के लिये सुदूरवर्ती प्रदेशों में ले जाया करते थे। ये व्यापारी सार्थों (काफिलों) में संगठित होकर यात्रा किया करते थे, और इनके मुखिया को 'सार्थवाह' कहते थे। सार्थों की रक्षा का उत्तरदायित्व राज्य पर था, अतः वह 'सार्थोपयात' (सार्थ में संगठित होकर आये हुए) व्यापारियों से कर भी ग्रहण करता था।

प्रत्येक व्यापारी से सवा पण वर्तनी (मार्ग-कर) लिया जाता था। सार्थ के माल को ढोने के लिये जितने पशु हों, उन पर भी कर लगता था। एक खुर (घोड़ा, खच्चर आदि) वाले पशुओं पर कर की मात्रा १ पण, बैल आदि पशुओं पर १/२ पण, छोटे पशुओं (भेड़ आदि) पर १/३ पण और सिर पर उठाये हुए बोझ पर कर की मात्रा १ माषक थी। इस वर्तनी-कर को वसूल करने के कारण सरकार का यह कर्तव्य हो जाता था, कि यदि मार्ग में व्यापारियों को कोई नुकसान हो जाये, तो उसकी क्षतिपूर्ति करे। वर्तनी-कर 'अन्तपाल' द्वारा वसूल किया जाता था।

वैदेश्य (परदेसी) सार्थ भी व्यापार के लिये मौर्य साम्राज्य में आया करते थे। जब कोई विदेशी सार्थ सीमा को पार कर साम्राज्य में प्रवेश करता था, तो उसके माल की सावधानी के साथ जाँच की जाती थी। यह देखा जाता था, कि उसकी मात्रा कितनी है, और वह बढ़िया किस्म का है या घटिया किस्म का। यह जाँचने के अनन्तर उस पर मुद्रा लगा दी जाती थी, और इस प्रकार मुद्रित हुए पण्य को शुल्क के लिये शुल्काध्यक्ष के विभाग के पास भेज दिया जाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि मौर्य युग में सार्थों में संगठित व्यापारी शुल्क से बचने के लिये माल को छिपाने का भी प्रयत्न किया करते थे। इसी कारण उन पर देखरेख रखने के लिये गुप्तचर भी नियुक्त किये जाते थे, जो वैदेहकों (व्यापारियों) का भेस बनाकर सार्थ द्वारा लाये हुए माल की मात्रा और किस्म का परिचय प्राप्त कर लेते थे। इस प्रकार प्राप्त की गई सूचना को वे सरकार के पास भेज देते थे।

मौर्य युग में अनेक विदेशी राज्यों के साथ भारत का व्यापारिक सम्बन्ध विद्यमान था, इस विषय की कतिपय सूचनाएँ कौटलीय अर्थशास्त्र में पायी जाती हैं। रेशम के विविध प्रकारों का उल्लेख करते हुए कौटल्य ने 'चीनपट्ट' को श्रेष्ठ रेशम कहा है। चीन का रेशम इतिहास में बहुत प्रसिद्ध रहा है, और आजकल भी उसे श्रेष्ठ समझा जाता है। प्रतीत होता है, कि मौर्य युग में भी चीनी रेशम बहुत विख्यात था, और वह भारत में भी बिकने के लिए आया करता था। इसी प्रकार मुक्ताओं का विवरण देते हुए 'कार्दमिक' मुक्ता का भी उल्लेख किया गया है, जो पारसीक (ईरान) देश की कर्दम नदी से प्राप्त होते थे। कौटल्य ने मणियों के तीन मुख्य भेद लिखे हैं, जिनमें एक 'पारसमुद्रक' (समुद्र पार की) भी है। इस वर्ग की मणियाँ समुद्र पार से विक्रय के लिए भारत में आया करती थीं। ताम्रपर्णी (श्रीलंका) से आने वाले मोतियों और नैपाल से आने वाले चर्मों (फरों) का भी कौटल्य ने उल्लेख किया है।

पश्चिमी देशों के साथ जलमार्ग द्वारा व्यापार के लिए भारत के समुद्र-तट पर 'मुजिरिस' नाम का बन्दरगाह था, जहाँ बहुत-से रोमन व्यापारी निवास करते थे। व्यापार की रक्षा के प्रयोजन से वहाँ १२०० सैनिक भी नियुक्त थे। मुजिरिस से भारतीय व्यापारी फारस (ईरान) की खाड़ी जाया करते थे, जहाँ मस्कत का प्रसिद्ध बन्दरगाह था। यह भारतीय माल का सर्वप्रधान केन्द्र था, और यहीं से भारत का पण्य असीरिया आदि पश्चिमी देशों में भेजा जाता था। ईजिप्ट (मिस्र) के साथ व्यापार के लिए जल-मार्ग लाल सागर होकर जाता था, और यह मार्ग भी बहुत महत्त्व का था। सिकन्दर ने मिस्र को भी

जीतकर अपने अधीन किया था, और वहाँ का शासन करने के लिए अपने अन्यतम सेनापति टाल्मी को नियुक्त किया था। टाल्मी की राजधानी एलेग्ज़ेण्ड्रिया नगरी थी, जिसे सिकन्दर (एलेग्जेण्डर) ने ही अपने नाम पर बसाया था। शीघ्र ही यह व्यापार का प्रसिद्ध केन्द्र बन गई। क्योंकि एलेग्ज़ेण्ड्रिया की स्थिति समुद्र-तट पर थी, अतः सामुद्रिक व्यापार की दृष्टि से उसका बहुत उत्कर्ष हुआ। मिस्र के शासकों की इच्छा थी, कि एलेग्ज़ेण्ड्रिया भारतीय माल के क्रय-विक्रय का प्रसिद्ध केन्द्र बन जाए, और भारत का जो पण्य ईरान की खाड़ी से होकर मस्कत के रास्ते से टायर आदि पश्चिमी (भूमध्य सागर के पूर्वी तट पर स्थित) बन्दरगाहों पर पहुँचता है, वह लाल सागर होकर एलेग्ज़ेण्ड्रिया आने लगे, और वहीं से उसे पाश्चात्य देशों के व्यापारी क्रय किया करें। इसी उद्देश्य को सम्मुख रख कर टाल्मी प्रथम के पुत्र टाल्मी फ़िलेडेल्फस ने आर्सिओने (Arsionoe) से लाल सागर तक एक नहर बनवाने का विचार किया। योजना यह थी, कि यह नहर १५० फीट के लगभग चौड़ी और ४५ फीट के लगभग गहरी हो। यह नहर प्रायः उसी क्षेत्र में बनायी जानी थी, जहाँ आधुनिक युग में स्वेज की नहर का निर्माण किया गया है। इसका प्रयोजन भी यही था, कि भारत आदि प्राच्य देशों के पण्य को एलेग्ज़ेण्ड्रिया सदृश बन्दरगाहों तक पहुँचाने के लिए स्थल-मार्ग से ले जाने की आवश्यकता न रहे और वह सीधा ही समुद्र-मार्ग से मिस्र की राजधानी तक पहुँच सके। पर यह नहर पूर्ण नहीं हो सकी। परन्तु टाल्मी फिलेडेल्फस इससे निराश नहीं हुआ। उसने भारत के साथ व्यापार पर अपना अधिकार कायम रखने के लिए लाल सागर के पश्चिमी तट पर बेरेनिस (Berenice) नाम का एक नवीन नगर बसाया। शीघ्र ही यह भारतीय व्यापार का सर्वप्रधान केन्द्र बन गया। भारत से जो माल बिक्री के लिए पश्चिमी देशों को जाता था, उसे पहले समुद्र-मार्ग द्वारा लाल सागर से बेरेनिस ले जाया जाता था। वहाँ से उसे स्थल के मार्ग से काप्टस नामक नगर तक पहुँचाया जाता था। क्योंकि यह नगर नील नदी से तीन मील दूर था, अतः नील नदी से इस नगर तक एक नहर का निर्माण किया गया था। काप्टस से भारतीय माल जलमार्ग द्वारा (नहर और नील नदी होते हुए) एलेग्जेण्ड्रिया भेज दिया जाता था। इस प्रकार मिस्र आदि पाश्चात्य देशों से व्यापार के लिए भारत आने वाले व्यापारी काप्टस और बेरेनिस से चलकर लाल सागर होते हुए अरब सागर से सिन्ध नदी के मुहाने पर आ जाया करते थे, जहाँ पाटल या पाट्टल नामक बन्दरगाह स्थित था। पाटल को केन्द्र बना कर भारत के अन्य बहुत-से बन्दरगाहों में भी आया-जाया जाता था। ये बन्दरगाह भारत के पश्चिमी समुद्र-तट पर स्थित थे।

फारस की खाड़ी और लाल सागर के जलमार्गों के अतिरिक्त तीन अन्य मार्ग थे, जिनसे भारत का माल पश्चिमी देशों में भेजा जाता था। ये तीनों स्थल-मार्ग थे। एक मार्ग काबुल नदी के साथ-साथ पश्चिम की ओर जाता था, और हिन्दूकुश पर्वतमाला के परे आक्सस नदी तक जा पहुँचता था। वहाँ से यह कैस्पियन सागर जाकर फिर काला सागर पहुँच जाता था। दूसरा स्थल-मार्ग कन्धार से हीरात होता हुआ फारस (ईरान) जाता था, और वहाँ से ईराक होता हुआ एशिया माइनर तक चला जाता था। तीसरा मार्ग मकरान के रास्ते से पश्चिमी देशों को जाता था। निस्सन्देह, मौर्य युग में भी इन सब

मार्गों का व्यापार के लिए प्रयोग किया जाता था, जिससे भारत का विदेशी व्यापार बहुत उन्नत हो गया था। कौटल्य की नीति भी विदेशी व्यापार के अनुकूल थी। उन्होंने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया था कि 'परभूमिज' (विदेशों में उत्पन्न) माल को अनुग्रह द्वारा स्वदेश में आने दिया जाए।

(४) कृषकों, शिल्पियों और व्यापारियों के संगठन

मौर्य युग के कृषक, शिल्पी और व्यापारी अपने-अपने संगठनों में संगठित थे। कुम्हार, लुहार, वर्धकि आदि शिल्पियों के संगठनों को 'श्रेणि' (Guild) कहते थे। प्राचीन साहित्य के अनुशीलन से इन श्रेणियों के स्वरूप, संगठन, नियम आदि के विषय में बहुत-सी महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं। कौटलीय अर्थशास्त्र में इन श्रेणियों के सम्बन्ध में विशदरूप से विवेचन नहीं किया गया है, पर इनकी सत्ता अवश्य सूचित होती है। अक्षपटलमध्यक्ष का एक कार्य यह भी था, कि वह देश-संघातों, ग्राम-संघातों, जाति-संघातों और कुल-संघातों के धर्म, व्यवहार और चरित्र आदि को निबन्ध-पुस्तकस्थ करे। यद्यपि इस प्रसंग में श्रेणिरूपी संघात का उल्लेख नहीं किया गया है, पर इससे यह अवश्य ज्ञात हो जाता है, कि मौर्य युग में अनेकविध संघातों (समुदायों) की सत्ता थी, और उनके अपने-अपने पृथक् धर्म (कानून), व्यवहार और चरित्र होते थे। शिल्पी भी संघातों (जिनकी संज्ञा श्रेणि थी) में संगठित थे, इसका निर्देश अर्थशास्त्र में अन्यत्र मिलता है। वहाँ लिखा है, कि श्रेणियाँ ऐसे व्यक्तियों के पास अपने धन को अमानत रूप से रखें जिन पर उनका विश्वास हो, और विपत्ति के समय (आवश्यकता पड़ने पर) इस धन को वापस ले लें। श्रेणियों की सत्ता में इससे कोई सन्देह नहीं रह जाता। स्मृतिग्रन्थों में शिल्पियों और कारीगरों के संगठनों का स्पष्ट रूप से उल्लेख है, और उन्हें 'श्रेणि' की संज्ञा दी गई है। कौटलीय अर्थशास्त्र का यह वाक्य भी इन्हीं श्रेणियों को सूचित करता है। कौटल्य ने नगर में विभिन्न वर्गों के लिये जहाँ पृथक्-पृथक् रूप से निवास की व्यवस्था की है, वहाँ श्रेणियों के लिये भी पृथक् स्थान सुरक्षित रखा है। राजकीय आमदनी के साधनों का निरूपण करते हुए भी कारुओं और शिल्पियों के 'गणों' (संगठनों) को आय का एक साधन बताया गया है। इन सब निर्देशों से इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता, कि मौर्य युग के कारु और शिल्पी संगठनों में संगठित थे, और इन संगठनों को 'श्रेणि' और 'गण' कहते थे।

केवल कारु और शिल्पी ही नहीं, अपितु कर्मकर (मजदूर) भी संगठित रूप से कार्य करते थे। इनके संगठनों के लिये अर्थशास्त्र में 'संघ' शब्द का प्रयोग किया गया है। कर्मकर लोग संगठित होकर काम का ठेका ले लेते थे, और निर्धारित समय पर उसे पूरा करते थे। यदि वे समय पर कार्य पूरा न कर सकें, तो उन्हें सात दिन की मोहलत दी जाती थी। यदि सात दिन बीत जाने पर भी वे कार्य को पूरा न करें, तो उसे दूसरों को दिया जा सकता था। संघभृत (संघ में संगठित कर्मकर) जो पारिश्रमिक या वेतन प्राप्त करें, उसे या तो आपस में एक बराबर बाँट लेते थे, या जैसा उन्होंने फैसला किया हुआ हो। जो व्यक्ति संघभृत रूप से संघ में सम्मिलित हुए हों, यदि स्वस्थ होते हुए भी उनमें से कोई पृथक् हो जाए, तो उसे १२ पण जुरमाने का दण्ड दिया जाता था। यह किसी के लिये

सम्भव नहीं था, कि कार्य के प्रारम्भ हो जाने पर वह संघ से पृथक् हो सके। संघ में सम्मिलित कोई कर्मकर जब पहली बार कार्य में प्रमाद करे, तो उसे क्षमा कर दिया जाता था। दूसरी बार पुनः प्रमाद करने पर उसे संघ से बहिष्कृत कर देने का नियम था।

कारुओं, शिल्पियों और कर्मकरों के समान कृषकों के संगठन भी मौर्य युग में विद्यमान थे। ये संघ परस्पर मिलकर बाँध बाँधने जैसे कार्यों के लिये संगठित किये जाते थे। कृषक लोग 'सम्भूय' (परस्पर संहत होकर) सेतुबन्ध बनाने सदृश कार्यों का सम्पादन करते थे।

कौटल्य ने व्यापारियों के संगठनों का 'सम्भूय समुत्थान', 'सांव्यवहारिक' आदि संज्ञाओं से प्रतिपादन किया है। नारदस्मृति ने 'सम्भूय समुत्थान' के अभिप्राय को इस प्रकार स्पष्ट किया है—'वणिक् प्रभृति जहाँ परस्पर मिलकर कार्य करते हों, उसे सम्भूय-समुत्थान कहते हैं। यह भी 'व्यवहार' का एक आधार होता है। फल (मुनाफे) को सम्मुख रखकर जब सम्मिलित रूप से कार्य किया जाता है, तो उसका आधार प्रक्षेप (लगाया हुआ धन) होता है, और इस 'प्रक्षेप' में जिसका जितना अंश हो, उसी के अनुसार उसे लाभ या हानि का अंश मिलना चाहिए। कारोबार में जो भी क्षय (नुकसान), व्यय तथा वृद्धि हो, वह उसी अनुपात से सब को प्राप्त हो, जिसमें कि प्रक्षेप में किसी का कम या अधिक अंश हो।" निस्सन्देह, सम्भूय समुत्थान एक प्रकार की ज्वायन्ट स्टाक कम्पनियाँ होते थे, जिनमें बहुत-से हिस्सेदार सम्मिलित होकर कारोबार करते थे, और प्रत्येक अपने हिस्से के अनुसार लाभ या हानि को प्राप्त करता था। मौर्य युग में भी व्यापारियों के इस प्रकार के 'सम्भूय-समुत्थान' विद्यमान थे, जिनमें सम्मिलित व्यापारी पण्य को रोक कर उसे ऊँची कीमत पर बेचने का प्रयत्न करते थे। पर कौटल्य को यह पसन्द नहीं था। इसी कारण उन्होंने ऐसे नियमों का प्रतिपादन किया है, जिनसे व्यापारी मनमानी कीमत नहीं प्राप्त कर सकते थे। इन व्यवस्थाओं का उल्लेख इसी अध्याय में ऊपर किया जा चुका है।

(५) दास-प्रथा

मैगस्थनीज़ ने लिखा है कि "भारतवर्ष के विषय में यह ध्यान देने योग्य बात है कि समस्त भारतवासी स्वतन्त्र हैं, उनमें कोई भी दास नहीं है। लेकिडिमोनियन और भारतीय यहाँ तक तो एक दूसरे से मिलते हैं। पर लेकिडिमोनियन लोग हेलट लोगों को दासों की तरह रखते हैं। ये हेलट निम्न प्रकार का श्रम करते हैं। परन्तु भारतीय विदेशियों तक को दास नहीं बनाते, अपने देशवासियों की तो बात ही क्या है!" स्ट्रेबो के अनुसार 'मैगस्थनीज लिखता है, कि भारतीयों में कोई भी दास नहीं रखता।'

यद्यपि ग्रीक विवरणों के अनुसार भारत में दास प्रथा की सत्ता नहीं थी, पर कौटलीय अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि मौर्य युग में भारत में भी दास-प्रथा विद्यमान थी। सम्भवतः, जिस ढंग की दास-प्रथा प्राचीन काल के ग्रीस और रोम में थी, वैसी भारत में नहीं थी। यहाँ दासों के प्रति वैसा कड़ा तथा अमानुषिक व्यवहार नहीं किया जाता था, जैसा कि ग्रीस में होता था। ग्रीक लेखकों में भी आनिसिक्रिटस के अनुसार यह बात (दास प्रथा के न होने की) उसी प्रदेश के सम्बन्ध में सही थी, जहाँ कि मूसिकेन (मुचुकर्ण) का

शासन था। भारत के प्राच्य प्रदेशों में, जहाँ आर्यभिन्न लोगों का अच्छी बड़ी संख्या में निवास था, दासप्रथा की सत्ता अवश्य थी, यद्यपि पाश्चात्य भारत के आर्य-प्रधान जनपदों में उसका अभाव था।

कौटलीय अर्थशास्त्र (३।१३) के अनुशीलन से मौर्य युग की दास प्रथा के सम्बन्ध में विशद रूप से परिचय प्राप्त होता है। इस काल में कुछ लोग जन्म से ही दास (उदर-दास) हुआ करते थे, जिन्हें खरीदा और वेचा जा सकता था। म्लेच्छ लोग अपने बच्चों और अन्य सम्बन्धियों को दास के रूप में वेच सकते थे। पर आर्यों में यह प्रथा नहीं थी। उन्हें अपने बच्चों और कुटुम्बी-जनों को बेचने पर कठोर दण्ड दिया जाता था। यदि आर्यजाति में उत्पन्न अप्राप्त-व्यवहार (नाबालिग) शूद्र को कोई बेचे या रहन रखे, तो उसे १२ पण जुरमाने का दण्ड मिलता था। वैश्य को इस ढंग से बेचने या रहन रखने पर २४ पण दण्ड था, क्षत्रिय को बेचने या रहन रखने पर ३६ पण, और ब्राह्मण को बेचने या रहन रखने पर ४८ पण जुरमाना किया जाता था। यह दण्ड उस दशा के लिये था, जबकि नाबालिग का कोई स्वजन उसे बेचे या रहन रखे। पर यदि कोई परजन (गैर आदमी) ऐसा कार्य करे, तो उसे न केवल पूर्वस्साहस दण्ड, मध्यम साहस दण्ड और उत्तम साहस दण्ड दिया जाता था, अपितु प्राणदण्ड भी दिया जा सकता था। म्लेच्छ लोग अपनी सन्तान का क्रय-विक्रय अवश्य कर सकते थे, पर आर्य को दास नहीं बनाया जा सकता था।

पर कतिपय दशाओं में आर्य भी सामयिक रूप से दास बनाये जा सकते थे। परिवार को आर्थिक संकट से बचाने के लिये, जुरमानों का दण्ड अदा करने के लिये और न्यायालय की आज्ञा के अनुसार परिवार की सम्पत्ति के जब्त कर लिये जाने पर आर्य को भी दास के रूप में रहन रखा जा सकता था। पर ऐसी दशा में उसके स्वजनों का यह कर्तव्य था कि वे शीघ्र से शीघ्र रुपया अदा कर उसे दासत्त्व से मुक्ति दिला दें, विशेषतया उस अवस्था में जब कि वह बालक हो, या सहाय कार्य में समर्थ वयस्क हो। आर्थिक संकट में फँसकर कोई आर्य स्वयं भी अपने को रहन रख सकता था। यदि वह दासत्व का मूल्य चुका दे, तो पुनः स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकता था। पर यदि आत्मधाता (जिसने स्वयं अपने को रहन रखा हो) एक बार किसी अपराध के कारण निष्पतित हो जाए, तो उसे जन्मभर दास रहना पड़ता था। जिसे दूसरों ने रहन रखा हो, दो बार अपराध करने पर उसका दासत्त्व जन्म भर के लिये हो जाता था। यदि इस प्रकार दास बना हुआ कोई व्यक्ति कहीं भागने का प्रयत्न करे, तो फिर वह स्वातन्त्र्य प्राप्त नहीं कर सकता था।

दासों के प्रति बुरा व्यवहार नहीं किया जा सकता था। उनसे मुरदा उठवाना, विष्टा और मूत्र उठवाना, जूठ उठवाना, उन्हें नंगा रखना, पीटना और गाली निकालना निषिद्ध था। दास-स्त्री से अनाचार करना भी कानून के विरुद्ध था। जो दास-स्त्रियाँ धात्री (दाई), परिचारिका आदि का कार्य कर रही हों, यदि उनके प्रति अनाचार किया जाए, तो इसी आधार पर उनका दासीत्त्व समाप्त हो जाता था, और वे स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेती थीं। उच्च कुल में उत्पन्न हुए दास के प्रति दुर्व्यवहार करने पर उसे स्वतन्त्रता प्राप्त करने का अधिकार मिल जाता था। यदि कोई स्वामी दास-धात्री (दाई) या रहन रखी हुई स्त्री को उसकी इच्छा के विरुद्ध अपने वश में लाए, तो उसे पूर्वस्साहस दण्ड दिया जाता

था। यदि यही कार्य कोई अन्य व्यक्ति (जो दासी-स्त्री का स्वामी न हो) करे, तो उसके लिये मध्यम साहस दण्ड की व्यवस्था थी। यदि कोई मनुष्य किसी दासी-कन्या या रहन रखी हुई स्त्री से व्यभिचार करे या दूसरे से कराये, तो जिस धन को देकर उसने उसे रहन रखा था, न केवल वह नष्ट हुआ मान लिया जाता था, अपितु उसे उससे दुगना दण्ड भी देना पड़ता था। दासों को अधिकार था कि स्वामी के कार्य को नुकसान न पहुँचा कर अपनी पृथक् कमाई कर सकें। इस कमाई पर उनका अपना स्वत्व होता था। वे पैतृक सम्पत्ति को भी उत्तराधिकार में प्राप्त कर सकते थे। इस प्रकार जो सम्पत्ति वे प्राप्त करते थे, उसका उपयोग वे पुनः आर्यत्व को प्राप्त करने के लिये कर सकते थे। जिस धनराशि को प्राप्त कर उन्होंने अपने को बेचा हो या रहन रखा हो, उसे चुका देने पर वे दास न रह कर स्वतन्त्र हो जाते थे, और इसके लिये वे उस सम्पत्ति का भी उपयोग कर सकते थे, जो उन्होंने स्वामी के कार्य को क्षति न पहुँचा कर कमायी हो या विरासत में प्राप्त की हो। अपने को स्वतन्त्र कराने के लिए दास या आहितक (रहन रखे हुए व्यक्ति) को केवल वही राशि अदा करनी होती थी, जो उसे बेचते हुए या रहन रखते हुए प्राप्त की गई हो। यदि कोई व्यक्ति जुरमाना अदा न कर सकने के कारण दास बना हो, तो वह कमाई करके जुरमाने की रकम अदा कर सकता था और इस प्रकार दासत्व से मुक्ति पा सकता था। (यदि युद्ध में पराजित हो जाने पर किसी आर्य को दास बनाया गया हो, तो वह भी निर्धारित कर्म कर चुकने के अनन्तर और नियत अवधि तक दास रह कर स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकता था, या उतनी धनराशि प्रदान करके इस अवधि में उससे जो कार्य लिया जाना हो, उसके पारिश्रमिक के आधे के बराबर हो।

(जिस मनुष्य ने स्वयं अपने को बेच कर दासत्व स्वीकार किया हो, उसकी सन्तान आर्य (स्वतन्त्र) ही रहती थी, दास नहीं। यदि कोई दास आठ वर्ष से कम आयु का हो, वह चाहे स्वामी के घर में उत्पन्न हुआ हो, या उसे विरासत में मिला हो, या उसे उसने क्रय किया हो या किसी अन्य प्रकार से प्राप्त किया हो, यदि उसे उसकी इच्छा के विरुद्ध किसी हीन कार्य में लगाया जाए, या उसे विदेश में बेच दिया जाए या रहन रख दिया जाए, तो न केवल ऐसा करने वाले स्वामी को पूर्वस्साहस दण्ड दिया जाता था, अपितु उसके खरीदार और साथियों के लिए भी इसी दण्ड का विधान था। यही दण्ड उस दशा में भी विहित था, जबकि किसी गर्भवती स्त्री को उसकी सूतिका की समुचित व्यवस्था किये बिना ही बेच दिया जाए या रहन रख दिया जाए। समुचित धनराशि को प्राप्त कर लेने के बाद भी यदि दास को स्वतन्त्र न कर दिया जाए, तो बारह पण जुरमाने की सजा दी जाती थी।

निजी कमाई करके जो धन दासों के पास एकत्र हो जाता था, दास्य की दशा में ही उनकी मृत्यु हो जाने पर उनके निकट सम्बन्धी उसे उत्तराधिकार में प्राप्त करते थे। पर यदि ऐसे दास का कोई निकट सम्बन्धी न हो, तो उसके स्वामी का उसकी सम्पत्ति पर स्वत्व हो जाता था।

यदि स्वामी से किसी दासी के सन्तान उत्पन्न हो जाए, तो वह सन्तान और उसकी माता दोनों, दासत्व से छुटकारा पा जाती थीं। पर यदि दासी अपने और अपनी

सन्तान के हित की दृष्टि से स्वामी के पास ही रहना चाहे, तो उसके भाई-बहन दास्यत्व से मुक्त कर दिये जाते थे। जब कोई दास या दासी एक बार दास्यत्व से स्वतन्त्र हो जाएँ, तो उन्हें फिर से बेचने और रहन रखने पर १२ पण जुरमाना किया जाता था, बशर्ते कि उन्होंने स्वयं ही ऐसा करने के लिये स्वीकृति न दे दी हो।

कौटलीय अर्थशास्त्र के इस विवरण से मौर्य युग की दास-प्रथा का स्पष्ट रूप हमें ज्ञात हो जाता है। इसमें सन्देह नहीं, कि भारत के ये दास ग्रीस और रोम के दासों से बहुत भिन्न प्रकार के थे। ये अपनी पृथक् कमाई कर सकते थे, और रुपया चुका कर दास्यत्व से मुक्ति भी पा सकते थे। इन्हें सम्पत्ति अर्जित करने और उसे उत्तराधिकार में प्राप्त करने का भी अधिकार था। दासों के स्वामी दासों को न पीट सकते थे, न उनसे नीच कार्य करा सकते थे, और न उनके प्रति कोई दुर्व्यवहार ही कर सकते थे। ऐसी दशा में यदि मैगस्थनीज़ जैसे ग्रीक यात्री ने यह अनुभव किया हो, कि भारत में दास-प्रथा का अभाव है, तो यह सर्वथा स्वाभाविक ही था।

(६) मुद्रापद्धति

मौर्य युग के बहुत-से सिक्के इस समय उपलब्ध हैं। कौटलीय अर्थशास्त्र (२।१२) से भी उस काल की मुद्रापद्धति के सम्बन्ध में विशद परिचय प्राप्त किया जा सकता है। मुद्रापद्धति के सञ्चालन के लिए एक पृथक् विभाग था, जिसके अमात्य को 'लक्षणाध्यक्ष' कहते थे। यह दो प्रकार के सिक्कों को प्रचलित कराता था—कोशप्रवेश्य (Legal Tender) और व्यावहारिक (Token Money)। राजकीय कर और क्रय-विक्रय आदि के लिये कोश-प्रवेश्य सिक्के ही मान्य होते थे। व्यावहारिक सिक्के कम मूल्य के होते थे, और उनका प्रयोग साधारण व्यवहार के लिये किया जाता था।

सिक्के अनेक प्रकार के होते थे। मौर्य युग का प्रधान सिक्का पण था, जिसे 'रूप्य-रूप' भी कहते थे। यह चाँदी का बना होता था। पर यह शुद्ध चाँदी का न होकर ताँबे और सीसे आदि से मिलाकर बनाया जाता था। कौटल्य के अनुसार रूप्य-रूप में चार भाग ताँबे और एक माषक (पाँच रत्ती) त्रपु, सीसा, तीक्ष्ण या अञ्जन की मिलावट की जाती थी। सम्भवतः, यह रूप्य-रूप पण वर्तमान समय के चाँदी के रूपये के सदृश ही होता था, जिसमें चाँदी के अतिरिक्त मिलावट भी रहती है।

रूप्य-रूप पण के अतिरिक्त अर्धपण, पाद (पण) और अष्टभाग (पण) के भी सिक्के जारी किये जाते थे, जो वर्तमान (दशमलव की पद्धति पर आधारित पैसों के प्रचलन से पूर्व के) समय की अठन्नियों, चवन्नियों और दुवन्नियों के समकक्ष होते थे। सम्भवतः, ये सिक्के भी चाँदी में ताम्र आदि को मिलाकर ही बनाये जाते थे। क्योंकि मौर्य युग में वस्तुओं की कीमतें बहुत कम थीं, और पण की क्रय शक्ति बहुत अधिक थी, अतः कम मूल्यों की वस्तुओं के विनिमय के लिए ताँबे के सिक्के भी जारी किये गए थे, जिन्हें 'ताम्र-रूप' या माषक कहते थे। माषक के छोटे भाग अर्धमाषक, काकणी और अर्धकाकणी थे। एक रूप्य-रूप पण में कितने माषक होते थे, कौटलीय अर्थशास्त्र से इस विषय में कोई निर्देश नहीं मिलता। सम्भवतः, माषक पैसे के बराबर होता था, और एक पण में ६४ पैसे

होते थे, क्योंकि अर्थशास्त्र में इन दोनों प्रकार के सिक्कों के भागो को उसी ढंग से प्रतिपादित किया गया है, जैसे कि ब्रिटिश युग के भारत में रुपये और उसके विभाग प्रचलित थे। सिक्के नकली तो नहीं हैं, इसकी जाँच करने के लिए भी एक राजकर्मचारी होता था, जिसे 'रूपदर्शक' कहते थे। सिक्कों को जाँचते समय यह शुल्क भी लेता था, जिसकी दर $\frac{1}{8}$ प्रतिशत थी। यदि किसी के सिक्कों को नकली पाया जाए, तो उस पर २५ पण जुरमाना किया जाता था। पर यह जुरमाना केवल ऐसे व्यक्तियों के लिये था, जो नकली सिक्कों का प्रयोग कर रहे हों। नकली सिक्कों को बनाने वालों व उन्हें बेचने या खरीदने वालों के लिये जुरमाना इससे बहुत अधिक था। सिक्के केवल राज्य द्वारा ही बनवाये जा सकते थे। इसके लिए एक पृथक् विभाग था, जिसके अध्यक्ष को 'सौवर्णिक' कहते थे। उसकी अधीनता में ऐसे कर्मान्त (कारखाने) स्थापित किये जाते थे, जिनमें कि पौर (पुरनिवासी) और जानपद (जनपद-निवासी) लोगों के सोने-चाँदी को सिक्कों के रूप में परिवर्तित किया जाता था। जनता को यह अधिकार था कि वह अपना सोना चाँदी देकर जितने सिक्के चाहें बनवा सकें। चाँदी और ताम्बे के सिक्कों के अतिरिक्त सोने के भी सिक्के बनाये जाते थे, जिन्हें 'सुवर्ण' कहते थे। सिक्के बनवाते समय एक काकणी (चौथाई माषक) के बराबर धातु (सोना चाँदी) सिक्के की बनवाई में 'क्षय' (घिसाई) के रूप में अतिरिक्त ली जाती थी। पुराने सिक्कों के बदले में भी नये सिक्के बनवाये जा सकते थे। पुराने सिक्कों के बदले में नये सिक्के दे दिये जाते थे, बशर्ते कि पुराने सिक्के जीर्ण और शीर्ण न हों। राज्य के अतिरिक्त अन्य कोई व्यक्ति सिक्के नहीं बना सकता था। स्वयं सिक्के बनाने पर कड़ा दण्ड दिया जाता था। नकली सिक्के बनाने वाले के लिए २०० पण जुरमाने का विधान था।

भारत में अनेक स्थानों पर चाँदी के 'आहत' सिक्के पाये गए हैं, जिनका काल छठी सदी ई० पू० से दूसरी सदी ई० पू० तक का माना जाता है। इनमें से कुछ सिक्के मौर्य युग के हैं, और कुछ उस समय के जब कि भारत में बहुत-से जनपदों एवं महाजनपदों की सत्ता थी और मगध के सम्राटों द्वारा इन जनपदों की स्वतन्त्र सत्ता का अन्त नहीं किया गया था। उत्तर प्रदेश के लखीमपुर-खीरी जिले के पैला नामक स्थान पर ऐसे सिक्के मिले हैं, जिन्हें मौर्य युग से पूर्ववर्ती जनपद युग के कोशल महाजनपद का माना जाता है। ये सिक्के उस समय के हैं, जब कि कोशल मगध के अधीन नहीं हुआ था। सामान्यतया, आहत सिक्कों पर पाँच चिह्न होते हैं, पर कोशल जनपद के इन सिक्कों पर केवल चार चिह्न ही हैं। वजन में ये ३० रत्ती हैं। इसी प्रकार के बहुत-से सिक्के अन्य जनपदों के भी मिले हैं, जो मौर्य युग से पहले के हैं। श्री परमेश्वरीलाल गुप्त ने आहत सिक्कों की रचना और प्रकार के आधार पर यह प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया है, कि कौन-से सिक्के जनपद युग के हैं, और कौन-से मौर्य युग के। उनके अनुसार मौर्य युग से पूर्ववर्ती जनपद-युग के आहत सिक्के आकार में बड़े और मोटाई में बहुत पतले हैं। इसके विपरीत मौर्य युग के सिक्के आकार में छोटे और मोटाई में अधिक हैं। चौड़ाई में वे प्रायः ०.४ इञ्च हैं, और मोटाई में वे $\frac{3}{8}$ इञ्च के लगभग हैं। उन पर पहाड़ी, अर्धचन्द्र और मयूर के चिह्न अंकित हैं, और मौर्य युग के सिक्कों की यही मुख्य पहचान है। मौर्यों से पूर्ववर्ती जनपद-

युग के सिक्कों पर वृषभ, हाथी, मृग, शश, मत्स्य, नक्र (मगरमच्छ), कच्छप (कछुआ) आदि पशुओं और सूर्य, चक्र आदि विभिन्न प्रकार के चिह्न अंकित हैं। सम्भवतः, ये सिक्के उन विविध जनपदों के हैं, जो मौर्य साम्राज्य के विकास से पूर्व भारत में विद्यमान थे। सिक्कों पर विद्यमान विविध चिह्नों की संख्या ३०० के लगभग है। जिन सिक्कों पर केवल पहाड़ी के चिह्न हैं, उन्हें नन्दवंश का प्रतिपादित किया गया है। नन्दवंश के शक्तिशाली राजाओं ने मागध साम्राज्य का बहुत विस्तार किया था, और कोशल, काशी, वृजि आदि जनपदों को अपने आधिपत्य में ले लिया था। मौर्यों के सिक्कों पर पहाड़ी का चिह्न भी कायम रखा गया, पर उसके साथ अर्धचन्द्र तथा मयूर के चिह्नों को जोड़ दिया गया। मौर्य वंश के राजाओं का मोरिय गण के साथ सम्बन्ध था, जिसकी राजधानी मयूरनगर थी। अतः मयूर को अपने राजकीय चिह्न के रूप में यदि उन्होंने स्वीकार किया हो, तो यह अस्वाभाविक नहीं है। अर्ध-चन्द्र के चिह्न को सम्भवतः, मौर्य साम्राज्य के संस्थापक चन्द्रगुप्त के नाम से ही लिया गया था।

मौर्य युग के चाँदी के जो आहत सिक्के इस समय अच्छी बड़ी संख्या में उपलब्ध हैं, कौटलीय अर्थशास्त्र में उन्हीं को 'पण' कहा गया है, यह कल्पना असंगत नहीं है। ये सिक्के वजन में ५० से ५२ ग्रेन तक के हैं। कुछ स्थानों पर पूरे सिक्के को काट कर बनाये गए ऐसे सिक्के भी प्राप्त हुए हैं, जो आकार में आधे या चौथाई सिक्के के लगभग हैं। सम्भवतः, ये ही कौटल्य के अर्धपण और पादपण हैं। कतिपय चांदी के बहुत छोटे सिक्के भी मिले हैं, जो वजन में केवल दो या तीन ग्रेन हैं। ये चाँदी की पतली चादर को काट कर बनाये गए हैं, और इन पर भी वही चिह्न अंकित हैं, जो पणों पर पाए जाते हैं। सम्भवतः, ये 'माषक' हैं, जिनका उल्लेख कौटलीय अर्थशास्त्र में विद्यमान है। सामान्यतया, माषक तांबे का सिक्का होता था, जिसे 'ताम्ररूप' भी कहते थे। पर सम्भवतः, चाँदी से भी माषकों का निर्माण किया जाता था।

चाँदी के आहत सिक्कों के अतिरिक्त एक अन्य प्रकार के प्राचीन सिक्के भी उपलब्ध हुए हैं, जो चाँदी की मुड़ी हुई शलाकाओं के रूप में हैं। इनके एक ओर छः हाथों वाला चिह्न अंकित है। वजन में ये १६६ से १७३ ग्रेन तक के हैं। इन्हें 'शलाकामुद्रा' कहते हैं। इनका काल भी मौर्य युग के समीप का ही माना जाता है। कौटलीय अर्थशास्त्र में वर्णित 'माषक' सिक्का ताँबे का बना होता था। वर्तमान समय में ताँबे के बने हुए कुछ प्राचीन सिक्के भी प्राप्त हुए हैं, जो आहत न होकर ढाल कर बनाये गए हैं। इन पर पहाड़ी और अर्धचन्द्र के चिह्न भी अंकित हैं, जिसके कारण इन्हें मौर्य राजाओं का माना जा सकता है। इसमें सन्देह नहीं, कि ये सिक्के ही 'माषक' कहाते थे।

गत वर्षों में तक्षशिला के भग्नावशेषों में चाँदी के बहुत-से आहत सिक्कों के कुछ ढेर मिले हैं, जिनमें सिकन्दर और फिलिप एरिडियस के सिक्के भी अन्तर्गत हैं। सिकन्दर के सिक्कों के एक ओर शेर की खाल पहने सिकन्दर का सिर अंकित है, और दूसरी ओर सिंहासन पर विराजमान द्यौः (Zeus) है। इनके साथ जो आहत मुद्राएँ मिली हैं, वे स्पष्टतया चौथी सदी ई० पू० की व उससे कुछ समय पश्चात् की हैं। इन्हें मौर्य युग का माना जा सकता है। इनमें से कुछ पर मौर्य राजाओं के पहाड़ी और अर्धचन्द्र चिह्न भी

अंकित हैं। तक्षशिला में उपलब्ध सिक्कों के ढेर में कुछ मुद्राएँ ऐसी भी हैं, जिनमें मिलावट बहुत अधिक है। इन्हें ७५ प्रतिशत तक ताँवा मिला कर बनाया गया है। हमें ज्ञात है, कि चन्द्रगुप्त के जीवनकाल के अन्तिम भाग में एक घोर दुर्भिक्ष पड़ा था, जिसके कारण मौर्यों को विकट आर्थिक समस्या का सामना करना पड़ा था। सम्भवतः, ये मुद्राएँ उसी के परिणामस्वरूप जारी की गयी थीं।

कतिपय सिक्कों पर जो चिह्न या लेख अंकित हैं, श्री काशी प्रसाद जायसवाल ने उन्हें पढ़ कर यह प्रतिपादित किया है, कि ये सिक्के शतधर्मन, सम्प्रति, देववर्मन और शालिशुक के हैं—जो मौर्य वंश के राजा थे। पर सब विद्वान् इस विचार से सहमत नहीं नहीं हैं।

सिक्कों के अतिरिक्त कीमत चुकाने के मौर्य युग में अन्य भी कोई साधन थे या नहीं, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। धनराशि को किसी के पास जमा करने के सम्बन्ध में नियमों का निरूपण करते हुए कौटल्य ने 'आदेश' का भी उल्लेख किया है। अनेक विद्वानों की सम्मति में यह 'आदेश' हुण्डी (Bill of Exchange) को सूचित करता है। शब्दार्थ की दृष्टि से कीमत चुकाने के लिए किसी अन्य व्यक्ति को आज्ञा देने को 'आदेश' कहा जा सकता है। सम्भवतः, हुण्डी जैसे कीमत चुकाने के साधन भी मौर्य युग में प्रचलित थे।

(७) सूद पर उधार देना

मौर्य युग में सूद पर रुपया लेने और देने का कारोबार बहुत उन्नत था। कौटल्य (३।११) की सम्मति में राज्य और शासन का योग-क्षेम धनिक (महाजन या रुपया उधार देनेवाला) और धारणिक (रुपया उधार लेने वाला) के व्यवहार पर आश्रित है, अतः उन दोनों के चरित्र पर राज्य को दृष्टि रखनी चाहिये। इसीलिए महाजनी के कारोबार को राज्य द्वारा नियन्त्रित किया जाता था। पर राज्य ने सूद की जो दरें निर्धारित की हुई थीं, वे बहुत अधिक थीं। कौटल्य की सम्मति में एक सौ पण उधार देने पर सवा पण मासिक (१५ प्रतिशत वार्षिक) सूद लेना धर्म्य या न्याय्य था। पर व्यवहार में इससे बहुत अधिक सूद लिया जाता था। साधारणतया, व्यवहार (रुपये का लेन-देन करते हुए) में ५ प्रतिशत मासिक (६० प्रतिशत वार्षिक) पर रुपया उधार मिलता था। जहाँ खतरा अधिक हो, वहाँ सूद की दर और भी अधिक थी। व्यापार के लिए जंगलों (जंगल के मार्गों) में जाने वाले व्यापारी १० प्रतिशत मासिक सूद देते थे। समुद्र में आने-जाने वाले व्यापारियों के लिए सूद की दर २० प्रतिशत मासिक या २४० प्रतिशत वार्षिक थी। जंगल और समुद्र के मार्गों से सुदूर प्रदेशों में आने-जाने वाले व्यापारियों को अपने व्यापार से मुनाफा भी बहुत अधिक होता था। इसी कारण वे इस ऊँची दर से सूद दे सकते थे। सूद की ये दरें व्यवहार में स्वीकृत थीं। पर इससे अधिक सूद लेना कानून द्वारा निषिद्ध था। कौटल्य ने लिखा है, कि जो व्यक्ति इससे अधिक दर पर सूद दें या दिलाएँ, उन्हें पूर्वस्साहस दण्ड दिया जाए, और जो इस प्रकार के व्यवहार में साक्षी हों, वे भी अर्ध-दण्ड के भागी हों।

ऋणी या धारणिक की मृत्यु हो जाने पर उसके पुत्र ऋण की अदायगी के लिए उत्तरदायी होते थे। यदि मृत धारणिक की कोई सन्तान न हो, तो जो भी उसका उत्तराधिकारी हो, उसे ऋण का देनदार माना जाता था। यदि ऋण लेते हुए किसी से जमानत दिलायी गई हो, तो वह जमानती भी ऋण की अदायगी के लिए उत्तरदायी होता था। धनिक (महाजन) के लिए आवश्यक था, कि सूद को तुरन्त ग्रहण कर ले। सूद को इकट्ठा होने देना उचित नहीं समझा जाता था। यदि कोई धनिक उस समय सूद का दावा करने लगे, जबकि वह प्रदेय न हो, या सूद को ऋण की राशि में जोड़ कर उसे प्राप्तव्य ऋण की राशि होने का दावा करने लगे, तो उस पर विवादग्रस्त राशि का चार गुना जुरमाना किया जाता था।

यदि धनिक (महाजन) दस साल तक ऋण की उपेक्षा करता रहे और उसे वापस लेने के लिए समुचित प्रयत्न न करे, तो उस ऋण को अप्रतिग्राह्य (जिसे वापस लौटाने की आवश्यकता न रह जाए) माना जाता था। पर यदि ऋण की वसूली में देरी का कारण धनिक का बाल (नाबालिग), वृद्ध, व्याधित (बीमार), व्यसनी (विपत्तिग्रस्त), प्रोषित (प्रवासी) होना, या देश को त्याग देना और या राज्य-विभ्रम (देश में राजकीय अव्यवस्था) हो, तो यह नियम लागू नहीं होता था।

कतिपय व्यक्ति सूद से मुक्त भी होते थे। इन्होंने जो ऋण लिए हों, उन पर सूद नहीं लगता था। ये व्यक्ति निम्नलिखित होते थे—जो किसी दीर्घ सत्र (बड़े अनुष्ठान या चिरकाल तक चलने वाले यज्ञ आदि) में लगे हों, जो व्याधिपीड़ित हों, जो गुरुकुल (शिक्षणालय) में रहकर शिक्षा ग्रहण कर रहे हों, जो बाल (नाबालिग) हों, और जो असार (अत्यन्त निर्धन) हों।

यदि किसी धारणिक (ऋणी) ने एक से अधिक धनिकों से ऋण लिया हो, तो वे सब एक समय में ही ऋण की वसूली के लिए मुकदमा नहीं कर सकते थे। जिसने पहले ऋण दिया हो, उसे यह अधिकार था कि वह अपने ऋण को पहले वसूल कर सके। पर यदि धारणिक ने राज्य और श्रोत्रियों से भी ऋण लिया हुआ हो, तो उन्हें ऋण की अदायगी में प्राथमिकता दी जाती थी।

यदि पति ने पत्नी से या पत्नी ने पति से, पिता ने पुत्र से या पुत्र ने पिता से और अविभक्त परिवार के भाइयों ने एक दूसरे से ऋण लिया हो, तो उसकी वसूली के लिए न्यायालय में मुकदमा नहीं किया जा सकता था। किसानों और राजपुरुषों को, उस अवधि में जबकि वे अपने कार्यों में व्यापृत हों, ऋण की वसूली के प्रयोजन से गिरफ्तार नहीं किया जा सकता था। पति द्वारा जो ऋण लिया गया हो, उसकी वसूली के लिए उसकी पत्नी को नहीं पकड़ा जा सकता था, चाहे पत्नी उस ऋण की साक्षी भी क्यों न हो। पर यह नियम ग्वालों और बँटवारे पर खेती करने वालों पर लागू नहीं होता था। पर यदि पत्नी ने कोई ऋण लिया हो, तो उसकी वसूली के लिए उसके पति को गिरफ्तार किया जा सकता था। पत्नी द्वारा लिये हुए ऋण की अदायगी की व्यवस्था किये बिना ही यदि उसका पति कहीं विदेश चला जाए, तो उसके लिए उत्तम-साहस दण्ड का विधान था।

ऋण-सम्बन्धी मुकदमों का फैसला करते हुए ऐसे तीन साक्षियों की साक्षी लेना आवश्यक था, जो कि प्रात्ययिक, शुचि और प्रतिष्ठित हों। पर यदि साक्षी दोनों पक्षों को स्वीकार्य हो, तो दो साक्षियों से भी काम चल सकता था। ऋण-सम्बन्धी मामलों में एक साक्षी कदापि पर्याप्त नहीं समझा जाता था।

ऋण के विषय में जिन व्यवस्थाओं का ऊपर उल्लेख किया गया है, वे ही 'उपनिधि' (Deposits) पर भी लागू होती थीं। लोग अपने धन को सुरक्षा के लिये सम्पन्न व्यक्तियों, श्रेणियों, व्यापारियों के समूहों आदि के पास रखवा दिया करते थे। जिनके पास कोई धनराशि या सम्पत्ति अमानत के रूप में रखी गई हो, वे उसकी सुरक्षा के लिये उत्तरदायी होते थे। वे उसे न खर्च कर सकते थे, न उसका भोग कर सकते थे, न उसे बेच सकते थे और न उसे रहन रख सकते थे। ऐसा करने पर वे दण्ड के भागी होते थे।

ऋण का आदान-प्रदान और सम्पत्ति को अमानत पर रखना मौर्य युग के आर्थिक जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते थे। इसी कारण कौटल्य ने इनके सम्बन्ध में प्रयुक्त होनेवाले नियमों का विशद रूप से उल्लेख किया है।

(८) नगर और ग्राम

ग्रीक विवरणों से मौर्य युग के नगरों के विषय में अच्छी जानकारी उपलब्ध होती है। मैगस्थनीज के अनुसार पोरु (पोरस) के राज्य में २००० नगर थे, और आन्ध्र में ३०। सम्भवतः, पोरस के राज्य की जिन २००० बस्तियों को ग्रीक यात्री ने नगर कहा है, वे ग्राम थे, नगर नहीं। पर इसमें सन्देह नहीं कि मौर्य युग में भारत में बहुत-से नगरों की सत्ता थी। मौर्य साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र एक विशाल नगरी थी, और साम्राज्य के अन्तर्गत विविध जनपदों में भी बहुत-से नगर विद्यमान थे। मैगस्थनीज सैल्युकस के राजदूत के रूप में चिरकाल तक पाटलिपुत्र में रहा था। उसने इस नगरी का जो वर्णन किया है, वह वस्तुतः प्रामाणिक और विश्वसनीय है। उसके अनुसार पाटलिपुत्र नगरी गंगा और सोन (सोण) नदियों के संगम पर स्थित थी। इसका निर्माण एक समानान्तर चतुर्भुज के रूप में किया गया था। लम्बाई में यह ८० स्टेडिया (९$\frac{1}{2}$ मील) थी, और चौड़ाई में १५ स्टेडिया (१ मील और १२७० गज)। नगरी के चारों ओर लकड़ी की एक दीवार बनी हुई थी, जिसके बीच-बीच में तीर छोड़ने के लिये बहुत-से छेद बने हुए थे। दीवार के चारों ओर एक खाई थी, जो ६० फीट गहरी और ६०० फीट चौड़ी थी। यह खाई नगर की रक्षा और गन्दगी को बहाने के काम में आती थी। लकड़ी की दीवार में नगर में आने-जाने के लिये ६४ द्वार थे। दीवार पर बहुत-से बुर्ज भी बने हुए थे, जिनकी संख्या ५७० थी। इसमें सन्देह नहीं, कि पाटलिपुत्र एक अत्यन्त विशाल नगरी थी, जिसका निर्माण एक सुदृढ़ दुर्ग के रूप में किया गया था।

मौर्य युग के नगरों के सम्बन्ध में एरियन की यह सूचना भी उल्लेखनीय है—'परन्तु उन (भारतीयों) के नगरों की संख्या इतनी अधिक है कि ठीक-ठीक नहीं बतायी जा सकती। जो नगर नदियों के किनारे और समुद्र-तट पर स्थित हैं, वे ईंटों के बजाय लकड़ी के बने हुए हैं, क्योंकि उन्हें स्वल्पकाल के प्रयोग के लिए ही बनाया जाता है। वहाँ

वर्षा बहुत जोर से पड़ती है, और नदियाँ अपने किनारों के ऊपर चढ़कर मैदानों में बाढ़ ले आती हैं। पर ऐसे नगर जो खुली जगह पर और ऊँचे टीलों पर बसे हैं, ईंटों और गारे से निर्मित हैं।'

कौटलीय अर्थशास्त्र के अनुशीलन से मौर्य युग के नगरों की रचना के सम्बन्ध में सुस्पष्ट जानकारी प्राप्त की जा सकती है। अर्थशास्त्र के 'दुर्गविधानम्' और 'दुर्गनिवेशः' प्रकरणों में एक ऐसे नगर का चित्र प्रस्तुत किया गया है, जिसका निर्माण दुर्ग के रूप में किया गया हो। निस्सन्देह, पाटलिपुत्र इसी प्रकार का नगर था। कौटल्य के अनुसार नगर के चारों ओर एक-एक दण्ड (छः फीट) के फासले पर तीन परिखाएँ (खाइयाँ) होनी चाहियें, जो चौड़ाई में क्रमशः १४ दण्ड (८४ फीट), १२ दण्ड (७२ फीट) और १० दण्ड (६० फीट) हों। इनकी गहराई चौड़ाई की तुलना में या तो तीन चौथाई रखी जाए और या आधी। इस प्रकार ये खाइयाँ गहराई में क्रमशः ६३, ५४ और ४५ फीट या ४२, ३६ और ३० फीट हों। खाई का फर्श सतह से तिहाई होना चाहिए। खाइयों की दीवारें पत्थरों या ईंटों से पक्की बनायी जाएँ, और उन्हें सदा पानी से भर कर रखा जाए। यह पानी ऐसा होना चाहिये कि किसी अन्य स्रोत से निरन्तर आता रहे और उसका प्रवाह कभी रुके नहीं। खाइयों में मगरमच्छ आदि जन्तु भी रहने चाहियें। सबसे भीतर की खाई से २४ फीट की दूरी पर वप्र (प्राचीर या शहरपनाह) बनाया जाए, जो ३६ फीट ऊँचा और ७२ फीट चौड़ा हो। इस वप्र के ऊपर प्राकारों का निर्माण किया जाए, और उनके भी ऊपर अट्टालिकाओं का। वप्र और प्राकार पर सैनिकों और सवारियों के आने-जाने के लिये मार्ग हों, और अट्टालिकाओं के बीच में धनुर्धरों के लिये स्थान बनाये जाएँ। दुर्ग की रक्षा के प्रयोजन से अनेकविध अस्त्र-शस्त्र भी वहाँ स्थापित किये जाएँ। कौटल्य ने इन सबका बड़े विशद रूप से वर्णन किया है, पर उसे यहाँ उद्धृत करने का विशेष उपयोग नहीं है।

परिखा, वप्र और प्राकार आदि से सुरक्षित नगर में किस-किस प्रकार के मार्ग हों, और जनता के विभिन्न वर्गों के निवास की किस ढंग से व्यवस्था की जाए, इसका भी कौटल्य ने विस्तार के साथ प्रतिपादन किया है। नगर में बारह मुख्य द्वार होने चाहियें, जिनसे तीन राजमार्ग पूर्व से पश्चिम की ओर जानेवाले और तीन राजमार्ग उत्तर से दक्षिण की ओर जाने वाले बनाये जाएँ। राजमार्गों के अतिरिक्त अन्य भी अनेक प्रकार के मार्ग नगर में बनाये जाते थे, जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है। नगर में विभिन्न वर्गों के निवास के विषय में कौटलीय अर्थशास्त्र का विवरण महत्त्व का है। नगर का कुल मिलाकर जितना क्षेत्र हो, उसके नौवें भाग में राजप्रसाद और अन्तःपुर का निर्माण किया जाए। राजकीय इमारतों के लिये नगर के मध्य भाग से उत्तर की ओर का प्रदेश सुरक्षित रखा जाए। राजप्रासाद के पूर्व-उत्तर भाग में आचार्य, पुरोहित और मन्त्रियों का निवास हो, और इज्या-स्थान (यज्ञमण्डप) तथा तोय-स्थान (जहाँ पेय उदक सञ्चित हो) बनवाये जाएँ। पूर्व-दक्षिण भाग में महानस (राजकीय पाकशाला), हस्तिशाला और कोष्ठागार रहें। उनके परे पूर्व की ओर गन्ध, माल्य और रस (द्रव पदार्थ) की पण्य-शालाएं हों, और प्रधान शिल्पी तथा क्षत्रियों के निवासस्थान रहें। दक्षिण-पूर्व भाग में भाण्डागार, अक्षपटल और विविध कर्मनिषद्य (कर्मान्त या कारखाने) बनवाये जाएँ। दक्षिण-पश्चिम

भाग में कुप्यगृह और आयुधागार रहें। उनके परे दक्षिण दिशा की ओर नगर-अध्यक्ष (नागरक), धान्य-अध्यक्ष (पण्याध्यक्ष, कुप्याध्यक्ष, सीताध्यक्ष आदि), व्यावहारिक, कार्मान्तिक और विविध बलाध्यक्षों (सैनिक अध्यक्षों) के निवास हों, और पक्वान्नपण्यों (पकवान बेचने वालों), सुरापण्यों (शराब बेचनेवालों), माँसपण्यों (माँस बेचनेवालों), रूपाजीवाओं (वेश्याओं), तालापचारों (नट, नर्तक, वादक आदि) और वैश्यों के कारोबार के स्थान रहें। पश्चिम-दक्षिण भाग में गधों, ऊँटों आदि पशुओं की शालाएँ तथा कर्मगृह बनवाये जाएँ, और पश्चिम-उत्तर भाग में यानों और रथों की शालाएँ। उनके परे पश्चिम की ओर ऊन और रूई के सूत को कातने तथा बुनने वाले शिल्पी, वेणु (बाँस) तथा चर्म (खाल, फर आदि) के शिल्पी, शस्त्र और कवच बनाने वाले शिल्पी और शूद्र आबाद किये जाएँ। उत्तर-पश्चिम भाग में पण्य-भैषज्यगृह (जहाँ औषधियाँ बेची जाती हों) बनवाये जाएँ। उत्तर-पूर्व भाग में कोशागार और गौशालाएँ तथा अश्वशालाएँ रहें। उनसे परे उत्तर की ओर नगर-कारु, राज-कारु, देवता-कारु, लोहकारु और मणिकारु वर्ग के लिये तथा ब्राह्मणों के लिये स्थान सुरक्षित रखे जाएँ। बीच के विभिन्न कोनों में शिल्पियों की श्रेणियों और अन्य समूहों के लिये स्थान रहें। नगर के मध्य में अपराजित, अप्रतिहत, जयन्त और वैजयन्त देवताओं के कोष्ठ और शिव, वैश्रवण, अश्विन्, श्री और मदिरा के गृह निर्मित कराये जाएँ, और उनके कोष्ठकालयों (गर्भगृहों) में वास्तु-देवताओं (मूर्तियों) की स्थापना की जाए। परिखा से १०० धनु (१०० दण्ड या ६०० फीट) की दूरी पर पुण्यस्थान बनवाये जाएँ, और सब दिशाओं में यथास्थान दिग्देवता स्थापित किये जाएँ। नगर के उत्तर-पूर्व में श्मशान के लिये स्थान सुरक्षित रखा जाए। दक्षिण में एक पृथक् श्मशान हो, जिसका प्रयोग केवल उत्कृष्ट वर्णों के व्यक्ति ही कर सकें। पाषण्डों (ऐसे सम्प्रदाय जो परम्परागत धर्म के प्रति आस्था नहीं रखते थे) और चाण्डालों के लिये श्मशान से परे का स्थान रहे। नगर में कुएँ इतनी अधिक संख्या में बनवाये जाएँ, कि दस परिवारों के लिये एक कुआँ रहे। नगर में धान्य, चीनी, तेल, नमक, ईंधन आदि को इतनी अधिक मात्रा में सञ्चित करके रखा जाए कि वह अनेक वर्षों के लिये पर्याप्त हो।

कौटलीय अर्थशास्त्र के इस विवरण से मौर्य युग के नगरों के स्वरूप और रचना का एक स्पष्ट चित्र हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाता है। निस्सन्देह, पाटलिपुत्र की रचना इसी ढंग से की गई थी। ग्रीक लेखकों के विवरणों से भी इसकी पुष्टि होती है। काशी, श्रावस्ती, कौशाम्बी, चम्पा आदि मौर्य युग के अन्य नगरों का निर्माण भी प्रायः इसी ढंग से किया गया होगा, यह कल्पना सहज में की जा सकती है। पाटलिपुत्र की जो खुदाई गत वर्षों में हुई है, उसमें मौर्य युग के भी कुछ अवशेष उपलब्ध हुए हैं। वे भी अनेक अंशों में अर्थशास्त्र के इस विवरण की पुष्टि करते हैं। इसमें सन्देह नहीं, कि मौर्य युग के नगरों का निर्माण एक सुव्यवस्थित योजना के अनुसार किया जाता था। उनमें विभिन्न व्यवसायियों के लियेपृथक् स्थान सुरक्षित रहते थे, और जनता के विविध वर्ग पृथक् रूप से निवास करते थे।

यहाँ जिस दुर्ग (दुर्ग के रूप में निर्मित नगर) के स्वरूप का निरूपण किया गया है, वह पुर के लोगों के निवास के लिये था। पर बहुत-से दुर्ग ऐसे भी थे, जिनका निर्माण युद्ध

के प्रयोजन से किया जाता था। ये दुर्ग साम्परायिक (युद्ध या राष्ट्र की रक्षा के लिये निर्मित), औदक (जल-दुर्ग), पार्वत (पर्वत-दुर्ग), धान्वन (जल से विरहित मरुस्थल आदि में स्थित) और वनदुर्ग आदि अनेक प्रकार के होते थे।

प्रत्येक जनपद में बहुत-से ग्राम होते थे, जिनकी सीमा एक क्रोश (कोस) से दो क्रोश तक हुआ करती थी। ग्रामों की सीमा को सूचित करने के लिये नदी, पहाड़, वन, गुफा, सेतुबन्ध (बाँध), शाल्मली (सिम्बल), शमी (शीशम) और क्षीरवृक्ष (बड़) आदि का आश्रय लिया जाता था। वर्तमान समय में भी सर्वसाधारण ग्रामवासी अपने ग्राम की सीमा का बोध कराने के लिये इन्हीं का प्रयोग करते हैं। एक ग्राम में प्रायः १०० से ५०० तक परिवार निवास करते थे। ग्रामों की जनता अपनी आजीविका के लिये प्रायः कृषि पर निर्भर करती थी। खेती के सम्बन्ध में जो नियम मौर्य युग में प्रचलित थे, उनका उल्लेख भी पहले किया जा चुका है। कृषि योग्य भूमि पर व्यक्तियों का अपरिमित स्वत्त्व नहीं माना जाता था। यदि कोई कृषक खेती न करे, तो उसकी भूमि दूसरों को दी जा सकती थी। खेती का कार्य प्रायः शूद्रों द्वारा करवाया जाता था। कृषियोग्य भूमि के अतिरिक्त ऐसी भूमि भी ग्राम के क्षेत्र में रहती थी, जिसका उपयोग चरागाह के रूप में किया जाता था। इस पर ग्राम के पशु स्वच्छन्द रूप से चर सकते थे। कृषकों के अतिरिक्त गाँवों में गडरिये, ग्वाले, शिल्पी और वैदेहक (सौदागर) भी निवास करते थे, और साथ ही ऋत्विक्, आचार्य, पुरोहित आदि भी। राज्य द्वारा ग्रामों में कुओं, तटाकों (तालाबों), मार्गों और उद्यानों आदि का निर्माण कराया जाता था, या जो इन्हें बनवाएँ उन्हें सहायता प्रदान की जाती थी। गाँव के क्षेत्र में जो नदियाँ और तालाब हों, उन पर राज्य का अधिकार माना जाता था। इसीलिये उनसे जो मछलियाँ पकड़ी जाएँ, या जो हरितपण्य (सिंघाड़े आदि) एकत्र किये जाएँ, उन पर राज्य का स्वत्त्व होता था, किसी व्यक्ति का नहीं। नदियों के पार उतरने के लिये प्लवों (नौकाओं) की व्यवस्था भी राज्य की ओर से की जाती थी। सम्भवतः, ये सब राज्य द्वारा ठेके पर दे दिये जाते थे। बालक, वृद्ध, विपत्तिग्रस्त और अनाथ आदि के पालन-पोषण की व्यवस्था भी राज्य की ओर से की जाती थी।

ग्रामों में निवास करने वाले लोगों का मनोरञ्जन करने के लिये नट, नर्तक, गायक, वादक, वाग्जीवन (विभिन्न प्रकार की बोलियाँ बोल कर मनोरञ्जन करने वाले) और कुशीलव भी कभी-कभी वहाँ आ जाया करते थे। पर भोले-भाले ग्रामीणों के धन को ये कहीं लूट न लें और इनके कारण कहीं ग्रामवासियों के कार्यों में विघ्न न पड़े, इस दृष्टि से इन पर अनेकविध प्रतिबन्ध लगाये जाते थे। कौटल्य ग्रामों में मनोरञ्जन और आमोद-प्रमोद के प्रयोजन से शालाएँ बनाने के विरुद्ध थे।

ग्रामों में पुण्यस्थान (धार्मिक प्रयोजनों से निर्मित स्थान), आराम (उद्यान) और देवमन्दिर भी होते थे। मन्दिरों को भेंट पूजा में जो द्रव्य अर्पित किया जाता था, उसकी (देव-द्रव्य की) व्यवस्था ग्रामवृद्धों द्वारा की जाती थी। ग्रामों को बहुधा महामारियों और दुर्भिक्षों का भी सामना करना पड़ता रहता था। शत्रुओं और आटविकों (जंगलों में निवास करने वाली जातियों) के भी उन पर आक्रमण होते रहते थे। इनसे ग्रामों की

रक्षा करना भी राज्य का कर्त्तव्य माना लाता था। कैसा जनपद उत्कृष्ट होता है इसका विवेचन करते हुए कौटल्य ने लिखा है कि जहाँ पङ्क (दलदल), पाषाण (पथरीली भूमि), उषर (ऊसर जमीन), विषम (ऊँची-नीची भूमि), कण्टक श्रेणी (काँटों की झाड़ियाँ), व्याल (हिंस्र-पशु), मृग (जंगली पशु) और अटवि (विकट जंगल) का अभाव हो; कृषि-योग्य उपजाऊ भूमि, खनिज पदार्थ, द्रव्यवन (सारदारु के जंगल) और हस्तिवन जहाँ हों, गौ आदि पशुओं के लिये जहाँ सुरक्षित गोचर-भूमि हो, सिंचाई के लिये जो केवल वर्षा पर निर्भर न करे, कर्मशील कृषकों का जहाँ निवास हो और जहाँ के निवासी शुचि आचरणवाले हों, वह जनपद प्रशस्त होता है। कौटलीय अर्थशास्त्र के इस वर्णन से उत्तरी भारत के देहातों का एक स्पष्ट चित्र हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाता है।

पन्द्रहवां अध्याय

मौर्य युग के पश्चात् भारत का आर्थिक जीवन

(१) शिल्पियों और व्यापारियों के संगठन

मौर्य युग के पश्चात् के समय में भी खेती ही भारतीयों के आर्थिक जीवन का मुख्य आधार रही। इस काल के साहित्य में जौं, चावल, गेहूँ, चना, बाजरा, तिल, सरसों, कपास, ईख आदि का बहुधा उल्लेख आया है, जिससे कृषिजन्य पदार्थों के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त होती है। पर इनके अतिरिक्त अन्य भी अनेक ऐसे बहुमूल्य पदार्थ थे, जिनके उत्पादन पर विशेष ध्यान दिया जाता था, क्योंकि विदेशों में भी उनकी बहुत माँग थी। ये केसर, तगर, कपूर, चन्दन, कुठ, जटामांसी, गन्धतृण, गुग्गल, काली मिर्च, और दारु हरिद्रा आदि थे, जो सुगन्धित द्रव्यों तथा औषधियों के निर्माण के लिये प्रयुक्त किये जाते थे। कृषि का स्वरूप प्रायः वैसा ही था, जैसा कि मौर्य और बौद्ध युगों में था। आर्थिक जीवन में अनेकविध शिल्पों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान था। तन्तुवाय, वर्धकि, लौहकार, सुवर्णकार, मणिकार आदि के शिल्प भलीभाँति विकसित हो चुके थे। मौर्य युग के आर्थिक जीवन पर प्रकाश डालते हुए प्राचीन भारत के विविध शिल्पियों और व्यवसायियों के सम्बन्ध में विशेष रूप से लिखा जा चुका है। मौर्योत्तर युग में भी प्रायः इन्हीं सब शिल्पों की सत्ता थी। अतः उनका पुनः उल्लेख करना उपयोगी नहीं है।

बौद्ध और मौर्य युगों के समान बाद के समय में भी भारत में शिल्पियों और व्यापारियों के संगठन कायम रहे। स्मृतियों और नीति-ग्रन्थों द्वारा इनके संगठन तथा कार्यों के सम्बन्ध में समुचित जानकारी प्राप्त की जा सकती है। शिल्पियों के 'समूह' या संगठन की संज्ञा 'श्रेणि' थी। विज्ञानेश्वर ने श्रेणि का लक्षण इस प्रकार किया है—'एक-पण्यशिल्पोपजीविनः श्रेणयः'। जो किसी एक शिल्प द्वारा तैयार हुए माल के विक्रय से आजीविका कमाएँ, उनका समूह (संगठन) श्रेणि कहाता है। इन श्रेणियों के अपने पृथक् नियम व कानून होते थे, जिन्हें राज्यसंस्था द्वारा भी मान्यता प्राप्त थी। मनुस्मृति में लिखा है कि राजा अपने धर्म (कानून) का निर्माण करते हुए जानपद-धर्मों के साथ श्रेणी-धर्मों की भी समीक्षा करे, और उन्हें दृष्टि में रखकर ही अपने कानून बनाए। इसी प्रसंग में मनुस्मृति के पुराने टीकाकारों ने यह भी स्पष्ट किया है कि श्रेणियों के साथ संविदा (इकरार) करके यदि कोई व्यक्ति उसका पालन न करे, तो उसे कठोर दण्ड दिया जाए। इससे सूचित होता है कि माल के क्रय-विक्रय या इसी प्रकार के विषयों के सम्बन्ध में शिल्पी-श्रेणियों के साथ इकरार भी किये जाते थे, जिनका पालन करना सब के लिये आवश्यक होता था। श्रेणियों के साथ किये गये इकरार का अतिक्रमण करने वालों को राज्य की ओर से दण्ड दिया जाता था।

याज्ञवल्क्यस्मृति में विधान किया गया है कि यदि कोई व्यक्ति श्रेणि या किसी अन्य 'समूह' की सम्पत्ति की चोरी करे या उनके साथ की गई संविदा का अतिक्रमण करे, तो उसे देश से वहिष्कृत कर दिया जाए और उसकी सब सम्पत्ति जब्त कर ली जाए। विष्णुस्मृति के अनुसार भी गण (समूह) के द्रव्य का अपहरण करने वाले व्यक्ति को बहिष्कृत कर देना चाहिए। याज्ञवल्क्यस्मृति में लिखा है कि समय (संविदा या इकरार) द्वारा गण (श्रेणि आदि विविध समूह) जो नियम या कानून बनाएँ, यदि राजा के अपने कानूनों से उनका विरोध न हो, तो राजकृत कानूनों के समान ही उनकी भी संरक्षा की जानी चाहिये। जो कोई व्यक्ति गण के द्रव्य का अपहरण करे या गण के साथ की गई संविदा का अतिक्रमण करे, सर्वस्व छीन कर उसे राज्य से निकाल दिया जाए। 'समूह' के हित को दृष्टि में रखते हुए सबको उन (समूहों) के वचन (निश्चय या निर्णय) का पालन करना चाहिये। जो ऐसा न करे या इसके विपरीत करे, उस पर जुरमाना किया जाना चाहिये। जो लोग 'समूह' के कार्य से आयें, राजा को चाहिये कि उनका कार्य हो जाने पर दान और मान द्वारा उनका सत्कार करे और फिर उन्हें विदा दे। समूह के कार्य पर भेजे गये व्यक्तियों को जो कुछ भी प्राप्त हो, उसे वे अपने पास न रख समूह को ही अर्पित कर दें। जो स्वयं इस धन को अर्पण न करे, उस पर ग्यारह गुना दण्ड लगाया जाए। इन समूहों के 'कार्यचिन्तक' ऐसे व्यक्ति होने चाहियें, जो धर्म के ज्ञाता, शुचि (शुद्ध) आचरण वाले और लोभ से विरहित हों। समूह का हित चाहने वाले को चाहिये कि कार्यचिन्तकों के वचन का पालन करे। यह विधि श्रेणि, निगम और पाषण्ड—सब प्रकार के गणों (समूहों) के लिये है। राजा इन के भेद (रहस्य या गुप्त बात) की रक्षा करे और इनमें जो वृत्ति पहले से चली आ रही हो, उसका पालन कराए। याज्ञवल्क्य स्मृति के वे वचन बड़े महत्त्व के हैं। इनसे श्रेणि, निगम और पाषण्ड—तीनों प्रकार के समूहों (भागों) का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। इन समूहों के पदाधिकारी 'कार्यचिन्तक' कहाते थे, और इन पदों पर ऐसे व्यक्ति ही नियुक्त किए जाते थे जो धर्मज्ञ, शुचि और अलुब्ध हों। वे जो कोई भी आदेश दें, समूह के हित के लिये समूह के सब सदस्यों को उसका पालन करना होता था। परस्पर मिलकर या संविदा द्वारा ये समूह जो नियम बनाएँ या जो निश्चय करें, उनको क्रियान्वित करने के लिए राजशक्ति का भी प्रयोग किया जाता था, वशर्ते कि ये नियम या निश्चय राजकीय कानूनों के विरुद्ध न हों। 'समूह' के कार्य पर कार्यचिन्तक या अन्य व्यक्ति समय-समय पर राजा या राज्य के पदाधिकारियों से भेंट भी करते रहते थे। ऐसे अवसरों पर उनका समुचित सत्कार किया जाता था। समूह के कार्य पर नियुक्त व्यक्ति भेंट-उपहार के रूप में जो धन प्राप्त करते थे, उसे वे समूह को ही प्रदान कर देते थे। ऐसा न करने पर उन्हें भारी जुरमाना देना पड़ता था।

श्रेणि आदि समूहों में 'कार्यचिन्तकों' की स्थिति अत्यन्त महत्त्व की होती थी। इसीलिये बृहस्पतिस्मृति में लिखा है कि सत्यसन्ध, वेदज्ञ, कुलीन, आत्मसंयमी, धर्म के ज्ञाता तथा व्यवहार में कुशल व्यक्तियों को ही 'कार्यचिन्तक' नियुक्त करना चाहिये। जो व्यक्ति व्यसनी, लोभी, अतिवृद्ध या बाल हों, उन्हें यह पद नहीं देना चाहिये। कार्यचिन्तकों के अधिकार बहुत महत्त्व के थे। वे दूसरों के प्रति निग्रह और अनुग्रह कर सकते थे।

स्वधर्म का पालन करते हुए वे जो कुछ भी करें, राजा उसे स्वीकार कर लेता था क्योंकि ये कार्य इन्हीं के सुपुर्द होते थे। पर यदि कार्यचिन्तक लोभ, द्वेष या घृणा के वशीभूत होकर किसी को दण्ड दे या किसी प्रकार से क्षति पहुँचाएँ, तो राजा का कर्त्तव्य है कि उन्हें ऐसा करने से रोकें, और बार-बार ऐसा करने पर उन्हें दण्ड दें। इससे स्पष्ट है कि श्रेणि, निगम आदि समूहों के कार्यों पर निरीक्षण रखने का राजा को अधिकार प्राप्त था। यद्यपि समूहों को अपने क्षेत्र में आन्तरिक स्वतन्त्रता प्राप्त थी, पर वे राजा के शासन के अधीन रहते हुए ही इस स्वतन्त्रता का उपभोग किया करते थे। इसीलिये नारद स्मृति में यह लिखा गया है कि समूह यदि कोई ऐसा कार्य करे जो राजा के प्रतिकूल हो, या जो प्रकृति (जनता) को अभिमत न हो, या जो अर्थ (समृद्धि) के लिये विघातक हो, तो राजा का कर्त्तव्य है कि उसे ऐसा कार्य करने मे रोक दे। नारद स्मृति के इस विधान को टीकाकार ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—समूहों द्वारा किये जाने वाले कार्यों के सम्बन्ध में यदि यह समझा जाए कि राजा द्वारा वे अवश्य ही स्वीकार्य होंगे, तो क्या ये समूह परस्पर मिलकर यह भी निर्णय कर सकते हैं कि हम प्रजा को राजकीय कर देने से रोकेंगे, हम नंगे रहा करेंगे, जूआ खेला करेंगे, वेश्यागमन किया करेंगे या राजपथ पर वेग से दौड़ा करेंगे। नहीं, राजा को उनके ऐसे निर्णयों की रक्षा नहीं करनी है। इसमें सन्देह नहीं कि राजा को श्रेणि आदि समूहों पर नियन्त्रण रखने का अधिकार प्राप्त था, पर इस तथ्य से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि इन समूहों को अपने क्षेत्र में बहुत स्वतन्त्रता प्राप्त थी। राजा उसी दशा में इनके मामलों में हस्तक्षेप करता था, जब वे राजकीय कानून के विपरीत आचरण करने लगें, ऐसे कार्यों में प्रवृत्त हों जो सामूहिक हित के लिये विघातक हों और जब उनके अपने मुख्यों (कार्यचिन्तकों) में विसम्वाद (मतभेद के कारण उत्पन्न झगड़े) पैदा होने लगें। ऐसी दशा में समूहों को सही मार्ग में रखना राजा का कर्त्तव्य था।

समूहों को भी यह अधिकार था कि वे अपने मुख्यों (कार्यचिन्तकों) को दण्ड दे सकें। कात्यायन के शब्दों में जो मुख्य या कार्यचिन्तक समूह की सम्पत्ति का विनाश करने करने वाले उसमें फूट डालने वाले या उसके प्रति कोई 'साहसिक' (क्रिमिनल) आचरण करने वाले हों, समूह ही उनका उच्छेद कर दे और ऐसा करके अपने इस कार्य की सूचना राजा के पास भेज दे।

श्रेणि व निगम आदि समूहों की एक सभा भी होती थी, जिसका समूह के संगठन में महत्त्वपूर्ण स्थान होता था। 'वीरमित्रोदय' में इस सभा के लिये 'समुदाय' शब्द का प्रयोग किया गया है। इस नीतिग्रन्थ से ज्ञात होता है कि समुदाय की बैठक की सूचना ढोल बजाकर दी जाती थी, और उसमें स्वतन्त्रतापूर्वक भाषण दिये जाया करते थे। 'विवादरत्नाकर' में कात्यायिन का एक श्लोक उद्धृत किया गया है, जो बड़े महत्त्व का है। जो कोई युक्तियुक्त बात के विरोध में कहे, या वक्ता को भाषण न करने दे, या जो अयुक्त भाषण करे, उसे पूर्व साहस दण्ड दिया जाए। 'समुदाय' की कार्यविधि पर इस श्लोक से अच्छा प्रकाश पड़ता है।

श्रेणि व निगम आदि समूह सार्वजनिक हित के अनेकविध कार्यों का भी सम्पादन

किया करते थे। सभा भवन, प्रपा (प्याऊ), देवमन्दिर, तडाग (जलाशय), आराम (उद्यान या पार्क) आदि का निर्माण व मुरम्मत, दरिद्र अनाथ आदि का पालन, यज्ञों का अनुष्ठान आदि ऐसे कार्य थे, जिन्हें सामूहिक हित के लिये श्रेणि सदृश समूहों द्वारा सम्पन्न किया जाता था। इन सब कार्यों को भी पत्र पर लेखबद्ध किया जाता था, और इन्हें भी संविदा का अंग माना जाता था।

शिल्पियों की 'श्रेणियों' के समान व्यापारियों के समूह भी इस काल में विद्यमान थे, जिन्हें 'निगम' कहते थे। 'वीर मित्रोदय' में नैगम के अभिप्राय को इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—'पौर वणिकों को नैगम कहा जाता है।' निगम में संगठित वणिकों की ही नैगम संज्ञा थी। निगम में संगठित व्यापारी उसी ढंग से अपने व्यापार की व्यवस्था करते थे, जैसे कि शिल्पि-श्रेणियों द्वारा शिल्प के सम्बन्ध में की जाती थी। निगम के मुख्य को 'श्रेष्ठी' कहा जाता था। निगम से भिन्न प्रकार के भी व्यापारियों के अनेक संगठन मौर्योत्तर युग में संगठित होने प्रारम्भ हो गये थे। ऐसा एक संगठन 'सम्भूय-समुत्थान' था, जिसके विषय में नारद स्मृति में लिखा है कि "वणिक् प्रभृति जहाँ संगठित होकर कार्य करते हैं, उसे सम्भूय समुत्थान कहते हैं। मुनाफे को दृष्टि में रखकर जब सम्मिलित रूप से कार्य किया जाता है, तो उसका आधार अपनी ओर से लगाया हुआ धन (प्रक्षेप) होता है। इसी प्रक्षेप के हिस्से के आधार पर प्रत्येक हिस्सेदार को मुनाफे का अंश दिया जाना चाहिये। क्रय, व्यय और वृद्धि—तीनों का अंश प्रत्येक हिस्सेदार पर उसके हिस्से के अनुसार पड़ना चाहिये।" नारदस्मृति में उल्लिखित ये सम्भूय-समुत्थान प्रायः उसी ढंग के व्यापारिक संगठन हैं, जैसी कि वर्तमान समय में जायन्ट स्टाक कम्पनियाँ होती हैं।

मौर्योत्तर युग के अनेक शिलालेखों में भी शिल्पी-श्रेणियों का उल्लेख हुआ है, और उनसे श्रेणियों के कार्यों आदि पर बहुत अच्छा प्रकाश पड़ता है। इन लेखों में शक उषावदात का वह लेख विशेष महत्त्व का है जो नासिक के एक गुहामन्दिर में उत्कीर्ण है—

'सिद्धि! बयालीसवें वर्ष में, वैशाख मास में राजा क्षहरात क्षत्रप नहपान के जामाता दीनाकपुत्र उषावदात ने यह गुहामंदिर चातुर्दिश संघ के अर्पण किया, और उसने अक्षयनीवी तीन हजार पण चातुर्दिश संघ को दिये, जो इस गुहा में रहने वालों के कपड़े के खर्च और विशेष महीनों में मासिक वृत्ति के लिये होगा। और ये कार्षापण गोवर्धन में रहने वाली श्रेणियों के पास जमा किये गये। कोलिकों के निकाय में दो हजार, एक फीसदी सूद पर; दूसरे कोलिक निकाय के पास एक हजार, पौन फीसदी सूद पर। तथा ये कार्षापण लौटाये नहीं जावेंगे, केवल उनका सूद लिया जायगा। इनसे जो एक फीसदी पर दो हजार कर्षापण रखाये गये हैं, उनसे गुहामंदिर में रहने वाले बीस भिक्षुओं में से प्रत्येक को बारह चीवर दिये जाएं। और जो पौन फीसदी पर एक हजार कार्षापण हैं, उनसे कुशनमूल्य का खर्च चलेगा। कापुर प्रदेश के गाँव चिखलपद्र को नारियल के ८००० पौद भी दिये गये। यह सब निगमसभा मे सुनाया गया, और फलकवार (लेखा रखने के दफ्तर) में चरित्र के अनुसार निबद्ध किया गया।"

इस लेख से स्पष्ट है, कि कोलिक (जुलाहे) आदि व्यवसायियों का संगठन श्रेणियों के रूप में था। ये श्रेणियाँ जहाँ अपने व्यवसाय का संगठित रूप में संचालन करती थीं,

वहाँ दूसरे लोगों का रुपया भी धरोहर के रूप में रखकर उसपर सूद देती थीं। उनकी स्थिति समाज में इतनी ऊँची और सम्मानास्पद थी, कि उसके पास ऐसा रुपया भी जमा करा दिया जाता था, जिसे फिर लौटाया न जाए, और जिसका केवल सूद ही सदा के लिये किसी धर्मकार्य में लगता रहे। यही कार्य आजकल ट्रस्टी रूप में बैंक करते है। उसके सूद की दर एक फीसदी और पौन फीसदी (सम्भवत: मासिक) होती थी, और नगरसभा (निगम) में इस प्रकार की धरोहर को बाकायदा निबद्ध (रजिस्टर्ड) कराया जाता था, यह भी इस लेख से स्पष्ट हो जाता है।

नासिक के ही एक अन्य गुहालेख में राजा ईश्वरसेन (तीसरी सदी ईस्वी) द्वारा कुलरिकों (सम्भवतः, कुम्हारों) की श्रेणि के पास एक हजार कार्षापण, औदयन्त्रिक, (पनचक्कियाँ चलाने वालों की) श्रेणि के पास दो हजार कार्षापण और तिलपिषकों (तेलियों) की श्रेणि के पास पाँच सौ कार्षापण अक्षयनीवी के रूप में जमा कराये जाने का उल्लेख है। इस अक्षयनीवी का प्रयोजन यह था कि इस धन के सूद से त्रिरश्मि विहार में निवास करने वाले भिक्षुओं की औषधि का खर्च चल सके। जुन्नर के एक लेख में उपासक शक आडथुम द्वारा दो भूमिक्षेत्र कोणाचिक श्रेणि को इस प्रयोजन से दिये जाने का उल्लेख है, ताकि उनकी आमदनी से करञ्ज और बड़ के वृक्ष लगवाये जाएँ। गुप्त-वंशी राजा स्कन्दगुप्त के एक लेख में इन्द्रपुर निवासिनी तैलक श्रेणि का उल्लेख आया है, जिसके पास कुछ धन इस प्रयोजन से जमा कराया गया था, ताकि उसके सूद से सूर्य-मन्दिर के दीपक का खर्च चलता रहे। इस तैलक श्रेणि का मुख्य जीवन्त नामक व्यक्ति था। इस अभिलेख में यह भी उल्लिखित है कि चाहे यह तैलक श्रेणि इन्द्रपुर को छोड़कर कहीं अन्यत्र भी क्यों न जा बसे, तो भी यह धन इसी के पास जमा रहेगा। कुमारगुप्त प्रथम के समय के एक अभिलेख में पटकारों (जुलाहों) की एक श्रेणि का उल्लेख है, जो लाट (गुजरात) देश से आकर दशपुर में बस गई थी। दशपुर में बस जाने पर श्रेणि के अनेक सदस्यों ने अपने वंशक्रमानुगत शिल्प का परित्याग कर ज्योतिष, धनुर्विद्या आदि अन्य विद्याएँ सीखीं, और उनमें से कुछ व्यक्ति संन्यास की दीक्षा ग्रहण कर धार्मिक जीवन व्यतीत करने लगे। पर श्रेणि के बहुसंख्यक सदस्यों ने अपने पुराने शिल्प को कायम रखा। पटकारों की यह श्रेणि बहुत सम्पन्न व समृद्ध थी। इसने दशपुर में एक सूर्यमन्दिर का निर्माण कराया था (४३७ ईस्वी), और इसी उपलक्ष में यह शिलालेख उत्कीर्ण कराया गया था। गुप्त युग के अन्य भी अनेक शिलालेखों में मृत्तिकार (कुम्हार), वणिक् आदि के संगठनों के उल्लेख विद्यमान हैं। वैशाली नगरी के ध्वंसावशेषों में सैकड़ों की संख्या में ऐसी मुहरें मिली हैं, जो पत्रों या लेखों को मुद्रित करने के काम में आती थीं। ये मुहरें 'श्रेणि-सार्थवाह-कुलिक-निगम' की हैं। वैशाली में सार्थवाहों, श्रेष्ठियों और शिल्पि-श्रेणियों का एक सम्मिलित संगठन (निगम) विद्यमान था, जिसकी शाखाएँ अनेक नगरों में स्थापित थीं। पुरातत्त्व सम्बन्धी इस सामग्री द्वारा शिल्पियों और व्यापारियों के उन संगठनों की सत्ता प्रमाणित होती है, जिनका विवरण स्मृतियों तथा नीति-ग्रन्थों में पाया जाता है।

(२) आन्तरिक और विदेशी व्यापार

शिल्प की उन्नति के कारण प्राचीन भारत में बहुत-से ऐसे नगरों का विकास हो गया था, जो व्यापार के महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे। इनमें न केवल अपने राज्य का अपितु सुदूर देशों का माल भी विक्रय के लिये आया करता था, और नगर में ऐसी पण्यशालाएँ विद्यमान थीं जो प्रधानतया किसी एक प्रकार के माल की बिक्री किया करती थीं। पण्य के नाम से इन्हें बेचने वाले व्यापारी 'अश्ववाणिज', गोवाणिज और वंशकठिनिक (बाँस के व्यापारी) आदि संज्ञाओं से जाने जाते थे। कुछ पण्यशालाओं में किसी विशेष देश का माल बिका करता था, जिसके कारण ऐसी पण्यशालाओं के स्वामी व्यापारी मद्रवाणिज, काश्मीरवाणिज आदि कहाते थे। नगर में पण्यशालाओं या दूकानों पर बैठकर माल का विक्रय करने वाले वणिकों या व्यापारियों के अतिरिक्त एक अन्य प्रकार के व्यापारी भी प्राचीन भारत में हुआ करते थे, जो पण्य पदार्थों को एक स्थान व प्रदेश से दूसरे स्थान पर ले जाकर बेचने का कार्य किया करते थे। उस समय में मार्ग निरापद नहीं होते थे। हिंस्र जन्तुओं तथा चोर-डाकुओं का भय सदा बना रहता था। अतः एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में माल ले जाने वाले व्यापारी समूह बनाकर चलते थे और अपनी तथा अपने पण्य की रक्षा के प्रयोजन से सशस्त्र रक्षकों को भी पारिश्रमिक देकर अपने साथ रख लिया करते थे। व्यापारियों के इन समूहों को 'सार्थ' कहा जाता था, और इनके मुखिया को 'सार्थवाह'। सार्थों (काफिलों) में सम्मिलित व्यापारियों का माल पृथक्-पृथक् रहता था और उसकी बिक्री से जो नफा-नुकसान हो, उसके लिये वे स्वयं ही उत्तरदायी होते थे। पर सार्थ के सदस्य होने के कारण उन्हें एक निश्चित अनुशासन में रहना होता था, और सार्थ के 'ज्येष्ठक' (अध्यक्ष) के आदेशों का पालन करना उनके लिये आवश्यक माना जाता था। जो व्यापारी अकेले माल लेकर अन्यत्र बेचने के लिये जाया करते थे, वे भी मरुभूमि या सघन जंगल आ जाने पर रुक जाते थे और किसी सार्थ के आने की प्रतीक्षा करते थे ताकि उसके साथ होकर मरुभूमि या जंगल को पार कर सकें। सार्थों में सम्मिलित व्यापारी जिन बैलगाड़ियों पर अपना माल लादकर व्यापार के लिये ले जाया करते थे, उनकी संख्या सैकड़ों में होती थी। 'मिलिन्द प्रश्नाः' में पाटलिपुत्र जाने वाले एक सार्थ के साथ पाँच सौ बैलगाड़ियाँ होने का उल्लेख है। गन्तव्य स्थान के मार्गों को दृष्टि में रखकर पण्य को ले जाने के लिये खच्चर, अश्व आदि पशुओं का भी उपयोग किया जाता था। सार्थों में संगठित व्यापारी दूर-दूर तक व्यापार के लिये आया-जाया करते थे। मौर्य युग में चार राजमार्ग प्रधान थे, जो पाटलिपुत्र से उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम की ओर जाते थे। कौटलीय अर्थशास्त्र में इनके आपेक्षिक महत्त्व का विशद रूप से विवेचन किया गया है। कौटल्य के अनुसार दक्षिण की ओर जाने वाला राजमार्ग सर्वश्रेष्ठ था, क्योंकि शंख, वज्र, मणि, मुक्ता और सुवर्ण का पण्य दक्षिण से ही प्रभूत मात्रा में प्राप्य था। राजा अशोक ने इन राजमार्गों के साथ-साथ ही छायादार वृक्ष लगवाये थे और प्याऊ बैठाये थे। यह भरोसे के साथ कहा जा सकता है कि मौर्यों के पश्चात् भी बहुत-सी सदियों तक इन राजमार्गों का प्रयोग जारी रहा और सार्थों में सम्मिलित व्यापारी उन द्वारा दूर-दूर तक व्यापार के लिये आते-जाते रहे।

पश्चिमी देशों के साथ व्यापार—पर मौर्योत्तर युग में भारत का विदेशी व्यापार भी बहुत उन्नति कर गया था। मौर्यों से पूर्व भी भारत का पश्चिम के यवन तथा अन्य राज्यों के साथ सम्बन्ध विद्यमान था। मौर्य वंश के निर्बल पड़ने पर जो अनेक राज्य उत्तर-पश्चिमी भारत में कायम हो गये थे, उनके कारण पश्चिमी संसार से भारत का सम्बन्ध और भी अधिक सुदृढ़ हो गया था। भारत के पश्चिमी समुद्रतट के व्यापारी अरब और मिस्र (ईजिप्ट) तक जाकर व्यापार किया करते थे। उन दिनों मिस्र की राजधानी एलक्जेण्ड्रिया (सिकन्दरिया) विद्या, व्यापार और संस्कृति का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण केन्द्र थी। भारतीय व्यापारी वहाँ तक भी अपने पण्य के विक्रय के लिये पहुँचने लगे। लाल सागर और नील नदी के मार्ग पर एक भारतीय व्यापारी का शिलालेख उपलब्ध हुआ है, जो ग्रीक भाषा में है। इस व्यापारी का नाम 'सोफोन' था, जो शायद शोभन का ग्रीक रूपान्तर है।

दूसरी सदी ईस्वी पूर्व में एक ऐसी घटना हुई, जिसके कारण मिस्र और भारत का व्यापारिक सम्बन्ध बहुत अधिक बढ़ गया। अन्य यवन देशों के समान मिस्र के साथ भी भारत का सम्बन्ध अशोक के समय से ही विद्यमान था, क्योंकि अशोक ने वहाँ भी अपने धर्म महामात्र भेजे थे। तीसरी सदी ईस्वी पूर्व में मिस्र का राजा टाल्मी फिलेडेल्फस (२८५-२४६ ईस्वी पूर्व) था। एक ग्रीक लेखक के अनुसार उसकी राजधानी में भारत से आये हुए ऐसे ऊँट भी दिखाई देते थे, जो मसालों से लदे होते थे। पहले भारत और मिस्र का व्यापार स्थल मार्ग द्वारा हुआ करता था। पर दूसरी सदी ईस्वी पूर्व में भारत का एक व्यापारी समुद्र के मार्ग से पश्चिम की ओर व्यापार के लिये गया था। वह मार्ग भूल गया और महीनों तक उसका जहाज समुद्र में भटकता रहा। उसके सब साथी एक-एक करके भूख से मर गये। वह भी लहरों के साथ-साथ बहता हुआ मिस्र के निकटवर्ती समुद्र में जा पहुँचा, जहाँ के कर्मचारियों ने समुद्र से उसका उद्धार किया। इस भारतीय व्यापारी की सहायता और मार्ग प्रदर्शन से मिस्र के लोगों ने जहाजों द्वारा सीधे भारत आना-जाना प्रारम्भ किया और इन देशों के सामुद्रिक व्यापार में बहुत वृद्धि हो गई।

तीसरी सदी ई० पू० में पाश्चात्य संसार में रोम के उत्कर्ष का प्रारम्भ हुआ था, और धीरे-धीरे इस छोटे-से गणराज्य ने उत्तरी अफ्रीका, स्पेन, कार्सिका और सार्डिनिया आदि के सब प्रदेशों को अपने अधीन कर लिया था। पहली सदी ई० पू० में रोम ने पूर्व दिशा की ओर भी अपने साम्राज्य का विस्तार शुरू किया, और ग्रीस, एशिया माइनर व ईजिप्ट को जीत कर मैसोपोटामिया तक के सब प्रदेशों को अपने अधीन कर लिया। ४६ ई०पू० तक यह दशा आ गई थी, कि स्पेन और फ्रांस से लगाकर मैसोपोटामिया तक, और आल्प्स की पर्वतमाला से उत्तरी अफ्रीका तक सर्वत्र रोम का आधिपत्य था। रोम का विशाल साम्राज्य यूरोप, एशिया और अफ्रीका तीनों महाद्वीपों में फैला हुआ था। ईस्वी सन् के प्रारम्भ होने से पूर्व ही रोम में गण-शासन का अन्त होकर सम्राटों का शासन स्थापित हो गया था। ये रोमन सम्राट् अपने समय के सबसे अधिक शक्तिसम्पन्न व वैभवशाली सम्राटों में से थे।

ग्रीस, पश्चिमी एशिया और ईजिप्ट से भारत का घनिष्ठ सम्बन्ध था। जब रोम ने इन प्रदेशों को जीत लिया, तो भी भारत का इन देशों के साथ सम्बन्ध जारी रहा। अब भारत के व्यापारी ग्रीस और ईजिप्ट से भी आगे बढ़कर पश्चिम में इटली और रोमन साम्राज्य के अन्य पश्चिमी प्रदेशों के साथ व्यापार करने के लिये प्रवृत्त हुए। रोमन साम्राज्य में सर्वत्र शान्ति और व्यवस्था स्थापित थी। इस कारण भारत के व्यापारियों के लिये भूमध्यसागर के पश्चिमी भागों में भी दूर-दूर तक व्यापार के लिये आना-जाना सुगम हो गया था।

रोम के शासक भारत के व्यापार को बहुत अधिक महत्त्व देते थे। उनकी नीति यह थी कि पूर्वी देशों का यह व्यापार समुद्र के मार्ग से हो, और ईरान से होकर आने वाला स्थल-मार्ग अधिक प्रयोग में न आये। इसी कारण २५ ई० पू० में सम्राट् आगस्तस ने एक मंडल इस प्रयोजन से नियुक्त किया था कि वह समुद्र के मार्ग को विकसित व उन्नत करने का प्रयत्न करे। इस मंडल के प्रयत्न से शीघ्र ही अदन और ईजिप्ट पर ग्रीस के व्यापारियों ने कब्जा कर लिया, और वहाँ अपनी बस्तियाँ बसा लीं। अनुकूल सामुद्रिक वायु का ज्ञान हो जाने के कारण इस समय के जहाज तीन मास से भी कम समय में भारत से एलेक्जण्ड्रिया (ईजिप्ट का बन्दरगाह) तक आने जाने लग गये थे। इस समय एलेक्जण्ड्रिया से भारत की ओर जाने वाले जहाजों की संख्या प्रतिदिन एक की औसत से थी। इससे सहज में ही यह अनुमान किया जा सकता है, कि भारत का इन पाश्चात्य देशों के साथ व्यापार-सम्बन्ध कितना अधिक था।

भारत से जो माल पाश्चात्य देशों में बिकने के लिये जाता था, वहाँ उसकी माँग बहुत अधिक थी। हाथी दाँत का सामान, मसाले, मोती, सुगन्धियाँ और सूती वस्त्र आदि सामान भारत से बहुत बड़ी मात्रा में रोम व साम्राज्य की अन्य नगरियों में बिकने के लिये जाता था, और उसके बदले में बहुत-सा सोना भारत को प्राप्त होता था। ७७ ई० पू० में रोम के एक लेखक ने शिकायत की थी, कि भारत रोम से हर साल साढ़े पाँच करोड़ का सोना खींच लेता है, और यह कीमत रोम को वहाँ के निवासियों के भोग-विलास के कारण देनी पड़ती है। १२५ ईस्वी में रोमन साम्राज्य के अन्यतम प्रान्त सीरिया के सम्बन्ध में एक चीनी लेखक ने लिखा था कि भारत के साथ इसका जो व्यापार है, उसमें आयात माल के मूल्य की मात्रा निर्यात माल के मूल्य से दस गुना है। जो दशा सीरिया की थी, वही रोमन साम्राज्य के अन्य प्रान्तों की भी थी। इसी कारण आयात माल की कीमत को चुकाने के लिये बहुत-सा सोना हर साल भारत को दिया जाता था। यही कारण है, जो रोम की बहुत-सी सुवर्ण मुद्राएँ इस समय भी भारत में अनेक स्थानों से प्राप्त होती हैं। दक्षिणी भारत के कोयम्बटूर और मदुरा जिलों से रोम के इतने सिक्के मिले हैं, जिन्हें पाँच कुली उठा सकने में समर्थ होंगे। पंजाब के हजारा जिले से भी रोम के बहुत-से सिक्के मिले हैं, जिनके कारण भारत और रोमन साम्राज्य के पारस्परिक व्यापार के सम्बन्ध में कोई भी सन्देह नहीं रह जाता। भारत से रोम जाने वाले माल में सूती वस्त्र बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखते थे। एक रोमन लेखक ने शिकायत की थी, कि रोम की स्त्रियाँ भारत से आने वाले 'बुनी हुई हवा के जाले' (मलमल) को पहनकर अपने

सौन्दर्य को प्रदर्शित करती हैं। इसमें सन्देह नहीं कि प्राचीन समय में भी भारत अपने महीन वस्त्रों के लिये प्रसिद्ध था।

रोम और कुशाण साम्राज्य—रोमन सामाज्य के विकास के काल में उत्तरी भारत में कुशाण साम्राज्य की सत्ता थी। कुशाणों का शासन हिन्दूकुश पर्वतमाला के परे बाख्त्री आदि प्रदेशों में भी विस्तृत था। इस कारण उस समय रोमन साम्राज्य तक जाने वाले स्थल मार्गों का भी बहुत महत्त्व था। जब रोम की राजगद्दी पर सम्राट् त्राजन (६६ ईस्वी) विराजमान हुआ, तो भारत के कुशाण सम्राट् (सम्भवतः कनिष्क) ने अपना एक दूतमण्डल इस अवसर पर रोम भी भेजा था। वहाँ भारत के इस दूतमंडल का शानदार स्वागत किया गया, और उसके सदस्यों के दरबार में उच्च आसन दिये गए।

केवल कुशाण सम्राटों का ही रोम के सम्राटों के साथ सम्बन्ध नहीं था। अन्य भारतीय राजा भी रोम के सम्राटों के दरबार में अपने दूत मंडल भेजा करते थे। स्त्राबो के अनुसार २५ ईस्वी पूर्व में पाण्डिअॉन (सम्भवतः, दक्षिणी भारत के पाण्ड्य देश के अन्यतम राजा) ने एक दूतमंडल रोम भेजा था, जिसने भृगुकच्छ के बन्दरगाह से प्रस्थान किया था। चार साल की यात्रा के बाद इस दूतमण्डल ने रोम के सम्राट, आगस्तस से भेंट की थी, और पाण्ड्य राजा द्वारा भेजे हुए उपहार उसे समर्पित किये थे। इन उपहारों में शेर, अजगर आदि के अतिरिक्त एक ऐसा बालक भी था, जिसके हाथ नहीं थे, पर जो पैर से तीर कमान चला सकता था। इस दूतमण्डल का नेता शरमनोचेगस (श्रमणाचार्य) नाम का एक व्यक्ति था, जो सम्भवतः जैन धर्म का अनुयायी था। इसी प्रकार के अनेक अन्य भी दूतमण्डल भारतीय राजाओं द्वारा रोम भेजे गये थे।

इस युग में भारत और पाश्चात्य देशों के बीच व्यापार की जिस ढंग से वृद्धि हो रही थी, उसके कारण भारत के समुद्रतट पर अनेक ऐसे समृद्ध बन्दरगाहों का विकास हो गया था, जिनमें विदेशी व्यापारी भी अच्छी बड़ी संख्या में निवास करते थे। इनमें सबसे प्रसिद्ध "मुजिरिस" था, जो मलाबार के समुद्रतट पर स्थित था। तमिल भाषा के एक कवि ने इस बन्दरगाह के सम्बन्ध में लिखा है कि यहाँ यवनों के जहाज सोने से लदे हुए आते हैं, और सोने के बदले में वे काली मिर्च भर कर ले जाते हैं। मुजिरिस में रोमन लोगों की एक बस्ती भी विद्यमान थी, और वहाँ सम्राट् ऑगस्तस के सम्मान में एक रोमन मन्दिर का भी निर्माण किया गया था। जिस प्रकार सोलहवीं सदी में पोर्तुगज़ि, डच, स्पेनिश आदि यूरोपियन व्यापारियों ने भारत के विविध बन्दरगाहों में व्यापार के निमित्त अपनी बस्तियाँ कायम की थीं, वैसे ही ईस्वी सन् की प्रारम्भिक सदियों में रोमन साम्राज्य के विविध प्रदेशों (सीरिया, ईजिप्ट आदि) के व्यापारियों ने मुजिरिस आदि बन्दरगाहों में अपनी बस्तियाँ स्थापित कर ली थीं। भारत के अनेक राजा भी इस समय इन विदेशियों को अपनी नौकरी में रखने लगे थे, और अनेक पाश्चात्य लड़कियाँ भी उनके अन्तःपुरों की शोभा बढ़ाने लग गयी थीं।

मुजिरिस के अतिरिक्त मदुरा, भृगुकच्छ आदि अन्य भी अनेक बन्दरगाह थे, जो विदेशी व्यापार के अच्छे बड़े केन्द्र थे, और जहाँ यवन लोग बड़ी संख्या में निवास करते थे।

जिस प्रकार भारत के बन्दरगाहों में विदेशी लोगों की बस्तियाँ थी, वैसे ही ईरान की खाड़ी, लाल सागर और भूमध्यसागर के बन्दरगाहों में भारतीय व्यापारियों ने भी अपनी बस्तियाँ बसा ली थी। पाश्चात्य जगत् के बन्दरगाहों में इस समय सबसे बड़ा ऐलेग्जेण्ड्रिया था, जो जनसंख्या की दृष्टि से रोमन साम्राज्य में रोम के बाद सबसे बड़ा नगर था। यह न केवल विदेशी व्यापार का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था, अपितु ज्ञान-विज्ञान के लिये भी अद्वितीय था। इसका कलाभवन (म्यूजियम) संसार भर में प्रसिद्ध था, और इसके पुस्तकालय से लाभ उठाने के लिये दूर-दूर के विद्वान् आया करते थे। भारतीय विद्वान् भी यहां अच्छी बड़ी संख्या में विद्यमान थे, और उनकी उपस्थिति के कारण पाश्चात्य लोगों को भारत के दर्शन व विज्ञान से परिचित होने का अवसर प्राप्त होता था। त्राजन के शासन काल में दिओ क्रिसोस्तम नाम के विद्वान् ने एलेग्जेण्ड्रिया में व्याख्यान देते हुए कहा था—"इस सभा में न केवल ग्रीक, इटालियन, सीरियन, लीबियन और साइलीसियन ही उपस्थित हैं, अपितु वे लोग भी हैं, जोकि अधिक दूर के देशों के निवासी हैं, यथा ईथियोपियन, अरब, बैक्ट्रियन, सीरियन और भारतीय।" ऐलेग्जेण्ड्रिया में एक प्राचीन समाधि विद्यमान है, जिसपर त्रिशूल और चक्र अंकित हैं। वह किसी भारतीय विद्वान् की समाधि है, जिसने अपनी जीवन लीला सुदूर ईजिप्ट में समाप्त की थी। ४७० ईस्वी में कुछ ब्राह्मण एलेग्जेण्ड्रिया की यात्रा के लिये गये थे, और वे वहाँ के शासक के अतिथि रूप में ठहरे थे। एलेग्जेण्ड्रिया के समान पाश्चात्य संसार में अन्य भी अनेक ऐसे बन्दरगाह थे, जहाँ न केवल भारतीय व्यापारी अपितु विद्वान् भी बड़ी संख्या में निवास करते थे।

पहली सदी इस्वी में ही एक ग्रीक मल्लाह ने समुद्र मार्ग द्वारा भारत की यात्रा की थी। उसका नाम ज्ञात नहीं है, पर उसकी लिखी हुई पुस्तक अब तक भी विद्यमान है, जिसका अंग्रेजी अनुवाद परिप्लस ऑफ दी एरीथ्रियन सी' नाम से प्रकाशित है। यह पुस्तक बहुत महत्त्वपूर्ण है, और इसे पढ़ने से ज्ञात होता है कि उस समय में सिन्ध और गुजरात के अनेक बन्दरगाह पश्चिमी व्यापार के बड़े केन्द्र थे, और उनमें बहुत-से विदेशी व्यापारी सदा विद्यमान रहते थे। १५० ईस्वी के लगभग एलेग्जेण्ड्रिया के भूगोलवेत्ता टॉल्मी ने भूगोल के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक लिखी थी, जिसमें कि भारत की भौगोलिक स्थिति पर भी प्रकाश डालने का यत्न किया गया था।

दूसरी सदी ईस्वी में लिखा हुआ एक ग्रीक नाटक उपलब्ध हुआ है, जिसमें कि एक ग्रीक महिला का वृत्तान्त है, जिसका जहाज भारत में कर्नाटक के समुद्रतट पर टूट गया था। इस नाटक में कर्नाटक के निवासियों से जो भाषा कहलवायी गयी है, उसमें कन्नड भाषा के शब्दों का भी प्रयोग किया गया है।

पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों के साथ व्यापार—भारत के पूर्व में बरमा, मलायीसिया, इन्डोनीसिया, सियाम, कम्बोडिया, विएत-नाम और चीन सदृश जो राज्य हैं, उनके साथ भी प्राचीन भारत का व्यापारिक सम्बन्ध था। बरमा और मलायीसिया के प्रदेशों को प्राचीन भारतीय सुवर्णभूमि कहते थे, और उसके पूर्व में स्थित इन्डोचायना (कम्बोडिया, लाओस और विएत-नाम) और इन्डोनीसिया के अन्तर्गत विविध द्वीप

(जावा, सुमात्रा, बाली, बोर्नियो आदि) सुवर्णद्वीप कहाते थे। जातक-कथाओं में व्यापार के लिए सुवर्णभूमि और सुवर्णद्वीप जाने वाले साहसी व्यापारियों के कथानक भी विद्यमान हैं। महाजनक जातक के अनुसार मिथिला के राजकुमार महाजनक ने धन कमाने के उद्देश्य से एक ऐसे जहाज द्वारा सुवर्णभूमि की यात्रा की थी, जिस पर सात सार्थवाह अपने पण्य के साथ व्यापार के लिए जा रहे थे। सुस्सोन्दी जातक में सग्ग नामक व्यापारी की समुद्रयात्रा का वर्णन है। उसने भरुकच्छ (भड़ौंच) से जहाज द्वारा यात्रा प्रारम्भ की थी, और वह सुवर्णभूमि गया था। एक जातक में वाराणसी के समीप के एक वर्धकि-ग्राम की कथा दी गई है, जिसके एक हजार बढ़ई परिवारों ने जंगल काट कर लकड़ी के बड़े-बड़े जहाज बनाए और अपने परिवारों के साथ उनमें बैठकर गंगा के मार्ग से वे समुद्र में पहुँच गये, और वहाँ से एक ऐसे द्वीप में गये जहाँ कि विविध प्रकार के फल-फूल प्रचुर परिमाण में उपलब्ध थे। सुवर्णभूमि के आकर्षण से ही इन वर्धकि परिवारों ने अपने अभिजन का त्याग किया था। जातक कथाओं द्वारा यह स्पष्ट है कि बरमा और मलाया के प्रदेशों के साथ भारत का व्यापारिक सम्बन्ध बौद्ध काल में ही भली-भाँति स्थापित हो गया था।

व्यापार के लिए सुवर्णभूमि जाने वाले व्यापारियों की अनेक कथाएँ कथा-सरित्सागर, बृहत्कथामञ्जरी और बृहत्कथा-श्लोक-संग्रह में भी पायी जाती हैं। बृहत्कथा-श्लोक संग्रह की एक कथा के अनुसार आचेर नामक एक साहसी व्यक्ति बहुत-से साथियों को साथ लेकर सुवर्णभूमि के लिए प्रस्थान कर रहा था। सानुदास नाम का एक व्यापारी भी उनके साथ हो लिया। पहले वे जहाज द्वारा जलमार्ग से गये और समुद्र को पार कर एक ऐसे स्थान पर पहुँच गये जहाँ से आगे बढ़ने के लिए उन्हें दुर्गम पर्वत को पार करना था। वेत्रपथ (लताओं और वृक्षों की लटकती हुई जड़ों को पकड़-पकड़ कर) से वे पहाड़ की चोटी पर चढ़े। उससे आगे बढ़ने पर उन्हें एक ऐसी नदी मिली, जिसे उन्होंने वंशपथ (बाँसों से बनाये हुए बेड़े या पुल) द्वारा पार किया। बाद में उन्हें विविध विकट मार्गों से जाना पड़ा और अनेकविध विघ्न बाधाओं का सामना करना पड़ा। पर सुवर्ण का आकर्षण इतना प्रबल था कि उन्होंने यात्रा की कठिनाइयों की जरा भी परवाह नहीं की। अन्त में वे एक ऐसी नदी के तट पर पहुँच गये, जिसकी रेती में सुवर्ण के कणों की सत्ता थी।

कथासरित्सागर की एक कथा के अनुसार समुद्रशूर नाम के एक व्यापारी ने जहाज से सुवर्णद्वीप के लिए प्रस्थान किया था और वह कलसपुर के बन्दरगाह पर गया था। एक अन्य कथा में रुद्र नाम के व्यापारी का उल्लेख है, जिसका जहाज समुद्र में डूब गया था। एक अन्य कथा के अनुसार कटाह द्वीप की राजकुमारी का जहाज भारत की ओर आते हुए सुवर्णद्वीप के समीप नष्ट हो गया था और राजकुमारी ने उस द्वीप में शरण ग्रहण की थी। कटाह द्वीप को वर्तमान समय के केड्डा या केडाह के साथ मिलाया गया है। कथासरित्सागर में ईश्वरवर्मा, यशःकेतु और ग्रहसेन नाम के व्यापारियों की कथाएँ भी दी गई हैं जिन्होंने समुद्रमार्ग द्वारा सुवर्णद्वीप की यात्राएँ की थीं। ग्रहसेन के विषय में यह लिखा गया है कि वह अपनी पत्नी देवस्मिता के साथ ताम्रलिप्ति से कटाह गया था। कथाकोश में नागदत्त नामक एक व्यापारी की कथा दी गई है, जो धन उपार्जन करने के लिए पाँच सौ जहाज लेकर समुद्र यात्रा के लिए चला था। मार्ग में उसके जहाज एक ऐसी